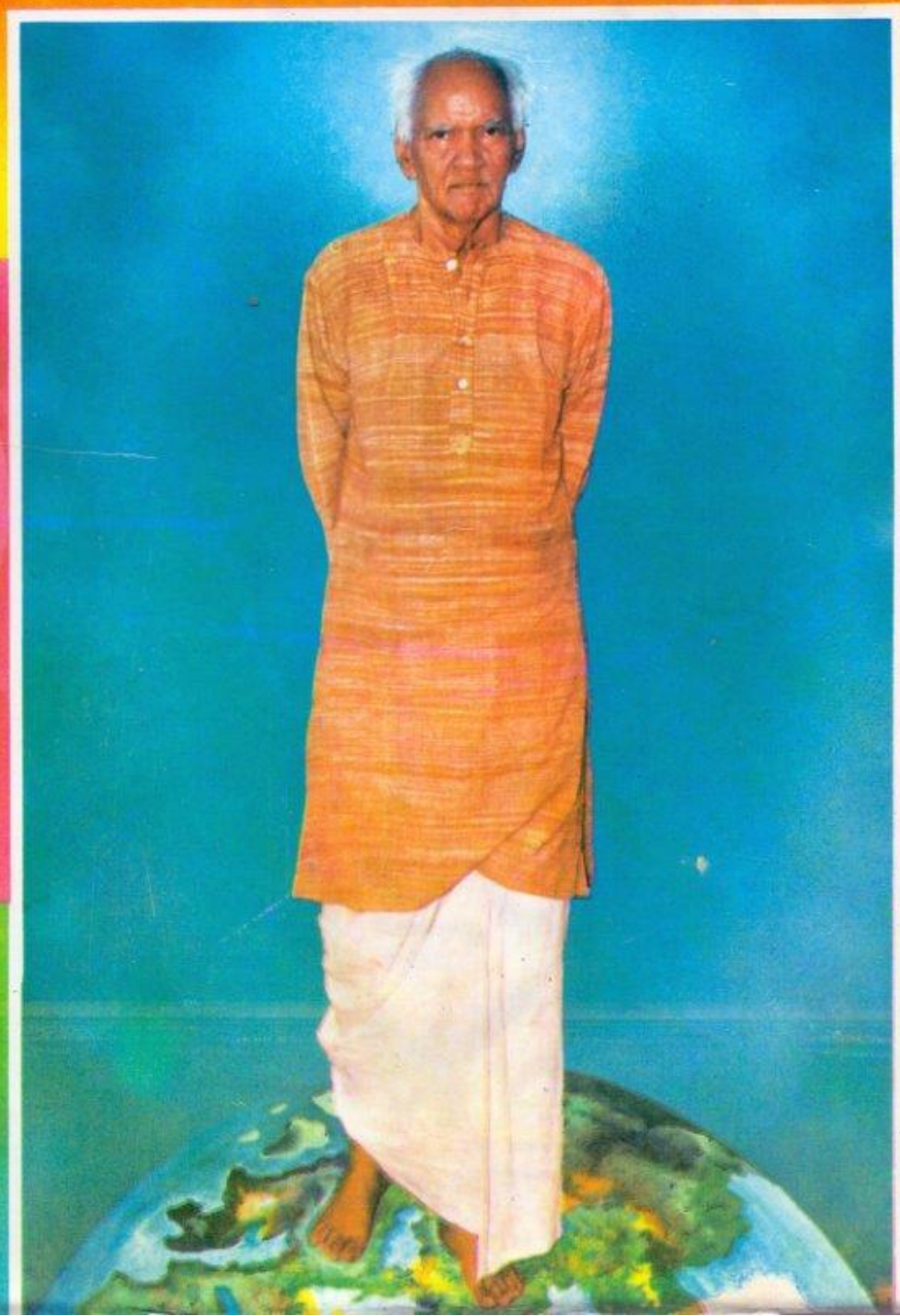


पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तन्त्र



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र



प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा-२८१ ००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८



मूल्य १२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा

समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ॥

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक

एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट् परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा जा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आप-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनसे चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनसे प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनसे संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरुषचरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरुषचरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनसे भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनसे झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनसे मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनसे पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेंट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनसे प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनसे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनसे अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयों कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनसे परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रान्ति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

‘अखण्ड ज्योति’ पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित ‘गायत्री चर्चा’ स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनसे महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलधाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व ‘युग निर्माण सत्संकल्प’ के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको देखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

भूमिका

प्रजातंत्र की एक सशक्त इकाई के रूप में परिवार संस्था को माना गया है। व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में परिवार का नाम लिया जाता है। व्यक्ति को उठाने-गिराने में पारिवारिक वातावरण का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना अन्य समस्त साधियों एवं माध्यमों के संयुक्त साधनों का कदाचित् ही पड़ता है। सुसंस्कृत परिजनों के बीच मनुष्य गरीबी में भी जीवनयापन कर सकता है; परन्तु गृह-कलह के बीच तो सम्पन्नता भी नीरस और असह्य हो जाती है। भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि इसमें परिवार संस्था को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। परिवार निर्माण की, समाज के नवनिर्माण एवं राष्ट्रोत्थान की सदा से आवश्यकता समझी जाती रही है। समाज के विकास के लिए उसके मेरुदण्ड परिवार के समग्र निर्माण को अपने कार्यक्रम में प्रधानता देने के कारण ही हमारे ऋषिगण परिवार संस्था को एक आदर्श इकाई बनाकर हमें धरोहर के रूप में दे गये। श्रेष्ठ व्यक्तित्वों के समाज रूपी उद्धान में सुगन्धित पुष्पों के समान खिलने के लिए परिवार ही नन्दन वन की भूमिका निभाता है। परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर एक ही बात पर जोर दिया कि समाज में श्रेष्ठ सद्गृहस्थ अधिक से अधिक संख्या में विकसित हों, ताकि सुसंततियाँ जन्म लें और सतयुगी समाज की पृष्ठभूमि बन सके।

वर्तमान युग में विश्व अनेकानेक स्तर की समस्याओं, विपत्तियों एवं विभीषिकाओं से घिरा हुआ है। साधन सम्पन्न एवं बुद्धिमान कहे जाने वाले मानव को आज उद्विग्न एवं आशंकित बनाये रखने वाली विपन्नताओं की बाढ़-सी आ गई है। गहराई से विचार करते हैं, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि चिन्तन व चरित्र की दृष्टि से सड़े-गले परिवार अपने कुसंस्कारों की कीचड़ से जिन जहरीले कृमि-कीटकों को जन्म देते हैं, वे ही जनमानस को विकृत करके रख देते हैं। परमपूज्य गुरुदेव युगऋषि के रूप में हम सबके कर्तव्यों को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि आज का एकमात्र युगधर्म यही है कि परिवार संस्था की पावनता एवं प्रगतिशीलता में आये अवरोधों को हम सब मिल-जुलकर दूर करें।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसका निर्वाह एकाकी नहीं हो सकता। सहकारिता की इस सत्प्रवृत्ति का सर्वप्रथम शिक्षण परिवार संस्था में ही मिलता है। जितना शरीर का ध्यान रखा जाता है उससे कहीं अधिक परिवार की सुरक्षा एवं प्रगति का ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि परिवार संस्था को सद्गुणों की प्रयोगशाला, पाठशाला, फैक्ट्री अथवा नर्सरी मानकर चला जाय और इसके लिए 'एक आँख प्यार की-दूसरी सुधार की' वाली अपनाई जाय, तो यह समाज की सबसे सच्ची सेवा कही जाएगी। परिवार के प्रति यदि सच्ची आत्मीयता, शुभेच्छा, सद्भावना किसी के मन में है तो उसे क्रियान्वित करने का एकमात्र मार्ग यही है कि परिवार के सदस्यों को सद्गुणी, सज्जन, प्रतिभावान एवं सुसंस्कृत बनाया जाय।

परमपूज्य गुरुदेव व्यक्ति निर्माण के साथ-साथ परिवार निर्माण के पंचशीलों की भी चर्चा करते हैं और बताते हैं कि श्रमशीलता, सुव्यवस्था, मितव्ययता, शालीनता और सहकारी उदारता रूपी पंचशीलों की आदत यदि घर-परिवारों में डाली जा सके और इसका बीजारोपण परिवारों में किया जा सके, तो इस पुण्य प्रयास के सत्परिणाम हाथों-हाथ देखने को मिल सकते हैं। परिवार व्यक्ति की ही नहीं, समाज के नवनिर्माण की एक कार्यशैली है। यदि सुसंस्कारिता के विभिन्न प्रयोगों को अनवरत जारी रखा जाय तो कोई कारण नहीं कि हम धरती पर स्वर्ग जैसा वातावरण न बना सकें।

वाङ्मय के इस खण्ड में परमपूज्य गुरुदेव संयुक्त परिवार को सौभाग्य एवं समृद्धि का द्वार बताते हैं। उनके अनुसार सम्मिलित कुटुम्ब के, लार्जर फैमिली के, वृहत्तर परिवारों के प्रयोगों के द्वार ही व्यक्ति सामाजिकता का अभ्यास अपने जीवन में करता है। आज परिवार टूटते चले जा रहे हैं। परिवार का हर घटक अपना अलग बसेरा करने की योजना बनाकर संयुक्त कुटुम्ब को तोड़ता दिखाई पड़ता है। सहकारिता

के साथ बुजुर्गों का मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए रहने का एकमात्र उदाहरण संयुक्त परिवारों में ही देखने को मिल पाता है। इस तंत्र को तोड़कर आज हर व्यक्ति एकाकीपन की ओर, अपने स्वयं की सुख-सुविधा, साधनों की बढ़ोत्तरी की ओर उन्मुख होता दिखाई देता है। यह एकाकीपन अन्ततः तनाव एवं कलह का कारण बनता है। संयुक्त परिवारों को पुनः स्थापित करने के लिए एक विराट् व्यापक आन्दोलन चलाने की आवश्यकता बताते हुए परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि 'इन्हें थोपा न जाय, बल्कि हँसी-खुशी से मिल-जुलकर रहने जैसा वातावरण विनिर्मित कर एक प्रयोग के रूप में जीने का प्रयास किया जाय।'

आज सारे विश्व में पारिवारिक मूल्यों के विघटित होते चले जाने, नैतिक मूल्य गिरते चले जाने, कुसंस्कारी सन्तानों, जिनके पिता का नाम तक किसी को ज्ञात नहीं है, के बढ़ते चले जाने का एकमात्र कारण परिवार संस्था का विशृंखलन है। टूटता परिवार, बिखरता दाम्पत्य, अवरुद्ध बाल विकास अन्ततः सारी अशान्ति का और सामाजिक विग्रह का कारण बनता है। इस तंत्र को सुव्यवस्थित बनाये रखने हेतु इस खण्ड में जो मार्गदर्शन दिया गया है वह हर भारतीय ही नहीं, सभी राष्ट्रों के परिवारों के लिए पढ़ने एवं हृदयंगम करने योग्य है।

-ब्रह्मवर्चस



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अध्याय-१		परिवार को प्रगतिशील बनाने के आधार	१.५८
पारिवारिकता की आवश्यकता क्यों?	१.१	सुधार विकास की पृष्ठभूमि बने	१.६०
समाज देवता का अनुपम उपहार-परिवार	१.१	पारिवारिक सुसंस्कारिता को प्रमुखता मिले	१.६२
परिवार की आवश्यकता और महत्ता	१.२	परिवार को कुसंस्कारी न बनने दिया जाय	१.६५
परिवार का दर्शन	१.५	परिवार को सुसंस्कृत बनाएँ	१.६७
परिवार संस्था और उसका महत्त्व	१.७	परिवार में सत्प्रवृत्तियों की फसल उगाएँ	१.६९
परिवार का आदर्श और विकास	१.८	परिवार योगाभ्यास का	
परिवार भी एक शरीर ही है	१.१०	सुव्यवस्थित कार्यक्षेत्र	१.७२
पारिवारिकता अपनाने में ही मनुष्य का		आकर्षण और विनोद का माहौल	
कल्याण	१.१३	बनाने की आवश्यकता	१.७३
परिवार की महिमा और गरिमा बनाए रखें	१.१६	स्वाध्याय परम्परा-पारिवारिक	
हमारा परिवार तथा भिन्न-भिन्न सम्बन्ध	१.१८	प्रगति का प्राण	१.७४
पारिवारिक सहकारिता की भावभूमि	१.२१	परिवारों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़े	१.७६
पारिवारिक पंचशील सिद्धान्त	१.२२	वातावरण का मनुष्य पर प्रभाव	१.७७
पारिवारिक पंचशीलों का परिपालन	१.२४	परिवार में आस्तिकता का वातावरण	१.७७
पाँच शील-पाँच कर्तव्य,		परिवार का वातावरण धार्मिक हो	१.८०
श्रमशीलता एक सत्प्रवृत्ति	१.२७	परिवार में धार्मिक वातावरण	
सादगी, संयम और मितव्ययिता	१.३०	इस प्रकार बनेगा	१.८८
शिष्टता की उपयोगी रीति-नीति	१.३२		
शिष्टाचार की पाठशाला-परिवार	१.३५	अध्याय-२	
सुव्यवस्था-एक रचनात्मक प्रवृत्ति	१.३६	परिवार का पोषण ही नहीं, निर्माण भी	२.१
उदार सहकारिता	१.३८	परिवार का पालन ही नहीं,	
पारिवारिक शालीनता के कुछ		निर्माण भी करें	२.१
सुनिश्चित तथ्य	१.४०	परिवार निर्माण एक अनिवार्य	
शालीनता और सुसंस्कारिता का अभ्यास		उपयोगी प्रयास	२.२
परिवार की पाठशाला में	१.४१	परिवार निर्माण की उपयोगिता और चेष्टा	२.६
स्वच्छता एवं सुव्यवस्था परिवार		परिवार निर्माण से ही व्यक्ति और	
भर को सिखाएँ	१.४३	समाज का निर्माण सम्भव	२.७
पंचशीलों को व्यवहार में लाने		परिवार निर्माण के स्वर्णिम सूत्र	२.११
का एक ही तरीका	१.४७	परिजनों के सुधार की पूर्ण प्रक्रिया	२.१२
परिवार को सफल बनाने के लिए सच्ची		परिवार और हमारे कर्तव्य	२.१५
पारिवारिक भावना जरूरी	१.४७	परिवारों को इस दुर्गति से उबारा जाय	२.१७
पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह	१.४९	प्यार भी सुधार भी	२.१८
परिवार का सुनियोजन, गठन, उत्कर्ष	१.५१	सुधार-परिवर्तन की सरल प्रक्रिया	२.१९
परिवार एक साधना-तपोवन	१.५३	परिवार को सम्पन्न ही नहीं,	
अपने परिवार को आदर्श बनाएँ	१.५४	सुसंस्कृत भी बनाएँ	२.२१
हमारी पारिवारिक पाठशाला	१.५५		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
पारिवारिक वातावरण उत्कृष्ट और प्रगतिशील बने	२.२३	आतिथ्य धर्म के आधार	२.१०३
परिवार में स्वर्गीय वातावरण कैसे बने?	२.२४	परिवार जागरण की प्रक्रिया और उसकी महान सम्भावनाएँ	२.१०५
उच्चतर संस्कारों का सृजन करें	२.३१	व्यक्ति, परिवार और समाज निर्माण के लिए त्रिविध आयोजन	२.१०७
कथा माध्यम से परामर्श दें	२.३४	पथभ्रष्ट परिवार कैसे सुधरे?	२.१०९
परिवार निर्माण में कथा-पुराणों का योगदान	२.३६	बाल-निर्माण में परिवार की भूमिका	२.११२
परिवार निर्माण की सुखद सम्भावनाएँ	२.३८	पारिवारिक आचार-संहिता की आवश्यकता	२.११२
परिवार निर्माण के लिए मानसिक पोषण भी आवश्यक है	२.४०	परिवारों में आचार-संहिता का पालन अनिवार्य हो	२.११४
परिवार निर्माण का एक महत्वपूर्ण उपकरण	२.४२	सृजन की सत्प्रवृत्तियों का अगला चरण	२.११५
परिवार निर्माण की पुण्य प्रक्रिया	२.४४	संगठन के प्रमुख उत्तरदायित्व और उनका निर्वाह	२.११८
परिवार निर्माण की सर्वतोमुखी सुखद सम्भावनाएँ	२.४५		
हमारे परिवार स्वस्थ परम्पराओं के केन्द्र बनें	२.४७	अध्याय-३	
दिशा बिगड़ने न दी जाय	२.४९	संयुक्त परिवार सौभाग्य और समुन्नति का द्वार	३.१
उत्कर्ष की दिशा में बढ़ चलें	२.५३	संयुक्त परिवार एक आदर्श प्रणाली	३.१
परिवार को सुसंस्कृत बनाया जाय	२.५७	संयुक्त परिवार के आधार और व्यवहार	३.६
परिवार को सुसंस्कारी कैसे बनाएँ	२.५९	संयुक्त परिवार की आधारभूत प्रेरणाएँ	३.१०
परिवार निर्माण की धुरी-नारी	२.६१	पारिवारिकता का अभिनव स्वरूप	३.१२
परिवार संस्था का पुनर्गठन हो	२.६३	पारिवारिकता क्यों?	३.१४
अपने परिवारों का पुनर्निर्माण आरम्भ करें	२.६५	पारिवारिकता से जुड़ा असाधारण दायित्व	३.१७
परिवार निर्माण में कथा-प्रसंगों का महत्व	२.६७	संयुक्त परिवार हर तरह से उपयोगी	३.१९
परिवार के साथ आत्म-निर्माण का दुहरा लाभ	२.६८	परिवार अर्थात् सहकारी परिकर	३.२१
परिवार निर्माण की परोक्ष पृष्ठभूमि	२.७०	परिवारों में सहकारिता का समावेश	३.२३
परिवार की दार्शनिक पृष्ठभूमि	२.७३	पारिवारिक प्रजातन्त्र के सुख तथा आनन्द	३.२५
व्यक्ति और समाज का उत्कर्ष		संयुक्त परिवार थोपें नहीं, बनाएँ	३.२६
परिवार निर्माण से	२.७५	वृहत्तर परिवारों की संरचना-सामयिक आवश्यकता	३.२८
परिवार में सहयोग एवं सद्भावना की आवश्यकता	२.७८	सहजीवन बनाम संयुक्त परिवार	३.३०
भावनात्मक एकरूपता	२.७८	संयुक्त परिवार प्रणाली ही	
अभिभावक एवं संतान	२.८१	हर दृष्टि से श्रेयस्कर	३.३२
बड़ों के आदेश और उनका सम्मान	२.८५	संयुक्त परिवार व्यवस्था को	
भाई-भाई, भाई-बहिन	२.८८	जीवन्त बनाए रखें	३.३४
आदर्श सहेली-ननद, भाभी	२.९३	पारिवारिक अनुशासन व्यवस्था का	
देवरानी, जेठानी की आत्मीयता	२.९६	संचालन यों हो	३.३५
बेटी और बहू में-अन्तर न रहे	२.९९	सामंजस्य की रीति-नीति	३.३६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
व्यावहारिक जीवन की सफलता का मूलाधार	३.३७	भेदभाव की नीति	४.१९
पृथक्ता छोड़ें-सामूहिकता अपनाएँ	३.३९	परिवार यों न तोड़ें	४.२०
सम्मिलित हों या अलग हो जाएँ?	३.४०	परिवार संस्था को टूटने से रोका जाय	४.२२
सम्मिलित रहें, अलग घर		इस गुलशन को उजाड़ें नहीं सँवारें	४.२३
बसाने की न सोचें	३.४१	पारिवारिक संगठन टूटने न पाएँ	४.२५
मिल-जुलकर रहें	३.४३	परिवार संस्था क्यों टूट रही है?	४.२६
सहजीवन, प्रगति और प्रसन्नता का आधार	३.४५	टूटता परिवार-बिखरता दाम्पत्य	४.२७
पारिवारिक संगठन कैसे स्थिर रहें?	३.४७	पारिवारिक परम्पराएँ विघटित न हों	४.२८
सम्मिलित परिवार इस तरह चलता है	३.४८	हम पारिवारिक संवेदना खो ही देंगे क्या?	४.२९
परिवार की आन्तरिक व्यवस्था	३.५०	बिखरते परिवार-बिलखते मासूम	४.३१
पारिवारिक जीवन सत्प्रवृत्तियों		वे अनुकरणीय नहीं, दयनीय हैं	४.३३
का साधना क्षेत्र	३.५२	पारिवारिक भावना की उपेक्षा न की जाये	४.३४
संयुक्त परिवार व्यवस्था की		पारिवारिक विघटन से बाल-	
समस्याएँ और समाधान	३.५४	विकास में अवरोध	४.३६
कौटुम्बिक एकता से ही		गृह-कलह, कारण और निवारण	४.३७
क्लेश-कलह मिटेंगे	३.५६	परिवार संस्था का संचालन कैसे हो?	४.३९
लार्जर फैमिली विश्व परिवार का एक		अनिवार्य उत्तरदायित्व का दोहरा प्रतिफल	४.४०
आदर्श लघु संस्करण	३.५८	पारिवारिक दंड-व्यवस्था	
		असहयोग का दर्शन	४.४२
अध्याय-४		परिवार संस्था का आधार कामुकता	
परिवार संस्था को विशृंखलित न होने दें	४.१	नहीं, आत्मीयता	४.४३
भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर		उपेक्षा नहीं, सेवा कीजिए	४.४५
परिवार संस्था	४.१	सुसंस्कृत परिवार का निर्माण कैसे हो?	४.४६
परिवार संस्था के विकास के		व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयत्नों की	
मूलभूत आधार	४.१	विभाजन रेखा	४.४९
परिवार संस्था की उपयोगिता नष्ट न करें	४.३	परिवार शान्ति और विश्रान्ति	
परिवार एक आदर्श प्रजातन्त्र है	४.४	का आश्रय स्थल	४.५१
पारिवारिक जीवन की समस्याएँ	४.६	पारिवारिक विवाद-विग्रह से	
उपेक्षा ही ने परिवारों का स्तर गिराया है	४.१०	यों बचा जा सकता है	४.५४
कमाऊ व्यक्ति परिवार के प्रति		परिवार में सुख-सृष्टि यों सम्भव है	४.५७
उपेक्षा न बरतें	४.१२	पारिवारिक सौमनस्य का	
गृहस्थ की दुर्दशा	४.१४	आधार स्वार्थ-त्याग	४.६३
हमारा पारिवारिक जीवन और गृह-कलह	४.१५	सर्वांगीण प्रगति का आधार सहकारिता	४.६७
परिवारों में इतने विग्रह और		परिवार संस्था का नवनिर्माण नारी जागरण	
इतने कलह क्यों?	४.१७	से ही होगा	४.६९
पारिवारिक जीवन की अनीति-		शुभारम्भ इस प्रकार हो	४.७२

विषय

पृष्ठ

विषय

पृष्ठ

अध्याय-५

मितव्ययी बनिए, सुखी रहिए

५.१

अधिक व्यय करने की हानियाँ

५.१

फैशन का पागलपन

५.२

मिथ्या प्रदर्शन और झूठी नामवरी

५.३

हमारी अतृप्ति और असंतोष का कारण

५.५

हमारी आर्थिक कठिनाइयाँ कैसे दूर हों?

५.१०

कर्ज का चक्कर

५.१५

फिजूलखर्ची की मूर्खता

५.१६

यह कीजिए ताकि आपको तंगी न रहे

५.२०

रहन-सहन का स्तर कैसे ऊँचा करें

५.२२

हमारे तीन बड़े खर्चे

५.२३

गृहस्थी में स्वर्ग की सृष्टि

५.२५

परिवार को एक इकाई मानकर चला जाय

५.२८

पारिवारिक सुव्यवस्था

५.३०

घर-परिवार में आर्थिक अनुशासन

लागू करें

५.३१

बचत की प्रवृत्ति घर-घर में बढ़े

५.३३

पारिवारिक आय-व्यय

५.३४

देखने में छोटी पर महान्

५.३७

आर्थिक सफलता के मानसिक संकेत

५.३७

परिवार की अर्थव्यवस्था का सन्तुलन

५.३८

पारिवारिक बजट बनाकर खर्च कीजिए

५.४०

अपव्यय रोकें, प्रगतिशील बनें

५.४२

अपव्यय को रोकें, उपार्जन को सम्मान दें

५.४३

मिथ्या आडम्बरों से कोसों दूर

५.४५

आडम्बर-अपव्यय की एक

मूर्खतापूर्ण आदत

५.४६

अपव्यय से बचें, मितव्ययिता का आश्रय लें

५.४८

परिवार की अर्थव्यवस्था सन्तुलित रखें

५.४९

अर्थव्यवस्था सदा सन्तुलित रखें

५.५०

हमारे प्रमुख घरेलू उद्योग-धन्धे

५.५२



www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org



पारिवारिकता की आवश्यकता क्यों ?

समाज देवता का अनुपम उपहार-परिवार

समझा जाता है कि उत्तरदायित्वों से मुक्त रहते हुए यदि एकाकी जीवन व्यतीत किया जाय तो वह परिवार बसाकर, उसकी जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए व्यस्त, परेशान व चिन्तित रहने की अपेक्षा अधिक सुखप्रद होता है। परेशानियाँ और चिन्ताएँ निश्चित ही मनुष्य को दुःखी बनाती हैं, समस्याओं और कठिनाइयों में उलझा हुआ आदमी निश्चित ही क्षुब्ध व उदास रहता है। लेकिन परेशानी, चिन्ता, समस्याएँ और कठिनाइयाँ परिवार बसाने के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यह सोचना भ्रमपूर्ण है।

पारिवारिक समस्याओं से परेशान व्यक्ति एकाकी और अविवाहित व्यक्ति को इस तरह की चिन्ताओं से मुक्त देखकर यह सोच सकते हैं कि इससे तो परिवार ही न बसाया जाता तो अच्छा रहता। परिवार बसाने पर घर के अन्य सदस्यों की आवश्यकताएँ पूरी करना, उनकी निर्वाह व्यवस्था जुटाना, रोग-बीमारी में उपचार-चिकित्सा की व्यवस्था करना आदि ऐसी जिम्मेदारियाँ हैं, जिनसे अकेला व्यक्ति मुक्त रहता है। अकेले व्यक्ति को इन चिन्ताओं से मुक्त देखकर ही परिवार को सब चिन्ताओं की जड़ मानने की भूल हो जाती है और पारिवारिक जीवन मात्र निराशापूर्ण, दुःखद अनुभव भर रह जाता है।

यह निराश दृष्टिकोण ही परिवार को समस्याओं का घर और चिन्ताओं की जड़ बना देता है अन्यथा परिवार कठिनाइयों, दुःखों और समस्याओं का आगार है, उनके कारण व्यक्ति दुःखी, चिन्तित व उदास रहे इसका कोई कारण नहीं है। कठिनाई, समस्या और कष्ट के कारणों की दृष्टि से देखा जाय तो एकाकी जीवन भी उन कारणों से सर्वथा रहित नहीं होता यह बात और है कि एकाकी जीवन की समस्याएँ अलग ढंग की होती हैं, उनका स्वरूप पारिवारिक समस्याओं के स्वरूप से भिन्न होता है परन्तु समस्याओं से मुक्त कोई नहीं है।

जीवन निर्माणकारी साहित्य के एक लेखक ने एकाकी जीवन को एक अभिशाप बताते हुए लिखा है—“यह अभिशाप अपना भयंकर रूप तब धारण करता है जब व्यक्ति जीवन यात्रा के बिल्कुल मध्यवर्ती पड़ाव पर पहुँच जाता है। उन समय अनुभव होता है कि खाली घर का सूनापन किस कदर उबाऊ हो जाता है। घर में प्रवेश करते ही जब अन्दर से स्वागत करने वाली कोई आवाज नहीं होती तो व्यक्ति अपने को बाहरी दुनिया से निकलने पर, जहाँ अधिकांश सम्बन्ध स्वार्थी के सम्बन्ध होते हैं,

अधिकांश रिश्ते केवल औपचारिक होते हैं और वातावरण में बनावटीपन भरा रहता है—ऐसी दुनिया से बाहर आने पर घर की खामोशी व्यक्ति को अपने अकेलेपन का अहसास कराती है। विशेषतः ऐसे व्यक्ति जिन्हें विवाह के बाद यह अकेलापन मिला है वे अनुभव करते हैं कि सूने घर में प्रवेश और पत्नी की मुस्कान के स्वागत का अनुभव करते हुए घर में प्रवेश करने में कितना भारी अन्तर होता है ?”

एकाकी जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप जीवन में सच्चे, आत्मीय और घनिष्ठ मित्र का अभाव है। किस पर किस समय क्या बीत रही है, इसकी किसी को चिन्ता नहीं रहती। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता जिसके जीवन में एकाकी व्यक्ति का सर्वोच्च और सबसे महत्वपूर्ण स्थान हो। किसी को इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि कोई व्यक्ति स्वस्थ है या बीमार, प्रसन्न है या खिन्न।

उस स्थिति में आभास होता है कि सच्चे मित्र की आवश्यकता जीवन में कितनी महत्वपूर्ण होती है और वह मित्र भी ऐसा जिसके प्रति अपने अनिवार्य दायित्व, जो अपने प्रति स्वयं को भी उसी प्रकार अनिवार्य दायित्वपूर्ण अनुभव कर सके तथा दोनों परस्पर दायित्वों, कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करते रहें।

एकाकी रहने से जिस स्वतंत्रता की कल्पना की जाती है वह वस्तुतः स्वतंत्र नहीं स्वच्छन्दता होती है, जिसकी भड़क थोड़ी देर बाद ही शांत हो जाती है और फिर बाद में एक रिक्तता, पश्चाताप भर बच रहते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ है विवेकपूर्वक जीवन को जीना और प्रगति की सम्भावनाओं को साकार करना जबकि स्वच्छन्दता जीवन से विवेक को स्थानच्युत कर उत्तेजना, बहक और भटकाव ही पैदा करती है। माना कि व्यक्ति एकाकी रहते हुए भी प्रस्तुत सम्भावनाओं और परिस्थितियों का विवेकपूर्ण उपयोग कर सकता है। परन्तु एक व्यक्ति की बुद्धि और समझ सीमित तो रहती ही है। एकाकी भी होती है। उस स्थिति में प्रस्तुत सम्भावनाओं का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।

पारिवारिक जीवन में, जीवन-साथी उस मित्र की आवश्यकता को पूरा करता है, जो पूर्णतया निष्पक्ष, निर्दोष और यथासम्भव सही परामर्श देता है। इसलिए कि परिवार में पति-पत्नी के लाभ व हित एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं, उन्हें दोनों का लाभ साथ-साथ देखना है और वे परस्पर दूसरे पक्ष की भलाई में अपनी भलाई समझते हैं। केवल उत्तरदायित्वों के बोझ से खिन्न होकर पारिवारिक जीवन के प्रति निराश और उदास दृष्टिकोण लिया जाय तो दुःखी व परेशान रहने के अलावा और कोई परिणाम नहीं निकलता।

१.२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

आवश्यकता इस बात की है कि परिवार को परमात्मा का अनुग्रह, समाज व्यवस्था का महत्वपूर्ण अनुदान समझ कर उसके प्रति स्वयं को कृतकृत्य अनुभव किया जाय। परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को निराश मन से नहीं उत्साह के साथ पूरा किया जाय। अग्निदेवता की साक्षी में लिये गये इस व्रत का निष्ठापूर्वक पालन किया जाय कि हम आजीवन एक-दूसरे के अभिन्न मित्र बनकर, सघन सहयोगी बनकर रहेंगे तथा एक दूसरे के प्रसन्न व सुखी रखने की भरपूर चेष्टा करेंगे तो दुःख, बोझ और परेशानियों का छत्ता लगने वाला परिवार सुख, प्रफुल्लता और आनन्द से पूरित स्वर्ग बन सकता है।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि "आनन्द पाने से अधिक बाँटने में मिलता है।" यदि पति-पत्नी यह दृष्टि-कोण अपनाएँ कि हमें अपने जीवन-साथी को सुखी व संतुष्ट रखना है तथा उसके लिए स्वयं असुविधाग्रस्त रहते हुए भी जीवन-साथी के लिए सुविधाएँ जुटाते रहना है तो पारिवारिक जीवन के प्रति आ गयी निराशा को भी दूर हटाया-भगाया जा सकता है। वस्तुतः तो पारिवारिक जीवन में कलह, असंतोष, खिन्नता और उदासी की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती भी इसीलिए हैं कि पति-पत्नी अपने साथी के लिए स्वयं की आकांक्षाओं को कुर्बान करने के स्थान पर उन्हें पूरा करने की माँग को प्रधानता देते हैं।

अपने साथी से की गयी अपेक्षाएँ जब पूरी नहीं होती तो स्वभावतः ही उदासी और निराशा उत्पन्न होती है। अपेक्षाएँ पूरी हो जायें तो यह नहीं कहा जा सकता कि सभी आकांक्षा अपेक्षाएँ पूरी हो जायेंगी। सभी आकांक्षाएँ पूरी होने की स्थिति में भी वह आनन्द नहीं मिलता जो पाने के स्थान पर देने से मिलता है। वह आनन्द अहं की तुष्टि का आनन्द है और देकर प्राप्त किया गया आनन्द प्रेम का, त्याग का आनन्द है। उस आनन्द की नींव कमजोर होती है-क्योंकि उसकी बागडोर दूसरे के हाथ में रहती है। की गयी अपेक्षाएँ, दूसरे पक्ष द्वारा ही तो पूरी होती हैं। जिस समय पूरी नहीं होंगी या पूर्ति में कमी आने लगेगी उसी क्षण असंतोष उपजने लगेगा। प्रेम के आनन्द की बागडोर अपने हाथ में रहती है। किसी से पाना तो अपने हाथ में नहीं है पर बाँट देना तो अपनी मनमर्जी की बात है। जीवन-साथी को अपनी मनमर्जी के अनुसार चलाने की अपेक्षा स्नेह, प्रेम व त्याग द्वारा उसे अपने अनुकूल ढाल लेना अधिक ही सुगम है।

परिवार को सुख-शान्ति का आगार बनाने का एक-मात्र स्वर्णिम सूत्र यही है कि उसमें अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के स्थान पर जीवन-साथी के प्रति अपने दायित्वों को तत्परतापूर्वक निबाहने की नीति अपनायी जाय। यह नीति एक ही पक्ष द्वारा अपनायी जाती रहे तो भी परिवार बँसाने का उद्देश्य पूरा नहीं होगा, उचित तो यही है कि दोनों पक्ष-पति व पत्नी इस नीति को उदारतापूर्वक अपनाएँ। तब परिवार एक दुःखद अनुभव

नहीं रह जायगा। वह परमात्मा का अनुग्रह और समाज का उपहार लगने लगेगा।

परिवार की आवश्यकता और महत्ता

मनुष्य की उन्नति और विकास के लिए परिवार को एक अनिवार्य, आवश्यकता माना जाता है। मोटी दृष्टि से देखें तो मनुष्य का जन्म ही परिवार के माध्यम से होता है। किन्तु यह तर्क बहुत प्रामाणिक नहीं। अनेक पशु, पक्षियों में परिवार नहीं बनाये जाते, फिर भी उनकी नयी पीढ़ी बनती, बढ़ती रहती है। नर मादा मिलकर अपनी ही जैसी हड्डी, माँस, चमड़ी युक्त एक और आकृति बना लें, यह क्रम तो मनुष्य नाम के प्राणी में भी परिवार बसाये बिना भी चल सकता है। किन्तु मनुष्य जिन गुणों, विशेषताओं के कारण सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी-भगवान का राजकुमार कहा जाता है, उनका विकास करने के लिए तो परिवार की आवश्यकता अनिवार्य रूप से पड़ती है।

मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। समाज में ही उसका समुचित विकास होना तथा सुख-शान्ति की उपलब्धि सम्भव है। मनुष्य के अद्भुत विकास के पीछे उसकी सामाजिकता-सहकारिता की प्रवृत्ति ही है। बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताएँ तो अन्य पशुओं में भी पर्याप्त मात्रा में हैं। किन्तु व्यक्तिगत स्तर से आगे बढ़कर सामूहिकता का लाभ उठाना, पीढ़ी दर पीढ़ी एक दूसरे के अनुभव द्वारा अपने ज्ञान को समृद्ध और व्यवस्थित करना मनुष्य के अतिरिक्त और कोई जीव नहीं जानता। सामाजिकता का लाभ मनुष्य ही उठा सका है इसीलिए उसे सामाजिक प्राणी कहा गया है, जबकि समूह में रहने वाले अनेक पशु-पक्षी सामाजिक प्राणी नहीं कहलाते।

परिवार समाज की एक छोटी इकाई है। जिसके आधार पर मनुष्य स्वयं में सामाजिक गुणों का विकास करके दुर्लभ लाभ प्राप्त करता है।

इस तथ्य के अनुसार एक महत्वपूर्ण सूत्र उभरकर सामने आता है, वह यह कि परिवार का अर्थ मात्र पति-पत्नी और एकाध बच्चा नहीं। सामाजिक जीवन का अभ्यास तदनुकूल गुणों का विकास उतने मात्र से सम्भव नहीं। उसके लिए तो भारतीय पद्धति के संयुक्त परिवार जिसमें पति-पत्नी एवं बच्चों के अतिरिक्त चाचा, ताऊ, बाबा, दादा, मौसी, बुआ, भतीजे, भतीजियाँ आदि अनेक तरह के अनेक स्तर के व्यक्तियों का समावेश रहता है।

विदेशों में बड़े परिवारों को बेकार का झंझट समझकर उनकी उपेक्षा करके पति-पत्नी एवं बच्चों के छोटे परिवार बसाने के प्रयोग किए गये हैं। निश्चित रूप से ऐसे परिवारों की रचना व्यक्तिगत मौज-मजे को लक्ष्य करके की जाती है। उसमें भी वे कितनी सफलता पाते हैं यह बात भिन्न है, किन्तु ऐसा करके वे परिवार संस्था के

मूल उद्देश्य से ही भटक जाते हैं। परिवार संस्था की संरचना का उद्देश्य पशुओं की तरह बच्चे पैदा करना और मौज-मजे में जीवन बिताना नहीं है। यह तो परिवार बनाये बिना भी हो सकता है। अस्तु, यह बात भली प्रकार ध्यान में रखनी चाहिए कि मूलतः परिवार के मूल आधार निकृष्ट स्वार्थपरता तथा इन्द्रिय लिप्सा जैसे ओछे दृष्टिकोण नहीं जीवन में उच्च मूल्यों की स्थापना के उच्च आदर्श ही हैं। सच्चे अर्थों में परिवार संस्था का लाभ उठाना है तो उन उच्च आदर्शों को सदैव ध्यान में रखना ही चाहिए।

यदि परिवार को मात्र मौज-मजे का साधन मान लिया जाय, तब तो नये-नये अनुसंधानों के कारण पारिवारिकता की आवश्यकता नहीं के बराबर रह जाती है। नयी-नयी वैज्ञानिक उपलब्धियों के फलस्वरूप घर के काम का बोझ हल्का हो गया है। आमोद-प्रमोद के साधन भी अब घर से बाहर ही अधिक मिल पाते हैं। सिनेमाघर, खेल के मैदान, स्टेडियम, क्लब आदि आज मनोरंजन के साधन बन गये हैं। लेकिन इनके कारण परिवारों की आवश्यकता कभी नहीं बढ़ी है। साधन-सुविधाओं से घिरा मनुष्य भावनात्मक दृष्टि से स्वयं को असंतुष्ट अनुभव करता है। उसे सर्वत्र उस आत्मीयता का अभाव ही दिखाई पड़ता है। दिखावटी शिष्टाचारों से उसका मन ऊब गया है, आन्तरिक उल्लास मर गया है। भीतर की इस शुष्कता, ऊब, नीरसता और निरुत्साह का जीवन भर प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही है।

इस ऊब और तनाव से मुक्ति पाने के लिए लोग मित्र-मंडली (फ्रेंड-सर्किल) की तलाश में रहते हैं। मित्रों के बीच थोड़ी देर बैठने पर शांति का एहसास होता है। यह सही है कि सच्चे मित्र जीवन के अमूल्य उपहार सिद्ध हो सकते हैं, पर जब जन-जीवन में अपनत्व की क्षमता घटी तो सच्चे मित्र मिलेंगे कहाँ? जीवन में हताशा, कुण्ठा, नैराश्य की वृद्धि होती जाएगी तो आन्तरिक शांति, उल्लास और प्रसन्नता से रहित मशीन जैसा जीवन जीने वाले लोग चाहने पर भी अपनी संगति से साथी को सन्तोष और प्रसन्नता कदापि नहीं दे सकेंगे।

सुसंस्कृत परिवार सर्वोत्तम मित्र-मंडली की भूमिका भी खूबी से निबाहता है। दुःख-सुख, उतार-चढ़ाव, व्यथा-विनोद में गहरी सहभागिता की प्रवृत्ति सुसंस्कृत परिवार को एक श्रेष्ठ मित्र-मंडली ही बनाये रखती है। उनमें पारस्परिक हितों का टकराव भी नहीं होता। क्योंकि सभी के हित एक ही होते हैं। बच्चों की मीठी बोली, तोतली बोली माँ का प्राणशक्तिदायक वात्सल्य, भाई-बहिनों का सौन्दर्य-उल्लास, पत्नी का प्रेमपूर्ण समर्पण, पारस्परिक घनिष्ठ सहयोग ये सब मित्रमंडली के सभी तत्वों का समुचित स्वरूप ही तो है। छोटे बच्चों का खेलना, बड़े बच्चों का पढ़ना, कहीं कढ़ाई-बुनाई, कहीं संगीत, कहीं अध्ययन, कहीं आगन्तुकों से शिष्ट, मधुर-कुशल वार्तालाप, अनुभवपूर्ण बातें, धर्मचर्चा और प्रेरक कहानियाँ, परिवार द्वारा मनोरंजन, उल्लास और प्रेरणा आदि के वे सभी कार्य अधिक उत्तम रीति से पूरे हो जाते

हैं, जो एक श्रेष्ठ मित्र-मंडली में होते हैं। प्रगाढ़ आत्मीयता को भाव से युक्त सुसंस्कारवान परिवारों से हर विषय में जितना उत्तम एवं हितपरक परामर्श मिल सकता है, उतना अन्य मित्रों से कदाचित् ही मिल सके।

परिवार से प्राप्त होने वाले इस प्रकार के साधन-सुविधा एवं समर्थन सहयोगपरक अनेक लाभ हैं, जिन्हें पाने के लिए मनुष्य परिवार बनाता है। कुटुम्ब को छोड़कर विरक्त जीवन जीने वाले एवं महात्मा भी इसी दृष्टि से जमात, आश्रम आदि बनाकर रहते हैं। यह भी परिवार परम्परा का ही एक रूप है। हर स्तर पर मनुष्य इसका सही उपयोग करके लाभ उठा सकता है।

परिवार परम्परा को प्रोत्साहन करने में ऋषियों का मन्तव्य केवल इतना ही नहीं रहा कि व्यक्ति एक से बहुत होकर रहे। दुःख, तकलीफ पड़ने पर उसका हाथ बँटाने वाला उसके साथ हो। व्यक्ति व्यवस्थित रूप में स्थाई होकर रहे और परिजनों के साथ अधिक उल्लासपूर्ण जीवनयापन करे। इस साधारण मन्तव्य के साथ उनका एक इससे कहीं ऊँचा मन्तव्य भी रहा है, वह यह—कि परिवार के माध्यम से मनुष्य आत्म-कल्याण की ओर भी अग्रसर हो। उसमें सामाजिकता, नागरिकता और सबसे बड़ी बात—विश्व मानवता का कल्याणकारी भाव जागे। वह अपने जैसे अन्य मनुष्यों के लिये त्याग, सहानुभूति सौहार्द एवं आत्मीयता का अभ्यस्त हो सके।

मनुष्य की संकीर्णता दूर होकर उसकी आत्मा का व्यापक विकास हो, यही आत्म-कल्याण का राजमार्ग है, मनुष्य दूसरे का दुःख, दर्द समझकर उसके साथ सहानुभूति रख सके, उसकी सेवा-सुश्रूषा तथा सहायता करने को तत्पर रहे, यही आत्म-उन्नति के लक्षण हैं। पारिवारिक जीवन में इन आध्यात्मिक गुणों के विकास का पूरा-पूरा अवसर रहता है।

एक पिता जब वह बालक रहा होगा तब निश्चय ही आज की तुलना में अधिक संकीर्ण, अधिक स्वार्थी तथा अपने तक अधिक केन्द्रित रहा होगा। वह यही चाहता रहा होगा कि उसे सबसे अधिक और अच्छा खाने-पहनने को मिले, सबसे अधिक खर्च करने को मिले और सबसे अधिक सुख-सुविधा के साथ स्नेह-दुलार भी उसे ही मिले। अपनी इस स्वार्थ-भावना के वशीभूत वह दूसरों के हितों का ध्यान रखे बिना ही अपना हठ पूरा कराने का प्रयत्न करता रहा होगा। दूसरों के प्रति वह पूर्ण उदासीन रहा होगा। दूसरों के प्रति अनुदारता एवं कृपणता उसके स्वभाव के अंग रहे होंगे।

किन्तु अनन्तर जब उसने विवाह किया होगा और उसकी एकान्तिक स्वार्थपरता एवं संकीर्णता में दरार पड़ गई होगी तो वह केवल अपने स्वार्थ के प्रति आग्रही न रहकर पत्नी की सुख-सुविधा, उसकी इच्छाओं एवं हँसी-खुशी के विषय में सोचने लगा होगा। एक चीज यदि अपने लिये लाता होगा तो एक पत्नी के लिये भी और इस प्रकार उसकी आत्मीयता की परिधि बढ़ गई होगी। उसका

१.४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रेम, स्नेह एवं सहानुभूति अपने से बढ़कर दूसरे तक जा पहुँची होगी और वह अपने अतिरिक्त अपनी पत्नी का भी आत्मीय बन गया होगा।

आज जब यह अनेक बच्चों का पिता बन गया है तो उसका सारा जीवन ही, उसके परिवार का हो गया है। उसका अपना कुछ नहीं रहा है। कहने के लिये उसका जो कुछ है उसके बच्चों का है। न वह पूर्ववत् स्वार्थी है, न संकीर्ण और न अनुदार। उसमें त्याग, सन्तोष, सहानुभूति, संवेदना तथा आत्मीयता के गुण आप से आप विकसित हो गये हैं। उसकी संकुचित आत्मा अनेक तक निःस्वार्थ भाव से विस्तृत हो गई है। यह आत्मिक विकास कैसे हुआ-पारिवारिक जीवन अपनाने से। यदि उसने पारिवारिक जीवन न अपनाया होता और उत्तरदायित्व न समझा होता, तो न तो उसकी आत्मा का विस्तार पत्नी तक होता और न बच्चों तक फैलता। वह यथावत् स्वार्थी एवं संकीर्ण बना हुआ पशुओं की तरह जड़ एवं अविकासशील जीवन बिता रहा होता। त्याग, सहानुभूति, संवेदना, स्नेह तथा अन्यो से आत्मीयता का क्या सुख होता है इस अनुभव से सदा-सर्वथा अनभिज्ञ रहता। यह पवित्र पारिवारिक जीवन का ही प्रभाव है कि उसकी आत्मा के संकीर्ण बन्धन शिथिल हुए और विस्तार हो सका। इसी प्रकार पत्नी से परिवार, परिवार से परिजनों, परिजनों से पार्श्वजनों और पार्श्वजनों से गुरुजनों में फैलती हुई उसकी आत्मीयता विश्व तक जा पहुँचे तो सहज ही कड़ी-कड़ी करके उसकी आत्मा के बन्धन निःशेष हो जायें और वह मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति अथवा मोक्ष की उपलब्धि कर ले। पारिवारिक जीवन एवं गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था देने में ऋषियों का मुख्य उद्देश्य यही था-सांसारिक सुख-सुविधा तो स्वाभाविक एवं गौण थी।

अनेक लोग परिवार को आत्मोन्नति के मार्ग में बाधक मानते हैं। उनका कहना होता है कि परिवार-पालन के दायित्व के कारण मनुष्य को दिन-रात सांसारिक उलझनों में फँसा रहना पड़ता है। उसे बाल-बच्चों की चिन्ता से ही अवकाश नहीं मिलता, फिर भला वह आत्मोद्धार के लिये किस प्रकार प्रयत्न कर सकता है। इस प्रकार सोचने वाले गलत रूप में सोचते हैं। उलझनों का कारण परिवार नहीं बल्कि वह गलत व्यवस्था है, जिसकी ओर लोग प्रमादवश ध्यान नहीं देते और परिवार की गाड़ी उल्टी-सीधी खींचते चले जा रहे हैं। किसी भी वस्तु का गलत प्रयोग ही उसे हानिकारक बना देता है। भोजन मनुष्य-जीवन के लिए नितांत उपयोगी वस्तु है। इसके अभाव में जीवन असम्भव हो जायेगा। इसी से मनुष्य को स्वास्थ्य एवं शक्ति मिलती है। इसी उपयोगी एवं जीवनप्रद भोजन को जब अनुचित रूप से उपयोग किया जाता है तब यही अनेक रोगों का कारण बन जाता है और मनुष्य को अशक्त बना देता है। उसी स्थान पर विधिपूर्वक उपवास के रूप में भूखा रहना अनेक अवसरों पर आरोग्य एवं

जीवनदाता बन जाता है। दूध, घी, मक्खन, मधु आदि सर्वविदित पौष्टिक पदार्थ हैं। इनका विधिपूर्वक उपयोग करने से मनुष्य-जीवन के लिए अमृत का काम करते हैं किन्तु यही अमृततुल्य पदार्थ अविधिपूर्वक सेवन करने से विष बन जाते हैं।

परिवार जीवन की परिभाषा करते हुए एक विद्वान ने कहा है-“परिवार परमात्मा की ओर से स्थापित एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम अपना आत्म-विकास सहज ही में कर सकते हैं और आत्मा में सतोगुण को परिपुष्ट कर सुखी, समृद्ध जीवन प्राप्त कर सकते हैं। मानव जीवन की सर्वांगीण सुव्यवस्था के लिए पारिवारिक जीवन प्रथम सोपान है। मनुष्य केवल सेवा कर्म और साधना में ही पूर्ण शांति प्राप्त कर सकता है।” पारिवारिक जीवन की यह परिभाषा निस्सन्देह बड़ी ही उचित एवं समीचीन है। गहराई से विचार करने से इसकी यथार्थता प्रकट हो जाती है।

समाज रचना का कार्य स्वयं परमात्मा ने मनुष्य के विचारों और भावनाओं में उतरकर किया है। उसी ने समय-समय पर उसके विकास और विस्तार को मानवीय विवेक द्वारा आगे बढ़ाया है वही उसमें आ जाने वाले विकार और विकृतियों को दूरदर्शी व्यक्तियों द्वारा प्रकट करता है और उन्हें सुधारने की प्रेरणा देता है। इसलिये परिवार संस्था को परमात्मा की ही रचना-इच्छा अथवा निर्देश मानना चाहिए और उसी के अनुरूप उसका सेवन एवं संचालन करना चाहिए। जो लोग परिवार को अपने मनमाने ढंग से चलाते और सेवन करते हैं वे एक अहंभाव से प्रेरित होते हैं और परमात्मा की इच्छा का विरोध करते हैं।

जो परिवार बसाता है, उसका पालन ठीक प्रकार से करता है, उसका जीवन सुखी होना स्वाभाविक ही है। एक दूसरे के प्रति त्याग, आत्मभाव सुख का बड़ा कारण है, वह सच्चे, उपयुक्त पारिवारिक जीवन में मिलता ही है। बिना परिश्रम और पुरुषार्थ के पारिवारिक जीवन चल ही नहीं सकता। अकेला आदमी तो चाहे जो खाकर और चाहे जहाँ रहकर जीवन काट सकता है किन्तु किसी गृहस्थ के लिये यह सम्भव नहीं। गृहस्थ अपने लिए न सही पत्नी और बच्चों के लिए परिश्रम-पुरुषार्थ करेगा। कमायेगा और घर लाकर पत्नी को देगा ही। पत्नी उसे बुद्धिमत्तापूर्वक खर्च कर, आगे के लिये, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और ब्याह-शादी के लिए बचायेगी। पुरुष परिवार को उन्नत और बच्चों को योग्य बनाने के लिए अधिक से अधिक कमायेगा और पत्नी उसमें से अधिक से अधिक बचाने का प्रयत्न करेगी।

इस प्रकार घर की समृद्धि में वृद्धि होगी ही। कोई भी एकाकी आदमी उतना समृद्धिशील नहीं देखा जाता, जितना कि पारिवारिक गृहस्थ। वह रहने के लिए घर और बच्चों के लिये कारोबार की व्यवस्था करता ही है, फिर चाहे थोड़ी कर सके अथवा बहुत। अनन्तर बच्चे

बड़े होकर कमाने लगते हैं, एक से दो और तीन की कमाई आने लगती है और परिश्रमी और बुद्धिमान गृहस्थों की सुख-समृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। यह अवसर पारिवारिक व्यक्ति को ही रहता है, एकाकी को नहीं क्योंकि उसके लिए न तो उसे इच्छा होती है और न आवश्यकता। उसका तो अपना अकेला शरीर होता है। मत्तलब भर का बचाया और खा-पीकर पड़े रहे। इस प्रकार देखा जा सकता है कि पारिवारिक अथवा गृहस्थ-जीवन में आत्मविकास, सतोगुण और सुख-समृद्धि की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। निःसन्देह, परिवार सर्वांगीण उन्नति का एक महत्वपूर्ण सोपान है, जिस पर योग्यतापूर्वक चढ़कर मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य पा सकता है।

परिवार को प्रयोगशाला, व्यायामशाला मानकर उसका हर सदस्य अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास कर सकता है। प्रेम, सहानुभूति, संवेदना, अपनत्व, त्याग और उदारता आदि के भाव सतोगुण के द्योतक होते हैं। परिवार में पत्नी और बच्चों के माध्यम से ये सहज ही विकसित हो जाते हैं। मनुष्य में यदि प्रेम का भाव विकसित न हो तो वह एक अपरिचित नारी का भार क्यों उठाये? क्यों उसे प्यार करे और क्यों उसके लिये, उसकी प्रसन्नता के लिये किसी प्रकार का त्याग अथवा बलिदान करे? यदि प्रेम-भाव विकसित न हो तो बच्चों का उत्तरदायित्व एक भयानक भार बन जाये, जो उससे उठाये न उठे। बच्चों का पालन और विकास करने में मनुष्य का सारा जीवन, सारी शक्ति, सारे साधन लग जाते हैं, उनके प्रति प्रेम का विकास न हो तो इतना त्याग कर सकना किसी के वश की बात न हो सके। यही बात सहानुभूति, संवेदना और त्याग, बलिदान आदि गुणों के सम्बन्ध में है। परिवार के माध्यम से मनुष्य में सात्विक गुणों का विकास हो ही जाता है।

यदि ऐसा न हो और रजोगुण अथवा आसुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता बनी रहे तो परिवार संस्था एक दिन भी न चले। सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट होकर बिखर जाये। सतोगुण के आधार पर ही इस संस्था का संचालन होता है। यदि इन्हीं विकसित हुए सात्विक गुणों को 'यह मेरा परिवार है, यह मेरे बच्चे हैं'-इस संकीर्ण अहंभाव से मुक्त रखे यदि यह समझा जाये कि यह सब उस परमात्मा के अंश हैं, इनकी सेवा करना, इनके लिए त्याग करना हमारा कर्तव्य है, मैं जो कुछ त्याग अथवा उत्सर्ग कर रहा हूँ, वह सब इनके माध्यम से इस एक विश्वात्मा के लिए ही कर रहा हूँ, इन्हीं के समान अन्य सब दूसरे भी मेरे हैं, उन्हें भी मेरी सेवाओं का अधिकार है, तो आत्मा का विश्व विराट तक परिसर होते देर न लगे।

किन्तु यह सब सम्भव होगा तभी जब इस साधन को साधन मानकर सावधानीपूर्वक उपयोग में लाया जाये, इस साधन को अधिक दक्ष, प्रखर और सशक्त बनाने के लिये सतत् प्रयत्न किया जाता रहे। जो सदस्यों को सुयोग्य, बच्चों को सुशील, सुशिक्षित और अनुशासित बनाने के रूप

में होगा। परिवार का गुण, कर्म, स्वभाव, के रूप में उचित निर्माण करना ही इस साधन को उद्देश्य के योग्य, सक्षम बनाना है। इसका उपाय शिक्षा, प्रेम, त्याग, बलिदान, सेवा और सदाचरण की शिक्षा और व्यक्तिगत उदाहरण ही माना गया है।

जहाँ इस साधन को साध्य मानकर, भोग-विलास का अवसर बनाया गया, कि वह नष्ट हो जायेगा। तब उस दशा में न तो प्रेम रह जायेगा, न त्याग और न कोई आत्मीयता। बच्चे अनिच्छित, रोगी, निकम्मे और अनुशासनहीन होंगे। स्वास्थ्य और सौहार्द समाप्त होकर स्वार्थ एवं स्पृहा बढ़ जायेगी, परिवार नरक का जीता जागता द्वार बन जायेगा। परिवार का पालन और समुचित निर्माण ही इस साधन को प्रखर, उज्ज्वल और सक्षम बना सकता है और तभी आत्म-विकास अथवा आत्म-वृद्धि का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है -

“गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।

चतुर्णामाश्रमाणान्तु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥”

“गृहस्थ ही वास्तव में यज्ञ करते हैं। गृहस्थ ही वास्तविक तपस्वी हैं। इसलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सबका सिरमौर है।”

गृहस्थ जीवन एक तप है, एक साधन है। इसका समुचित प्रयोग करके वास्तविक लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ को तपस्वी का जीवन बिताते हुए जीवन को सुविधापूर्वक उन्नति एवं विकास की ओर धीरे-धीरे बढ़ाते चले जाना चाहिए।

परिवार का दर्शन

यह सारी सृष्टि एक ही सत्ता का विस्तार है। कोई उसे ईश्वरीय परिवार कहता है, तो कोई अन्य उसे माया का परिवार कहता है। पर है यह विश्व ब्रह्माण्ड एक ही परिवार, यह बात सभी को स्वीकार है। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने चाहा-“एकोऽहं बहुस्याम्” एक से अनेक बनूँ। आत्म विस्तार का यह संकल्प सृष्टि परिवार के रूप में सामने आया। यही है ब्रह्म का विराट रूप।

इस प्रकार परिवार के सम्बन्ध में दो बातें आधारभूत महत्व की हैं-पहली यह कि यह सम्पूर्ण सृष्टि एक ही परिवार है-‘वसुधैव कुटुम्बकम्’। इस परिवार की लघुतम इकाई है माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन और बच्चों की एक न्यूनतम सम्पूर्ण यूनिट, प्रचलित शैली में इसे ही परिवार समझा जाता है।

भारत में परिवार का ढाँचा मुख्यतः पितृ वंशानुक्रम पर ही आधारित है। मातृवंशीय समुदाय देश के दक्षिण पश्चिमी और उत्तरपूर्वी क्षेत्रों में ही हैं- केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, मेघालय, लक्षद्वीप और असम के कुछ हिस्सों में मातृवंशीय परिवार-व्यवस्था है। विशेषकर केरल के नायरो, तिर्यारों तथा गोपलाओं में, कर्नाटक, तमिलनाडु

१.६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

की वन्य जन-जातियों में लक्षद्वीप के मूल निवासियों में तथा असम व मेघालय की गारो, खासी और फारजातियों में मातृवंशीय परिवार व्यवस्था है। जहाँ बच्चे की सामाजिक पहचान माँ के माध्यम से ही होती है। नायर जाति की लड़कियाँ जहाँ सम्पत्ति में मात्र सहभागी होती हैं, वहीं असम की गारो जाति में परिवार की उत्तराधिकारी यानि वारिस सदा ही कोई एक लड़की बनायी जाती है। इस वारिस का चुनाव माँ करती है। वह उत्तराधिकारी बनी लड़की ही घर के सभी धार्मिक कार्य करती है। वृद्ध माता-पिता की परिचर्या, मृत्यु-संस्कार पितरों का श्राद्ध आदि सभी जिम्मेदारी वही निभाती है।

ऊपर कही गई मातृवंशीय जातियों के अतिरिक्त शेष लगभग सम्पूर्ण भारत में पैतृक वंशानुक्रम ही प्रचलित है। जहाँ पुत्र को पिता का सहज और स्वाभाविक वारिस समझा जाता है। वही धार्मिक संस्कारों के लिए प्रधानतः उत्तरदायी माना जाता है। बहरहाल, परिवार मातृवंशीय हो या पितृवंशी सामान्यतः परिवार से आशय तीन पीढ़ियों के सहभाजी और सहआवासी समूह से होता है, जिसमें माता-पिता, बेटे और अविवाहित बेटियाँ तथा बेटों की बहुएँ और बच्चे शामिल होते हैं। बेटे बड़े होकर आपस में अलग-अलग व्यवस्था बना लेते हैं, तो भी अपने माता-पिता को वे प्रायः परिवार का ही अंग मानकर चलते हैं और बच्चे तो परिवार का अंग होते ही हैं। इस प्रकार परिवार का सामान्य अर्थ 'तिन पिढ़िया सहजीवन' ही कहा जा सकता है। यही तीन पीढ़ियों की सघन एकजुटता परिवार की आधारभूत इकाई कही जाती है। इसका और भी सिकुड़ा रूप है- पति-पत्नी और बच्चों को मिलाकर बनी पारिवारिक इकाई तथा इसका सर्वाधिक विकसित रूप है- "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अवधारणा।

पारिवारिकता मात्र सहभोज और सहनिवास नहीं है। वह एक सहकारी संस्था है, जहाँ सहकार के सूत्र जीवन के किसी एक क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं हैं। अपितु सम्पूर्ण जीवनक्रम से ही जुड़े हैं। होटलों-धर्मशालाओं में भी लोग साथ रहते हैं। कई लोग तो वर्षों एक ही होटल या धर्मशाला में साथ-साथ रहते हैं। इस सहनिवास की अवधि में वे शिष्टता और सहकारिता के कुछ नियमों का भी निर्वाह करते हैं। पर यह सहकार और सहभाव अति सीमित होता है। परिवार में सहकारिता का क्षेत्र जीवन के सभी पहलुओं से जुड़ा रहता है। इसी दृष्टि से परिवार एक समग्र सहकारिता की संस्था कहा जा सकती है।

प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि आत्मविस्तार ही पारिवारिकता प्रक्रिया का प्रारम्भ है। इसका प्रथम चरण परिवार है। शरीर के अवयवों की तरह ही परिवार के परिजन भी एक ही परिवार शरीर के अंग हैं। यह भाव बोध प्रखर रहे, तो उस सम्पूर्ण परिवार को स्वस्थ, समुन्नत, परिष्कृत बनाने के प्रयास चलते ही रहते हैं। परमार्थ परायणता की यह प्रारम्भिक स्थिति है, जिसका चरम पर्यवसान "वसुधैव कुटुम्बकम्" की दृष्टि

में होता है। इसीलिए परिवार निर्माण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से एक ओर व्यक्ति निर्माण की सुव्यवस्था बनती है, दूसरी ओर समाज निर्माण का उद्देश्य भी अनायास ही पूरा होता चलता है, लेकिन ये दोनों ही प्रयोजन पूरे तभी हो सकते हैं, जब परिवार को एक ऐसी श्रेष्ठ पाठशाला के रूप में विकसित किया जा सके जहाँ व्यक्ति को सुसंस्कारों की शिक्षा सम्पदा मिलती रह सके, परिवार संस्था और समाज के दोनों पहियों को सुसंचालित रखने वाली धुरी बनी रहती है।

परिवार निर्माण मूलतः एक दर्शन है, एक दार्शनिक संकल्प एवं प्रक्रिया है, पद्धति है। जिसका लक्ष्य है आत्म-विकास, आत्मीयता की परिधि का सतत प्रसार। परिवार निर्माण की समस्त प्रक्रियाओं की यह आधारभूत कसौटी होनी चाहिए कि उसके परिवार के प्रत्येक सदस्य का आत्मविकास हो रहा है या नहीं। प्रत्येक सदस्य की आत्मीयता की परिधि विस्तृत हो रही है अथवा नहीं। जहाँ चिन्तन और आचरण में यह विकास परिलक्षित न हो पा रहा हो वहाँ परिवार की व्यवस्था और रीति-रिवाजों का स्वरूप कोई भी क्यों न हो, परिवार निर्माण की प्रक्रिया वहाँ नहीं चल रही है, यही मानना चाहिए। इसके विपरीत, जहाँ इस तरह का विकास गतिशील हो, वहाँ परिवार निर्माण का कार्य सम्पन्न हो रहा मानना चाहिए। फिर उस परिवार का ढाँचा कैसा भी हो संयुक्त हो या सीमित, पृथक। वृहत हो या छोटा। परिवार व्यवस्था पितृवंशीय हो या मातृवंशीय। वहाँ जौनसार-बाबर इलाके जैसी बहुपति-प्रथा है, या कि मुसलमानी जैसी बहुपत्नी प्रथा है, यह प्रश्न जितना महत्वपूर्ण है उससे अधिक महत्वपूर्ण है उस प्रथा के पीछे कार्यरत प्रवृत्तियाँ और उसके प्राप्त होने वाले परिणाम। अतः यह भली-भाँति समझा जाना चाहिए कि परिवार निर्माण में सर्वोपरि महत्व परिवार भावना के दर्शन का है और इस दर्शन की केन्द्रीय वृत्ति, इसकी आधारभूमि है आत्म-विकास, आत्मविस्तार।

परिवार-निर्माण अभियान के बहुमुखी रूप हैं, बहुआयामी हलचलें हैं और हो सकती हैं। परन्तु उन सबके केन्द्र में आत्मविकास, आत्मविस्तार का लक्ष्य स्पष्ट रहना अनिवार्य है। परिवार व्यवस्था की आधारभूति यही है। इस पुरातन व्यवस्था में कालक्रम से जो विसंगतियाँ, विकृतियाँ और विशेषताएँ आ गई हैं उन्हें दूर करने के पीछे भी मूल दृष्टि यही है। परिजनों की सुविधाओं में संतुलन तथा अभिवृद्धि, जैसे फल तो उससे प्राप्त होंगे ही, पर इन सबसे भी बढ़ा-चढ़ा सत्परिणाम प्रत्येक परिजन के आत्मविकास के रूप में सामने आने वाला है। इसी संदर्भ में घर को तपोवन की संज्ञा दी जाती है। गृहस्थ-योग का प्रतिपादन किया गया है। पतिव्रत, पत्नीव्रत, पितृ-मातृ सेवा, शिशु वात्सल्य, समता, सहकारिता की सत्प्रवृत्तियाँ यदि सघन सद्भावना की समुन्नत मनःस्थिति से सम्पन्न की जा सकें, तो उनका महत्व योगाभ्यास और तपसाधन के ही

समतुल्य है। कर्मयोग की सर्वोत्तम साधना है परिवार निर्माण। उससे आत्म-निर्माण की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है और समाज-निर्माण का क्रम भी अनायास चलता रहता है। जिन महामानवों ने विश्व इतिहास में महती भूमिकाएँ सम्पन्न की हैं, उनके व्यक्तित्व सुसंस्कृत वातावरण में ही ढले थे। इसलिए उनके द्वारा समाज का जो भी भला हुआ है, उसमें परिवार की सुसंस्कारिता की विशिष्ट भूमिका रही है। समाज-निर्माण में परिवार-निर्माण का यह प्रत्यक्ष योगदान है।

परिवार संस्था और उसका महत्व

भारतीय समाज निर्माताओं ने मनुष्य के आन्तरिक बाह्य जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत, उन्नत, विकसित करने के लिए भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में नाना प्रयोग किए। नाना आदर्शों-संस्थाओं की स्थापना की। धर्म, दर्शन, अर्थविज्ञान, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम आदि इसी प्रकार के प्रयोग थे। लेकिन जीवन में विभिन्न पहलुओं का एकीकरण करते हुए उन्होंने परिवार संस्था का एक महत्वपूर्ण प्रयोग किया था, जो व्यावहारिक, सहज, सुलभ, सुखकर सिद्ध हुआ। परिवार संस्था ने मनुष्य के जीवन को आदिकाल से ऐसा मार्गदर्शन किया है जैसा अन्य किसी भी संस्था ने नहीं किया होगा। इतिहास बदल गये, दुनिया का नक्शा बदल गया, समाज संस्थाओं में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए लेकिन भारतीय समाज में परिवार संस्था आज भी ध्रुव बिन्दु की तरह जीवित है। यद्यपि वर्तमान युग में कई आर्थिक, वैज्ञानिक, सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव अब परिवार पर भी पड़ने लगा है लेकिन भारतीय परिवार के मूल में जो विशाल भावना, जीवित प्रेरणा का काम कर रही है वह उसे मिटने नहीं देगी। वर्तमान संक्रमण काल के बाद नई परिस्थितियों में परिवार संस्था पुनर्गठित होकर मानव के उत्कर्ष में अपना योगदान जारी रखेगी।

वस्तुतः मानवीय जीवन में जो कुछ भी आनन्दमय, रसपूर्ण साथ ही कर्तव्य और धर्म का सारतत्व है वह 'हिन्दू परिवार' में सरलता से मिल जाता है। हमारे समाज शिल्पियों ने 'परिवार संस्थान' की नाँव में ऐसे अमृत-तत्वों के बीज वपन कर दिए हैं जिनके कारण काल के अनन्त प्रवाह में भी भारतीय परिवार अपना अस्तित्व सदा-सदा कायम रखेगा।

भारतीय मनीषियों की एक विशेषता रही है, वह यह कि उनके प्रयोग केवल स्थूल पक्ष अथवा भौतिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं रहते थे। वे सूक्ष्म क्षेत्रों में विश्व का संचालन करने वाले सार्वभौमिक तथ्यों की खोज करते थे और फिर उन्हें भौतिक विधानों में व्यवस्थित करते थे। परिवार संस्था के मूल में किसी ऋषि के इसी तरह के सूक्ष्म अन्वेषण का रहस्य छुपा हुआ है।

नारी और पुरुष परिवार संस्था के दो मूल स्तम्भ हैं। दोनों मानो नदी के दो तट हों, जिसके मध्य से परिवार की जीवन की धारा बहती है। वैदिक साहित्य में स्त्री-पुरुष की उपमो पृथ्वी और द्युलोक से दी गई है। विवाह संस्कार के अवसर पर भी पुरुष, स्त्री से कहता है- 'द्यौरहं पृथ्वी त्वम्।' मैं द्यौ हूँ, तू पृथ्वी। आकाश और धरती पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही विश्व परिवार का उदय हुआ, ठीक इसी तरह स्त्री और पुरुष के संयोग से परिवार संस्था का निर्माण होता है। हिन्दू परिवार की मूल प्रेरणा बहुत विशाल है, जिसमें हिन्दू धर्म की वह मूल भावना सुरक्षित रहती है जिसके अनुसार हमारे यहाँ स्थूल और नश्वर का सम्बन्ध विश्वव्यापी चिरन्तन नित्य सूक्ष्म सत्ता के विधान से मिलाया गया है। परिवार संस्था केवल स्थूल व्यवस्था मात्र नहीं है अपितु उसमें भी एक सूक्ष्म सनातन सत्य की जीवन ज्योति समाई हुई है। विश्व जीवन में द्यौः और पृथ्वी से लेकर परिवार में स्त्री-पुरुष के गृहस्थ जीवन की मधुर कल्पना में ऋषि का एक ही दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है। जैसे द्युलोक और पृथ्वी एक ही संस्थान के पूरक तत्व हैं उसी तरह स्त्री और पुरुष भी परिवार संस्था के पूरक अंग हैं।

स्त्री-पुरुष की अभेदता को व्यक्त करते हुए पुरुष, स्त्री से कहता है- 'सामोऽहस्मि ऋकत्वम्' मैं यह हूँ, तू वह है। तू वह है, मैं यह हूँ। मैं साम हूँ तू ऋक है। किसी वस्तु का व्यास अथवा परिधि परस्पर अभिन्न होते हैं। व्यास न हो तो परिधि का अस्तित्व नहीं, परिधि न हो तो व्यास कहाँ से आवे? सृष्टि के मूलभूत हेतु में जिस तरह द्युलोक और पृथ्वी का स्थान है, उसी तरह परिवार संस्था में स्त्री-पुरुष का। कैसी विशाल कल्पना थी हमारे समाज शिल्पी मनीषी की पारिवारिक जीवन के अन्तराल में।

परिवार संस्था में जहाँ स्त्री-पुरुष की अभेदता का प्रतिपादन किया गया है वहाँ पूरे संस्थान को कर्तव्य धर्म की मर्यादाओं में बाँधकर उसे सभी भौतिक अनुशासन, सेवा, त्याग, सहिष्णुताप्रिय बनाया जाता है और इन पारिवारिक मर्यादाओं पर ही समाज की सुव्यवस्था, शान्ति, विकास निर्भर करता है। परिवार में माता, पिता, पुत्र, बहिन, भाई, पति-पत्नी, नातेदार-रिश्तेदार परस्पर कर्तव्य धर्म से बंधे हुए होते हैं। कर्तव्य की भावना मनुष्य में एक दूसरे के प्रति सेवा, सद्भावना, उत्सर्ग की सत्प्रवृत्तियाँ पैदा करती हैं। हिन्दू परिवार में समस्त व्यवहार कर्तव्य की भावना पर टिका हुआ है। सभी सदस्य एक दूसरे के लिए सहर्ष कष्ट सहन करते हैं, त्याग करते हैं। दूसरों के लिए अपने सुख और स्वार्थ का प्रसन्नता के साथ त्याग करते हैं। शास्त्रकारों की भाषा में यही स्वर्गीय जीवन है। इसके विपरीत जहाँ अपने सुख और स्वार्थ के लिए दूसरों के हकों को छीनाझपटी, अपने अधिकार जताकर केवल पाने या लेने ही का व्यवहार सामूहिक जीवन में परस्पर तनाव और संघर्ष को जन्म देता है, वहाँ विरोध, द्वेष, ईर्ष्या पैदा हो जाती है। इसे ही नीतिकारों ने नरक कहा है। यदि

१.८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

धरती पर स्वर्गीय जीवन की प्रत्यक्ष रचना कहीं हुई है तो वह है भारतीय परिवार संस्था। रस, आनन्द, त्याग, उत्सर्ग, सेवा-सहिष्णुता का स्वर्गीय वातावरण यदि कहीं देखना हो तो वह हिन्दू परिवार में सफलता से देखा जा सकता है। रामायण का आदर्श हिन्दू परिवार का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें स्वार्थपरता, पदलोलुपता, बुराइयों के ऊपर त्याग, सेवा, सदगुणों की विजय बताई गई है।

परिवार ने जहाँ व्यक्ति के विकास में भारी योग दिया है वहाँ सामाजिक सांस्कृतिक उत्थान में भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। परम्परा को आधार बनाकर उससे आगे नियमित विकास और सन्तुलित प्रगति के क्षेत्र में परिवार संस्था सदा-सदा कार्य करती रही है। समाज के लिए जो भी हितकर, आवश्यक है उसकी रक्षा परिवार संस्था ने पूरी की है। पर्व, त्यौहार, कला, सौजन्य, उत्साह, उमंग को परिवार संस्था ने ही सदा-सदा जीवित रखा है।

समाज और संस्कृति के विकास में परम्परा का अपना एक महत्व रहा है। लोग अपनी परम्परा को शानदार बनाये रखने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करते हैं और इस तरह के आदर्श कुलों का जहाँ बाहुल्य होता है वह समाज भी आदर्श और महान बन जाता है। महात्मा विदुर ने युधिष्ठिर को आदर्श कुलों के आधार बताते हुए कहा था "तप, दम, ब्रह्म-ज्ञान, यज्ञ, दान, शुद्ध-विवाह सम्यक् विचारों से कुल आदर्श बनते हैं।" इन बातों में कहीं भी ऐसा नहीं है कि धन अथवा भौतिक ऐश्वर्य सम्पदाओं से कुल की मर्यादा बढ़ती है। धर्म के आचरण से ही परिवार उन्नत होते हैं। प्रत्येक सदस्य परिवार की शान के लिए, उसकी समृद्धि विकास के लिए अपने जीवन में बड़े से बड़ा काम करने की इच्छा रखता है और ऐसी उत्साहयुक्त भावना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए बहुत ही हितकर सिद्ध होती है। व्यक्ति जहाँ परिवार के भवन में धर्म-आदर्श की सीढ़ियों पर ऊँचे से ऊँचा चढ़ता है वहाँ ऐसे व्यक्तियों से समाज भी समुन्नत होता है और अनेक सदस्यों से युक्त परिवार का उत्थान सभी भौतिक स्वच्छ, फूलता-फलता, समृद्ध और विकसित होता रहता है।

परिवार संस्था तपस्थली है जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से तप-त्याग, धर्माचरण का अवलम्बन लेता है। परिवार में मनुष्य का आत्मिक, मानसिक विकास सरलता से हो जाता है। परस्पर एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य निभाने का धर्म मनुष्यों का जीवन निखार देता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू परिवार व्यक्तिगत जीवन निर्माण के साथ-साथ सामाजिक जीवन की समृद्धि के लिए एक महान प्रयोग हुआ है-हमारे देश में। अनेक आक्रमणों, आघातों को सहकर भी आज जो हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रही है उसके मूल में परिवार संस्था का बहुत बड़ा योग रहा है। हिन्दू परिवार मानो भारतीय समाज का शक्ति स्रोत ही रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि आज के परिवर्तनों,

परिस्थितियों में परिवार संस्था को पुनर्गठित करके समाज की इस जीवनदायिनी धारा को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाया जाय।

परिवार का आदर्श और विकास

एक ही रक्त और कुल के क्यों न हों अनेक लोगों का एक साथ रहना मात्र ही पारिवारिक जीवन नहीं है। एक साथ एक घर में अनेक भाई और उनके बच्चे रहते हों किन्तु वे आपस में लड़ते, संघर्ष करते और कलह मचाते रहें, तो इससे पारिवारिक जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। इस प्रकार तो वह एक घर परिवार न कहा जाकर संग्राम-स्थल ही कहा जायेगा।

अनेक पशु-पक्षी, समूह बनाकर रहते हैं। साथ-साथ चरते, घूमते, उठते-बैठते सोते और जागते हैं किन्तु उनको एक परिवार नहीं कहा जा सकता। परिवार का प्रमुख लक्षण है, एक-दूसरे से प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता और स्वार्थरहित सेवा-भाव। एक-दूसरे के लिये त्याग तथा उत्सर्ग की तत्परता। जिस मानव समूह में एक दूसरे का सुख-दुःख अपना सुख-दुःख न बन सका, वहाँ पारिवारिक भावना नहीं मानी जायेगी। पशु-पक्षी एक साथ रहते हुए भी इसी आत्मभाव के अभाव में पारिवारिक नहीं माने जाते। पारिवारिक जीवन का लक्षण है-"प्रेम, आत्मीयता, सहयोग, सहायता, संवेदना, सद्भाव तथा सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार। सबकी मंगलकामना, सबकी सुख-सुविधा का विचार आदि के सात्विक गुण।" जहाँ बड़ों का छोटों के प्रति आशीर्वाद नहीं, छोटों में गुरुजनों के प्रति आदर और विनम्रता का भाव नहीं, जहाँ भाई-भाई और भाई-बहिन में एकात्मकता नहीं वहाँ पारिवारिक भावना का अभाव है, यही मानना ही पड़ेगा।

परिवार का अर्थ है-एक-दूसरे की सांसारिक सुख में सहायता के साथ आत्मोन्नति में यथासाध्य सहयोग करना। जहाँ लोग एक-दूसरे का अधिकार छीनना चाहते हों, एक दूसरे से ईर्ष्या व डाह करते हों, पीछे खींचने का प्रयत्न करते और अपने स्वार्थ पर ही दृष्टि रखते हों, वहाँ परिवार कहाँ? वहाँ तो पाशविक समूह जैसी भावना ही समझना चाहिए।

घर में जब प्रत्येक सदस्य दूसरे के लिए त्याग करने को तत्पर रहे, उसका अपना स्वार्थ दूसरों के स्वार्थ के साथ जुड़ा हो, एक की पीड़ा सबकी पीड़ा और एक की उन्नति सबकी उन्नति बनकर प्रकट हो, तब समझना चाहिए कि हम पारिवारिक जीवनयापन कर रहे हैं। दूसरे हमसे अच्छा खाये, पहनें, घर की सुख-सुविधा का उपभोग पहले दूसरे लोग करें, हमारी खुशी इसी में है। हमारा कर्तव्य तो अधिकाधिक त्याग और दूसरों की सुख-शान्ति और विकास में सहायक होना है। 'मेरे रहते किसी को दुःख, तकलीफ न हो' आदि की उदार भावना ही पारिवारिक भावना को प्रकट करती है।

परिवार की प्रतिष्ठा हमारी प्रतिष्ठा, परिवार की उन्नति हमारी उन्नति, उसकी समृद्धि हमारी समृद्धि और उसका लाभ-हानि हमारी लाभ-हानि है, ऐसी आत्म-भावना पारिवारिकता का विशेष लक्षण है। हम कोई ऐसा काम न करें, जिससे परिवार की प्रतिष्ठा पर आँच आये। किसी सदस्य पर कोई अवांछनीय प्रभाव पड़े, परिवार की उन्नति में अवरोध उत्पन्न हो अथवा उसकी समृद्धि एवं वृद्धि में प्रतिकूलता आये, ऐसा सतर्क भाव ही तो पारिवारिकता कहा जायेगा। जहाँ यह सब बातें पाई जायें, वहाँ समझना चाहिए कि लोग वास्तविक रूप में परिवार बनकर रह रहे हैं। जहाँ स्वार्थ, वैषम्य, विचार-वैषम्य, भाव-वैषम्य, अथवा सुख-दुःख में विषमता की गन्ध पाई जाये वहाँ मानना होगा कि एक साथ अनेक के रहने पर भी वहाँ परिवार भावना नहीं है। लोग किसी कारणवश एक साथ रहे जा रहे हैं।

परिवार एक पवित्र तथा उपयोगी संस्था है। इसमें मानव की सर्वांगीण उन्नति का आधार सहयोग, सहायता और पारस्परिकता का भाव रहता है। यह भाव वह शक्ति है जिसके आधार पर मनुष्य आदि-जंगली स्थिति से उन्नति करता-करता आज की सभ्य स्थिति में पहुँचा है। सहयोग की भावना ही मनुष्य जाति की उन्नति का मूल कारण रही है। एकता, सामाजिकता, मैत्री आदि की सहयोगमूलक शक्ति ने आज मानव सभ्यता को उच्चता पर पहुँचा दिया है। सभ्यता के प्रारम्भिक युग में जिस व्यक्ति ने सहयोग की शक्ति समझकर उसका प्रकटीकरण तथा प्रवर्तन किया होगा, वह निश्चय ही एक बड़ा दार्शनिक तथा समाज हितैषी महापुरुष रहा होगा। सहयोग की शक्ति जानकर लोगों ने अपनी स्थूल तथा सूक्ष्म विशेषताओं को मिलाकर संगठन की चेतना प्रबुद्ध की होगी और कन्धों-से-कन्धा, विचार से विचार, शक्ति से शक्ति तथा साधन से साधन मिलाकर एक तन-मन से काम किया होगा, जिसके फलस्वरूप सभ्यता तथा मानवीय समृद्धि के एक के बाद एक द्वार खुलते चले गये होंगे।

आज भी तो पूरा समाज सहयोग और पारस्परिकता के बल पर ही चल रहा है। यदि समाज से सहयोग की भावना नष्ट हो जाये तो तुरन्त ही चलते हुए कारखाने, होती हुई खेती और बढ़ती हुई योजनाएँ व विकास पाती हुई कलाएँ, शिल्प साहित्य आदि की प्रगति रुक जाये और कुछ ही समय में समाज जड़ता से अभिभूत होकर नष्ट हो जाये। सहयोग मानव विशेषताओं में एक बड़ी विशेषता है, परिवार में जिसका होना नितान्त आवश्यक है। इसी पर परिवार बनता, ठहरता, चलता और उन्नति करता है।

परिवार में जब तक सच्ची पारिवारिक भावना नहीं होती उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता। आज सच्ची पारिवारिक भावना के अभाव में ही तो परिवार टूटते, बिखरते जा रहे हैं। उनकी शक्ति तथा दक्षता नष्ट होती जा रही है। उनकी वृद्धि, समृद्धि रुकती जा रही है और दिन-दिन उन्हें दीनता, दरिद्रता घेरती चली आ रही है।

पारिवारिक भावना के अभाव में ही भाई-भाई लड़ते, बहिनें एक दूसरे से मन-मुटाव मानतीं, सास-बहू के बीच बनती नहीं और देवरानी-जिठानी एक दूसरे से डाह व ईर्ष्या करती हैं। जितने मुकदमे दूसरों से विवाद के नहीं चलते, उससे कई गुने मुकदमे पारिवारिक कलह के कारण दायर होते और चलते रहते हैं। चाचा-ताऊ, बाप-बेटों और बाबा-पोतों तक में संघर्ष होता रहता है।

इस अनिष्ट का एकमात्र कारण यही है कि एक परिवार होते हुए भी वे सब पारिवारिक भावना से रहित होते हैं। अपना भिन्न तथा पृथक् अस्तित्व मानते और तदनुरूप ही आचरण करते हैं। सच्ची पारिवारिक भावना का विकास तो तब ही होता है, जब परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना अस्तित्व पूरे परिवार में मिलाकर अभिन्न हो जाता है। इस आत्मविसर्जन के पुण्य से ही लोगों में सच्चे प्रेम और सच्ची आत्मीयता का विकास होता है।

परिवारों से मिलकर समाज और समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है। यदि परिवार संगठित, शक्ति-सम्पन्न और समृद्ध हो जायें तो समाज तो वैसा आप ही आप बन जायेगा। उसके लिये अलग से कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता न रह जायेगी। परिवारों में सच्ची पारिवारिक भावना का अभाव किन कारणों से हुआ है या हो रहा है, यदि इस पर विचार करते हैं, तो यह विदित होता है कि आज का हमारा रहन-सहन और आचार-विचार इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है।

हम परिवार तो बड़े शौक से बसा लेते हैं, किन्तु उसका उचित निर्माण नहीं करते। वह अपने आप स्वतंत्र रूप से कुशकंटकों की भाँति जिधर चाहता बढ़ता और विकसित होता चला जाता है। यदि किसी चतुर माली की तरह हम अपने परिवार को एक सुन्दर वाटिका मान कर उचित पालन और निर्माण करें तो निःसन्देह उसका एक-एक सदस्य खुशनुमा फूल की तरह गुणों की सुगन्ध से भर कर खिल उठे, जिससे न केवल परिवार को ही बल्कि अन्य लोगों को सुख की प्राप्ति हो।

परिवार का निर्माण बच्चों के निर्माण से प्रारम्भ होता है। बच्चों का समुचित निर्माण तभी सम्भव है, जब हमारे उतने ही बच्चे हों जितनों का ठीक से पालन और देख-रेख की जा सके, जिनको शिक्षित और सुयोग्य बनाने के लिये हमारे पास साधन हों। परिस्थिति से परे अनावश्यक बच्चे पैदा करते जाने वाला गृहस्थ लाख प्रयत्न करने पर भी अपने परिवार का वांछित निर्माण नहीं कर सकता। जिस बोझ को उठाया ही नहीं जा सकता उसको लक्ष्य तक नहीं ले जाया जा सकता। इसलिए परिवार-निर्माण का मुख्य आधार छोटा तथा नियोजित परिवार ही मानकर चलना चाहिए।

बच्चों को केवल भोजन-वस्त्र दे देना और उनकी शिक्षा के लिये प्रबन्ध कर देने मात्र से उनका निर्माण नहीं हो सकता। स्कूलों में बच्चों को केवल पुस्तकीय शिक्षा ही मिल पाती है। आचरण की शिक्षा, गुण, कर्म तथा स्वभाव

१.१० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

की शिक्षा जो उनके निर्माण के लिए अत्यावश्यक है, वह आज के शिक्षालयों में नहीं मिलती है।

बच्चों के निर्माण में पिता का व्यक्तिगत आचरण बहुत महत्व रखता है। बच्चे सहज ही अनुकरणशील होते हैं, वे जैसा पिता को करते देखते हैं, वैसी ही सीख लेते हैं। अतः पिता को अपना रहन-सहन, आचार-विचार और स्वभाव उसके अनुकूल रखना चाहिए, जिस आदर्श में वह अपने बच्चों को ढालना चाहता है। यदि पिता अपने इस महान् दायित्व को समझे और अपने को त्याग, प्रेम, परिश्रम, पुरुषार्थ, सदाचार के आदर्श के रूप में प्रस्तुत करे तो कोई कारण नहीं कि उसके बच्चे वैसे न बन जायें। जो पिता स्वार्थी, क्रोधी, कर्कश, और व्यसनी, विलासी होता है, वह न तो आदर का पात्र होता है और न उसके बच्चे ही अच्छे बन पाते हैं।

माता के व्यक्तिगत आचरण का प्रभाव कन्याओं पर विशेष रूप से पड़ता है। जो माताएँ अधिक साज-सज्जा, शृंगार, फैशन, पाउडर, लिपिस्टिक और गहनों में रुचि रखती हैं और सास, ननद, देवरानी, जिठानी आदि से लड़ती-झगड़ती रहती हैं, उनकी कन्याएँ भी फैशनेबुल, छबीली और विलासप्रियता की शिकार बन जाती हैं और उनके स्वभाव में भी विवाद, असहयोग और कलह के अंकुर उग आते हैं। माता-पिता को चाहिए कि परिवार के सारे सदस्यों तथा व्यक्तियों से यथायोग्य प्रेम और आदर का व्यवहार करें, सबके लिये त्याग तथा उदार भावना को प्रश्रय दें, अधिक से अधिक सादगी और शालीनता से रहें, इससे उनके बच्चों पर पारिवारिकता के अनुकूल प्रतिक्रिया होगी। वे प्रेमभाव की मिठास और त्याग का महत्व समझेंगे।

अभिभावकों के व्यक्तिगत आचरण के साथ परिवार का वातावरण भी बच्चों और सदस्यों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। जिन घरों में दिन-रात लड़ाई-झगड़ा तथा आपा-धापी होती रहती है। उस परिवार के बच्चे और अन्य सदस्य परस्पर सहयोग का मूल्य नहीं समझ सकते। उनमें स्वार्थ और कलह की प्रमुखता हो जायेगी। चाचा-ताऊ आदि जो भी सदस्य एक परिवार में रहते हों, जो भी भाई-बहिन एक घर में रहते हों उन सबको अपना तथा अपने बच्चों से अधिक ख्याल भाई-बहन के बच्चों और उन खुद का रखना चाहिए। परिवारों में बच्चों के प्रति अपना-अपना भाव रखने से ही अधिकतर कलह के अंकुर उगते हैं। यदि सब बच्चों को अपना बच्चा और अपने को उनका सगा अभिभावक समझा जाये और वैसा ही प्रेमपूर्ण व्यवहार किया जाये तो कोई कारण नहीं कि सबमें समान रूप से प्रेम-भाव न बना रहे और सारे बच्चे समान रूप से सारे गुरुजनों का आदर न करें अथवा अनुशासन न मानें। सारे प्रौढ़ सभी बच्चों को अपने बच्चे और सारे बच्चे सभी गुरुजनों को अपना शुभचिन्तक और अभिभावक मानकर वैसा ही आचरण करने लगे, तो निश्चय ही परिवार में दृढ़ता और स्थिरता के साथ-साथ सुख-शांति की परिस्थितियाँ रहने लगे।

इसके साथ परिवार का वातावरण अधिक से अधिक पवित्र तथा शालीन रहना चाहिए। घरों में ऐसा साहित्य, ऐसे चित्र तथा ऐसे मनोरंजन को नहीं धँसने देना चाहिए जिससे बच्चों के स्वभाव अथवा आचरण पर अवांछनीय प्रभाव पड़े। घरों में गन्दी मजाक, तानाकशी और हल्का-विनोद अथवा गाली-गलौज का वातावरण नहीं होना चाहिए। रूढ़िवादिता, कुरीतियाँ और कुप्रथाओं के बहिष्कार से बच्चों के निर्माण में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। पारिवारिक रूढ़ियों और अन्धविश्वास बच्चों पर इतना बुरा प्रभाव डालते हैं कि वे जीवन भर के लिये पढ़े-लिखे होने पर भी विचारों की स्वतन्त्रता तथा नवीनता से वंचित रह जाते हैं। यह विकृति उन्हें निश्चित रूप से पक्षपाती, दुराग्रही तथा स्वार्थी बना देती है।

इस प्रकार व्यक्तिगत आचरण, घरेलू वातावरण तथा विचार विकृति दूर कर परिवार का निर्माण कीजिये, आपके घरों से कलह, क्लेश तथा फूट-टूट की दूषित विकृति दूर हो जायेगी और उसके स्थान पर सच्ची पारिवारिकता, सहयोग, प्रेम तथा पारस्परिकता की भावना बढ़ेगी, जिससे परिवार के साथ, समाज तथा देश का कल्याण होगा।

परिवार भी एक शरीर ही है

परिवार भी एक प्रकार का सामाजिक शरीर ही है। मनुष्य अपनी देह तक ही सीमित नहीं रहता वरन् उसे अपनी स्त्री, बच्चे, भाई-बहिन, माता-पिता आदि को मिलाकर एक कुटुम्ब बनाना पड़ता है। एक घर में एक साथ रहने वाला कुटुम्ब भी एक प्रकार से एक शरीर ही होता है। जिस प्रकार अपनी देह के पालन-पोषण की, दुःख-सुख की चिन्ता करनी पड़ती है, वैसे ही परिवार के प्रत्येक सदस्य के बारे में हमें सोचना, समझना और विचार करना पड़ता है। उनका उत्तरदायित्व सिर पर लेना पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से भी अपनी देह की ही भाँति उन सबका भरण-पोषण करना, स्वस्थ एवं प्रसन्न रखना, प्रगतिशील बनाना आवश्यक होता है। घर के लोगों का सुखी या दुःखी होना, अच्छा या बुरा होना अपने को उतना ही बुरा या भला लगता है जितना अपने शरीर के अंश का पीड़ित या प्रसन्न रहना।

परिवार की सुव्यवस्था

हर कोई चाहता है कि उसका परिवार उसकी इच्छानुकूल अच्छे स्वभाव का, अच्छे गुण और चरित्र का हो। पड़ोस का कोई परिवार दुःखी, अस्तव्यस्त या क्लेश-कलह में डूबा हुआ हो तो लोग उसका उपहास करते हुए मजा ले सकते हैं, पर अपने परिवार का एक भी सदस्य यदि बुरे स्वभाव का दिखाई देता है या न करने योग्य कर्म करता है तो उसका सीधा प्रभाव अपनी आर्थिक स्थिति पर, प्रतिष्ठा पर, संगठन एवं व्यवस्था पर पड़ता है इस गड़बड़ी से अपने को वैसा ही कष्ट होता है जैसा शरीर के

किसी अंग के ठीक तरह काम न करने पर होता है। इसलिए हर किसी की आकांक्षा यह रहती है कि परिवार की भीतरी व्यवस्था और क्रिया प्रेम, सच्चाई, सेवा, सद्गुण, पुरुषार्थ, मितव्यता के आधार पर चले। घर का कोई सदस्य बाहर वालों को धोखा देकर कमाई कर लाये, चोरी-चालाकी करे, झूठ बोले, ठगे इसे तो प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लिया जाता है, पर घर के भीतर परिवार के सदस्य एक दूसरे के प्रति ऐसा ही व्यवहार करने लगे तो अव्यवस्था और क्लेश का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। कोई यह नहीं चाहता कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी बने, मेरा पुत्र घर में से चोरी करके ले जाया करे, बच्चे आपस में लड़ा करें, एक भाई दूसरे से सहानुभूति न रखे। कारण स्पष्ट है कि मानव-स्वभाव के दुर्गुण निश्चित रूप से कष्टकारक प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं।

दुर्गुणों का विशाल क्षेत्र

जो दुर्गुण घर के भीतर किसी सदस्य में प्रवेश पाकर घर की सारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, वे ही दुर्गुण समाज के व्यापक क्षेत्र में अशांति उत्पन्न करते हैं। यदि अपने घर का कोई सदस्य बाजार से सौदा मँगाने पर उसमें से पैसा बचा लेता है, गलत हिसाब बता देता है, तो उसका प्रभाव घर की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है और वह व्यक्ति घर के अन्य लोगों का अविश्वासपात्र बन जाता है एवं बड़ा आर्थिक उत्तरदायित्व सौंपे जाने के अयोग्य माना जाता है। यही बात जब बढ़ती है तो वह पैसे चुराने वाला लड़का बड़े होने पर यदि व्यापारी है तो अपने साझेदार से चोरी करता है, ग्राहकों को कम नापता-तौलता है अथवा यदि नौकर है तो रिश्वतखोरी, समय की चोरी आदि बुराइयाँ पैदा करता है। ऐसे दुश्चरित्र लोगों की बात आखिर खुलती ही है। लोगों की आँखों में वह घृणा का पात्र बनता चला जाता है, अविश्वासी बनता है और फिर उसे सच्चे मन से प्यार करने वाला कोई नहीं रह जाता। शिष्टाचारवश उससे मीठी बातें लोग कर सकते हैं पर जब भी सच्ची सहायता का वक्त आता है तब सभी मुँह छिपा जाते हैं। भीतर दबी हुई घृणा ऐसे समय में आमतौर से असहयोग के रूप में प्रकट होती है। कभी तो उसके मित्र ही उसके प्रति दबी हुई घृणा का अप्रत्यक्ष प्रतिशोध लेते हैं और मुसीबत के समय सहायता करने की अपेक्षा अनुकूल अवसर आया जानकर चोट भी करते हैं।

दूसरों के दुर्व्यवहार का कारण

जिस पर मित्रों ने कुसमय में चोट की है वह समझता है मेरे साथ दुर्व्यवहार किया गया, अनीति बरती गई, मित्र शत्रु बन गये। पर सच बात यह है कि उसके मित्र थे ही नहीं, केवल ऊपरी शिष्टाचार बरतने वाले चापलूस लोग थे जो परीक्षा के समय असली रूप में प्रकट हो गए। सच बात यह है कि किसी बेईमान का कोई सच्चा मित्र नहीं होता। स्वार्थ, लाभ या मजबूरी जब तक एक रस्सी में

बाँधे रहती है तब तक लोग बेईमान के साथ बाँधे रहते हैं और जब भी अवसर मिलता है तब रस्सी तोड़कर भागते हैं। चोर भी यह नहीं चाहते कि उसका साथी चोरी के माल में हिस्सा बाँटते समय चोरी, बेईमानी करे। डाकू भी यह नहीं चाहते कि उनके साथी उन्हीं के घर पर डाका मारें। व्यभिचारी व्यक्ति इस कुकर्म में दिन-रात साथ रहने वाले लोगों से भी यह आशा नहीं करते कि वे उसी की बहिन, बेटी या पत्नी को कुमार्गगामी बनावें। जब कभी इसमें व्यतिक्रम होता है तभी मित्रता शत्रुता में बदल जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि ईमानदारी ही एकमात्र ऐसा तत्व है जिसके ऊपर मित्रता टिकी रह सकती है, सहानुभूति उपलब्ध होती रहती है और समय पर दूसरे लोग उस श्रद्धा से प्रेरित होकर बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति यदि इस संसार में बड़ी सफलता प्राप्त कर सका है, तो उसका सर्वोपरि कारण उसके मित्रों की सहायता ही रहा है। जिसे यह नहीं मिल सकी वह कितनी ही बड़ी योग्यता या क्षमता सम्पन्न क्यों न रहा हो कभी कोई बड़ी सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। झूठे और चोर प्रकृति के मनुष्य कभी-कभी कुछ सफलता प्राप्त कर तो लेते हैं पर वह होती बहुत ही क्षणिक एवं स्वल्प है। जैसे-जैसे लोग उससे सावधान होते जाते हैं, बचने की कोशिश करते हैं, वैसे ही वैसे उसकी सफलता का क्षेत्र सिकुड़ता चला जाता है और अंततः असफलता एवं दुर्गति ही उसके हाथ रह जाती है।

अपनी ही दुर्गति के निमित्त कारण

कोई यह न चाहेगा कि उसका लड़का इस प्रकार लोगों का घृणास्पद, मित्रहीन एवं अंततः दुर्गति का अधिकारी बने। पर अपने बच्चे का भविष्य अंधकारमय बनाने की प्रक्रिया हम उसी दिन से चालू कर देते हैं जिस दिन कि बाजार से साग-भाजी खरीदने में पैसे बचाने की भद्दी आदत को हम उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और उसे एक हलकी-सी बात मानते हैं। बचपन में यह आदत दो-चार पैसों से शुरू होती है, पीछे स्कूल जाते समय वह कापी, किताब के नाम पर बैठती है और अंततः जेवर, रुखये चुराने या लड़-झगड़ कर आवश्यकता से अधिक पैसे ले लेने की बात तक जा पहुँचती है। अपव्यय करने की आदत आरम्भ में छोटी होती है। बच्चे दो-चार आना पाकर उसकी बेकार चीजें खरीदते हैं, पीछे उन्हें शौक-मौज की चीजें खरीदना अच्छा लगता है चाहे वह बेकार ही क्यों न हों। कई अच्छी आमदनी के लोग भी सदा कर्जदार और आर्थिक तंगी में बने रहते हैं, क्योंकि उन्हें अनावश्यक खर्च करने, फिजूलखर्ची की बुरी लत लगी होती है। वह लत उन्होंने बचपन में उस समय सीखी होती है, जब घर से उन्हें अनावश्यक खर्च करने के लिए किसी प्रकार पैसे मिल जाते थे और पैसे का मूल्य उनकी दृष्टि में तुच्छ प्रतीत होता था। यदि उन्हें आरम्भ में ही यह समझा दिया गया होता कि पैसा कितने कठोर श्रम से

१.१२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

कमाया जाता है और उसके सदुपयोग-दुरुपयोग के परिणामों में क्या अंतर है ? तो सम्भवतः बच्चा अपव्यय की बुरी आदतों से बच जाता और उसे कर्जदारी, आर्थिक तंगी से ग्रसित एवं इसके लिए चोरी, बेईमानी करने के लिए विवश न होना पड़ता ।

उज्ज्वल भविष्य की योजना

हम अपने भविष्य के बारे में सोचते रहते हैं । अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने की योजना बनाते रहते हैं । पर वह योजना तब तक अधूरी ही है जब तक कि हम अपने सारे परिवार के भविष्य को उज्ज्वल बनाने की बात न सोचें, क्योंकि अकेले अपनी उन्नति होती रहने पर भी पिछड़े हुए कुटुम्बी त्रासदायक ही बने रहते हैं । कोई व्यक्ति कितनी ही आर्थिक, पद, सत्ता या विद्या-बुद्धि के क्षेत्र में उन्नति क्यों न कर ले, जब तक उसका परिवार भी उन्नति के क्षेत्र में कदम-कदम बढ़ाकर न चलेगा तब तक प्रगति सर्वथा अधूरी ही रहेगी । स्त्री, बच्चे चाहे कितने ही छोटे या कम महत्व के क्यों न दीखते हों, वे अपने जीवन के एक अंग होने के कारण निरन्तर हमारी मानसिक शांति या अशांति के कारण बने रहेंगे । इसलिए उनकी ओर भी उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना कि हम अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में रख सकते हैं ।

आमतौर से लोग अपने-स्त्री बच्चे को प्रसन्न रखने या उन्नतिशील बनाने के सम्बन्ध में इतना ही सोच पाते हैं कि समुचित आर्थिक प्रबन्ध हो जाय तो उनकी प्रगति एवं संतुष्टि के लिए पर्याप्त है । बच्चों की फीस, पढ़ाई, कपड़ा, जेबखर्च आदि का प्रबंध होता रहे तो बस बाकी सब कुछ अपने आप हो जायगा । इसी प्रकार धर्मपत्नी के बारे में सोचते हैं कि यदि उन्हें जेवर, कपड़ा, नौकर, आराम आदि का समुचित प्रबंध मिल जाय तो फिर उनके सुखी रहने का पर्याय साधन बन जायगा । इस प्रकार की मान्यता सब प्रकार अधूरी एवं निरर्थक है । किसी भी मनुष्य की प्रसन्नता एवं प्रगति उसे प्राप्त होने वाली भौतिक सुविधाओं एवं वस्तुओं पर निर्भर नहीं वरन् उसके गुण, कर्म और स्वभाव पर निर्भर है ।

गरीबी अभिशाप नहीं

गरीबी में भी कई परिवार स्वर्ग का आनन्द उठाते हैं और कई के यहाँ प्रचुर लक्ष्मी होते हुए भी नरक का वातावरण बना रहता है । कितने ही लोग गरीब घर में जन्म लेकर प्रगति के पथ पर अपने पुरुषार्थ से आगे बढ़े हैं और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचे हैं । इसके विपरीत कितने ही व्यक्ति अमीरी में पले-पोसे और सब कुछ प्राप्त होने पर भी पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार की प्रचुर संपदा को गँवा बैठे हैं । उन्नति के सब साधन मिलने पर भी आगे बढ़ना तो दूर उल्टे अवनति के गर्त में गिरे हैं । इसलिए यह सोचना भूल है कि आर्थिक प्रबंध ठीक होने पर सारा प्रबंध सुखद एवं संतुष्टिदायी रह सकता है । तथ्य

यह है कि शांति, प्रगति और समृद्धि मनुष्यों के स्वभाव पर निर्भर रहती है । दृष्टिकोण के गलत या सही होने के कारण ही द्वेष बढ़ता है या प्रेम पनपता है । अच्छी आदतें जहाँ होती हैं वहाँ पराये अपने बन जाते हैं । परायों को अपना बना लेने के सदगुण जिनके पास हैं सचमुच इस संसार में वे ही अमीर हैं, वे जहाँ-कहाँ भी रहेंगे वहाँ उनके मित्र और सहयोगी पर्याप्त मात्रा में पैदा होने और बढ़ने लगेंगे । गुलाब की खुशबू अपने चारों ओर भँरि और मधुमक्खी जमाकर लेती है । अच्छी आदतें मनुष्य रूपी फूल में खुशबू का काम करती हैं, उनके कारण दूसरे असंख्य लोग मधुमक्खी और भँरि के रूप में सहायक एवं प्रशंसक बनकर मँडराने लगते हैं । इसके विपरीत बुरी आदतें वह दुर्गन्ध है जिनसे हर किसी की नाक फटती है और हर कोई वहाँ से दूर भागता है ।

क्या अर्थव्यवस्था ही पर्याप्त है ?

हम यदि सचमुच ही अपने परिवार को सुखी बनाना चाहते हैं तो परिवार की आर्थिक व्यवस्था ठीक रखने तक की ही बात सोचकर संतोष न कर लें वरन् परिवार के सदस्यों के स्वभाव को अच्छाई की दिशा में ढालने का प्रयत्न भी उतनी ही तत्परता से करें जितना कि आर्थिक सुविधा जुटाने के लिए करते हैं । माना कि आर्थिक सुविधा के बिना प्रगति रुक जाती है और असुविधा एवं असंतोष का जन्म होता है, माना कि हममें से हर एक को अपना आर्थिक संतुलन ठीक बनाये रखने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए पर यह भी मान लेने की ही बात है कि इतने मात्र से किसी का जीवन न तो प्रगतिशील बन सकता है और न शांति का वातावरण ही बन सकता है । आदतें यों देखने में बहुत ही छोटी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं । कई बार तो उनका कुछ मूल्य और महत्व भी समझ में नहीं आता । पर सच बात यही है कि उन्हीं के ऊपर जीवन की सारी आधारशिला रखी होती है । छोटा-सा बीज ही अनुकूल परिस्थितियों में पाले-पोसे जाने पर विशाल वृक्ष के रूप में परिणित होता है । छोटी-सी आदतें ही मनुष्य के जीवन के विकास या विनाश का एकमात्र आधार होती हैं । विष वृक्ष और अमरफल के जैसे परस्पर विरोधी गुण हैं, वैसे ही प्रतिफल बुरी और अच्छी आदतों के होते हैं । यदि हमें अपने परिवार की सुखी और समुन्नत बनाना हो तो प्रत्येक परिजन में अच्छी आदतें उत्पन्न करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए ।

आरम्भ छोटा, अन्त बड़ा

जिस प्रकार साग खरीदकर लाते समय बच्चे की पैसे बचा लेने की आदत आगे बढ़कर उसे चोर, बेईमान, मित्रहीन, बंदीगृहवासी एवं दुर्गतिग्रस्त बना सकती है, उसी प्रकार अन्य बुरी आदतें भी उसके पतन का कारण बन सकती हैं । आलस्य, आवेश, उड़डंता, कटुभाषण,

अशिष्टता, शौकीनी, मटरगस्ती, सिनेमाबाजी, बुरी संगति, फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, चटोरपन, बहानेबाजी समय का दुरुपयोग आदि दुर्गुणों के विषवृक्ष धीरे-धीरे बढ़ते रहने पर एक दिन ऐसे भयानक प्रतिफल उत्पन्न कर सकते हैं जिनके कारण जीवन में असफलता, दुर्दशा, पीड़ा और पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही न दे। यदि कोई पिता अपने स्त्री, बच्चे के लिए आर्थिक सुविधाएँ तो जुटाता है पर उनकी अच्छी आदतों को बढ़ाने एवं बुरी आदतों को हटाने के लिए प्रयत्न नहीं करता तो उसका परिवार कभी भी शांतिपूर्ण परिस्थितियों में नहीं रह सकता। जिसके घर में क्लेश रहेगा, अनुपयुक्त घटनाएँ और परिस्थितियाँ बनी रहेंगी वहाँ शांति कहाँ रहेगी और जहाँ शांति नहीं वहाँ समृद्धि का अर्थ ही क्या रह जाता है ?

देह के सभी अंग-प्रत्यंगों को जिस प्रकार हमें साथ ही रखना और संभालना होता है, उसी प्रकार परिवार के सदस्यों को भी साथ लेकर चलना होता है। साथियों का सज्जन होना ही स्वर्ग और दुर्जन होना ही नरक माना जाता है। यदि अपने परिजनों की दुर्जनता छुड़ाने और सज्जनता बढ़ाने में हम सफल न हो सके तो इसका दंड हमारी आत्मा हर घड़ी जलन, कुढ़न, खेद, पश्चाताप आदि के रूप में हमें देती रहेगी और एक प्रकार से नरक की आग में हम सदा जलते रहेंगे।

एक राष्ट्रीय अपराध

परिवार के सदस्यों को दुर्गुणी बनने देना समाज एवं राष्ट्र के साथ अपराध करने के समान है। समाज में अगणित चोर, डाकू, बेईमान, व्यभिचारी भरे पड़े हैं। इन कलाओं को सीखने का कोई विधिवत् विद्यालय कहीं खुला नहीं है। हमारे घर ही इन बुराइयों को सिखाने की पाठशाला होते हैं। बच्चे चुपके-चुपके यहीं से सब कुछ सीखते हैं और यहीं से प्राप्त हुई आदतें उन भयंकर अपराधों का रूप धारण कर लेती हैं। शिक्षा का स्थान स्कूल हो सकते हैं पर दीक्षा का स्थान तो घर ही है। बेचारा अध्यापक गणित, भूगोल, इतिहास आदि को ही पढ़ा सकता है। गुण, कर्म, स्वभाव को उत्तम बनाने की दीक्षा देने का उत्तरदायित्व घर वालों पर है, माता-पिता पर है जिन माता-पिता ने जान या अनजान में बुरी आदतें सिखाकर अपने बालकों को एक दुष्ट नागरिक के रूप में राष्ट्र के सामने उपस्थित किया, उन्होंने सचमुच समाज की एक बड़ी कुसेवा की है। बच्चों का भविष्य बिगाड़ने एवं अपने लिए जीवन भर कुढ़ने का सरंजाम जमा कर लेने का उत्तरदायित्व भी उनका ही मानना पड़ेगा।

हमारा पूर्ण शरीर परिवार के सभी सदस्यों से मिलकर बना है। इसे स्वस्थ रखना ही हमारा कर्तव्य है। जिस प्रकार अनुपयुक्त विचारों से हमारी देह रोगग्रस्त होती है उसी प्रकार अपने कर्तव्य को भुला देने से, परिवार के प्रति

अपना दृष्टिकोण सही न रखने से ही हमारा यह कुटुम्ब-शरीर रोगग्रस्त होता है। पारिवारिक स्वास्थ्य का सुधार भी शारीरिक स्वास्थ्य को सुधारने की तरह पूर्णतया सम्भव है पर इसके लिए हमें अपने को ही सुधारना पड़ेगा, अपनी विचारधारा को ही ठीक करना पड़ेगा। अपने को सुधारने से दूसरे स्वतः ही सुधरने लगते हैं।

पारिवारिकता अपनाने में ही मनुष्य का कल्याण

परिवार एक संस्था है, जिसमें विभिन्न स्तर के व्यक्तियों का समुदाय न केवल साथ-साथ रहता है, वरन् एक दूसरे के साथ आत्मीयता के सूत्र में बँधता है और कर्तव्य एवं अधिकार की आचार-संहिता का भी परिपालन करता है। इस प्रकार का जन-समुदाय जहाँ भी बनता हो, उसे निःसंकोच परिवार कहा जा सकता है। आवश्यक नहीं है कि यह परिधि थोड़े से अंश-वंश के लोगों तक सीमित रखी जाय। पारिवारिक दृष्टि जितनी छोटी होगी, उतनी ही सड़न पैदा होगी। जहाँ सड़न होती है, वहाँ मक्खी-मच्छरों, कृमि-कीटकों, दुर्गन्धित प्रवाहों एवं विषाणुओं की सेना उपज पड़ती है। परिवार दर्शन को अंश-वंश तक ही रखना और उतने को ही अनावश्यक दुलार एवं वैभव से लादते रहना-उन्हीं के लिए चिन्तित रहना मोह प्रसन्नता के लक्षण हैं। इससे न परिवार के सदस्यों का हित होगा और न संचालक का। संकीर्ण स्वार्थपरता पर आधारित मोह-ग्रस्तता यदि परिवार में पनपेगी तो उससे पक्षपात बढ़ेगा। पक्षपात में कुछ को विशिष्ट मानना पड़ता है और उनकी सुख-सुविधा एवं प्रसन्नता का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। यह असन्तुलन आरम्भ होते ही प्रकारान्तर से दूसरों की उपेक्षा होने लगती है। यह उपेक्षा अनीतिमूलक है। परिवार के सदस्यों में उनकी आवश्यकतानुरूप साधनों का न्यूनाधिक अनुमान मिलने से किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह तर्क-संगत और कारणों पर निर्भर है। उस प्रकार की न्यूनाधिक चलती रहती है और किसी को अखरती नहीं, किन्तु जन औचित्य न होने पर भी अमुक को अधिक सुविधा या सम्पदा इस आधार पर दी जाती है कि अमुक अपना है तो स्वभावतः अन्य लोग बिराने हो जाते हैं। इस स्तर का भेद-भाव अन्य सभी में ईर्ष्या, द्वेष, अविश्वास एवं आक्रोश उत्पन्न करता है। विभाजन की पृष्ठभूमि यहीं से बनती है। दरारें पड़ती हैं और वे चौड़ी होती जाती हैं। विघटन का बीजारोपण कुछ के साथ पक्षपात करने से आरम्भ होता है। यह वस्तुओं को कम-अधिक देने तक नहीं प्यार, सहकार और ध्यान देने से भी सम्बन्धित है। एक से घनिष्टता और उपेक्षा का परिचय वार्तालाप और व्यवहार में ही नहीं, रुझान तक में सम्मिलित रहता है। यह अन्तर छिपाये नहीं छिपता। वस्तुएँ छिपाई जा सकती

१.१४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

हैं पर भावनाएँ नहीं। अस्तु, पारिवारिकता को जीवन्त और सक्षम रखने के लिए साम्ययोग का अभ्यास करना पड़ता है। साम्यवाद की चर्चा आये दिन होती रहती है और उसकी व्याख्या-विवेचना में अनेक अर्थशास्त्रियों और दार्शनिकों के खोजपूर्ण प्रतिपादन प्रस्तुत होते रहते हैं। किन्तु यदि सच्चे साम्यवाद का व्यावहारिक रूप देखना ही हो तो वह परिवार की उस परम्परा में देखा जा सकता है, जिसमें अपने पराये का अन्तर नहीं किया जाता। सभी सदस्यों को अपना माना जाता है। न किसी को विशिष्टता प्रदान की जाती है और न किसी की उपेक्षा होती है। मोह को विष कहा गया है। वह पनपता है तो एक को प्रसन्न करके अनेक को कष्ट करता है। आत्मीयता और संगठन की जड़ों पर मोह की कुल्हाड़ी ही कुठाराघात करती है। अस्तु, प्यार और मोह के अन्तर को समझकर चलना होता है। प्यार सृजनात्मक है। मोह ध्वंसात्मक। प्यार आत्मीयता है और मोह में दुरभिसंधि। परिवार को यदि सुसंस्कृत बनाना हो तो उसके संचालकों को कुछ के प्रति मोह की दृष्टि समाप्त करके सबके प्रति प्रेम की नीति अपनानी होगी।

समाजवाद की चर्चा बहुत है। उसके स्वरूपों की विवेचना और प्रयोगों की सम्भावना पर मनोरंजक विवाद होता रहता है। पर यदि समाजवाद का व्यावहारिक स्वरूप देखना हो तो वह परिवार-संस्था की सुनियोजित आचार-संहिता के मध्य ही देखा जा सकता है। योग्यतानुसार श्रम, आवश्यकतानुसार ग्रहण की रीति-नीति अपनाने पर ही पारिवारिकता सुसन्तुलित रह सकती है। उपार्जन करने वाले अपनी कमाई घर में जमा करते हैं और उसमें से उतना ही अंश अपने लिए स्वीकार करते हैं, जो नितान्त आवश्यक है। जो सदस्य कमाऊ नहीं हैं, वे भी पारिवारिक सम्पदा का समान लाभ प्राप्त करते हैं। बच्चे, बूढ़े, बीमार कमाते कुछ नहीं, किन्तु खर्च अन्यो के बराबर ही नहीं कई बार अधिक चाहते हैं। उन्हें वह प्रसन्नतापूर्वक दिया जाता है। कमाने वाले का यह दावा नहीं होता कि हम अधिक योग्य हैं, अधिक कमाते हैं, इसलिए हमें सुख-साधन अधिक मात्रा में मिलने चाहिए। चूँकि असमर्थ कम कमाते हैं, अस्तु उन्हें या तो मिलना ही नहीं चाहिए, अन्यथा यत्किंचित देकर टरका देना चाहिए। योग्यता के अनुसार वेतन की नीति ही पूँजीवाद है। इसमें असमर्थों और अयोग्यों के विकास का रास्ता बन्द होता है। 'जिसकी लाठी तिसकी भैंस' के पीछे यही दर्शन काम करता है कि छीन-झपट में जिसका दौंव जितना चढ़ सके, नैतिक नियम की उपेक्षा करके, जो जितना प्राप्त कर सके, अपनी समर्थता के आधार पर उतना ही पाने की स्वेच्छाचारिता बरते। समाज में यही दृष्टिकोण अनीति बढ़ाता और असन्तोष भड़काता है। समाजवादी समाज की संरचना यदि सचमुच ही अभीष्ट हो तो उसे परिवारों की नर्सरी में उगाया और समाज के सुविस्तृत उद्यान में लगाया जाना चाहिए।

परिवार एक समूचा शासन-तंत्र है। उसे लगाने में प्रशासक को पूरी कुशलता अपनानी पड़ती है। शासन के अनेक पक्ष हैं। उत्पादन, संरक्षण, अभिवर्द्धन, उन्मूलन की अनेक व्यवस्थाएँ सरकार को बनानी पड़ती हैं और उनके बीच सन्तुलन बिठाना पड़ता है। कुशल प्रशासन के लिए ऐसी दूरदर्शिता आवश्यक है, जिसमें सर्वतोमुखी विकास का सन्तुलित उपक्रम भी चलता रहे और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को खूब-खेलने का अवसर भी न मिले। सरकारों के अनेक मन्त्रालय होते हैं, वे अपने-अपने कार्यक्षेत्र की योजनाएँ बनाते और कार्यान्वित करते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखते हैं कि उनके अत्युत्साह से अन्य विभागों में अवरोध उत्पन्न न होने पाये। शतरंज की चाल चलने में प्रतिपक्षी के आक्रमण से बचाव करते हुए अपनी गोट आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना होता है। शासन-तन्त्र भी इसी नीति से चलते हैं। परिवार का आकार छोटा है और देश का बड़ा। फिर भी दोनों के बीच नीतिमत्ता, कुशलता एवं दूरदर्शिता का समान उपयोग करना होता है। अकुशल प्रशासक स्वयं बदनाम होते और देश को बर्बाद करते हैं। इसी प्रकार परिवार संचालन में जहाँ सर्वतोमुखी श्रेय है, वहाँ अपयश भी कम नहीं है। प्रशासन की, नियोजन एवं संचालन की योग्यता ही इस संसार की सबसे बड़ी योग्यता मानी जाती है। मैनेजर, गवर्नर आदि के पद अतिमहत्वपूर्ण माने जाते हैं। हर क्षेत्र में, हर काम में सफलता व्यवस्था बुद्धि पर ही निर्भर रहती है। परिवार के सदस्यों को यही सीखना और सिखाना पड़ता है, कुशल गृह-संचालक स्वयं प्रशासक की भूमिका निभाते हैं और परामर्श में साथ रखकर अन्य सभी सदस्यों को उस कौशल में प्रवीण करते हैं।

पारिवारिकता एक दर्शन है, जो गृहस्थी के लिए ही नहीं, विरक्तों के लिए भी अपनाये जाने योग्य है। कुमार और कुमारी उसमें बँधे रहते हैं। स्त्री-बच्चों का परिवार, भी परिवार की परिधि में गिना जा सकता है, किन्तु इस महान संस्था को इतने ही लोगों तक सीमित कर दिया जाना सर्वथा आपत्तिजनक है। घर में स्वभावतः कई व्यक्ति रहते हैं और वे कई स्तर के होते हैं। वयोवृद्ध, कामकाजी, प्रौढ़, विद्यार्थी, किशोर, नन्हें-मुन्ने, वयस्क महिलाएँ, छोटे-बड़े बहिन-भाई, विधवाएँ, आश्रितसम्बन्धी आदि कई सम्बन्ध सूत्रों से जुड़े हुए कई व्यक्तियों को मिलाकर एक परिवार बनता है। इन सबकी मनःस्थिति एवं परिस्थिति एक दूसरे से भिन्न होती हैं। कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उनकी आवश्यकताएँ एवं अपेक्षाएँ भी एक दूसरे से भिन्न प्रकार की होती हैं। इस सबका तालमेल बिठाना हर एक को उचित सुविधा देना और हर किसी में पनपने वाली सहज विशृंखलता का नियमन करना-देखने में छोटा, किन्तु समझने में बहुत बड़ा काम है। इन ठीक तरह सम्पन्न करने के लिए कुशल प्रशासक की दूरदर्शिता, सन्त जैसी उदार निस्पृहता और माता जैसी ममता चाहिए। इन तीनों का जो समन्वय कर

लेगा, वही सफल परिवार-संचालक सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा काजीहाउस में बन्द बहेलियों को जिस तरह एक ग्वाला भूसा-पानी देता और उछल-कूद करने वालों को डण्डे से पीटता रहता है, उसी प्रकार कोई भी अनाड़ी, अविचारी कुटुम्ब को बढ़ाता और उसकी दुर्गति का भौड़ा खेल खेलता रह सकता है।

परिवार एक संस्था है। पारिवारिकता एक दर्शन है। परिवार-व्यवस्था कुशल प्रशासन है और परिवार-निर्माण चेतनात्मक सृजन का उच्चस्तरीय गौरव। जो इसे ठीक तरह निभा सके, उसे अपनी प्रखरता का सर्वांगीण विकास करने में सफलता मिल सकती है, साथ ही उस परिधि में आने वाले जन-समुदाय का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल हो सकता है।

यह तो उस परिवार की बात है, जिसे वस्तुतः घर गृहस्थी कह सकते हैं। इसमें प्रायः अंश-वंश के लोग ही रहते हैं। संकीर्णता के इस युग में तो संयुक्त परिवार एक प्रकार से टूटते ही जा रहे हैं। पाश्चात्य देशों में उनका सफाया हो गया। आगे देश की सांस्कृतिक परम्परा ने उस ढाँचे को अभी भी खड़ा तो रखा है, किन्तु आपाधापी और अव्यवस्था के कारण वे भी टूटते और बिखरते ही जाते हैं। मनुष्य जाति के भाग्य निर्माण में सर्वसमर्थ इस संस्था को पुनर्जीवन तथा प्रखर जीवन्त बनाने के लिए कुछ ऐसा कदम उठाना होगा, जिसमें व्यावहारिकता, सुगमता, सम्भावना एवं शालीनता के सभी तत्वों का समुचित समावेश है। रचनात्मक प्रयासों में यही सर्वोपरि है। चूँकि इनमें धूमधाम, उछल-कूद और विज्ञापन भी नहीं है, इसलिए उथली मनोभूमि के लिए इसमें कोई आकर्षण नहीं है। घर-परिवार की औरतों के माथे मढ़ दिया जाता है। इस छोटे काम को उन्हें ही करना चाहिए ऐसा सोच लिया जाता है। मर्द कमाते हैं, उन्हें उसी से फुरसत नहीं, फिर वे क्यों घर गृहस्थी की ओर ध्यान दें? यही दलील आज जन-जन के मन में बसी हुई है। इस दृष्टिकोण को बदला जाना चाहिए। परिवार-संस्था के व्यक्तित्व को प्रखर एवं समाज को समर्थ बनाने की तरह ही परिवार को सुसंस्कृत बनाने की दिशा में अपने चिन्तन एवं प्रयास को गतिशील होना चाहिए।

परिवार-दर्शन का व्यापक विस्तार ही आत्मिक और भौतिक प्रकृति का केन्द्र बिन्दु है। विश्व परिवार की, विश्व नागरिकता की मान्यता से जन-जन को अनुप्राणित करना आवश्यक है। व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता से पिण्ड छुड़ाने के लिए उसके स्थान पर समष्टिवाद की सहकारिता प्रधान नीति को मान्यता देनी होगी। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना ही आत्मीयता का विस्तार कर सकती है और उसी आधार पर सुख-दुःख को बाँटने की, ज़िओ और जीने देने की, मिल-बाँटकर खाने की सदाशयता पनप सकती है। जाति, धर्म, भाषा, देश आदि

के नाम पर जिस संकीर्णता का इन दिनों उद्धत परिपोषण हो रहा है, उसी की प्रतिक्रिया आक्रमण, शोषण, अपहरण के रूप में दृष्टिगोचर होती है। युद्धों की पृष्ठभूमि यही है। अपने वर्ग को अधिक श्रेय सुविधा दिलाने के लिए ही छोटे या बड़े युद्ध लड़े जाते हैं। देशभक्ति, सम्प्रदाय-भक्ति, भाषा-भक्ति आदि की कट्टरता जितनी प्रबल होती है, उतना ही पक्षपात पनपता और विद्वेष भड़कता है। व्यापक अशान्ति का यह बहुत बड़ा कारण है। इसका निवारण वसुधैव कुटुम्बकम् की, विश्व परिवार की धारणा से ही सम्भव हो सकता है। आर्थिक शोषण, धर्मोन्माद, भाषा विग्रह, जाति पक्ष, देशों का देशों पर आक्रमण जैसे कारण ही संसार में अशान्ति का कारण बने हुए हैं। उनके मूल में वर्ग-वर्ग के बीच जड़ जमाने वाले पक्षपात और पराया धन ही है। जब तक यह प्रवृत्ति बनी रहेगी, तब तक विग्रहों का अन्त किसी प्रकार सम्भव नहीं।

समाज-संरचना के जितने तत्व एवं आधार हैं, उनमें सामूहिकता, सहकारिता को ही प्रधान मानकर चलना होगा। आदि मानव और सभ्य-मानव की मध्यवर्ती शृंखला सामूहिक सहकारिता अपनाये जाने की दूरदर्शिता भर है। संकीर्ण व्यक्तिवाद ही मनुष्य को स्वार्थी एवं निष्ठुर बनाता है। उसी का बढ़ा हुआ रूप अपहरण, आक्रमण है। अपराधों के मूल में लालच की दुष्प्रवृत्तियाँ ही काम करती हैं। संक्षेप में यह अनुदारता और कुछ नहीं, मनुष्य द्वारा अपनाये गये एकाकीपन की प्रतिक्रिया भर है। समाज में अनैतिकताएँ अवांछनीयताओं के अनेकानेक स्वरूप, विविध-विधि संकट, विग्रह एवं सन्ताप उत्पन्न करते देखे जाते हैं। यह अनीति और अनौचित्य भी मौलिक दुर्गुण नहीं है। दूसरों का दुःख-दर्द समझने, दूसरों के सुख में प्रसन्न न हो पाने की शालीनता का अभाव ही ऐसी मनोवृत्ति गढ़ देता है, जिसे पाशविक या पैशाचिक कहा जा सके। समाज में अनेक कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। लोग इन कुरीतियों से होने वाले दुष्परिणामों को भी समझते हैं। फिर उन्हें सहन क्यों करते हैं, बदलते क्यों नहीं। इन प्रचलनों में सहयोग क्यों देते रहते हैं? उन्हें अपनाते क्यों हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर एक है उनके कारण उत्पन्न होने वाले संकटों के प्रति सम्वेदनशील न होना।

समाज में जितने ही परम्परागत, अनीतिजन्य, आक्रमण स्तर के अनौचित्य हैं, वे सभी निष्ठुरता की कीचड़ से उपजे हैं। निष्ठुरता और कुछ नहीं, उदारता के अभाव का ही दूसरा नाम है। समाज जिन कारणों से टूटता और गलता जा रहा है, उसे तत्त्वतः परिवार-दर्शन की अवमानना का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

व्यक्तित्वों का पतित और समुन्नत होने का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ विश्लेषण-विबेचन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जिन आदर्शों पर परिवारों का गठन

१.१६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

और सुसंचालन होता है, उन्हें भुला देने पर व्यक्ति उदण्ड, उच्छृंखल एवं दीन आलसी बनता है। जिन्हें सुसंस्कृत वातावरण में पलने का अवसर नहीं मिले, जो कुसंग में घिरे रहें, जिन्हें श्रेष्ठ सज्जनों का स्नेह, सहयोग नहीं मिल सका, उन्हें ही पतन के गर्त में गिरना पड़ता है। अभाव, अज्ञान, असम्मान और अवसाद की लानत ऐसे ही लोगों पर छाई रहती है। संक्षेप में व्यक्ति एक सामाजिक इकाई है। उसका उत्थान जिन सदगुणों पर निर्भर रहता है, वे भी उसे सम्बद्ध वातावरण से ही उपलब्ध होते हैं। घुमा-फिराकर बात वहीं आ गई है कि व्यक्ति का उत्थान-पतन जिन परिस्थितियों का प्रतिफल है, वे उसके घर-गृहस्थी के अन्तर्गत अथवा व्यवहार-सम्पर्क के अन्तर्गत बने हुए उस वातावरण की देन हैं, जिसे छोटा या बड़ा परिवार ही कहा जा सकता है।

परिवार स्वयं ही एक आनन्द-उल्लास, संतोष, समाधान, निर्वाह, सहयोग जैसी सुखद सम्बेदनाओं एवं परिस्थितियों का भरापूरा गुलदस्ता है। उस कल्पवृक्ष की छाया में सभी सदस्यों की अपने-अपने ढंग की विभूतियों से लाभान्वित होने का अवसर मिलता है। पति-पत्नी गृहस्थ के बन्धनों में बँधकर एक प्रकार का रसास्वादन करते हैं। भाई-भाई दूसरी तरह का, बहिन-बहिन तीसरी तरह का, भाई-बहिन चौथी तरह का, माता-सन्तान पाँचवीं तरह का, बालक और अभिभावक छठी तरह का, वृद्ध सातवीं तरह का, अतिथि-आगन्तुक आठवीं तरह का, पड़ोसी-सम्बन्धी नौवीं तरह का। इन रसास्वादों को कल्पना सम्बेदना की अनुभूति से घर के सभी सदस्यों की आपबीती से भी बढ़कर अन्य बीती की गुदगुदी का आनन्द मिलता रहता है। पोषण, सुरक्षा, सुविधा, सहायता, शिक्षा की अनेकानेक उपलब्धियाँ हर किसी को मिलती हैं। साथ ही अनुशासन, उत्तरदायित्व और शिष्टाचार के निर्वाह का ऐसा अभ्यास बनता है, जिसके बिना मनुष्य का स्तर वनमानुष से बढ़कर नहीं हो सकता। सभ्यता और संस्कृति का आरम्भिक और अमिट प्रभाव छोड़ने वाला विद्यालय परिवार का वातावरण ही है।

इन समस्त तथ्यों को एक सूत्र में पिरो देने से प्रतीत होता है कि परिवार-संस्थान ऐसा सुरम्य उद्यान है, जो अपनी अनुपम शोभा-सुषुमा से न केवल स्वयं गौरवान्वित रहता है, वरन् सम्बद्ध लोगों को भी ऐसे मधुर फल चखाता है, जिनकी तुलना अन्य क्षेत्रों में मिलने वाली उपलब्धियाँ से हो ही नहीं सकती। खेद एक ही बात का है कि इन दिनों परिवार-दर्शन को जितनी दुर्गति का शिकार होना पड़ा है, उतना इतिहास में इससे पूर्व कभी नहीं हुआ।

समय आ गया है कि परिवार-निर्माण के लिए कुछ विशेष और बड़े कदम उठाये जायें। आवश्यक वातावरण बनाने के लिए पिछले दिनों भी महिला-जागरण अभियान के अन्तर्गत यथासम्भव कुछ किया जा रहा है। उससे पृष्ठभूमि बनी और आधारशिला रखी गई, नींव भरी जा

चुकी, अब भव्य भवन का निर्माण-कार्य आरम्भ करने की बेला है। इस शुभ मुहूर्त में सभी परिजनों को विशेष प्रयत्नों के लिए कटिबद्ध, संकल्प अग्रसर होना चाहिए।

परिवार की महिमा और गरिमा बनाए रखें

लौकिक-जीवन में मनुष्य को अनेक कठिनाइयों, समस्याओं और उलझनों का सामना करना पड़ता है। ये गलतियाँ मनुष्य को मानसिक रूप से थका डालती हैं और कभी जीवन को नीरस तथा बोझिल भी बना देती हैं यदि मनुष्य पर पारिवारिक उत्तरदायित्व न हों तो इन चुनौतियों का सामना भी न कर पाये और इन्हें उत्पन्न होने की नौबत भी न आने दे। जबकि प्रगति के लिए संघर्ष करना और प्रतिकूल परिस्थितियों की चुनौतियाँ स्वीकार करना, उनका मुकाबला करना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होना चाहता है। इस महत्वाकांक्षा का मूल अपने परिवार को सुखी रखने की भावना ही है अन्यथा एकाकी व्यक्ति थोड़े से समय और थोड़े से श्रम द्वारा अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। लेकिन जब परिवार का दायित्व साथ आकर जुड़ जाता है तो अधिक श्रम और अधिक समय लगाने की आवश्यकता होती है। यही नहीं, व्यक्ति आर्थिक उत्कर्ष के लिये नयी-नयी योजनाएँ भी बनाने लगता है, उन्हें क्रियान्वित करने के उपाय ढूँढ़ता रहता है तथा क्रियान्वयन में आने वाली कठिनाइयों को हँसकर झेलने के लिए तैयार रहता है।

इस अर्थ में परिवार मनुष्य को प्रगति की प्रेरणा देता है। मनुष्य ने जब से परिवार बनाना सीखा, तभी से मानव-सभ्यता का विकास हुआ अन्यथा जब वह आदिम स्थिति में रहता था तो पेड़ों पर या गुफाओं में सो लेता, शिकार करके अपना पेट भर लेता तथा नितान्त आदिम पाशविक ढंग से अपनी गुजर-बसर कर लेता था। सर्वप्रथम जब किसी मनुष्य को घर बसाकर रहने की सूझी होगी, तब उसे अपना परम्परागत जीवन-क्रम बदलना पड़ा होगा और उसे जीविका-उपार्जन के लिए कोई नियमित व्यवसाय अपनाने के साथ-साथ पत्नी-बच्चों की सुरक्षा के प्रबन्ध की बात भी सोचनी पड़ी होगी। उसी बिन्दु से मानवीय सभ्यता की प्रगति आरम्भ हुई और आज हम उस बीज से अंकुरित हुए वृक्ष को उन्नत सभ्यता और संस्कृति के रूप में देख रहे हैं, इसीलिए डा० बरनार्ड हेल्डर ने कहा है, कदाचित् मनुष्य ने परिवार बसाने की न सोची होती तो हम आज इस स्थिति में न रह पाते, क्योंकि परिवार में पत्नी-पुरुष की समस्त प्रेरणाओं और बाहरी गतिविधियों को जाग्रत करती है। वह अपने साथ-साथ पति को भी परिवार सहित ऊँचा उठने तथा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। यदि आदमी ने घर न बसाया होता

तो इसमें जरा भी शक नहीं है कि वह आज भी पेड़ों पर उछलता फिरता और गुफाओं में निवास करता ।

लेकिन यह सब तभी सम्भव हुआ है, जबकि पति-पत्नी स्वार्थ और संकुचितता को छोड़कर एक दूसरे के लिए अधिक से अधिक त्याग करने और उदारता बरतने के लिए तैयार रहते हैं । पारिवारिक विषयों पर लिखने वाले एक लेखक का कहना है - "गृहस्थी एक साझे की दुकान है । इस दुकान के दो प्रधान साझेदार हैं-स्त्री और पुरुष । यह दुकान तभी फलती-फूलती और लाभ देती है, जबकि यह दोनों साझेदार एक दूसरे के स्वभाव, प्रकृति, गुण, दोष, आवश्यकता और विशेषता को समझते हों । एक-दूसरे के स्वभाव ज्ञात न होने से उनका साझा भली-भाँति नहीं चल सकता ।" ऐसा इसीलिए है कि प्रकृति ने स्त्री और पुरुष को किसी स्वतन्त्र इकाई के रूप में नहीं रचा है । उन दोनों के संयोग-समन्वय से ही एक इकाई का निर्माण होता है । जिस प्रकार धन और ऋण विद्युत के तारों को मिलने पर ही कोई विद्युत यन्त्र चलता है उसी प्रकार मानवीय व्यक्तित्व या पारिवारिक सुव्यवस्था का निर्माण पति-पत्नी के परस्पर त्याग, उत्सर्ग और उदार व्यवहार से ही होता है ।

परिवार को एक तपोभूमि आश्रम-स्थली और पुण्यधाम की गरिमा देने का यही कारण है । स्वतन्त्र रूप से पुरुष और स्त्री अपूर्ण हैं । क्योंकि विधाता ने उनके व्यक्तित्व को अपने आप में पूर्ण नहीं रचा । उनके व्यक्तित्व में एक अभाव, एक कमी और एक त्रुटि रखी है । उस कमी की पूर्ति वे परिवार-संस्था का निर्माण करके ही कर सकते हैं और एक दूसरे के उत्कर्ष में सहायक हो सकते हैं । स्त्री के स्वभाव का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है- "स्त्री में लज्जाशीलता, चारुता, सहज ज्ञान, कोमलता, सूक्ष्मता और भावुकता जैसे गुणों का बाहुल्य रहता है । वे मानसिक संवेगों को तीव्रता से अनुभव करती हैं । वे स्नेह-सरोवर की मीन हैं, उन्हें रूपलावण्य की अनुपम राशि प्रदान की गई है । शान्तिप्रियता, स्नेहशीलता और धैर्य की मात्रा भी उनमें काफी है ।

इसी प्रकार पुरुष-स्वभाव की विशेषताओं का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है- "पुरुष की प्रकृति आक्रामक गुणों से भरी पड़ी है । उसमें शक्ति, क्रोध, कार्यक्षमता तथा अहं की प्रधानता है । क्रियाशीलता और प्रभुता का प्रदर्शन उसके प्रमुख गुण हैं । वह स्वभावतः मजबूत, निर्णायक, प्रामाणिक, स्वाभिमान, प्रचण्ड, उग्रदाता, उदार और कठोर परिश्रमी होता है ।"

इन विश्लेषणों के बाद यह सिद्ध हो जाता है कि पुरुष क्रियाशक्ति प्रधान है तो स्त्री के स्वभाव में नियन्त्रण करने की सामर्थ्य है । अकेली क्रिया ही क्रिया हो तो कहीं भी, किसी भी दिशा में कोई प्रगति नहीं हो पाती, दिशाहीन और किनारों को तोड़कर उफनती नदी जिस प्रकार विनाश ही उत्पन्न करती है, उसी प्रकार अनियन्त्रित और अस्थिर क्रियाशक्ति से भी कोई सृजनात्मक परिणाम प्राप्त

नहीं किये जा सकते । अतएव पौरुष के साथ उसे दिशा देने वाली व्यावहारिक बुद्धि भी चाहिए और उस व्यावहारिक बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है, स्त्री जो प्रेमपूर्वक अपने पति पर शासन करती है तथा उसे दिशा और दायित्व का बोध प्रदान करती है ।

त्याग और समर्पण की भावना से प्रेरित होकर आजीवन एक दूसरे के साथ निभाने वाले पति-पत्नी अपनी इन्हीं विशेषताओं द्वारा एक दूसरे को ऊँचा उठाते हैं । पर आजकल पारिवारिक जीवन विभिन्न समस्याओं और विसंगतियों से ग्रस्त हो गया है । लोग अभीष्ट सुख-शान्ति का अनुभव अपने परिवार में नहीं कर पाते । पति घर में आता है तो उसे पत्नी से शिकायत रहती है कि वह अच्छा खाना नहीं बनाती, उसका कोई काम तैयार नहीं रखती, बच्चों को ठीक से नहीं नहलाती-धुलाती आदि । पत्नी को अपने पति से शिकायत रहती है कि वह उसका समुचित ध्यान नहीं रखता । वक्त पर उसकी जरूरतों को पूरा नहीं करता, अच्छे कपड़े लाकर नहीं पहनाता । पुत्र को अपने पिता से शिकायत रहती है कि वह उसकी माँगों को पूरा नहीं करता । पिता को पुत्र से उपेक्षा मिलने की शिकायत रहती है । इस प्रकार परिवार का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य से कोई न कोई शिकायत करता ही रहता है ।

परिवार जहाँ सुख-शान्ति का केन्द्र रहना चाहिए, वहाँ सदस्यों को एक दूसरे से शिकायत क्यों रहती है ? इस पर विचार करना चाहिए, अन्यथा परिवार-संस्था की महत्ता एवं उपयोगिता ही समाप्त हुई जाती है और इसका प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समूची मानवता पर पड़ता है । वस्तुतः परिवार का वह प्राकृत उद्देश्य ही भुला दिया जाता है, जिसके लिए कि इस संस्था का निर्माण हुआ । उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, मनीषियों ने परिवार की तुलना एक तपस्थली के रूप में की है और कहा गया है कि गृहस्थ व्यक्ति ही वास्तविक रूप से यज्ञ करते हैं । क्योंकि उसमें सामान्य लौकिक जीवन का निर्वाह करते हुए भी पारमार्थिक दृष्टिकोण का विकास करने की प्रेरणा भरी गई है । विवाह के समय एक दूसरे से अपरिचित दो अजनबी आत्माएँ परस्पर निष्ठा और सहयोग का व्रत धारण करते हुए जीवनयुद्ध में प्रवेश करती हैं तथा कदम-कदम पर उत्तरदायित्वों, कठिनाइयों, संघर्षों तथा प्रतियोगिता के निभाने, उनका सामना करने के लिए कृतसंकल्प होती हैं । इसके साथ ही उस सान्निध्य सामंजस्य को घनिष्ट बनाने के लिए-प्रेम, त्याग और सहिष्णुता के आदर्शों को ग्रहण करती है ।

प्रेम, त्याग और उदारता परिवार के प्राण हैं, जीवन रस है, आत्मा हैं । ये तत्त्व वर्तमान समय के परिवार से लुप्त होते जा रहे हैं, इसी से विभिन्न विकृतियों को सिर उठाने का मौका मिलता है और सदस्यों को एक दूसरे से शिकायत बनी रहती है । स्वार्थ, त्याग और अन्य सदस्यों के प्रति उदारता-पारिवारिकता का पहला लक्षण है और खेद है कि आज परिवार में लोग दूसरे की इच्छाओं को

१.१८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रधानता देने के स्थान पर अपने स्वार्थ को पूरा करने की हठधर्मियाँ ही अपनाए हुए हैं। वर-वधू के चुनाव तक में इन्हीं तत्वों को प्रमुखता दी जाती है। लड़के के लिए लड़की का चुनाव करते समय उसकी गोरी चमड़ी तथा सुन्दर नयन-नक्श देखे जाते हैं, तो लड़की के लिए वर का चुनाव करते समय उसकी आर्थिक-स्थिति तथा ऊँचा पद कसौटी का आधार बनाया जाता है।

लड़की वाले अपनी बेटी के सुख का भविष्य सोचें, यह बात ठीक है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि इसे ही कसौटी का मुख्य आधार बना लिया जाय तथा गुणों और संस्कारों की पूर्णतः अवहेलना कर दी जाय। लड़की में भी संस्कार, सदगुण और अच्छी प्रकृति देखी जाय, अन्यथा गोरी चमड़ी और सुन्दर नयन-नक्श देखकर उसे ही उपयुक्तता का एकमात्र आधार बनाना सर्वथा अवांछनीय है। क्योंकि गृहस्थाश्रम कोई विषयभोग की तृप्ति का आधार तो नहीं है, उसकी गरिमा तो उस शान्ति-कुटीर की तरह है, जहाँ रहकर पति-पत्नी को पारस्परिक सहयोग द्वारा शुद्ध आत्म-सुख, प्रेम और पवित्रता का पुण्य प्रसाद प्राप्त करना है तथा प्रेम और कर्तव्यनिष्ठा का विकास करना है।

विषयभोग तथा व्यक्तिगत सुख-सुविधा की बात विवाह के बाद तो और भी नहीं सोचनी चाहिए। उस समय तो अपने सम्बन्धों की पवित्रता को सामाजिकता की भावना से सम्बद्ध करना चाहिए। तब समाज के प्रति मनुष्य का कर्तव्य तथा दायित्व और भी बढ़ जाता है। क्योंकि दम्पति समाज का एक पूर्ण अंग हैं, इसलिए दाम्पत्य जीवन को, पारिवारिक-व्यवस्था को प्रेम और त्याग से, उदारता तथा सहिष्णुता से और भी परिपूरित करना चाहिए। परिवार के भारतीय आदर्श को स्पष्ट करते हुए इसीलिए एक लेखक ने लिखा है—“इस तपोभूमि के पुण्य स्वरूप और पुण्य-साधना का मधुर रहस्य जानने के लिए हम हिमाचल की उस तुषार-मण्डित शिला पर चलें, जहाँ हिमालय की किशोरी पार्वती तपश्चर्या में निमग्न हैं। यही भारतीय गृहस्थाश्रम के मंगलमय स्वरूप का प्रथम दर्शन है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व रमणी को तपोमय साधना में प्रवृत्त होना पड़ता है, क्योंकि जिस मंगलमय उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपने पवित्र सुन्दर जीवन का उत्सर्ग करती है, उसके लिए तपस्या और त्याग की परम आवश्यकता है। कुमार की उत्पत्ति तपस्या की शुद्धि का मधुर फल है, क्योंकि विश्व के परित्राण के लिए, देश के मंगल के लिए, समाज के अभ्युदय के लिए और मनुष्यत्व की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए ही कुमार के अवतार की आवश्यकता पड़ी।”

पारिवारिक गरिमा को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है कि स्वार्थ की भावना को कम किया जाय और जीवन-साथी के सुख को प्रधानता दी जाय। अपनी माँग के स्थान पर साथी के सन्तोष की भावना जैसे ही

विकसित की जायगी, वैसे ही परिवार का महत्व और उसके निर्माण का उद्देश्य सार्थक तथा साकार होता चला जायगा। यह कर्तव्य किसी साथी विशेष का नहीं है, वरन् पति-पत्नी दोनों ही एक दूसरे के निमित्त, त्याग और बलिदान की भावना विकसित करें, दोनों ही एक दूसरे को सुखी देखने का प्रयत्न करें, अपने जीवन-साथी के लिए अधिक से अधिक सचेष्ट रहने को प्रस्तुत हों, तब स्वार्थ और अपनी माँग के स्थान पर उदारता तथा सहिष्णुता का विकास होगा और जीवन-क्रम सुख-शान्ति तथा प्रगति की ओर अग्रसर हो सके।

सही अर्थों में ऐसे परिवार को ही कर्तव्यनिष्ठ गृहस्थ की संज्ञा दी जा सकती है। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी के स्वभाव में एकरूपता आकर पूर्णता की प्राप्ति होती है और परिवार तथा समाज के सुख, समृद्धि तथा प्रगति की आधारशिला तैयार होती है। परिवार की गरिमा को बनाये रखने के लिए स्वार्थ का त्याग ही एकमात्र उपाय है, दूसरा और कोई नहीं।

हमारा परिवार तथा भिन्न-भिन्न सम्बन्ध

परिवार एक प्रकार का प्रजातन्त्र है, जिसमें मुखिया, प्रेसीडेन्ट तथा परिवार के अन्य सज्जन प्रजा हैं। पिता-माता, पुत्र, बहिन, चाचा-चाची, भाभी, नौकर इत्यादि सभी का इसमें सहयोग है। यदि सभी अपने सम्बन्ध आदर्श बनाने का प्रयत्न करें, तो हमारे समस्त झगड़े क्षण मात्र में दूर हो सकते हैं।

पिता और पुत्र

एक वृहत आत्मा तथा उसके आत्मांश का सम्बन्ध वही हो सकता है, जो आदि प्रभु तथा पृथ्वीतल की अन्य आत्माओं में परस्पर हो सकता है। आज हम देखते हैं कि पिता-पुत्र में कटुता है। इसका कारण पिता के पुत्र पर डाले गये दूषित संस्कार हैं। यदि पुत्र में दुर्गुण हैं, तो उसका उत्तरदायित्व पिता पर ही माना जायेगा। यदि वह कुछ भी दूरदर्शिता से कार्य लेता, तो पुत्र को किसी भी ढाँचे में परिवर्तित कर सकता था। बिगड़े हुए पुत्रों के पिताओं में दोष है। उसका परिष्कार भी वहीं से होना उचित है। पहिले पिता अपना सुधार करें। तत्पश्चात् पुत्रों से उन्नति की आशा करें।

पिता का उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। वह परिवार का अधिष्ठाता है, आदेशकर्ता और संरक्षक है। उसके कर्तव्य सबसे अधिक हैं। वह परिवार की आर्थिक व्यवस्था करता है, बीमारी में दवा-दारू, कठिनाई में सहायता, कुटुम्ब की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सम्पूर्ण कुटुम्ब उसी की बुद्धि, योजनाओं, योग्यताओं और पथप्रदर्शन पर निर्भर है।

क्या आप पिता हैं ? यदि हैं तो आप पर उत्तरदायित्व का सबसे अधिक भार है । घर का प्रत्येक व्यक्ति आपसे पथप्रदर्शन की आशा करता है । संकट के समय सहायता, मानसिक क्लेश के समय सान्त्वना और शैथिल्य में प्रेरणात्मक उत्साह चाहता है । पिता बनना सबसे कठिन है क्योंकि इसमें छोटे-बड़ों सभी को इस प्रकार संतुष्ट रखना पड़ता है कि किसी से कटुता भी न हो और कार्य भी होता रहे । घर के सब झगड़े भी दूर होते चलें और किसी के मन में गाँठ भी न पड़े । परिवार के सब सदस्यों की आर्थिक आवश्यकताएँ भी पूर्ण होती रहें और कर्ज भी न हो, विवाह, उत्सव, यात्राएँ, दान भी यथाशक्ति दिये जाते रहें ।

पुत्रों को पिता से कितनी प्रेरणा और पथप्रदर्शन हो सकता है, इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के अनुभव देखिये । महान आस्ट्रियाई साहित्यकार स्टीफन ज्विग कहते हैं- "मैं प्रायः औरों के साथ की लम्बी सैर छोड़, फुटबाल का खेल छोड़, मछली का शिकार छोड़, अपने पिता के साथ बाहर बगीचे की चहारदीवारी के किनारे धीरे-धीरे टहलने जाता । वे कभी तो चुप रहते, कभी बीती बातों को सोचते हुए आगे की बातों की चिन्ता करते पर जिस समय वे अपनी विद्या के भण्डार को खोलने लगते और मध्य में चुटकले छोड़ते जाते, उस समय एक अपूर्व आनन्द आ जाता था ।" ज्विग थोड़ी-सी कठिनाई आ जाने पर पिता के पास जाते । पिता अपने हौसलों और आशाओं को पुत्र के सामने कहते । वह उसे नई प्रेरणा से भर देता था ।

मूर्धन्य मनीषी गेटे कहते हैं- "मेरी माता की मृत्यु के उपरान्त मैं पिता के पास सोता था । उनका पलंग उनके पढ़ने के कमरे में रहता था, जिसमें एक बहुत छोटा-सा आतिशदान भी था । मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि किस प्रकार वे उन मोटी बेढंगी जर्मन भाषा की पुस्तकों को उठाते थे और उनसे चारों ओर से घिर कर उनमें गड़ जाते थे । पर कभी-कभी ऐसा होता कि बहुत रात गये या सबेरा होते-होते मेरी नींद टूटती और मैं देखता कि आग बुझ गई है, उजाला खिड़की के रास्ते से कुछ-कुछ आ रहा है, उनका सुन्दर गम्भीर मुख झुका हुआ है और उनकी दृष्टि उन्हीं पुस्तकों की ओर गड़ी हुई है । मेरी आहट सुनकर वे मुझे मेरी माँ का रखा हुआ नाम लेकर पुकारते और बिस्तर पर आकर मेरे गरम शरीर को छाती से लगाकर सो रहते । साहित्य के प्रति मेरा लगाव उन्हीं की देन है ।" इस वृत्तान्त से हमें उस स्नेह और विश्वास का आदर्श मिलता है, जो पिता-पुत्र में होना चाहिए ।

आज के युग में पिता-पुत्र में जो कड़ुवाहट आ गयी है वह नितान्त संकुचित है । पुत्र अपने अधिकार माँगता है किन्तु कर्तव्यों के प्रति मुख मोड़ता है । जमीन, जायदाद में हिस्सा माँगता है, किन्तु वृद्ध पिता के आत्म-सम्मान, स्वास्थ्य, उत्तरदायित्व, इच्छाओं पर तुषारापात करता है । पुत्र ने परिवार के बन्धन शिथिल कर दिये हैं । घर-घर में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अनुशासन

विरोध का कुचक्र फैल रहा है । यह प्रत्येक दृष्टि से निन्दनीय एवं त्याज्य है ।

पुत्र पिता से क्या-क्या सीखता है ?

पिता-पुत्र का सम्बन्ध बड़ा पवित्र है । पिता को पुत्र के मनोविकारों की अच्छी जानकारी होती है । उसका पुत्र के साथ तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है -(१) पथप्रदर्शक का, (२) तत्व चिन्तक का, (३) मित्र का ।

पिता का साग्निय कर पुत्र निरन्तर कुछ न कुछ सीखता है । पिता को चाहिए कि बड़ी सावधानी से जीवन में आने वाले प्रलोभन, कठिनाइयाँ तथा अन्य आवश्यक, जानकारी का परिचय वह पुत्र को करा दे । बड़ा होने पर पुत्र के साथ वही व्यवहार किया जाय, जो मित्र के साथ होता है । पिता-पुत्र के अच्छे सम्बन्धों का गुर यही है कि ज्यों-ज्यों पुत्र बड़ा होता जाय, त्यों-त्यों पिता उस पर अनुशासन कम करता जाय, मित्र बनाने का उपक्रम करे, महत्वपूर्ण बातों में उससे सलाह लें, उसकी राय लेकर रुपया व्यय करे और उस पर यह धाक जमा दे कि वह उसका पूर्ण विश्वास करता है । पिता-पुत्र के स्नेह में यद्यपि मृदुलता कम रहती है, पर विश्वास की मात्रा अधिक रहती है, यद्यपि आवेग कम रहता है, पर विवेक बुद्धि नियन्त्रण, तर्क और विचारशीलता अधिक रहती है, यद्यपि आलम्बन का मृदुल भाव कम रहता है, पर समता की बुद्धि विशेष रहती है ।

बुद्धिमान तथा सुशील पिता से जितना हम सीख सकते हैं उतना सैकड़ों शिक्षकों से नहीं । पिता सबसे बढ़कर हितैषी, शिक्षक है, जिसके पाठ हम न केवल मुख से, वरन् उसके कार्यकलाप, आचार-व्यवहार, चरित्र, नैतिकता सबसे ग्रहण करते हैं । उसके धैर्य, आत्मनिग्रह, कोमलस्वभाव, सम्भावनाओं की तीव्रता, शिष्टता, पवित्रता और धर्मपरायणता आदि गुण का स्थायी प्रभाव पुत्र पर प्रतिपल पड़ता है ।

मुझे स्वयं अपने पिता के पथप्रदर्शन का अनुभव है । मैं जब प्रारम्भिक दिनों का स्मरण करता हूँ, तो मुझे उन्हीं के गुण अपने व्यक्तित्व में विकसित मिलते हैं । अब (सन् १९५१) से तीस वर्ष पूर्व जब मैं एक अबोध बालक था, जमींदार पिता के साथ अपने गाँव में रहा । उन्हीं के साथ सोना, प्रातः जागरण, भजन, पूजा फिर दौड़ और अध्ययन, दूर-दूर की सैर, प्रकृति के अंचल में तैरता हुआ अनुभव मेरे दिल दिमाग में है । कभी मैं देखता देर रात्रि में पिताजी बैठे पुस्तक पढ़ रहे हैं, पेंसिल से निशान लगाते जाते हैं, झट-झट पुस्तकों का रसास्वादन करते जाते हैं । उनकी कापियाँ, लिखने का ढंग, सभी कुछ मेरे मस्तिष्क में एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया से घुस गया है । मैं आज बौद्धिक और नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में जहाँ तक पहुँचा हूँ, उन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर हो सका हूँ । उनकी आदतें और विश्वास हमारे प्रत्येक परिवार के सदस्य में प्रविष्ट हो गये हैं ।

१.२० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

पिता का जीवन एक खुली पुस्तक है, जिसका प्रत्येक पृष्ठ खुला रहना चाहिए, जिसकी एक-एक पंक्ति और अक्षर घर के छोटे-व्यक्ति पढ़ सकें और जीवन में उतार सकें। पिता के धार्मिक और आध्यात्मिक संस्कारों का सबसे अधिक प्रभाव पुत्र-पुत्री के आध्यात्मिक जीवन पर पड़ता है। हम उन संस्कारों, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं द्वारा विनिर्मित हुए हैं, जिनका अलक्षित प्रभाव हमारे माता-पिता हमारे ऊपर छोड़ गये हैं।

माता का प्रभाव

माता स्नेह की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। उसकी भावनाओं तथा दूध पिलाते समय की आकांक्षाओं से हमारे मनोजगत का निर्माण हुआ करता है। माता बचपन में बालक को जैसी कहानियाँ, आपबीती चुटकले या और बातें सुनाया करती हैं, वे बालक के अन्तर्प्रदेश में प्रवेश करके ग्रन्थियों का निर्माण करते हैं। माता की लोरियाँ विशेष प्रभावशाली होती हैं। बालक अर्द्धनिद्रा में निमग्न है। माता लोरी गा-गा कर उसे सुला रही है। यह एक प्रकार की आत्म-प्रेरणा है, जो धीरे-धीरे उसके बनते हुए गुप्त मन पर प्रभाव डाल रही है। इसी से उसका मानसिक संस्थान बनता है। माता की पूजा एक आध्यात्मिक साधन है, जिससे मन को शान्ति प्राप्त होती है। माता भी पुत्र को उन्हीं अंशों तक दबाती है, जहाँ तक उसके 'अहं' पर ठेस न पड़े। वह पुत्र के लिए महान त्याग को प्रस्तुत रहती है। फिर पुत्र के लिए जो कर दे, थोड़ा ही गिना जायेगा।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत श्रेष्ठ है। आप लिखते हैं— "पुत्र को माता-पिता के व्यय का, उससे अधिक अनुभव का, उसके उन दुःखों का जिन्हें उसने उनके लिए उठाया है, सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। पुत्र को पिता के स्वाभाविक बड़प्पन को स्नेहपूर्वक खुले दिल से स्वीकार करना चाहिए। बहुत से पुत्र ऐसे होते हैं, जो बिल्कुल बुरे, बेकहे और स्नेहशून्य तो नहीं होते, पर वे अपने पिता के साथ मान-मर्यादा का भाव छोड़ इस प्रकार के हेल मेल का व्यवहार रखते हैं मानो उनका गहरा संगी हो। वे उससे चलती बाजारू बोली में बातचीत करते हैं और वे उसके प्रति इतना सम्मान भी नहीं दिखाते जितना एक बिना जाने सुने आदमी के प्रति दिखलाते हैं। यह बेअदबी तिरस्कार से भी बुरी है।

भाई-भाई का व्यवहार सरस करने के अमूल्य उपाय

भाई-भाई के झगड़ों के कारण एक ही घर में दीवार खिंच जाती है और थोड़ी-सी बात में झगड़ा बढ़ सकता है। भाइयों में पारस्परिक कटुता के कारण प्रायः ये होते हैं—(१) जायदाद का बँटवारा, (२) पिता का एक पर

अधिक स्नेह दूसरे का तिरस्कार, (३) एक भाई का अधिक पढ़-लिख सम्पन्न होना, दूसरे की हीनता, (४) मिथ्या गर्व और अपने बड़प्पन की मिथ्या भावना, (५) अशिष्ट व्यवहार, (६) एक भाई की कुसंगति, सिगरेट या व्यभिचार इत्यादि दुर्गुण, (७) उनकी पत्नियों का मन परस्पर न मिलना।

उपरोक्त कारणों में कोई भी उपस्थिति होने पर बड़े भाई को पूर्ण शान्ति और विवेक से छोटे की मनोवृत्ति का देखभाल, सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। कभी-कभी तनिक से विवेक बुद्धि और शान्ति से बड़े काम बनते हैं। गर्मा-गर्मी में आने से अपशब्द उठते हैं, बड़े भाई का आत्मसम्मान एवं प्रतिष्ठा की हानि होती है। यदि एक-दूसरे के लिए थोड़ा-सा त्याग कर दिया जाय, तो अनेक झगड़े तय हो सकते हैं।

जायदाद के बँटवारे के मामले में किसी बाहरी सज्जन को डालकर उचित बँटवारा कराना और जितना मिले उसी में प्रत्येक को सन्तोष रखना चाहिए। यदि हम थोड़ा-सा त्याग करने को प्रस्तुत रहें, तो कोई कठिनाई आ ही नहीं सकती। यदि पिता एक पुत्र पर अधिक तथा दूसरे पर कम प्रेम प्रकट करते हैं, तो भी व्यग्र होने का कोई कारण नहीं है। पिता के हृदय में सबके प्रति समान प्रेम है। चाहे वे प्रकट एक पर ही करें, वह प्रत्येक पुत्र-पुत्री को समभाव से प्रेम करते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने से हम अनेक कलुषित और अनर्थकारी विचारों से बच सकते हैं।

झगड़ा कराने में पत्नियों का विशेष हाथ रहता है। उनमें ईर्ष्या का दुर्गुण बहुत मात्रा में होता है। यदि पत्नियों को शिक्षा दी जावे और कुशलता से स्त्री स्वभाव की इस कमजोरी का ज्ञान करा दिया जावे तो अनेक झगड़े प्रारम्भ ही न हों। एक अच्छा नियम यह है कि पत्नी की बातों में न आया जाय और गलतफहमी से बचा जाय। यदि कोई गलतफहमी आ जाय तो शान्ति से उसे दूर करना उचित है। उसे हृदय में रखना पाप की मूल है। बाहर वालों के कहने में कदापि न आना चाहिए।

भाई से आपकी आत्मा और रक्त का सम्बन्ध है। दोनों में उसी आत्मा का अंश है, उसी रक्त से उनके शरीर, मन तथा भावनाओं का निर्माण हुआ है। उसमें कटुता का तत्व किसी तीसरे के षडयन्त्र से होता है। समाज में ऐसे व्यक्तियों की न्यूनता नहीं है, जो परस्पर युद्ध करा दें। अतः उनसे बड़े सावधान रहें।

भाई आपका सबसे बड़ा मित्र और हितैषी है। बड़ा भाई पिता तुल्य गिना जाता है। छोटा भाई आड़े समय अवश्य काम आता है। सेवा करता है। एक और एक मिलकर ग्यारह बनते हैं। यदि दो भाई मिल-जुलकर अग्रसर हों तो संसार में निर्विघ्न चल सकते हैं। एक-दूसरे के आड़े समय पर काम आ सकते हैं, आर्थिक सहायता

कर सकते हैं और एक के मरने पर दूसरे के कुटुम्ब का पालन-पोषण कर सकते हैं । वे भाई धन्य हैं जो मिल-जुलकर चलते हैं ।

छोटा भाई आप में पथप्रदर्शक, हितैषी एवं संरक्षक की प्रतिच्छाया देखता है । उसके लिए आपको वही त्याग और बलिदान करने चाहिए जो एक पिता अपने पुत्र के लिए करता है । पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र के ऊपर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आ जाता है ।

सन्तान के साथ हमारा व्यवहार

ईश्वर ने जो सन्तान तुम्हें दी है, वह अनेक जन्मों के वरदान और उपहारस्वरूप प्राप्त हुई है । उसे परमेश्वर का अनुग्रह समझकर ग्रहण करना चाहिए । सन्तान के प्रति सच्चा और निष्कपट प्रेम करना चाहिए । यह अनुचित लाड़ या झूठा स्नेह न हो जो तुम्हारी स्वार्थपरता और मूर्खता से उत्पन्न होता है और उनके जीवन को नष्ट करता है ।

तुम यह कभी न भूलो कि तुम्हारे गृह में पदार्पण करने वाले तुम्हारे आत्मस्वरूप ये बालक भावी नागरिक हैं, जो समाज और देश का निर्माण करने वाले हैं । ईश्वर की ओर से तुम्हारा यह कर्तव्य है कि उनकी सुशिक्षा, शिष्टता तथा परिष्कार की समस्या में हम पर्याप्त दिलचस्पी लें ।

तुम अपनी सन्तान को केवल जीवन के सुख और इच्छापूर्ति मात्र की ही शिक्षा न दो, वरन् उनको धार्मिक जीवन, सदाचार और कर्तव्यपालन, आध्यात्मिक जीवन की भी शिक्षा प्रदान करो । इस स्वार्थमय समय में ऐसे माता-पिता विशेषतः धनवानों में विरले ही मिलेंगे, जो संतान की शिक्षा के भार को, जो उनके ऊपर है, ठीक-ठीक परिमाण में तौल सकें ।

जैसा वातावरण तुम्हारे घर का है, उसी साँचे में ढल कर तुम्हारी सन्तानों का मानसिक संस्थान, आदतें, सांस्कृतिक स्तर का निर्माण होगा । जबकि तुम अपने भाइयों के प्रति दयालु, उदार और संयमी नहीं हो, तो अपनी सन्तान से क्या आशा करते हो कि वे तुम्हारे प्रति प्रेम दिखलाएँगे । जब तुम अपना मन विषय-वासना, आमोद-प्रमोद तथा कुत्सित इच्छाओं से नहीं रोक सकते, तो भला वे क्यों न कामुक और इन्द्रिय लोलुप होंगे । यदि तुम मौस, मद्य या अन्य अभक्ष्य पदार्थों का उपयोग करते हो, तो वे भला किस प्रकार अपनी प्राकृतिक पवित्रता और दूध जैसी निष्कलंकता को दूर रख सकेंगे । यदि तुम अपनी अश्लील और निर्लज्ज आदतों, गन्दी गालियाँ, अशिष्ट व्यवहारों को नहीं छोड़ते, तो भला तुम्हारे बालक किस प्रकार गन्दी आदतें छोड़ सकेंगे ।

तुम्हारे शब्द, व्यवहार, दैनिक कार्य, सोना उठना-बैठना ऐसे साँचे हैं, जिनमें उनकी मुलायम प्रकृति और आदतें ढाली जाती हैं । वे तुम्हारी प्रत्येक सूक्ष्म बात देखते और उनका अनुकरण करते हैं । तुम उनके सामने एक

मॉडल, एक नमूने या आदर्श हो, जिसके समीप वे पहुँच रहे हैं । इसलिए यह तुम्हीं पर निर्भर है कि तुम्हारी सन्तान मनुष्य हो या मनुष्याकृति वाले पशु ।

पारिवारिक सहकारिता की भावभूमि

प्राणिमात्र में सहकारिता की भावना पायी जाती है । मानवीय प्रगति का सर्वोपरि श्रेय सहकारिता, सहयोग की भावना को है । इसलिए समाज में सहकारी भावना का अधिकाधिक विस्तार आवश्यक है । नागरिकों में सहकारिता के संस्कार परिवार की तदनुरूप व्यवस्था द्वारा ही गहराई तक जमाये जा सकते हैं ।

जहाँ पारिवारिक सहकारिता की भावना गहरी नहीं होती, वहाँ घर का परिवेश कलहपूर्ण बना रहता है । सहकारिता मनुष्य की प्रवृत्तियों को सन्तुलित एवं नियमित बनाती है । क्योंकि वह अहं के अतिरेक को घटाती है ।

हर व्यक्ति का अपना निजी व्यक्तित्व होता है । उसकी अपनी प्रकृति एवं आदतें होती हैं । जहाँ अपने को ही सब कुछ मान लेने का अहं प्रबल होता है, वहाँ व्यक्तित्व अनगढ़ होने लगता है । क्योंकि व्यक्ति को प्रतिक्षण प्रतिक्रिया करनी है-अपने परिवेश से । परिवेश में अपने से भिन्न हजारों, लाखों व्यक्तित्व होते हैं । हर एक का अहं टकरायेगा, तो गतिरोध पैदा होगा । कार्य एवं प्रगति कुछ भी न हो सकेगी । मनोविज्ञान की भाषा में इसे ही अनुकूलन की असमर्थता कहते हैं । प्रत्येक व्यक्ति एवं प्राणी को अपने परिवेश से अनुकूलन का अभ्यास करना होता है, अन्यथा उसकी प्रगति क्या अस्तित्व तक असम्भव हो जाता है ।

यह अनुकूलन या परिवेश से सन्तुलन बिना सहकार की प्रवृत्ति के सम्भव नहीं । परिवार सबसे निकट का परिवेश होता है । वहाँ सहकारिता न होगी, तो प्रत्येक व्यक्तित्व में गतिरोध पैदा होगा ।

पारिवारिक सहकारिता का अर्थ है व्यक्ति अपनी इच्छाओं, रुचियों, स्वभाव एवं सन्तोष को ही सब कुछ न माने । दूसरे सदस्यों की आकांक्षाओं, रुचियों, हितों, सुख-सुविधाओं एवं आदतों का भी ध्यान रखे ।

परस्पर सहसंवेदन, सहानुभूति, स्नेह, प्रेम एवं सहयोग की प्रकृति घर के हर सदस्य में पैदा की जानी चाहिए । इसका प्रशिक्षण बड़ों द्वारा अपने आचरण से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं । जिन घरों में छोटे बच्चे परस्पर मार-पीट, छीना-झपटी करते देखे जाते हैं, वहाँ पता लगाया जाय तो यही ज्ञात होता है कि उस घर में बड़ों में ही सहकारिता-सहयोग एवं स्नेह भाव का अभाव है ।

सहकारिता की प्रवृत्ति उसी परिवार में विकसित हो सकती है, जहाँ नीतियाँ एवं मर्यादाओं का निर्वाह होता हो । किन्हीं एक दो सदस्यों की मनमानी न चलती हो । जहाँ सभी को विश्वास में लेकर काम किया जाता हो ।

१.२२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सहकारिता का उपयुक्त वातावरण तभी बन सकता है, जब किसी परिवार के सभी वयस्क सदस्यों को आपस में विश्वास हो तथा घर-सम्बन्धी सभी निर्णय उनकी सम्मति प्राप्त कर किये जायें।

गृह-प्रबन्ध में भी परिवार के हर सदस्य को भागीदार बनाया जाना चाहिए। समय-समय पर सभी लोग एकत्र हों। पारिवारिक गोष्ठी का क्रम बना लिया जाय। उसमें घर की स्थिति, आवश्यकता, कठिनाइयाँ, समस्याएँ आदि पर विचार हो। भविष्य की रूपरेखा से हर सदस्य को परिचित करा दिया जाय, ताकि वह उस योजना एवं कार्य दिशा के प्रति अपनत्व का अनुभव करें। आपस में सलाह हो। शंकाओं का प्रेमपूर्वक समाधान कर दिया जाय। ताकि पारिवारिक प्रगति में अपनी भूमिका हर एक के सामने स्पष्ट रहे। क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता और क्यों नहीं हो सकता, यह हर एक को ज्ञात रहे, तो सहकारिता का उत्साह उमड़ेगा। जहाँ परिवार के सदस्यों को विश्वास में नहीं लिया जाता, वहाँ वे प्रस्तुत कार्यों का औचित्य नहीं समझते। उन्हें लग सकता है कि हमें तो इस कार्य के लिए हाँका जा रहा है। उनके आत्माभिमान को ठेस लग सकती है और प्रत्यक्ष इन्कार न करने पर भी वे हीला-हवाला, टालम-टोल या सुस्ती बरत सकते हैं। पूरे मनोयोग से नहीं किया गया काम उत्कृष्ट नहीं हो पाता। मनोयोग तभी होता है, जब उसके प्रति अपनत्व का अनुभव हो।

सहकारिता की भावना वहीं सुदृढ़ होगी, जहाँ प्रत्येक को लगेगा कि परिवार में उसका भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसे भी वही स्नेह-सम्मान मिलता है, जो औरों को। जहाँ ऐसा नहीं लगता, वहाँ सहकारिता का भाव धूमिल होने लगता है।

प्रत्येक सदस्य को समानता की यह अनुभूति हो, इसकी जिम्मेदारी घर के बड़े लोगों-पिता, माँ, बड़े भाई बड़ी भाभी आदि की होती है। सामान्यतः हर माता-पिता अपनी सभी सन्तानों को समान रूप से प्यार करते हैं। किन्तु यह समानता व्यवहार में भी परिलक्षित होनी चाहिए, अन्यथा भ्रान्ति का निर्माण होने लगता है। पास-पड़ोस के लोग तो ऐसी गलतफहमी पैदा करने एवं बढ़ाने में रुचि रखते ही हैं। अतः प्रयास यह होना चाहिए कि ऐसा व्यवहार न होने पाये। अक्सर, असंस्कारी स्त्रियों का असमानतावर्द्धक, पक्षपातपूर्ण व्यवहार; सहकारिता-सहयोग, स्नेह-स्वभाव की भावना को धूमिल कर देता, सम्बन्धों में खटास पैदा कर देता है। यदि नियमित पारिवारिक विचार-विमर्श का क्रम चलता रहे और हर एक की आवश्यकताओं को यथोचित महत्व मिले, हर एक की बात सुनी जाय तथा सभी को विश्वास में लिया जाय, तो ये स्थितियाँ न आयें।

बड़े आपस में मिलकर निर्णय करें, समान रूप से सभी की आवश्यकताओं का ध्यान रखें। बड़े भाई-बहिन छोटे के साथ स्नेहपूर्ण सहयोगी का भाव रखें। उन्हें काम काज

के तरीके समझाएँ-रौब गाँठकर नहीं, स्वयं साथ देकर ही बड़े अपने से छोटे को पढ़ाएँ। उन्हें उचित परामर्श-निर्देश दें। उनसे छोटे अपने से छोटे को पढ़ाएँ।

खाने-पीने और पहनने की सुविधाएँ सबको समान मिलें। इससे भी सहकारिता का सूत्र सुदृढ़ होता है, क्योंकि सभी को एकता की अनुभूति होती है।

छोटे बच्चे खाने-पीने की वस्तुओं, खिलौनों आदि के लिये आपस में छीना-झपटी करते हैं। लाड़-दुलार में इसे हँसते रहकर प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। अपितु उन्हें समझाना चाहिए कि सब मिल-जुलकर रहें। खाने की कोई चीज है, तो सब मिल-बाँटकर खायें। खिलौना है तो सब साथ खेलें। साथ ही कहानी, सीख आदि द्वारा बच्चों को मेलजोल एवं सहयोग का महत्व बताते रहना चाहिए।

कुछ बच्चों में ईर्ष्या की प्रवृत्ति हो जाती है, तो वे भाई-बहिनों की वस्तुएँ, खिलौने आदि खराब करते या तोड़ते-फोड़ते रहते हैं। उन्हें ऐसे कामों को दोषपूर्ण बताकर समझाना चाहिए। कपड़े बनवाते समय, खिलौने लाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी बच्चे के लिए अधिक, किसी के लिए कम तो नहीं रहे हैं। बच्चों को छोटी-छोटी बातें ही जीने-मरने जैसी महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। छोटी-छोटी विषमताएँ उनमें ईर्ष्या-द्वेष जगाती तथा सहकार-भाव को कमजोर करती हैं।

घर का काम बच्चों से कराते समय भी सहकारिता और समानता का ध्यान रखा जाय। किसी एक ही बच्चे को बाजार से सामान लाने को कहते रहकर दूसरों को खेलने का मौका नहीं देना चाहिए। आज यह बाजार चला गया, तो कल दूसरा। इसका ध्यान रखा जाय। घरेलू कार्यों का विभाजन कर लिया जाय। अमुक पानी भरेगा, अमुक झाड़ू लगा देगा। अमुक सब्जी ले आयेगा, अमुक जूते आदि किनारे में करीने से लगा देगा। अमुक कुर्सी मेज, चित्र आदि पोंछ लेगा, अमुक साइकिल वगैरह को ठीक-ठाक कर लेगा। काम के इस बँटवारे में भी पारी-पारी से फेर बदल करते रहना चाहिए।

साप्ताहिक सफाई में घर के सभी लोग साथ-साथ जुटें। बगीचा, शाक-वाटिका आदि का काम हो तो उसमें भी सभी भाग लें। किसी एक को काम करने देना, दूसरे को उस ओर से लापरवाह होने देना अनुचित है।

पारिवारिक पंचशील सिद्धान्त

दुर्भावना के वातावरण में पंचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भले ही सफल न हुए हों पर पारिवारिक जगत में वे सदा सफल होते हैं। पारिवारिक पंचशील पालन करने से घर में शक्ति बनी रहती है और प्रेम तथा सुव्यवस्था का वातावरण बना रहता है। पारिवारिक पंचशील यह है:-

(१) परस्पर आदर-भाव से देखना

परस्पर के दोषों को देखकर आलोचना करना अनुचित है। सभी मनुष्यों में कमजोरियाँ हैं। भूल होना भी मनुष्य का स्वभाव है। प्रत्येक व्यक्ति आपके घर का सदस्य होने के कारण उसका भी उस घर पर पूरा अधिकार है।

यदि रुचि में साम्य न हो अथवा मत वैभिनता हो तो वह निरादर का पात्र नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि आपकी रुचि सब से मिल सके।

छोटे बच्चे भी आदर के पात्र होते हैं। वे भी अपने आदर-निरादर को समझते हैं। यदि आप किसी बच्चे से स्नेह से बोलेंगे तो वह निश्चय ही आपके गले से लिपट जायगा। यदि आप उसे झिड़क देंगे तो वह कभी आपके पास आने का नाम भी नहीं लेगा।

कड़ुवी बात जहर से भी बुरी होती है। यदि आपकी वाणी मधुर नहीं है तो जीवन में कटुता बढ़ती ही चली जायगी। घर के किसी सदस्य की तीखी आलोचना करना अवश्य ही बर्दाश्त से बाहर हो सकती है। आपकी भ्रान्त धारणा, चाहे वह भ्रान्ति न होकर सत्य ही हो तो भी, दूसरे पर तीखी चोट कर सकती है, और तब वाणी का वह घाव बड़ी कठिनाई से भर सकता है।

विद्वानों का कहना है कि मनुष्य तलवार के घाव से नहीं घबराता, वह उसे हँसते-हँसते सह लेता है। परन्तु वाणी का घाव कलेजे में गहरा होता जाता है और वह जीवन भर भरने में नहीं आता।

(२) अपनी भूल स्वीकार करना

चेष्टा यह करनी चाहिए कि मतभेद की नौबत ही न आने पावे। अपनी ओर से कोई ऐसी बात मत आने दो जिससे कोई विवाद हो जाय, बल्कि दूसरी ओर से होने वाले विवाद को भी शान्तिपूर्वक निपटा देना ही बुद्धिमानि है।

अपने द्वारा हुई भूल को तुरन्त स्वीकार कर लीजिए। आपकी इस स्पष्टवादिता और आदर्श मनोवृत्ति का दूसरों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। यदि आप भूल करके भी उसे स्वीकार नहीं करते तो दूसरों पर उसकी गलत प्रतिक्रिया होगी और क्षमाभाव के बजाय मन में भ्रान्त धारणा बनी रहेगी।

परस्पर विरोध रहने के कारण अनबन चल रही हो तो उस अनबन को समझाते द्वारा तय कीजिए और आगे के लिए ऐसा ढंग अपनाइये कि समस्या जटिल न होने पावे। अनबन का अन्त यदि शीघ्र ही नहीं होता तो वह धीरे-धीरे भीषण रूप धारण कर लेती है और फिर उसका समाधान बहुत कठिन हो जाता है।

(३) आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना

सभी के विचार पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। यदि आपके परिवार के किसी सदस्य के विचार आप से नहीं मिलते और वह अपनी विचारधारा के अनुसार कार्य

करता है तो उसके मार्ग में रुकावट न डालिए। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप राम के उपासक हैं और आपका पुत्र शिव की उपासना करता है, वह राम को नहीं मानता तो उसे अपने मन के अनुसार करने दीजिए। अथवा आप किसी एक राजनैतिक दल से सम्बद्ध हैं और आपका पुत्र किसी अन्य राजनैतिक दल का सदस्य हो जाता है, तो उसके इच्छित कार्य से रुष्ट मत होइए। यदि आप उसके विचारों के प्रति अपना दृष्टिकोण उदार रखेंगे तो किसी प्रकार के गृह-कलह की सम्भावना न रहेगी।

(४) भेदभाव न रखना

घर में भेद-भाव भी कलह का कारण बन जाता है। आपके दो पुत्र हैं—एक को अच्छा भोजन वस्त्र देते हैं और दूसरे को वैसा नहीं देते तो यह भेद अवश्य ही खटकने वाला होगा। हाँ, परिस्थितिवाश एक को एक प्रकार की सुख-सुविधा और दूसरे को दूसरे प्रकार की सुख-सुविधा देते हैं, तो वह आपका दोष नहीं होगा। फिर भी यदि उनमें से किसी एक को वह बात खले तो उसे भी ठीक करने की चेष्टा करनी चाहिए।

(५) विवादों का निष्पक्ष निपटारा

किसी मामले में आपको मध्यस्थ बनाया जाय तो एकदम सत्यता पर आ जाइये। कोई कितना भी प्रिय हो, यदि उसके द्वारा ज्यादाती हुई है तो इसकी ज्यादाती की घोषणा कीजिए और जिसकी हानि हुई है उसके मन का सन्तोष कीजिए। यदि आप निष्पक्ष न रहे तो आपको उसका भीषण परिणाम भुगतना पड़ेगा।

आपका सम्मान इसी में है कि आप सबके विश्वास-भाजन बनें। यदि आप सबको एक समान समझेंगे तो परिवार के सभी सदस्य आपकी बात मानने में सन्तोष करेंगे। अनजाने में यदि आप से कभी कोई भूल हो भी जायगी, तो उसका कोई ख्याल नहीं करेगा और आपकी प्रतिष्ठा ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।

एक कहावत है कि चार बर्तन होते हैं तो खटकते ही हैं। अतः घर में कभी कुछ कलह उपस्थित हो जाय तो उसे मनुष्य स्वभाव की कमजोरी मानकर अधिक तूल मत दीजिए। झगड़ों को शांत करने का एक बहुत बड़ा नुस्खा है—त्याग। यदि आपने किंचित भी त्याग प्रदर्शित किया तो, झगड़ा समाप्त होने में देर न लगेगी।

झगड़ों को युद्ध की-सी चुनौती के रूप में मत मानिए। विपक्षी का दमन करने की बात मत सोचिए। बल्कि झगड़े के कारण पर विचार कीजिए और प्रयत्न कीजिए कि वह कारण दूर हो जाय। यदि ऐसा हो सका तो झगड़ा दूर करने में आपको शीघ्र ही सफलता मिल जायगी।

गृह-कलह को समाप्त करने का यह प्रमुख सिद्धान्त है। इस पर चलकर देखिये और सफलता मिले तो दूसरों को भी इसका उपदेश कीजिए। यदि आप घर में ही अपने

१.२४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

पंचशील को सफल न बना सके तो बाहर उसकी सफलता की आशा कैसे कर सकते हैं ?

पारिवारिक पंचशीलों का परिपालन

बौद्ध धर्म में मनुष्य जाति के अनेक वर्गों के लिए उनके कार्यक्षेत्र के अनुरूप पाँच-पाँच प्रमुख 'शील' अनुशासन बनाये गये हैं। शासन, समाज, धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य, उपार्जन आदि क्षेत्रों में काम करने वाले इन मर्यादाओं का पालन करें, यही उनका शील है। यह मर्यादाएँ पाँच-पाँच की संख्या में निर्धारित होने के कारण पंचशील कहलाती हैं।

यहाँ पारिवारिक पंचशील का प्रसंग है। इन्हें (१) सुव्यवस्था, (२) नियमितता, (३) सहकारिता, (४) प्रगतिशीलता, (५) शालीनता की पाँच सत्प्रवृत्तियों के रूप में समझा जा सकता है। इन्हें अपनाने से व्यक्ति, परिवार एवं समाज को उन विकृतियों से बचे रहने का लाभ मिलता है जो समस्त समस्याओं और विपत्तियों के लिए उत्तरदायी हैं। इन्हें अपनाने में सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुलता है और उज्ज्वल भविष्य के राजमार्ग पर चल पड़ने का अवसर मिलता है।

(१) सुव्यवस्था

पंचशीलों में प्रथम है 'सुव्यवस्था'। अपने आपको, अपनी मर्यादाओं को, साधनों को सुनियोजित, सुव्यवस्थित रखने का नाम 'सभ्यता' है। असभ्य और अव्यवस्थित लोग न तो उपलब्ध साधनों का ही सदुपयोग कर पाते हैं और न कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त कर सकने योग्य मनोयोग जुटा पाते हैं। साधन और अवसर अनेक को प्राप्त होते हैं। क्षमता और कुशलता भी बहुतों में होती है पर वे उन्हें व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से क्रियान्वित नहीं कर पाते। फलस्वरूप उन सफलताओं से वंचित रह जाते हैं जिन्हें वे नियमन एवं नियन्त्रण की बुद्धि होने पर सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। सद्गुणों में सबसे प्रमुख-व्यवस्था ही है। महान कार्यों को संपादित करने और बड़ी सफलताएँ पाने वालों में व्यवस्था बुद्धि की विशेषता ही उन्हें श्रेयाधिकारी बनाती है। इसी के अभाव में पिछड़ापन लदा रहता है और पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं।

वस्तुओं का सुन्दर-सुसज्जित ढंग से यथाक्रम रखना, साधियों को उपयुक्त कार्यों में क्रमबद्ध रूप से लगाये रहना, साधनों को संभालना और उन्हें उचित समय पर उचित कार्य में, उचित मात्रा में प्रयुक्त करना, उपार्जन और व्यय का सन्तुलन बिठाये रखना जैसे कौशल व्यवस्था बुद्धि के अन्तर्गत ही आते हैं। आज की स्थिति और भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार की नीति अपनाना जिसमें कठिनाइयों से बचा जा सके और प्रगतिक्रम विधिबद्ध चलता रहे-दूरदर्शी सूझ-बूझ का काम

है। शतरंज की चाल की तरह गोट उठाने से पहले बचाव और लाभ को पूरी तरह ध्यान में रखने की तरह ही जो भली प्रकार आगा-पीछा सोच लेते हैं, उन्हें असफलताओं और कठिनाइयों का सामना कम से कम ही करना पड़ता है। इस सद्गुण को हर व्यक्ति के जीवन क्रम में समाविष्ट करने के लिए परिवार में आरम्भिक प्रशिक्षण और उसके परिपोषण का प्रबन्ध रहना चाहिए। स्मरण रखा जाय कि संसार में सबसे बड़ा पद 'व्यवस्थापक' का है। मैनेजर, गवर्नर, सुपरिन्टेण्डेन्ट आदि शब्दों से जिन उच्च पदों को सम्मानित किया जाता है, वस्तुतः वे अपने-अपने कार्यक्षेत्र के व्यवस्थापक ही होते हैं। यह कार्य घर परिवार में वस्तुओं को स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखने के माध्यम से आरम्भ किया जा सकता है।

वस्तुओं की सुव्यवस्था का ही दूसरा नाम 'स्वच्छता' है, जो देखने में सुन्दरता एवं सुसज्जा बनाती और नयनाभिराम लगती है। देखने वालों की दृष्टि में यह कलाकारिता एवं सुरुचि का परिचायक है। इस प्रकार रखी हुई वस्तुएँ अपनी मौन भाषा में यह प्रकट करती हैं कि हम किन्हीं सभ्य, संस्कृत हाथों की छत्रछाया में रह रही हैं। यह प्रतिष्ठा और गौरव की स्थिति है। जहाँ वस्तुएँ अस्त-व्यस्त, मैली-कुचैली, टूटी-फूटी स्थिति में पड़ी हुई हों तो समझना चाहिए वहाँ आलस्य और प्रमाद का साम्राज्य है। कुरूपता और अस्वच्छता एक ही बात है। सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् की प्राप्ति में प्रथम सौन्दर्य, द्वितीय श्रेष्ठ और अन्त में सत्य की प्राप्ति का क्रम है। प्राकृतिक सौन्दर्य सृष्टा का विधान है। मनुष्य दूसरा सृष्टा है वह वस्तुओं को स्वच्छ और सुव्यवस्थित रखकर उन्हें सुन्दर बनाये रहता है। सुसज्जा प्रकारान्तर से स्वच्छता और व्यवस्था का ही सम्मिलित स्वरूप है।

सम्भव हो तो आरम्भ में सफाई का एक घण्टा रखा जाय, जिसमें सब लोग मिल-जुलकर घर की प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखें और उसे अधिक सुव्यवस्थित, स्वच्छ एवं सुसज्जित बनाने का प्रयत्न करें। इस काम के लिए बुहारी, टोकरी, झाड़न जैसे अस्त्र-शस्त्र हाथ में लेकर चला जा सकता है। सुई, साबुन, आरी, हथौड़ी, चूना, वार्निश जैसे उपकरणों को अपनाने और आगे रखने में उत्साह रहना चाहिए। मात्र झाड़ू लगाना ही काफी नहीं है। वस्तुओं का यथास्थान, यथाक्रम रखना भी सूझ-बूझ और बुद्धिमत्ता का चिह्न माना जा सकता है। जमीन, कोने, छत्ते, बुहारी के सहारे स्वच्छ रखी जा सकती है। नालियाँ, रसोईघर, स्नानघर, शौचालय आदि को पानी के सहारे धोया जाता है। गन्ध दूर करने के लिए चूना, फिनायल, किरासिन तेल आदि का प्रयोग करना होता है। मकान में टूट-फूट ठीक करने के लिए थोड़े से सीमेंट आदि और कन्नी वसूली जैसी राजमिस्त्रियों के हाथ में रहने वाले उपकरणों का प्रयोग सीखा जा सकता है। घर की लिप्याई-पुताई मिल-जुलकर आसानी से हो सकती है। किवाड़ों और फर्नीचरों पर रंग-रोगन करने में थोड़ा-सा

खर्च और श्रम तो लगता है पर घर का स्वरूप ऐसा निखर आता है मानो आज ही दीवाली मनाई गई है। घर, बर्तन, कपड़े और जूते सर्वत्र फैले-पड़े दीखते हैं। उन्हें यथाक्रम, यथास्थान लगाने की तब तक बार-बार चेष्टा करनी चाहिए जब तक कि उनके उपयोग करने वाले स्वतः ही उन्हें साफ-सुथरी स्थिति में यथास्थान रखने के बाद ही आगे बढ़ने के सम्बन्ध में अभ्यस्त न हो जायें।

चारपाइयों की चूल्हें तथा रस्सियाँ अक्सर टूटती रहती हैं, उन्हें सुधारने के लिए मिस्त्री की जरूरत नहीं पड़नी चाहिए। इसी प्रकार किवाड़े, कुर्सी, मेजें, चौकियाँ आदि की समय-समय पर मरम्मत होती रहे तो उनकी मजबूती और शोभा बनी रहेगी। लालटेन, स्टोव, बर्तन आदि की टूट-फूट सँभाल देने में ताश खेलने जितनी बुद्धि लड़ाने में काम चल सकता है। पुस्तकों की जिल्दें घर पर बन सकती हैं, कपड़ों की मरम्मत, सिलाई, धुलाई, रंगाई का अधिकांश काम घर पर ही किया जा सकता है। आँगन में फूल और छत पर सब्जियाँ उगाने का काम पक्षी पालने से अधिक मनोरंजक है साथ ही लाभदायक भी। इस प्रकार के अनेक काम घर में हो सकते हैं। जिनसे अव्यवस्था हटाने और सुव्यवस्था बढ़ाने के, गन्दगी भगाने और सुन्दरता बढ़ाने के उभयपक्षीय प्रयोजन पूरे हो सकें।

एक घण्टा नित्य सबको छोटे-बड़ों को साथ लेकर सफाई अभियान में लगाया जाय। सुसज्जा के लिए श्रम दान कराया जाय तो धीरे-धीरे उनका दृष्टिकोण सुव्यवस्था का बनने लगता है। व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं को तो हर व्यक्ति स्वच्छ सुसज्जित रखे ही साथ ही दूसरों द्वारा बरती गई अव्यवस्था को भी देखते ही सँभाल देने का उत्साह दिखाये। साप्ताहिक छुट्टी का दिन तो विशेष रूप से इस काम में लगाया जाना चाहिए। हर सदस्य को इसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए कि अपने निजी साधनों को ही नहीं घर की हर वस्तु को स्वच्छ, सुसज्जित रखने में परामर्श एवं योगदान देते रहें। यह सत्प्रवृत्ति देखने में छोटी प्रतीत भले ही होती है पर अन्ततः स्वभाव का अंग बनकर बड़े उत्तरदायित्वों को निभाने और उच्चस्तरीय सफलताएँ प्राप्त करने की मूलभूत कारण सिद्ध होती है।

(२) नियमितता

श्रम और समय के समन्वय को नियमितता कहा गया है। समय ही जीवन है। उसका एक-एक पल हीरे मोतियों में तोलने योग्य है। एक क्षण भी बेकार नहीं गँवाया जाना चाहिए। ईश्वर प्रदत्त दिव्य सम्पदा समय ही है। उसके मूल्य पर हर स्तर की विभूतियाँ एवं सफलताएँ प्राप्त हो सकती हैं। समय गँवाना अर्थात् जीवन के ऐश्वर्य एवं आनन्द को बर्बाद करना। परिवार की परम्परा में इस आदर्श का सावधानी के साथ समावेश होना चाहिए कि कोई भी व्यर्थ समय न गँवाये। उसे श्रम के साथ जोड़े रहे। श्रम से जी चुराना, व्यर्थ के कामों में समय गुजारना,

परिश्रम में असम्मान अनुभव करना ऐसे दुर्गुण हैं जिनके रहते पिछड़ेपन से, दरिद्रता से छुटकारा नहीं पाया जा सकता है। शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद यही दो सबसे बड़े शत्रु हैं, जिन्हें प्रश्रय देने वाला दुर्भाग्यग्रस्त रहता और दुर्गति के गर्त में गिरता है।

श्रमशीलता मनुष्य की उच्चस्तरीय सत्प्रवृत्ति है। काम को ईश्वर की पूजा माना जाय। श्रम से सम्मान अनुभव किया जाय। श्रम से शरीर घिसता नहीं वरन् परिपुष्ट होता है। अपने कार्यों का स्तर एवं स्वरूप प्रशंसनीय बनाये रहने में मनुष्य की प्रतिष्ठा है। स्फूर्तिवान दीर्घजीवी होते हैं। परिश्रमी के पास दरिद्रता नहीं फटकती और न दुर्गुणी को अपनाने, दुर्व्यसनों से ग्रसित होने का अवसर मिलता है। समृद्धि, प्रगति और सफलता की सिद्धियाँ साधना से ही उपलब्ध होती हैं। जो समय की बर्बादी को बचा सके और उसे अभीष्ट दिशा में क्रमबद्ध रूप से लगाये रहे सफलताओं ने उन्हीं का चरण चूमा है। आलसी और प्रमादी, कामचोर, हरामखोर और समय गँवाने वाले ऐसे अभाग्य हैं जो अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारते और आत्म-प्रताड़ना, लोकभर्त्सना का त्रास सहते हैं। भविष्य तो उनका अंधकारमय रहता ही है।

परिवार की परम्परा यह रहनी चाहिए कि हर सदस्य अपनी दिनचर्या बनाये। परिश्रम में जुटा रहे। बीच-बीच में जितना विश्राम नितान्त आवश्यक है-उतना ही ले। मन्दगति से काम न करे। प्रमादवश कामों को अधूरा न छोड़े। समाप्त करने या बीच में रोकने के समय वस्तुओं को बिखरा न पड़ा रहने दे। जो भी काम हाथ में हो उसे पूरे मनोयोग एवं परिश्रम के साथ-प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर, सम्पन्न करे। श्रमशील रहने और समय का सदुपयोग करने का महत्व जिसने जान लिया और दिनचर्या बनाकर योजनाबद्ध रूप से काम करने का अभ्यास कर लिया समझना चाहिए कि उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने की कुंजी उसके हाथ आ गई।

गृह व्यवस्थापक का कर्तव्य है कि वह समस्त परिजनों को उनकी स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप दिनचर्या बनाकर काम करने के लिए सहमत करे। आरम्भ में कुसंस्कारिता इसमें बहुत बाधक होती है। अनगढ़ पशु-प्रवृत्ति आचारागर्दी पसन्द करती है। उसे अनुशासन में बाँधना और आलस्य पर अंकुश लगाने में बड़ी अड़चन होती है और बहानेबाजी चलती है। इस स्थिति को बदलना ही होगा। व्यस्त रहने का स्वभाव बनाना ही चाहिए। हर काम समय और क्रमबद्ध रूप में होना चाहिए। इस आवश्यकता को परिवार के सभी लोग अनुभव करें। उसके लिए सफल मनुष्यों की दिनचर्या का समय-समय पर उल्लेख करते रहना चाहिए। हर काम का समय निर्धारित हो। सभी अपना काम नियत समय पर नियमित रूप से करें? विशिष्ट परिस्थिति में अनिवार्य कारण होने पर ही व्यतिक्रम के अपवाद होने चाहिए। आत्मानुशासन का अभ्यास इसी प्रकार होता

१.२६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

है कि शरीर को श्रम में और मन को उत्कृष्ट स्तर का बनाने में लगाये रखा जाय। जिसने समय का मूल्य समझा है उसी ने जीवन लाभ लिया है। जो परिश्रमी रहा है उसी को व्यक्तित्व निखारने और सफलताएँ पाने का श्रेय मिला है।

महिलाओं के समय की बर्बादी इसलिए होती है कि उनसे सम्बन्धित काम दूसरों के समय पर न आने के कारण अस्त-व्यस्त पड़े रहते हैं। उनका तीन चौथाई समय इसी में नष्ट होता है अन्यथा वे गृह कार्यों को कुछ ही घण्टों में निपटाकर अन्य उपयोगी कामों में लग सकती हैं।

(३) सहकारिता

सहकारिता प्रगति का मूलमन्त्र है। इसी विशिष्टता को अपनाकर मनुष्य ने इतनी प्रगति की है। जहाँ भी यह सत्प्रवृत्ति जितनी मात्रा में अपनाई जायेगी वहाँ उसी अनुपात में सद्भावना की वृद्धि होगी, घनिष्टता बढ़ेगी। मिल-जुलकर काम करने में आनन्द भी बढ़ता है और स्तर भी। अधिक सुयोग्यों से सीखने और कम योग्यों को सिखाने का अवसर तभी मिलता है जब साथ-साथ काम करने की आदत डाली जाय।

स्वच्छता अभियान में मिल-जुलकर घर के काम करने की बात कही गई है। उस आधार पर सहकारिता भी पनपती है। भोजन खाने में ही नहीं, पकाने में भी यदि सहकार प्रयत्न चल सके तो उसमें अच्छा-खासा मनोरंजन भी रहेगा और अभ्यास भी बढ़ेगा। कपड़े धोने में, टूट-फूट की मरम्मत में, पुताई-रंगाई में सहकारी प्रयत्न घर को स्वच्छ और सुव्यवस्थित ही नहीं रखते, सहकारिता की सत्प्रवृत्ति को भी बढ़ाते हैं।

अधिक योग्यों को कम योग्यों की ज्ञानवृद्धि एवं प्रगति में स्थिति के अनुरूप सहायता करने का ध्यान रखना चाहिए। अधिक पढ़े, कम पढ़ों को पढ़ाया करें। छोटी आयु के बड़ों के कामों में हाथ बटाया करें। एकाकीपन दूर किया जाय। रिजर्व नेचर के आने तक सीमित रहने वाले व्यक्ति या तो स्वार्थी बन जाते हैं या आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रसित होकर अनगढ़, असामाजिक रह जाते हैं। अस्तु, परिवार व्यवस्था के हर कार्य में सहकारी प्रयत्नों को यथासम्भव अधिकाधिक स्थान दिया जाय चाहिए।

(४) प्रगतिशीलता

भौतिक दृष्टि से आगे बढ़ने और आत्मिक दृष्टि से ऊँचे उठने की प्रक्रिया को प्रगतिशीलता कहते हैं। मात्र महत्वाकांक्षाएँ बढ़ते रहने से कोई काम नहीं बनता परिस्थितियों को ध्यान में न रखकर ऊँची उड़ानें उड़ते रहने वाले, योग्यता एवं साधनों के अभाव में कुछ कर नहीं पाते। अतः महत्वाकांक्षाएँ खीज और निराशा ही पैदा करती हैं। अस्तु, हवाई उड़ानें उड़ने से रोकना और प्रगति के लिए आवश्यक योग्यता बढ़ाने में ही हर परिजन को मनःस्थिति नियोजित करनी चाहिए। सफलताओं की

लालसा तभी सार्थक है, जब उसके उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए प्रबल प्रयास किया जाय। इसके लिए योग्यता बढ़ाना भी आवश्यक है अन्यथा अक्षमता के रहते, मात्र परिश्रम से भी कुछ बड़ा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

इस सन्दर्भ में परिवार के सदस्यों को सुशिक्षित बनाने के लिए अध्ययन का-बलिष्ठ बनाने के लिए व्यायाम का-कुछ करने के लिए गृह उद्योगों का-शिल्प कौशलों का, गायन वादन का चस्का लगाया जाय और उसके लिए साधन जुटाये जायें। वर्तमान स्थिति में अगले दिनों अधिक सुयोग्य बनाने के लिए अवसर मिल सके, इसके लिए जहाँ भी सम्भव हो, किया जाना चाहिए। सम्पदा की ललक कभी-कभी इतनी आतुर हो जाती है कि वह योग्यता बढ़ाने और पुरुषार्थ करने की अपेक्षा अनीतिपूर्वक सम्पदा, सफलता पाने के लिए मचलने लगती है। अस्तु, महत्वाकांक्षाओं को योग्यता एवं सक्रियता बढ़ाने में नियोजित करने के लिए हर परिवार में कुछ न कुछ प्रयत्न चलना चाहिए। ऊँचे उठने और आगे बढ़ने के लिए कहाँ, किस प्रकार क्या हो सकता है, इसको खोजने से उपयुक्त मार्ग निश्चित रूप से मिल जाते हैं।

(५) शालीनता

शिष्टता, सज्जनता, मधुरता, नम्रता आदि सद्गुणों के समुच्चय को शालीनता कहते हैं। ईमानदारी, प्रामाणिकता, नागरिकता, सामाजिकता की मर्यादाओं को निष्ठापूर्वक अपनाना शालीनता का चिह्न है। सामान्य शिष्टाचार की भी अपनी महत्ता है। दूसरों का सम्मान करने और अपने को विनम्र सिद्ध करने के लिए वाणी में मिठास और व्यवहार में शिष्टता का समावेश रहना चाहिए। उदारता, सेवा, सहायता की सत्प्रवृत्ति अपनाने से ही दूसरों का स्नेह, सम्मान एवं सहयोग मिलता है। परायों को अपना बनाने की जितनी शक्ति शालीनता में है, उतनी प्रलोभन देकर फुसलाने तथा दबाव देकर विवश करने में भी नहीं है। शालीनता जन-जन के मन पर आधिपत्य जमाने की असाधारण विशेषता है। इससे घर के हर सदस्य को परिचित एवं अभ्यस्त कराया जाना चाहिए।

उपरोक्त पारिवारिक पंचशीलों का अभ्यास किस घर में किस प्रकार किया जाय, इसका एक नियम नहीं बन सकता। हर घर परिवार के सदस्यों की स्थिति अलग होती है। अस्तु, निर्धारण एवं क्रियान्वयन अवसर के अनुरूप ही किया जा सकता है। इन पाँचों विभूतियों से घर के हर सदस्य को अलंकृत करने का प्रयास चल रहा रहे तो समय-समय पर वह उपाय भी सामने आते रहेंगे कि किस में क्या कमी है और उसे किस प्रकार पूरा किया जा सकता है। पंचशीलों से परिवार को भरने का प्रयत्न ऐसा ही है जैसा पाँच रत्नों के भण्डार से घर को भरना और कुबेर से अधिक वैभववान बनना।

पाँच शील-पाँच कर्तव्य श्रमशीलता एक सत्प्रवृत्ति

पारिवारिक पंचशीलों में श्रमशीलता, मितव्ययिता, शिष्टता, सुव्यवस्था, सहकारिता-इन पाँच सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। इन्हें यदि किसी परिवार में ठीक तरह समझा और अपनाया जा सके तो उसकी बहुमुखी प्रगति होते चलना सुनिश्चित है।

उपरोक्त पंचशीलों को प्रसिद्ध पंचदेवों के सदृश्य समझा जा सकता है, उन्हें पंचरत्न-पंचामृत जैसी उपमा दी जा सकती है। इन्हें कहते-सुनते तो कई हैं, पर उन्हें जीवनचर्या में, पारिवारिक विधि-व्यवस्था में सम्मिलित करने का साहस कोई बिरले ही कर पाते हैं। जो इन्हें अपनाने के लिए कटिबद्ध होते हैं, वे उनके ऋद्धि-सिद्धियों जैसे चमत्कारी प्रतिफलों से भी लाभान्वित होते हैं। स्पष्ट है कि जानना आवश्यक तो है, पर लाभान्वित होने के लिए पर्याप्त नहीं। इस प्रयोजन के लिए तो उन्हें व्यवहार में उतारने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

पंचशीलों में प्रथम निर्धारण श्रमशीलता का आता है। जिसने इसे अपना लिया समझना चाहिए कि उसके भाग्योदय का मार्ग खुल गया।

आमतौर से लोगों में आलस्य-प्रमाद की भरमार पाई जाती है। वे बैठे-ठाले दिन गुजारना चाहते हैं। हलके कामों में हाथ डालते हैं और धीरे-धीरे मनमौजीपन से उन्हें पूरा करते हैं, उन्हें आधा-अधूरा छोड़ देते हैं। जितने समय में जो काम हो सकता है उसकी अपेक्षा वे कई गुना समय नष्ट करने के उपरान्त पूरा करते हैं। जो बन पड़ता है वह भी लँगड़ा, पंगा, काना, कुरूप होता है। उसमें ढेरों त्रुटियाँ रहती हैं। समय तो अधिक नष्ट होता ही है। फूहड़पन से किये गये काम का स्वरूप भी ऐसा देखा जाता है, जिसमें कर्ता को प्रशंसा, प्रसन्नता प्राप्त होना तो दूर, उल्टे तिरस्कार-फटकार का सामना करना पड़ता है। ऐसे कामों का बाजारू मूल्य भी अति स्वल्प होता है, जबकि यदि उसी को मन लगाकर किया गया होता तो कर्तृत्व सम्मानित होता और किये गये श्रम का संतोषजनक प्रतिफल भी मिलता, पर उस आलस्य-अनुत्साह को क्या कहा जाय, जो अपने स्पर्श में आने पर सोने को मिट्टी बना देने के लिए कुख्यात है।

भगवान ने मनुष्य को समय रूपी सम्पदा दी है। उसका सदुपयोग मात्र श्रम-साधना से ही बन पड़ता है। तत्परता और तन्मयता से जिस कार्य को भी सजाया-सँजोया जाय, वह कमल पुष्प की तरह खिल पड़ता है।

समय का सदुपयोग बड़ी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है, जिसका विकास निरालस्य एवं श्रमशीलता के बिना नहीं हो सकता। समय हमारे जीवन की निधि है। भगवान ने हमें निश्चित आयु, गिनी हुई श्वास दी हैं। यदि इस समय का हमने सदुपयोग न किया तो पीछे पछतावा ही हाथ रहेगा।

संसार में वही व्यक्ति समझदार और योग्य समझा जाता है जो समय का सर्वोत्तम उपयोग कर लेता है।

समय की साधना ही मनुष्य को सफलता की सिद्धि दिलाती है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो। इसे काल की साधना कहें तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि जिसने समय का मूल्य समझा है वह अपने जीवन-काल का पूरा उपयोग कर लेता है।

अपने समय का सर्वोत्तम उपयोग हो और एक क्षण भी अनुपयोगी न जाय इसके लिए हर व्यक्ति को नित्य अपनी दिनचर्या का विभाजन करके, टाइम टेबिल बनाकर खर्च करना चाहिए। हमारी दिनचर्या पहले से निश्चित होने से हर काम समय पर करने का स्वभाव बन जाता है और आवश्यक तथा नित्य नैमित्तिक कार्यों से बचे हुए समय का उपयोग हम अपनी ज्ञानवृद्धि करने में, स्वास्थ्य रक्षा के कार्यों में, परिवार के आर्थिक सन्तुलन को ठीक करने में, समाज सेवा में, बच्चों के शिक्षण में, लोकमंगल के कार्यों में कर सकते हैं। यह शिकायत समाप्त हो जायगी कि समय नहीं मिलता। सोकर उठने से पहले रात्रि को शयन करने तक के पूरे समय का विधिवत विभाजन होना चाहिए समय का मूल्य हीरे मोतियों से अधिक है। ईश्वर की दी हुई यही एक चल सम्पदा मनुष्य के पास है, जिसका उचित विनियम करके वह किसी भी उपलब्धि का अधिकारी बन सकता है, किसी भी क्षेत्र में प्रगति कर सकता है। शरीर, मन, बुद्धि आदि तो ईश्वर की दी हुई स्थिर सम्पत्ति हैं। पर जब खर्च के लिए, दैनिक उपयोग के लिए जो अनुदान मिला है वह समय ही है उसे श्रम के साथ समन्वित करके रखा जा सके तो वह चमत्कार ही उत्पन्न करता चला जाता है। बिखरे हुए क्षणों का ठीक तरह उपयोग किया जा सके तो वह व्यवस्थित मनुष्य इतना काम कर सकता है जितना बेसिलसिले के दस व्यक्ति मिलकर भी नहीं कर सकते। नियमित-निरन्तर और क्रमबद्ध रूप से कोई कार्य हर दिन किया जाता रहे तो कुछ ही समय में उसकी प्रगति आश्चर्यजनक दीखती है। लोग आधा-अधूरा कभी किया, कभी बन्द जैसे अस्तव्यस्त क्रम को अपनाते हैं और मुद्दतें बीत जाने पर भी कुछ कहने लायक प्रगति न होने का रोना रोते हैं। कदाचित् उन्हें दिनचर्या बनाकर एक-एक क्षण का सदुपयोग करने की व्यवस्था का महत्व और आनन्द मालूम हो सकता होता तो उन्होंने आशाजनक ही नहीं आश्चर्यचकित कर सकने वाली प्रगति कर ली होती।

हमें परिवार व्यवस्था में पूरा रस लेना चाहिए। घर से बाहर कार्यक्षेत्र में तो व्यस्तता रहती ही होगी पर जितने समय घर में रहना है उसमें स्वच्छता से लेकर मनोविनोद तक की एक सुव्यवस्थित कार्य-पद्धति होनी चाहिए, उसमें स्वयं तत्पर रहना चाहिए और हर सदस्य को अपनी-अपनी आवश्यकता, स्थिति और रुचि के अनुरूप दिनचर्या बनाने की प्रेरणा देनी चाहिए। जहाँ साथ-साथ रहकर कुछ काम करना आवश्यक हो, वहाँ वैसा करना चाहिए,

१.२८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

अन्यथा अपना आदर्श उपस्थित करते हुए परिवार के हर सदस्य को समय के सुव्यवस्थित सदुपयोग की आदत डालनी चाहिए। बात छोटी-सी है-बीज जितनी नहीं है। पर उसके फलितार्थ जीवन-क्रम की सफलता और असफलता के विशाल वृक्ष बनकर परिणित होते हैं, तब पता चलता है, आदत डालने के अवसर पर जो बात महत्वहीन लगती थी वह वस्तुतः कितनी अधिक सारगर्भित थी।

अनुत्साह, आलस्य और प्रमाद के ढीलेपन से, बेगार भुगतने की तरह काम करते हैं तो समय अधिक लगता है और कार्य विशेष भी ठीक ढंग से नहीं होता। हमें ऐसा स्वभाव बनाना चाहिए कि तत्परतापूर्वक कम समय में अधिक काम निपटाने का प्रयत्न करें, हर कार्य में उत्साह और स्फूर्ति का परिचय दें। इससे हमारे अन्दर कार्य कुशलता का गुण विकसित होगा। मनोवैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि प्रत्येक कार्य के पश्चात् कुछ मिनट यदि हम शिथिल होकर विश्राम करने की आदत डाल सकें तो नये काम करने के लिए वही नवीन स्फूर्ति आ जाती है जो काम शुरू करने से पूर्व हमारे भीतर होती है।

परिवार का हर व्यक्ति नियत समय पर निर्धारित काम करे। बाहर भी अपने क्रिया-कलाप में समय के पालन का ध्यान रखे। किसी के यहाँ जाने पर कुछ देने का वायदा किया है तो उसे नियत समय पर पूरा करने का पूरी ईमानदारी के साथ प्रयत्न करना चाहिए।

दिन-रात में सभी की घड़ियाँ चौबीस घंटे बजाती हैं। उसे हीरे-मोतियों से गुँथा हुआ हार समझा जा सकता है, बशर्ते कि उसका सदुपयोग बन पड़े। यदि उसे आवारागर्दी और अस्त-व्यस्तता में गुजार दिया जाय तो समझना चाहिए कि हाथ आया हुआ भाग्योदय का अवसर ठुकरा दिया गया। संसार में जितने भी सफल जीवन व्यक्ति हुए हैं, उन सब में समय का मूल्य समझने और उसके एक-एक मिनट का सदुपयोग करने की प्रवृत्ति रही है। मिनटों और घंटे ही मणि-मुक्तकों की लड़ हैं। इनको तत्परता और तन्मयता के सार्थक कामों में लगाये रखने वाले ही सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हैं। जिन्हें जो प्रयोजन पूरे करने हों उनके लिए मनोयोग मिश्रित श्रम साधना का मूल्य चुकाना पड़ता है। जो यह मूल्य चुकाने में आनाकानी करते हैं उन्हें खाली हाथ रहना और पग-पग पर निराशा-असफलता का मुँह देखना पड़ता है।

आलस्य-प्रमाद में, दुर्व्यसनों और कुसंगों में जिनका समय लगा वे क्रमशः अधिक अधःपतन के गर्त में गिरते चले गये हैं। अवसर निकल जाने पर उन्हें अपनी दुर्गति पर पश्चात्ताप ही करते रहना पड़ा है।

आमतौर से श्रम साधना का महत्व समझा नहीं जाता, उसे लोग ढर्रे की दिनचर्या पूरी करने में ही ज्यों-त्यों करके खपा देते हैं, कार्य को अन्यमनस्क भाव से करने और मनोयोग जोड़ते हुए करने में जमीन-आसमान जितना अन्तर होता है। बेमन से बेगार भुगतने की तरह किया

गया काम सदा फूहड़ स्तर का ही बन पड़ता है। न उसमें सौन्दर्य होता है, न चमक देखने को मिलती है और न स्तर ही सराहना करने जैसा होता है। जब श्रम के साथ मनोयोग नहीं ही लगा है तो फिर उसमें न प्रखरता शामिल हो सकेगी और न प्रतिभा को ही काम करते समझा जा सकेगा। ऐसे काम गिनती में कितने ही और कई प्रकार के हो सकते हैं, पर उनमें वह प्राण नहीं होता है जो उत्कृष्टता के उच्च लक्ष्य को छू सके, दूसरों के लिए आदर्श और अनुकरणीय-अभिनन्दनीय बन सके।

ढरें का काम ज्यों-त्यों करके निपटाया जा सकता, पर उसे सुचारू रूप से सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें शारीरिक गतिविधियाँ ही सीमित होकर न रह जायें। उसके साथ मनोयोग भी पूरी तरह लगाया जाय। काम को दिलचस्पी का विषय समझकर किया जाय और उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर खिलाड़ियों की तरह पूरी तत्परता से सम्पन्न किया जाय। ऐसे ही काम सफल, सुदृढ़ और सराहनीय स्तर के बन पड़ते हैं। कर्ता की कुशलता भी उन्हीं से बढ़ती है। प्रशंसा भी उन्हीं की होती है और सत्परिणामदायक भी वे ही बनते हैं।

अपनी जेब के पैसे उपेक्षापूर्वक बिखेरते चलना मूर्खता ही समझी जायेगी। उससे भी बड़ी मूर्खता यह है कि समय और श्रम का तालमेल सुनियोजित रीति से बिठाये बिना ऐसे ही बहुमूल्य क्षणों को बर्बाद करते रहा जाय। समय बीतने को तो छुटपुट कामों में भी किसी प्रकार कटता रह सकता है। आरामतलब लोग, सेठ-सामन्त भी काम तो नौकरों से करा लेते हैं, पर अपना समय आलस्य-प्रमाद में मौज-मजा करते हुए मस्ती में गुजारते हैं। उठते समय से लेकर सोने तक का समय व्यसनों में, यार-दोस्तों की गपबाजी में, आवारागर्दी में बिता देते हैं। चिड़ीमारों को उसी खिलवाड़ में पूरा समय उसी जाल-जंजाल में उलझाते-उलझाते व्यतीत हो जाता है। पल्ले तो पेट भरने जितना ही मिलता है। चोर-उचक्के भी ताना-बाना बुनने और घात लगाने में समय बिता देते हैं। अमीर घरों की महिलाएँ ऐसे ही शौक शृंगार में समय काटती रहती हैं। कहने को तो उन्हें मोटी दृष्टि से भाग्यवान भी कहा जा सकता है, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। क्षुद्र कामों में समय बीत जाय और पेट-प्रजनन के लिए सारा समय बीत जाय तो इसे दुर्भाग्य में ही गिना जाना चाहिए।

काम हमारा मित्र है। उसका स्वागत तत्परता और तन्मयतापूर्वक किया जाना चाहिए। काम छोटा हो या बड़ा, उसे इस दृष्टि से किया जाना चाहिए, मानो उसे अपनी योग्यता परखने के लिए नियति ने अग्नि-परीक्षा के रूप में प्रस्तुत किया है। एक काम भली प्रकार सम्पन्न बन पड़ने के उपरान्त अनायास ही दूसरा बड़ा काम हाथ में लेने की इच्छा जगती है। दूसरे के बाद तीसरा। यह क्रम चलते-चलते उस स्थान तक पहुँचता है, जिसे चरमोत्कर्ष के नाम से जाना जाता है। वरिष्ठता इसी आधार पर हस्तगत होती है। स्वभाव और सद्गुण ही कार्य को

साधारण से असाधारण बना देते हैं। ऐसे ही सुसम्पन्न कार्यों का आकर्षण व्यक्ति की प्रतिभा निखारता है और उसे प्रगति के एक से एक बढ़कर अवसर प्रदान करता चलता है। ऐसे पुरुषार्थी का समर्थन और सहयोग करने की इच्छा हर किसी की होती है। उनके साथ आदान-प्रदान का व्यवहार करने में, विचार-विनिमय का क्रम चलाने में हर किसी को प्रसन्नता होती है।

सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी कार्य-व्यस्तता का प्रभाव घर के सब सदस्यों पर पड़ता है। पड़ोसी-सम्बन्धी तक उससे लाभ उठाते हैं। चर्चा का प्रसंग जहाँ भी चलता है, वहीं उत्साह उभरता है और अनुकरण के लिये साहस करने का मन करता है। देखा भी यही गया है कि एक कर्मवीर अपने प्रभाव क्षेत्र में जादू भरा वातावरण बनाता है और उसी राह पर अनेक को घसीट ले चलने में समर्थ होता है।

श्रमशीलता का अभ्यास होने पर हाथ का काम निपट जाने भर से संतोष नहीं होता; वरन् दूसरों द्वारा छोड़े हुए अधूरे कामों को पूरा करने के लिए मन चलता है। आवश्यक नहीं कि जितना काम अपने जिम्मे आया हो, उतना ही करके निढाल हो रहा जाय वरन् नया काम ढूँढ़ना चाहिए। इसके लिए सबसे सरल उपाय यह है कि सम्पर्क क्षेत्र पर नजर डाली जाय कि किसका क्या काम अधूरा पड़ा है? उसे आलस्यवश या बोझिल होने के कारण कर नहीं सका गया है। आज्ञा लेकर उस कार्य में जुट पड़ना चाहिए और पूरा करके हटना चाहिए। बड़ा काम सामने हो तो छोटे-छोटे कामों में हाथ बँटाया भी जा सकता है। इससे अपना समीपवर्ती क्षेत्र सुनियोजित और समग्र-सम्पन्न कार्यों की प्रदर्शनी बन जाता है। मात्र अपने हिस्से का काम निपटा लेने और दूसरों के इर्द-गिर्द गन्दगी पड़ी रहने से उसका दोष अपने ऊपर भी आता है। घर का एक कोना साफ-सुथरा हो और अन्य कोने कूड़े-करकट से भरे हों तो घर सुहावना नहीं लगेगा वरन् आक्षेप यह आयेगा कि किसी ने एक कोना साफ करके सारा घर गंदा छोड़ दिया है। वस्तुतः सारे परिकर को ही अपना स्वरूप मानकर चलना चाहिए और वहाँ के व्यक्तित्वों से लेकर क्रिया-कलापों तक को सुगढ़-सुन्दर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। पक्षी मनोयोग से घोंसला बनाते हैं और उनकी प्रशंसा हर किसी की जीभ पर छाई रहती है।

घर के हर सदस्यों को भली प्रकार समझाया जाय, उसे हृदयंगम कराया जाय। उसका समय निर्धारण भी इस क्रम से बनाया जाय कि जिसमें उसकी व्यस्तता बनी रहे। बालकों, जवानों, बुढ़ों के कामों में अन्तर तो हो सकता है, पर उसमें से किसी को खाली बैठे रहने और दिमाग में खुराफातों की खेती करने का अवसर न देना चाहिए।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति का माध्यम 'श्रम' है। विद्या प्राप्ति, धन-उपार्जन, योग साधन, आत्मोन्नति किसी भी उद्देश्य को लेकर बढ़ने का प्रयत्न करें बिना श्रम

को अपनाये, बिना परिश्रम किए हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते।

विद्यार्थी परीक्षा पास करने के लिए दिन-रात एक करता है। उसे सतत् निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है तब कहीं परीक्षा में अच्छे नम्बरों से पास होने का सुखद परिणाम प्राप्त होता है। स्नातक बनने के लिए एक विद्यार्थी को १४ वर्ष लगातार श्रम करना पड़ता है। श्रम की सतत् साधना और निरालस्य ही उसकी सफलता के माध्यम होते हैं।

व्यवसायी जाड़ा, गर्मी और बरसात की चिन्ता किये बिना लगातार एकरस, निरालस्य होकर काम में जुटा रहता है तब अपनी आजीविका कमाता है, परिवार का भरण-पोषण करता है। बिना श्रम किये, आलस्य में पड़ कर वह चाहे कि मैं पैसा कमा लूँ, तो व्यवसाय में तो नहीं कमा सकता। इसी प्रकार कृषक, शिल्पी, श्रमिक, कलाकार आदि अपने शारीरिक और मानसिक श्रम का समन्वय करके प्रगति पथ पर अग्रसर होते हैं।

निरालस्य श्रम ही जीवन विकास की कुंजी है। किसान भी वर्ष के किसी भी मौसम में विश्राम किए बिना आलस्य में पड़े बिना सतत् परिश्रमरत रहे ही अन्न उत्पन्न करता है। समय पर बीज न बोया जाय, पानी न लगाया जाय, रखवाली न की जाय तो भला किसान किस प्रकार फसल घर ला सकेगा। एक भी काम में जरा आलस्य किया तो उसका सर्वस्व नाश ही समझें। साल भर का सारा श्रम भी चला जायगा और आगे साल के लिए खाने के भी लाले पड़ जावेंगे।

नौकरी करने के लिए भी श्रम को बिना अपनाये काम कैसे चल सकता है। अपना काम मुस्तैदी से न करने से, आलस्य में पड़ने से तो दूसरे दिन नौकरी में खतरा उत्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि परिश्रम के बिना कोई रास्ता नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का मूलमन्त्र परिश्रम ही है।

इसके विपरीत है आलस्य की विकृति जो हमारे मनो में घुसा हुआ बैठा रहता है। कोई काम तत्परता से नहीं, सब काम में आलस्य, कामचोरी, अनमनस्कता, ढीलापन ही दिखाई देता रहता है। यह आलस्य ही शैतान है जो विकास के हर कार्य में हमारे लिए बाधक बन जाता है। यह शैतान आलस्य जहाँ भी रहता है, वहाँ अपने नाते-रिश्तेदारों-साथियों, मित्रों को-दुर्गुणों एवं दुष्प्रवृत्तियों को एकत्रित कर लेता है। आलस्य जहाँ रहता है वहाँ मनुष्य में सारे दुर्गुण आप आ जाते हैं। कामचोरी, झूठ बोलना, चोरी करना, धोखा देना, मिलावट करना, कम तोलना, बेईमानी करना, सट्टा खेलना, लाटरी लगाना, जुआ खेलना, रिश्वत लेना, शराब पीना, नशा करना, व्यभिचार करना, जमाखोरी करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, कपट करना, दुर्व्यवहार करना, निन्दा-चुगली करना, बीसियों दुर्गुण और दुष्प्रवृत्तियाँ बिना प्रयास किये ही धीरे-धीरे उसी प्रकार आलसी मनुष्य में आ जाती हैं।

१.३० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

इसके ठीक विपरीत शीलवान, परिश्रमी व्यक्ति में अनचाहे ही सारे सद्गुण उसी प्रकार आते चले जाते हैं जैसे समुद्र में सारी नदियाँ बिना प्रयास ही अपने आप जाती हैं।

महिलाएँ यह अच्छी तरह समझें कि परिश्रम जीवन की मूल पूँजी है अतः परिवार में क्रियाशीलता को बढ़ावें, परिवार के प्रत्येक सदस्य में कठोर परिश्रम का अभ्यास पैदा करें और अभिरुचि जगायें।

यद्यपि महिलाओं के ऊपर काम का इतना भार रहता है कि उनके लिए परिश्रम के बिना दूसरा रास्ता नहीं है। किन्तु अकेले ही काम के भार से दबी जाती रहें और घर के अन्य सदस्य आलस्य में समय काटें यह भी अनुचित है। अतः सभी में सहकारिता के आधार पर मिल-जुलकर काम निपटाने की आदत डालनी चाहिए वह चाहे कोई भी काम हो। बच्चों से लेकर बड़ों तक सब में परिश्रम की अभिरुचि जागे। इस सन्दर्भ में व्यवस्थित दिनचर्या का निर्धारण होना आवश्यक है समय और श्रम का तालमेल बिठाकर मुस्तैदी से उस निर्धारण को पूरा करते रहने से ही श्रम सन्तुलन बनता है। नियमित और क्रमबद्ध श्रम करने की आदत समय और श्रम का पारस्परिक सम्बन्ध मिला देने पर ही पड़ती है। समय का एक क्षण भी बेकार न गँवाया जाय। हर समय व्यस्त रहा जाय। श्रम और विश्राम के औचित्य का समुचित ध्यान रखा जाय तो ही श्रमशीलता फलप्रद होती है।

विश्राम आवश्यक है। काम के बीच-बीच में विश्राम की गुंजाइश रखी जाय, पर विश्राम को भी उथला नहीं वरन् गहन बनाया जाय, जिससे थोड़ी ही देर में पूर्ण शान्ति का अवसर मिलने पर थकान उतर सके।

काम को अपमान की दृष्टि से देखना बहुत बुरा है। अपने देश की मानसिकता कुछ इसी प्रकार की बन गई है, जिसमें श्रमजीवी को अभाग माना जाता है। परिश्रम करने में हेटी समझी जाती है। इस मान्यता को हमें पूरी तरह हटाना चाहिए, अन्यथा बेकारी की दुष्प्रवृत्ति हमारे मनों पर हावी होगी और दरिद्रता, कुसंस्कारिता स्वभाव का अंग बनकर रहेगी। इसमें उज्ज्वल भविष्य बनने में भारी अवरोध उत्पन्न होता है।

संसार में जितनी भी उपलब्धियाँ दिखाई पड़ती हैं वे कठोर श्रमशीलता का ही गुणगान करती हैं। जिसने जो पाया है मेहनत से ही पाया है। स्वास्थ्य संरक्षण से लेकर ज्ञानवृद्धि, समाज सम्मान और वैभव सम्पन्नता तक प्रत्येक उपलब्धि कठोर श्रम और गहरा मनोयोग चाहते हैं। अधूरे मन से उपेक्षा और आलस्य के साथ, रोते-झोंकते बेगार की तरह जो भी काम किया जायगा वह एक प्रकार लँगड़ा-लूला ही रहेगा। अपने देश में आलस्य को मान्यता मिली है। काम न करना पड़े तो उसे सौभाग्य समझा जाता है और अमीरी का चिह्न समझा जाता है। नौकरों की गुलामी सबसे बुरे किस्म की पराधीनता है। अपने हाथ-पोंवों का, मस्तिष्क का, मनोयोग का जितना अधिक

उपयोग किया जायगा उनमें उतनी ही प्रखरता आयेगी। घर पर आते ही अपने लिए काम तलाश करना चाहिए। टूट-फूट का सिलसिला हर जगह चलता रहता है। मरम्मत करने की विधियाँ सीखी जा सकती हैं और घर से हर वस्तु को इस मरम्मत की गति द्वारा जर्क-वर्क रखा जा सकता है। घर के अन्य सदस्यों को भी साथ में लगाकर उन्हें भी इस प्रवृत्ति का अभ्यास कराया जा सकता है। कपड़े धोना, लोहा करना, चारपाइयों की ढील-पोल ठीक करना, पुस्तकों की जिल्दें, बर्तन, फर्नीचर आदि की मरम्मत, फटे कपड़ों की सिलाई आदि मरम्मत जैसे कार्यों से लेकर बच्चों को पढ़ाने और गृह उद्योगों का सिलसिला जमाने तक में से अनेक तरीके हो सकते हैं, जिससे घर में श्रमशीलता की व्यस्तता का वातावरण बना रहे। यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि कार्यव्यस्तता अनेक दोष दुर्गुणों से कुसंग और दुष्प्रवृत्तियों से बचाती है और ऐसी अभिरुचि उत्पन्न करती है जिसके सहारे अगणित उपलब्धियाँ प्राप्त करना सम्भव हो सके। आलसी, आरामतलब और हरामखोर मनुष्य को हर दृष्टि से असुर भी कहा जा सकता है, उसका भविष्य एक प्रकार से अवरुद्ध हो गया ही समझना चाहिए। हमें अपने स्वभाव में और परिवार के अभ्यास में श्रमशीलता का अधिकाधिक समावेश करना चाहिए।

सादगी, संयम और मितव्ययिता

पारिवारिक पंचशीलों में द्वितीय स्थान है- मितव्ययता का। सीमित खर्च करने का अर्थ है, अपव्यय में नष्ट होने वाली राशि को बचा लेना अर्थात् उतनी नयी कमाई कर लेना। बचत ही वस्तुतः भविष्य को अधिक समुज्ज्वल बना सकने में समर्थ सम्पदा है।

यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं कि कौन कितना कमाता है? उसकी आमदनी कितनी है? यदि खर्च अनावश्यक रूप से बढ़ा लिया गया है, तो फिर पूरा किसी भी प्रकार न पड़ेगा, उल्टा कर्ज लेना पड़ेगा, अनैतिक उपाजन पर उतारू होना पड़ेगा। यह स्थिति ऐसी है, जिसे अभावग्रस्तता से भी अधिक कष्टकर कहा जा सकता है।

दुर्गुणों में अपव्यय को प्रमुखता दी गयी है। उसकी अनेकानेक हानियाँ हैं। अपव्यय प्रायः दुर्व्यसनो में, फैशन में, ठाठ-बाट में, बड़प्पन जताने के लिए किए गये कामों में ही होता है, नशेबाजी, जुआ, नाच, तमाशा, मौज-मजा जैसे कार्यों में होता है। शृंगार-सज्जा भी इसी में आती है। लोग कीमती कपड़ों की अनेक जोड़ियाँ बनवाते और उनसे सन्दूक भरते रहते हैं। स्त्रियों में जेवर का शौक उसी प्रकार का है। उन्हें पहनने से अस्वास्थ्यकर दबाव पड़ता है। नाक, कान आदि कोमल और प्राकृतिक सौन्दर्य से भरे-पूरे अंगों को छेदकर उनमें चित्र-विचित्र प्रकार के जेवर ठूस लेना एक प्रकार से उन अंगों के प्रति अत्याचार

करना है। हाथों की अँगुलियों में, कलाईयों पर, गले में, पैरों में अनेकानेक प्रकार के जेवर लदे देखे जाते हैं। उनसे हर प्रकार की हानियाँ ही हैं। लाभ रती भर भी नहीं। उनके दबाव से अंग विकृत होते हैं। लम्बी रकम उनमें फँसती है। बार-बार टूट-फूट होते रहने से मरम्मत में पैसा जाता है। चोर-उचक्के का डर हमेशा बना रहता है। देखने वालों को प्रसन्नता कम कुढ़न अधिक होती है। कोई बेईमानी की कमाई कहता है, तो किसी को अहंकार की गन्ध आती है। परिवार में न्यूनाधिकता के कारण ईर्ष्या उभरती है। इतने सब कारण जेवर बनवाने और पहनने के साथ जुड़े हुए हैं। कीमती कपड़ों की अनेकानेक जोड़ियाँ रखने के बारे में भी यही बात है। वे दिन बहुत पीछे छूट गये जब किसी की अमीरी देखकर लोग प्रभावित हुआ करते थे और उसे भाग्यवान, बड़ा आदमी माना करते थे। अब साम्यवाद की लहर ने हर किसी का मन और चिन्तन दूसरी दिशा में मोड़ दिया है। अमीरी जताने वाले प्रदर्शनों को सीधा चोरी का, बदमाशी का माल ठहरा दिया जाता है। ईर्ष्यालु और किसी प्रकार हड़पने का कुचक्र रचने की घात में रहने वालों की भी कमी नहीं रहती। इस प्रकार की जिस प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए ठाठ-बाट बनाया गया है, वह मिलना तो दूर उल्टे अनेकानेक प्रकार की हैरानियाँ खड़ी करने वाला बन जाता है।

घर के अन्य सदस्य भी वैसी ही शौक-मौज के लिए ललचाते हैं और अपना स्तर भी कम सजीला नहीं रहने देते। उन्हें भी अपने-अपने ढंग से उसी से मिलती-जुलती फरमाइश पूरी करने की जुनून चढ़ती है। इस प्रकार घर खर्च, हाथ खर्च आसमान छूने लगता है। इसकी पूर्ति उचित मार्ग से की गयी कमाई से नहीं हो पाती। तब ऋण लेते रहने से, अनीति मार्ग अपनाने से लेकर जो कुछ कर्म-कुर्म बन पड़ता है, उसे पूरा करने से कम में उनका काम नहीं चलता। इस प्रकार ऊपरी तड़क-भड़क के लिए अपनी वास्तविकता गरिमा को खोखला कर लिया जाता है।

जिनकी आजीविका सीमित है और ठाठ-बाट का खर्च बढ़ा लेते हैं, उनके लिए यह कठिन पड़ता है कि लोगों की आँखों में अपनी ईमानदारी की छवि बनी रहे। हर कोई अनुमान लगाता है कि जब आमदनी सीमित बताई जाती है तो फिर यह धनाध्यक्षों जैसा आडम्बर किस प्रकार बन पड़ता है। इस प्रश्न का उत्तर कितनी सफाई देने पर भी दूसरों के गले नहीं उतरता। सज-धज में एक ऐब और है कि उसे हर किसी की आँख में लाने के लिए अपना विज्ञापन आप करते हुए ऐसे लोगों के पास जाना या उन्हें बुलाना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि सस्ती वाहवाही लुटी जा सके। इस मेल-जोल बढ़ाने के चक्कर में प्रायः अवांछनीय व्यक्तियों के साथ ही संगति जुड़ती है और उसमें हजार तरह के खतरे छिपे रहते हैं। रूप-सौन्दर्य को भ्रंगार के सहारे निखारने के बाद महिलाओं

की उत्सुकता इस बात में बढ़ती है कि लोग उन्हें देखें और मन ही मन या प्रकट रूप से अपनी प्रसन्नतापरक अभिव्यक्ति जतायें। यही वह चारा है जिसमें मछुए और बहेलिए मछलियों और चिड़ियों को फँसाकर उनकी दुर्गति करते हैं।

चतुर मालिक अपने नौकरों पर बारीकी से नजर रखते हैं कि वे अधिक खर्चीले, ठाठ-बाट बनाने वाले तो नहीं हैं। यदि हैं तो वे सोचते हैं कि इस अनावश्यक खर्च की पूर्ति अपने ही कारोबार में कहीं चोरी-चालाकी करके ही की जा रही होगी। उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। समय आते ही उन्हें निकाल दिया जाता है। अन्यत्र भी कहीं नौकरी ढूँढ़ने पर उनका ठाठ-बाट ही सफलता नहीं मिलने देता। इस कुचक्र में उन्हें भारी हानि उठानी पड़ती है। लड़कियों को गुण्डों की कुदृष्टि का शिकार बनने में बहुधा यही कारण प्रधान रहता है।

साथ ही यह आदत एक और दुर्गुण न्यौत बुलाती है कि ऐसा कोई शारीरिक श्रम न किया जाय, जिससे कपड़े, हाथ गीले होते हों। तनिक-तनिक-सी बात के लिए नौकरों की दरकार होती है। बड़े आदमी मेहनत नहीं करते यह आम मान्यता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए सज-धज वालों को कड़ा श्रम करने में अपनी बेइज्जती मालूम देती है। वे प्रायः उससे बचते ही रहते हैं। स्पष्ट है कि बिना कड़े परिश्रम किए न तो कोई स्वस्थ रह सकता है, न प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकता है। इन दोनों महत्वपूर्ण उपलब्धियों से उसको वंचित किए रहना कोई समझदारी की बात नहीं है।

सादगी सज्जनता की निशानी है। उसमें नम्रता और शालीनता झलकती है, जिससे किसी के सौजन्य का सहज पता चलता है। नैतिकता और सामाजिक क्षेत्रों में जिन्होंने बढ़-चढ़कर सफलता पाई और प्रतिष्ठा अर्जित की, उनमें से अधिकांश की वेशभूषा सादगी से भरी रही है। जन-साधारण के साथ एकता बनाने के लिए आवश्यक है कि उनके साथ एकरूपता का भी यथासम्भव प्रयत्न किया जाये। अपने देश में अधिकांश जन-साधारण को गरीबी की रेखा से नीचे का जीवनयापन करना पड़ता है। उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने वालों को उन्हीं जैसा रहन-सहन रखना चाहिए। तड़क-भड़क से वे आश्चर्यचकित भर होते हैं। उन्हें कुछ अजीब होने जैसी दृष्टि से देखते हैं। पर यह अनुभव नहीं करते कि यह हमारी स्थिति को समझा होगा। हमारे दुःख-दर्द में सम्मिलित होने का मन रखता होगा। इस स्थिति के रहते उनका मन जीतना और सहयोग अर्जित करना कदाचित् ही कहीं दीख पड़ता होगा।

प्रसिद्ध है कि गाँधी जी औसत भारतीय नागरिक की तरह अपना निर्वाह करते थे। वे सदा थर्ड क्लास के डिब्बे में सफर करते थे। आधी धोती पहनते और आधी ओढ़ते थे। चटाई पर बैठते और सोते थे। रसोईघर के कामों में

१.३२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

हाथ बँटाते थे। इस पर भी वे देश की-सत्याग्रह का-अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियों का संचालन करते थे। सस्ता रहन-सहन रखने से उन्हें किसी बात की-किसी काम में कहीं अड़चन नहीं पड़ती थी। घटिया रहन-सहन रखने पर भी उन्हें, उनके व्यक्तित्व को कहीं भी घटिया होने की कल्पना नहीं की गयी।

सादगी के साथ स्वच्छता जुड़ी हुई है, तो वह अपने आप में एक फैशन बन जाती है। ऐसी फैशन जिसका विचारशील वर्ग पर असाधारण प्रभाव पड़ता है। खादी को गाँधीजी ने इसलिए भी राष्ट्रीय परिधान घोषित किया था कि उसे पहनने वाला अपने साथ सात्विकता, सादगी और शालीनता जुड़ी हुई अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त बेरोजगारों को काम मिलने, गरीबों की सहायता बन पड़ने जैसे उसमें गौण लाभ भी अनेक जुड़े हुए थे।

सादगी अपनाने से निर्धन भी कुछ बचत करते रह सकते हैं, जो आड़े समय में अपने या दूसरों के काम आ सकती है। बचत से ही पुण्य-परमार्थ जुटाया जा सकता है। अपने को अधिक स्वस्थ, सुविकसित एवं समन्वित बनाने का साधन जुटाया जा सकता है। बचत को नित्य निर्वाह व्यय का एक अविच्छिन्न अंग मानकर चलना चाहिए, इससे निश्चिन्तता रहती और पीठ भारी बनी रहती है। उस आधार पर कोई बड़ा काम किया जा सकता है। किसी बड़ी विपत्ति से निपटा जा सकता है। आश्रितों को समुन्नत एवं स्वावलम्बी बनाने में यह बचत ही काम देती है। इसे बैंक में जमा करते रहा जाय तो वह कुछ वर्षों में मूलधन को दूना-चौगुना कर देती है।

सादगी की एक विशेषता यह है कि साज-सँवार में जो समय लगता है, उसकी पूरी तरह बचत हो जाती है। इस समय को अपनी ज्ञान वृद्धि में, स्वास्थ्य वृद्धि में, अनुभव प्राप्ति में, सेवा-साधना में लगाया जा सकता है और उसके बदले बहुत कुछ पाया जा सकता है। दर्शक उससे प्रभावित होते हैं और उसे सहज ही कोई आदर्शवादी मान लेते हैं। अपेक्षाकृत अधिक विश्वास करते हैं, अधिक प्रमाणित मानते हैं और अधिक सहयोग देते हैं। यह इतना बड़ा लाभ है, जिसे कितनी सज-धज करते रहने पर भी नहीं पाया जा सकता। खर्च में कटौती और प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि का दोहरा लाभ होता है, जिसे हर किसी को उठाना ही चाहिए।

मितव्ययता अलग बात है और कंजूसी, कृपणता दूसरी। आवश्यक कामों में भी कृपणता के वशीभूत होकर कटौती की जाती रहती है और संचय को बढ़ाया जाता रहता है। ऐसी बचत तो फिजूलखर्ची से भी बुरी है। धन का सदुपयोग इसी में है कि उसे उपयोगी कामों में लाते रहने के उपरान्त भी जो बच पड़े उसकी बचत की जाये। उपयोगी कामों को रोक कर की गयी बचत तो अपनी प्रगति रोकती है और दूसरों की दृष्टि में उपहासास्पद बनाती है।

बचत एक प्रकार का संयम है, जिसमें इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम, विचार संयम के चारों पक्ष आते हैं। घड़े के पैदे में एक छोटा-सा छेद हो जाने पर भी उसका सारा पानी नीचे बहकर समाप्त हो जाता है। असंयम के छिद्र ऐसे हैं कि उसे जहाँ भी स्थान मिलेगा, वहाँ अनर्थ खड़ा होगा। इन्द्रिय असंयम मनुष्य की शारीरिक और मानसिक स्थिति को खोखला बनाता है। आर्थिक असंयम से मनुष्य दरिद्र और बेईमान बनता है। समय में असंयम बरतने पर कोई आलसी, प्रमादी ही बन सकता है। अनगढ़ विचारों से शेषचिल्ली बनने या बेसिर-पैर की उड़ानें उड़ते रहने का अभ्यास बनता है। यह चारों ही संयम मनुष्य को हर दृष्टि से समृद्ध बनाते हैं, वहाँ उनका असंयम दीन-दुर्बल बनाकर रहता है। सादगी और संयम प्रकारान्तर से एक ही हैं। सादगी प्रत्यक्ष होती है और संयम परोक्ष, पर दोनों एक-दूसरे के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

शिष्टता की उपयोगी रीति-नीति

कौन कैसा है ? इस वास्तविकता का पता लगाना कठिन है। इसके लिये लम्बे समय का सान्निध्य और गतिविधियों का गम्भीरतापूर्वक पर्यवेक्षण चाहिए। उसमें कमी रहे तो संपर्क क्षेत्र के लोगों के सम्बन्ध में भी गलतफहमी रह जाती है। जिसे खरा समझा गया था वह खोटा निकलता है। कई बार उपेक्षितों में भी ऐसे निकल पड़ते हैं जिन्हें कीचड़ का कमल या कोयले की खदान का हीरा कहा जा सके। किन्तु यह सब गहरी जाँच-पड़ताल करने पर ही पता चलता है। सामान्य परिचय से उस बारीकी का पता नहीं चल पाता। ऐसी दशा में समीपवर्ती लोगों के सम्बन्ध में वास्तविकता की जानकारी नहीं हो पाती। इस अनभिज्ञता में कई बार धोखा और जोखिम भी उठाना पड़ता है।

मोटी परख का एक सरल तरीका है शिष्टाचार का अवलोकन। सभ्य व्यक्ति की वाणी में शालीनता होती है जो मुँह खोलते ही प्रकट होती है। अपनी अभिव्यक्ति नम्र स्तर की होना और दूसरों के प्रति आदर का भाव प्रकट करना। यह दोनों ही परस्पर मिलकर वाणी की शालीनता प्रकट करते हैं। यह परिचय लेखनी से ही मिलता है। किन्हीं के पत्र किस स्तर के हैं, उनसे क्या अभिव्यक्तियाँ प्रकट होती हैं-इसे सहज ही जाना जाता है। वार्ता शुरू करने वाला और उसका उत्तर देने वाला अपने कथन में नम्रता, सद्भावना का पुट किस मात्रा में रच रहा है, इसे देखकर तीसरा समीपस्थ व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि दोनों पक्षों में से किसमें किस मात्रा में सज्जनता है।

वस्तुतः सज्जनता का व्यवहार ही किसी व्यक्तित्व के स्तर का परिचायक है। इस जानकारी के बाद ही यह प्रश्न उठता है कि किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय ? सम्पर्क जोड़ा जाय, सहयोग दिया जाय। वाणी को प्रवक्ता का पद दिया गया है। वह जब बोलना आरम्भ करती है तो मात्र कामकाजी प्रसंगों को ही नहीं निपटाती वरन् बोलने वाले की शालीनता के स्तर भी खोलकर रख देती है। उसमें शक मात्र ही नहीं होती है, साथ में ऐसी गंध भी घुली होती है, जिससे आदमी के मर्मस्थल को पहचाना जा सके। उसकी सज्जनता का, प्रामाणिकता का स्तर नापा जा सके। इसलिए न केवल बोलते समय हमारी शब्दावली शिक्षितों जैसी होनी चाहिए, वरन् साथ में सद्भावना की मिठास भी घुली रहनी चाहिए। उसमें से सज्जनता की फूलों जैसी मधुर गंध उठनी चाहिए।

वाणी प्रथम प्रयोग है। वह इतनी सशक्त है कि शब्द कुछ भी हो, बोलने वाले की सुसंस्कारिता-कुसंस्कारिता का परिचय खुले पत्रों की तरह प्रस्तुत करती है। इसके बाद शिष्टता की परिधि में व्यवहार के अन्य शिष्टाचार आते हैं। जैसे बैठने के लिए स्वेच्छा से वह जगह चुनना जो सर्वसाधारण के लिए मानी जाती है। वहाँ बैठने के बाद यदि ऊँचे आसन पर निकट आकर बैठने के लिए कहा जाय तो ही बैठना चाहिए। देखते ही आगन्तुक का मुस्करा कर स्वागत करना, उसके आगमन को प्रसन्नता का विषय बताना, समुचित आसन देना, कुशल समाचार पूछना, यह प्रारम्भिक स्वागत ऐसा है जो काम छोड़कर भी किया जाना चाहिए। इसके बाद यदि जरूरी काम रुका पड़ा हो तो उसके लिए आज्ञा माँगकर अपना आवश्यक कार्य करने के लिए चला जाना चाहिए। अतिथि का कम से कम जल से तो स्वागत करना ही चाहिए। सौंफ-सुपाड़ी जैसा कुछ सस्ता उपहार हो तो उसे भी भेंट किया जा सकता है। कोई सर्वथा निरर्थक आदमी हो तो उससे पीछा छुड़ाना आवश्यक हो तो जल्दी निपटा देने की बात दूसरी है। फिर भी अपनी ओर से तो यथासम्भव शिष्टता का निर्वाह होना ही चाहिए, चाहे उसका निर्वाह ही सीमित क्यों न बन पड़े। वाणी का शिष्टाचार हर हालत में निबाहा जाय, किसी से कटु शब्द न बोले जायें, न किसी को धमकी, चुनौती आदि दी जाय। दूसरा असभ्यता पर उतरे तो उस समय उसे अपनी भड़ास निकाल लेने दी जाय। बाद में अवसर पाकर उसे वस्तुस्थिति समझा दी जाय। अक्सर झंझट गलतफहमियों के कारण ही होते हैं। कभी-कभी आवेशग्रस्त स्वभाव वाले भी अपनी आदत से लाचार होकर हर किसी से उलझ पड़ने की हरकतें करते रहते हैं। ऐसों की उपेक्षा करनी उचित है। गाली का जबाव गाली नहीं हो सकती। मैले कपड़े को कीचड़ से नहीं धोया जा सकता। उसके लिए तो साफ सुथरा पानी चाहिए। झंझट खड़ा कर लेना सुगम है, पर उसे निपटाना

बड़ा कठिन। हिम्मत वाले दूरदर्शियों को कठिन काम ही हाथ में लेना चाहिए।

शिष्टता एक उपयोगी, लाभदायक और समाधान कारक प्रवृत्ति है। इसके विपरीत उजड़डपन से दूसरों का जितना अपमान होता है उससे कहीं अधिक अपनी बेइज्जती होती है। इसलिए समझदारों में से किसी को भी यह घाटे का सौदा हाथ में नहीं लेना चाहिए।

देखा गया है कि अशिष्टता बरतने का, आवेश में आकर उबल पड़ने का स्वभाव बचपन से ही आरम्भ होता है और वह धीरे-धीरे जड़ पकड़ता जाता है और फिर उससे पीछा छुड़ाना कठिन पड़ता है। इसलिए सतर्क अभिभावकों, अध्यापकों को जहाँ बच्चों के सम्बन्ध में कामकाजी बातों के अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं उनकी आदतों में अनौचित्य तो घर नहीं कर रहा है। कुटेबों में गंदा रहने की आदत की तरह अशिष्ट व्यवहार करने की बात भी अखरने वाली है। इसके लिए उन्हें आरम्भ से ही टोका और सिखाया जाय। बच्चों को उपदेश प्रायः कम याद रहते हैं। अच्छा तरीका यह है कि उनके साथ बरताव करके बदले में वैसा ही अनुकरण करने का अवसर मिला जाय।

वार्तालाप में उन्हें आप कहकर बोला जाय। नाम के साथ 'जी' शब्द और जोड़ा जाय। उनसे वार्तालाप सज्जनता की भाषा में किया जाय और व्यवहार शिष्टता की मर्यादाओं के अनुरूप। इस विद्या का वे अनुकरण करना प्रारम्भ करते हैं और शालीनता के ढाँचे में ढलते जाते हैं। न कटु शब्द उन्हें बोला जाय और न उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होने दी जाय।

ऐसा करने से वे शिष्टता के व्यवहार की मानमर्यादा से अवगत हो जाते हैं और उसके निर्वाह में अभ्यस्त हो जाते हैं। कपड़ों को, बालों को, बैठने के ढंग को भी इसी ढाँचे में ढाला जाय, क्योंकि न केवल बोलचाल से वरन् रहन-सहन और रीति-नीति से भी यह पता चलता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित? यों चिन्तन और चरित्र की उत्कृष्टता और आदर्शवादिता से भरा हुआ होना चाहिए किन्तु वह सब तो देर से अपनी स्थिति का परिचय देता है। सबसे प्रथम साक्षात्कार से ही यह बात प्रकट हो जाती है कि कौन व्यक्ति किस स्तर का है? उसके व्यक्तित्व का वजन कितना है? यह जाँच-पड़ताल वार्तालाप में घुली रहने वाली वस्तुस्थिति और रहन-सहन की प्रक्रिया परिपाटी से ही प्रकट होती है। इसलिए जो प्रत्यक्ष है उसके बारे में और अधिक सतर्क रहने की जरूरत है।

बच्चों को वैसा शिक्षण का अवसर न दिया जा सके तो भी बड़ी आयु के अनगढ़ों से भी वैसा व्यवहार करना चाहिए। बड़ी आयु हो जाने पर भी कितने ही लोग गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से बचकाने ही बने रहते हैं। उन्हें प्रौढ़शिक्षा स्तर पर पारस्परिक व्यवहार में सज्जनता बरतने का पाठ किसी भी आयु में पढ़ाया जा सकता है। इसका सीधा और सरल तरीका एक ही है कि अपनी ओर से हर

१.३४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

स्थिति में शालीनता बरती जाय। दूसरे ने क्या कहा और क्या किया? उसके लिए ठीक वैसा ही व्यवहार करना तर्क की दृष्टि से तो ठीक हो सकता है, पर उसके दूरगामी परिणाम अनुपयुक्त ही देखे गये हैं। विचारशील भावी परिणति और सम्भावनाओं को ही महत्व देते हैं और आशाजनक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए सज्जोचित व्यवहार के रूप में बीजारोपण करते हैं।

अतिथि सत्कार में, अलग विचार-विनिमय के अवसरों में प्रायः शिष्टाचार का प्रकटीकरण होता है। पत्राचार में भी, भाव सम्वेदनाओं की झलक रहती है। निजी रहन-सहन, चाल-ढाल, रुझान, हलचल में भी वह तथ्य भीतर से उभरकर बाहर आता है। विक्षिप्तों को उनकी चालढाल, भाव-भंगिमा से सहज पहचाना जा सकता है। इसी प्रकार अशिष्टों की अनगढ़ हरकतों से भी यह जाना जा सकता है कि उनका स्तर क्या है? कपड़े मैले-कुचैले, बटन खुले, जूते फटे, बाल बिखरे देखकर भी किसी की असभ्यता को आँका जा सकता है। सभ्य सामाजिक बनने के लिए हर किसी को अपनी चेष्टाएँ ऐसी रखनी पड़ती हैं कि प्रथम साक्षात्कार में ही दूसरों पर छाप पड़े और उलटकर सम्मान-सत्कार मिले।

शिष्टाचार का मूल मंत्र है-अपनी नम्रता और दूसरों का सम्मान। इस कसौटी पर जो जितना खरा उतरता है उसे उतना ही सभ्य-सुसंस्कृत समझा जायेगा। जो अपना अहंकार जताते हैं और दूसरों का अपमान करते हैं वे असभ्य गिने जाते हैं। आवश्यक नहीं कि ऐसा घटिया प्रदर्शन मारपीट से, गाली-गलौज से ही किया जाय- ऐसी दुर्गन्ध साधारण वार्तालाप में भी भरी हो सकती है। कई व्यक्ति अपनी शेखी बघारते रहने के आदी होते हैं। उनका यह करना तो अत्युत्साह की तरंग में करना होता है, पर प्रकारान्तर से यह भाव रहता है कि अपने बड़प्पन की इतनी बड़ी-चढ़ी छाप छोड़ें, जिसकी तुलना में सुनने वाले अपने को पिछड़ा हुआ अनुभव करने लगे। यह अप्रत्यक्ष अहमन्यता है जो सुनने वालों को अखरती है जिससे उसकी धाक स्वीकार करने की अपेक्षा उसे मन ही मन शेखीखोर मानने लगते हैं और उसके कथन पर अविश्वास करने लगते हैं।

परिवार में शिष्टता का वातावरण प्रचलित रहना चाहिए। सभी सदस्य एक दूसरे को सम्मान दें। उचित मर्यादा में प्रशंसा करें और प्रोत्साहन भी दें। दिल तोड़ने वाली, निराश करने वाली बातें न कहें। सम्मान से सद्भाव बढ़ता है। शिष्टता बरतने वाला सम्मानित होता है और अनायास ही दूसरों का सद्भाव-सहयोग अर्जित करता है। साथ ही अपने विश्वस्त व्यक्तित्व की दर्शकों पर भी छाप छोड़ता है। यह प्रत्यक्ष ही लाभ का सौदा है। इस व्यवसाय में भी प्रवीण-पारंगत होने का हर किसी को प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही यह भी गिरह बाँध कर रखना चाहिए कि अशिष्टता हर दृष्टि से हानिकारक है। यह अपना स्तर गिराती है, मित्रों को शत्रु बनाती है। जो

सहयोगी था, उन्हें असहयोग करने के लिए प्रेरित करती है। इसकी हानि भले ही तत्काल किसी की समझ में न आये, पर परिणाम सामने आने पर विदित होता है कि एक ऐसी कुटेब पाल ली गई जो पग-पग पर अनर्थ खड़े करती है।

घर के विचारशील तथा प्रमुख व्यक्ति ही शिष्टता का विकास कर सकते हैं। सर्वप्रथम उनके द्वारा ही इसका पालन किया जाना चाहिए। अभिवादन करते समय, बात करते समय हम वाणी में शालीनता लायें, मधुर और नम्रतापूर्ण वाणी प्रयोग करें। हमारी बोली में कठोरता, तू-तड़ाक और तानेबाजी की आदत होती है, उसे धीरे-धीरे हटाने-बदलने का प्रयास करना चाहिए कहा है-

“ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय।

औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय ॥”

बहुधा बोलने में ‘तकिया-कलाम’ के रूप में गाली के शब्द और निरर्थक शब्द बोलने का स्वभाव पड़ जाता है किन्तु वह सभ्य-समाज में बोलते ही शर्म से आँखें नीची करनी पड़ती हैं, अतः उनका उपयोग छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

हम कुछ भी आँय-शॉय जो मुँह पर आ जाय सो न बोलें, हम क्या बोल रहे हैं उसका पहले से विचार कर लेना चाहिए। इसीलिए कहा है कि “जो कुछ बोलें, उसको तोलें” अर्थात् संतुलित बोलने का प्रयत्न किया जाय।

‘तू’ शब्द से किसी को सम्बोधित न करना चाहिए। ‘तू’ शब्द से सम्बोधन किसी को भी सम्मानित जैसा नहीं लगता अतः बात करने में ‘आप’ का प्रयोग करना चाहिए।

संभाषण बातचीत में भी शिष्टाचार का ध्यान रखा जाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। जितना अन्य बातों में। बातचीत में भी हम ध्यान रख सकें कि अनर्गल-व्यर्थ की बातें न करें, शेखी न बघारें, चीख-चीखकर न बोलें, तनिक-तनिक-सी बात पर आवेश में न आयें। रूठने की आदत न डालें। किसी की खिल्ली न उड़ायें, किसी की बातचीत में बीच में न बोलें, तो जीवन की आधी उलझनें समाप्त हो सकती हैं। अधिकांश झंझटें तो ऐसे व्यवहार से ही उत्पन्न होती हैं, जिन्हें थोड़ी-सी सतर्कता से बचाया जा सकता है।

क्रोध, आवेश और उद्धत आचरण सबसे पहले अपने वाहन को ही एक प्रकार से विक्षिप्त बना देता है, वह होश-हवाश खोकर पागलों जैसी स्थिति में चला जाता है, और आदत पड़ जाने पर बात-बात में तैश दिखाता है। यह अपने शरीर और मन की बर्बादी का सबसे गन्दा तरीका है। उसके अतिरिक्त जिस पर क्रोध किया गया है वह उस कारण पर उलटा विचार नहीं करता जितना अधिक स्वाभिमान पर चोट पहुँचने से तिलमिलाता है। अपमान, गाली-गलौज या मारपीट करके बाहर से ही किसी को चुप या आतंकित कर सकते हैं। भीतर से तो

वह विद्रोही हो उठता है और जब भी अवसर मिलता है उस अपमान का बदला चुकाता है। उसे एक नया संकट ही कहना चाहिए। किसी अवांछनीय कारण पर असहमति प्रकट करने के उद्देश्य में किया गया क्रोध वस्तुतः उस उद्देश्य की पूर्ति तनिक भी नहीं करता वरन् नई समस्या खड़ी कर देता है-द्वेष-दुर्भाग्य का एक नया वातावरण रच देता है जिससे भूल क्षति से दूनी हानि नये सिरे से और उपस्थित हो जाती है। यह दुर्गुण यदि घुस पड़ा हो तो उसे निवारण करने के लिए समझाने से लेकर रूठ बैठने तक के जो भी तरीके उचित हों काम में लाये जाने चाहिए और अशिष्टता का हर कीमत पर निराकरण करना चाहिए। वैसे वातावरण आरम्भ से ही ऐसा बनाया जाना चाहिए कि भविष्य में इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति के बीजारोपण और पोषण की कोई सम्भावना ही शेष न रह जाय।

शिष्टाचार की पाठशाला— परिवार

शिष्टाचार सभ्यता का अनिवार्य अंग है। सांस्कृतिक चेतना जहाँ मुख्यतः आंतरिक परिष्कार से सम्बन्धित होती है, वहीं सभ्यता में बाह्य व्यवहार की ही प्रधानता होती है। संस्कृति का बाहरी पहलू ही सभ्यता है और इस व्यवहार प्रधान सभ्यता में शिष्टाचार का सर्वप्रमुख स्थान है। उर्दू में इसे ही 'तहजीब' कहा जाता है। 'मैनर्स' और 'एटीकेट' इसके अंग्रेजी नाम हैं। इनका महत्व सर्वविदित है। पब्लिक यानी कान्वेण्ट स्कूलों में अन्य स्कूलों के शिक्षण से एक ही वस्तु भिन्न होती है- 'मैनर्स' और 'एटीकेट' का प्रशिक्षण। इसी के लिए वे शुल्क के रूप में भारी रकम वसूल करते हैं और इसी प्रशिक्षण के लिए ही उनकी प्रसिद्धि भी रहती है। सभा-सम्मेलनों, सामूहिक आयोजनों, बैठकों आदि में शिष्टाचार का ध्यान रखना आवश्यक होता है। किसी भी बड़े शासकीय कार्यक्रम में 'प्रोटोकॉल' का बड़ा महत्व होता है, जो कि वस्तुतः शासकीय शिष्टाचार परम्परा का ही नाम है। 'प्रोटोकॉल' का उल्लंघन एक गम्भीर भूल मानी जाती है। क्लबों आदि में मैनर्स पर ही सारा जोर रहता है और शिक्षा, संस्कृति एवं विचार स्तर की भिन्नता के वावजूद वहाँ जिस एक आधार पर सब लोग परस्पर जुड़े रहते हैं, वह शिष्टाचार या 'मैनर्स' ही तो होता है।

अतः शिष्टाचार के प्रशिक्षण की परिवार में अवहेलना कदापि नहीं की जानी चाहिए। ताकि परिवार का सदस्य सभ्य समाज में कोई कमी अनुभव न करे और दूसरों की दृष्टि में भी अशिष्ट, फुहड़, असभ्य न कहलाए।

समाज, देश और समय के भेद से शिष्टाचार की अभिव्यक्ति के तरीकों में भेद होते हैं तो भी उनका सर्वमान्य आधार यह है कि दूसरों के प्रति सम्मान, स्वयं की नम्रता तथा माधुर्य का भाव व्यवहार में छलकें।

युग-मिर्माण २, कम्प्यूटर डी, अन्जु, १४.४.९६

ताकि यह प्रकट हो कि आप में सामाजिकता का बोध जागरूक है।

अपने समाज के शिष्टाचार का प्रत्येक सदस्य को ज्ञान भी होना चाहिए और उनका निर्वाह भी करना चाहिए। उसकी अवज्ञा करके बाहरी शिष्टाचार का अनुकरण अपने समाज के बीच करना एक प्रकार की अशिष्टता ही कही समझी जायेगी। उदाहरण के लिए, कई पाश्चात्य देशों में, परस्पर स्नेहाभिव्यक्ति के लिए सार्वजनिक तौर पर हाथ चूमने या माथा चूमने की प्रथा है। तो कुछ समाज ऐसे भी हैं-अफ्रीका में, जहाँ अँगूठा दिखाकर अभिवादन किया जाता है। जबकि भारत में आमतौर पर हाथ जोड़कर अभिवादन की परम्परा है। यहाँ कोई व्यक्ति दूसरे को अँगूठा दिखाए, तो उत्तरी भारत के ग्रामीण इलाकों में तो निश्चित ही उसे ठेंगा दिखाने का पर्याय समझकर झगड़े की स्थिति आ सकती है। इसी प्रकार यदि भारत में सामान्यतः कोई पुरुष किसी सभा में सम्मिलित किसी सम्प्रान्त नारी का हाथ-हाथ में लेकर चूम ले, तो मारपीट की शत-प्रतिशत सम्भावना है। यद्यपि भारत में भी गोंडा, बैगा, मुण्डा जैसे कई समूहों में अभिवादन की भिन्न-भिन्न प्रथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें माथ चूमना, हाथ मिलाना आदि भी शामिल हैं।

भारत में हिन्दू समाज में शिष्टाचार में बड़ों के प्रति श्रद्धा-सम्मान की भावना, छोटों के प्रति स्नेह की भावना तथा व्यवहार में विनय एवं माधुर्य के समावेश पर विशेष बल दिया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद में प्रदत्त वैदिक ऋषि का यह आदेश माननीय है-

“अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमती, वाचं वदतु शान्तिवान्॥”

अर्थात्- पुत्र पिता के व्रतों का यानि श्रेष्ठ कर्म और संकल्पों का अनुसरण करें और माँ जैसे (पवित्र कोमल) मन वाला बने। पति-पत्नी के लिए पत्नी-पति के लिए माधुर्ययुक्त तथा शांतिप्रद वाणी का व्यवहार करे। प्रातःकाल उठने के बाद प्रातः कर्म या स्नानादि के बाद, छोटे बड़ों के चरण स्पर्श करें। बराबरी वालों में परस्पर नमस्कार-अभिवादन हो। बड़े छोटों के प्रणाम के स्नेहासिक्त स्वर में शुभाशीष देकर उत्तर दें या मौन आशीष भी दे सकते हैं, पर पीठ थपथपा दें या चेहरे के हाव-भाव से ही स्नेहाभिव्यक्ति करें। यदि किसी दिन छोटे भूल जाएँ तो उन्हें आगे से भी नमस्कार, प्रणाम की याद दिला सकते हैं।

घर में बड़ों के प्रति सम्मान का भाव बनाये रखा जाना चाहिए। घर में कोई बुजुर्ग आगन्तुक आए तो उसके सम्मान में छोटे खड़े हो जाएँ, यथोचित अभिवादन करें। आगन्तुक छोटा हो या बड़ा, उसके आने पर मुस्कान या मधुर वचन से उसका स्वागत कर उसके प्रारम्भिक कुशल-क्षेम पूछने जैसी कुछ बातें अवश्य करें। यदि पहले से किसी अन्य व्यक्ति से बात कर रहे हैं, तो भी थोड़ी-सी बातें करके, फिर प्रेमपूर्वक बैठने, प्रतीक्षा करने के लिए कह दें। इसी प्रकार विदा होने के समय यदि आगन्तुक

१.३६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

बड़ा अथवा समकक्ष हो तो जहाँ तक सम्भव हो, द्वार तक छोड़ने जाएँ ।

वार्तालाप के समय भी शिष्टता के नियमों का ध्यान रखना चाहिए । अपनी ही नहीं हाँकनी चाहिए । आगन्तुक की बात भी ध्यान से सुनी चाहिए । बात-चीत के दौरान उत्तेजनापूर्ण स्वर में नहीं बोलना चाहिए । अपने घर पर बाहर से जो आया है, अतः उसके कुतर्क पर भी उत्तेजित नहीं होना चाहिए, अपितु या तो विनम्रतापूर्ण ढंग से असहमति व्यक्त करनी चाहिए, या फिर विषयान्तर कर देना चाहिए । किसी बात पर स्पष्ट इन्कार भी अत्यावश्यक हो सकता है, वह करना ही चाहिए पर उत्तेजक ढंग से नहीं, शालीनतापूर्वक । यदि आगन्तुक उत्तेजित हो जाए, तो भी अपनी शालीनता नहीं खोनी चाहिए । क्षणिक आवेश आ जाय तो उसे अपनी भूल मानकर खेद व्यक्त करना चाहिए ।

आयोजन आदि में जाने, उठने-बैठने, वस्तुएँ करीने से रखने गतिविधियों से सम्बन्धित जो नियम होते हैं, उन्हें जानना और उनका पालन करना भी सामाजिकता का अंग है । शिष्टाचार की जो तकनीकें भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं, अवश्य ही जाननी चाहिए । किन्तु इनसे भी अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है भावों की गहराई, व्यक्ति एवं समाज के सम्मान का पोषण एवं स्वयं की सद्भावना, नम्रता, गुणग्राहकता तथा शालीनता की संयमित अभिव्यक्ति । शिष्टाचार का यही प्राण है और इस भाव-संवेदना को प्रत्येक परिवार में उभारा ही जाना चाहिए ।

सुव्यवस्था—एक रचनात्मक प्रवृत्ति

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा असाधारण है । उसी के आधार पर भौतिक और आत्मिक सफलता की दिशा में सुनियोजित ढंग से बढ़ा जाता है । जिसमें यह प्रतिभा नहीं उसके सभी कार्य अस्त-व्यस्त पड़े रहते हैं और उपेक्षा की ठोकरों से त्रुकराये जाने पर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । पदार्थों का विनाश करने वाले अनेक कृमि कीटक देखे जाते हैं, पर उन सब में बढ़कर है—अव्यवस्था, जिसकी चपेट में आने पर कोई वस्तु सही सलामत नहीं बच सकती ।

सौन्दर्य सुव्यवस्था का ही दूसरा नाम है । अभ्युदय का आधारभूत कारण भी वही है । कुरूपता और कुछ नहीं, अव्यवस्था के प्रतिफल के रूप में उसे देखा-समझा जा सकता है । अस्वच्छता और कुछ नहीं, अव्यवस्था का प्रत्यक्ष रूप ही गंदगी के रूप में देखा जाता है । यदि वस्तुओं को यथोचित स्थान पर यथेष्ट स्थिति में रखा जाय तो वही सुन्दरता-स्वच्छता बनकर प्रकट होती है ।

जिनका रहन-सहन, आहार-विहार अव्यवस्थित रहता है, वे अनगढ़ बने रहते हैं । दूसरों की आँखों में वे

अयोग्य, लापरवाह, गैर जिम्मेदार ठहरते हैं । ऐसे लोग परिश्रम भी करते हैं, पर मनोयोग के अभाव में उन कामों को उस स्थिति तक नहीं पहुँचा पाते, जिसमें उन्हें सुन्दर और सुव्यवस्थित देखा जा सके ।

रसोईघर में अव्यवस्था रहे तो भोजन न तो स्वच्छ रह सकेगा और न गुणकारी । उसमें इधर-उधर की गंदगी आकर सम्मिलित हो जायेगी । ध्यान न रहने पर कोई पाक कच्चा रहेगा, कोई जल जायेगा । उसके रखने, ढकने आदि में बीसियों खामियाँ रहेंगी और बनाने वाले पर फूहड़ होने का लांछन लगेगा । खाद्य सामग्री बिना ढक्कन बन्द किये खुली छूटी पड़ी रहे तो उसमें कृमि-कीटक प्रवेश करेंगे, अपनी गंदगी छोड़ेंगे । उपयोग से पहले या बाद में वे आँगन में अस्त-व्यस्त फैले रहे तो बिखरे हुए कचरे की तरह लापरवाही का विज्ञापन करेंगे । पुस्तकें जहाँ-तहाँ पड़ी हुई फटने और नष्ट होने लगेंगी । कपड़े कोने में पड़े रहने पर झींगुरों और चूहों के शिकार बनेंगे । उपकरणों की जंग लग जायेगी और पैसे जहाँ-तहाँ रखकर भूल जाने का स्वभाव होगा तो उन्हें कोई भी चुरा सकता है । अव्यवस्था में उतनी हानि होती है कि चोर-उचक्के भी मिल-जुलकर नहीं कर सकते ।

भोजन भले ही सात्विक, संतुलित और पौष्टिक हो, पर यदि उसे नियत समय पर, नियत मात्रा में व्यवस्थित ढंग से खाया न जायेगा, तो वह पोषण के स्थान पर शोषण का शिकार बनेगा । अपच होगा, सड़न उत्पन्न होगी और बीमारियों का निमित्त कारण बनेगा । जो आहार शरीर को सुव्यवस्थित करने का हेतु बन सकता था, वही उल्टा आधि-व्याधियों को न्यौत बुलाने में जुट जाता है । यही बात कपड़ों के सम्बन्ध में भी है । वे भले ही बहुमूल्य हों, पर यदि वे सलीके से न पहने गये हों तो पहनने वाले को अव्यवस्थित सिद्ध करेंगे ।

सफल वे व्यक्ति होते हैं जो योजना बनाकर काम करते हैं और उसे क्रमबद्ध रूप से पूरा करने में समग्र तत्परता के साथ जुट जाते हैं । निरन्तर यह ध्यान रखते हैं कि कहाँ चूक हो रही है, किस साधन की कमी पड़ रही है । जो खामी दिखाई पड़ती है, उसे वे साथ ही पूरी करते चलते हैं । तब चैन लेते हैं जब अपनी जिम्मेदारी का काम भली प्रकार पूरा कर लेते हैं । यह आदत बन जाने पर मनुष्य एकपक्षीय बनकर नहीं रह जाता, वरन् अपने कार्यक्षेत्र के हर पक्ष का ध्यान रखता है और बिगड़ने की स्थिति उत्पन्न होने से पहले ही उसे सँभाल लेता है ।

यह बात मात्र काम-धाम के सम्बन्ध में ही नहीं है, व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध निर्वाह पर भी लागू होती है । यदि शालीनता भरा न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाय तो सद्भावना मित्रता बनकर लम्बे समय तक निभती है । इसके विपरीत जिनका मूड आये दिन नरम-गरम बना रहता है । एक दिन तुष्ट तो दूसरे दिन रुष्ट, उनकी चंचलता पर हर कोई खिन्न रहता है । किसी के साथ उनका तालमेल नहीं बैठता । घरवालों तथा

सम्बन्धियों तक से खिंचाव बना रहता है। पड़ोसी भी परिचित बनकर रहते हैं और सोचते हैं कि ऐसे व्यक्ति के साथ घनिष्टता बढ़ने पर किसी न किसी प्रकार का झंझट ही मोल लेना पड़ेगा।

सामान्यजन एक निर्धारित काम में ही किसी प्रकार जुटे रहते हैं। उसमें क्या कमी रहती है और किस प्रकार क्या सुधार हो सकता है, इसका उन्हें कभी ध्यान ही नहीं उठता। कोल्हू के बैल की तरह एक नियत ढर्रे पर घूमते हुए समय काट लेते हैं। उन्हें यथास्थिति में रहते देखा गया है। किन्तु जो चारों ओर नजर दौड़ाते हैं उन्हें प्रगति के लिए नये मार्ग मिल जाते हैं, अभ्युदय के नये मार्ग खुल जाते हैं।

व्यवस्था बना सकने वाले को 'मैनेजर' कहते हैं। इसी योग्यता वालों को 'गवर्नर' भी कहा जाता है। यह दोनों पद बड़े सम्मान के हैं। उन्हें श्रेय-सम्मान और लाभ-सहयोग भी अधिक मिलता है, क्योंकि काम करने की अपेक्षा उसकी व्यवस्था बना सकना कहीं अधिक बुद्धिमत्ता का काम है। सौ मजदूर किसी काम में जुटे रहकर भी किसी महत्वपूर्ण काम को सफल नहीं बना सकते, पर एक बुद्धिमान संयोजक उसी काम को सुनियोजित प्रक्रिया के अन्तर्गत लेकर कम श्रम में कहीं अधिक और जल्दी सफलता प्राप्त कर लेता है। यह बात मात्र कारखानों-उद्योगों में ही लागू नहीं होती, वरन् परिवारों में सुख, शान्ति और प्रगति का वातावरण भी इसी आधार पर बनता है। निजी जीवन का सन्तोषजनक सदुपयोग भी इसी आधार पर बन पड़ता है। संसार में जितने सफल मनोरथ व्यक्ति हुए हैं, उनमें अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त सूझ-बूझ की दूरदर्शिता और जिस मार्ग पर चलना है, उसका उपक्रम ठीक प्रकार बना लेने की प्रतिभा विशेष रूप से निखरी रही है। सुयोग्य मैनेजर स्वयं अधिक वेतन पाते और सम्बद्ध व्यवसाय को असाधारण लाभ पहुँचाते देखे गये हैं।

व्यवस्था के लिए लालायित निजी जीवन के कितने ही क्षेत्र इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि उनके साथ किसी प्रकार व्यवस्था-बुद्धि जुड़ जाय और उत्कर्ष की चरम सीमा छूने का अवसर मिल जाय। जहाँ ऐसा सुयोग्य बन जाता है, वहाँ स्वल्प साधनों और अनेकानेक अड़चनों के रहते हुए भी रास्ता मिलता रहता है और अग्रगमन के लिए उपयुक्त अवसर सहज ही सामने आ खड़ा होता है।

व्यवस्थापक को एकपक्षीय चिन्तन का शिकार नहीं रहना पड़ता। वह समस्या के अनेक पक्षों पर ध्यान देता है। सम्भावनाओं में मात्र उपलब्धियों को ही ध्यान में नहीं रखता वरन् सम्भावित कठिनाइयों का भी ध्यान रखता है। दोनों की समीक्षा करता है और न्यायाधीश की तरह दोनों पक्षों की बात सुनकर बुद्धिमत्तापूर्ण फैसला करता है। ऐसे ही फैसले यथार्थता के निकट होते हैं और सुविधाओं का श्रेष्ठतम सदुपयोग और अड़चनों से बचने और उन्हें काटने भर की पूर्व तैयारी रहने से ऐसे अवसर प्रायः हल ही हो जाते हैं, जिनके कारण मुसीबत में फँसने और असफलता

का मुँह देखना पड़ सकता था। समस्याएँ, योजनाएँ शतरंज की तरह होती हैं। उसमें गोट चलने के साथ-साथ आगे-पीछे की सभी बातें सोचकर तब चाल चलनी पड़ती है। जो अपनी अक्ल से या दूसरों के बताने पर बिना आगा-पीछा सोचे चलना आरम्भ कर देते हैं, उन्हें लाभ कम और हानि अधिक उठाने जैसी स्थिति का सामना करना पड़ता है।

सफलता आरम्भिक कल्पना में अति सरल और अति निकट जान पड़ती है, जो अपनी बढ़त की राह पर चल सके और अड़चनों का सामना बिना अधिक शक्ति व्यय किये सरलतापूर्वक कर सके। बुद्धि सब में समान होती है, पर उसे व्यवस्था बुद्धि के रूप में परिणित करने के लिए न केवल चिन्तन-मनन की, वरन् व्यवहार बुद्धि के संचय और प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ती है।

परिवार के हर सदस्य को इस विशेषता से सुसज्जित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए गृहपति को या परिवार के वरिष्ठ सदस्यों को अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना चाहिए और साथ में घर के हर सदस्य को लेना चाहिए। घर के छोटे दायरे में भी ऐसे कितने ही काम होते हैं, जो देखने में छोटे लगने पर भी आदतों में सुरुचिपूर्ण, कलात्मक एवं श्रमशीलता की अपेक्षा करते हैं। इस महती आवश्यकता की पूर्ति के लिए मिल-जुलकर घर के सभी काम निपटाने की नई योजना बननी और कार्यान्वित करनी चाहिए।

घर का काम-काज प्रायः महिलाओं के जिम्मे रहता है। वे ही घर चहारदीवारी के अन्दर होती रहने वाली हलचलों को संभालने की जिम्मेदारी संभालती हैं। बड़े-बूढ़े, बच्चे तथा पुरुष उस क्रिया-कलाप के दर्शक अथवा उपभोक्ता मात्र बनकर रहते हैं। इससे बड़ी हानि यह होती है कि कार्यरत महिलाएँ एकाकी जुटी रहने के कारण 'बोर' होती रहती हैं। अत्यधिक व्यस्तता में एक ही प्रकार का काम करते-करते वे अपनी मानसिक कोमलता खो बैठती हैं और बंधुआ मजदूरनी की अपनी हैसियत पर घुटन भी अनुभव करती हैं। इससे उनके शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य पर असाधारण दबाव पड़ता है।

व्यवस्था बुद्धि घर के हर सदस्य में जगे। छोटे कामों में भी तत्परता और रस लेना आरम्भ करें, इसलिए उपयुक्त तरीका यही है कि घर के सभी कार्यों में सभी सदस्य अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप हाथ बँटाये और नियत समय पर नियत कार्य के लिए उत्साहपूर्वक तैयार रहें।

घर के अनेक काम होते हैं, जिसमें सफाई सजावट, मरम्मत के तीन काम ऐसे हैं, जिन पर कम से कम ध्यान दिया जाता है और उन्हें निरर्थक समझा जाता है। जब कि वस्तुतः वही है, जो घर को कलात्मक स्तर का बनाते हैं और आगन्तुकों के सामने एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं।

यह व्यवस्था मनोरंजन का एक उत्तम साधन और अनुभव अभ्यास की अभिवृद्धि भी करती है। घर में अनेक

१.३८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

काम होते हैं, जिनमें भोजन बनाना, कपड़े धोना, दैनिक उपयोग की वस्तुओं की सफाई करना और उन्हें यथास्थान सजाकर रखना, इन्हें नित्य कर्म की गणना में रखा जा सकता है। यह सब काम नौकरों या महिलाओं के जिम्मे न छोड़कर घर के सभी लोगों को इनमें हाथ बँटाना और सहयोग देना चाहिए। इसमें खेल जैसा आनन्द आता है। जिन पर वजन लदा रहता है उन्हें हल्कापन अनुभव होता है।

साथ-साथ खाना, खेलना, संगीत, संहगान, सत्साहित्य का वाचन और श्रवण, सामूहिक उपासना जैसे आधार अपनाकर घर में अनुशासन की एक नई प्रक्रिया आरम्भ की जा सकती है। पक्षियों को दाना-पानी का प्रबन्ध करके उन्हें अपने आँगन में फुदकने और प्रसन्न होने का दृश्य देखा जा सकता है। घरेलू शाक-वाटिका, पुष्प वाटिका का आरोपण करने से भी रचनात्मक प्रवृत्ति के परिपोषण का एक आधार बन सकता है।

उदार सहकारिता

परिवार का पाँचवाँ पंचशील है-सहकारिता। यह स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि सर्वथा एकाकी व्यक्ति न प्रगति कर सकता है, न निर्वाह। इसके बिना पारस्परिक सहयोग का आदान-प्रदान भी सम्भव नहीं। बुहारी बँधी रहने पर वह अपना काम कर सकती है, पर यदि उसकी सीकें अलग-अलग बिखर जायें, तो वे अपना अस्तित्व तक सुरक्षित नहीं रख सकती। एक धागे का क्या मूल्य, उसकी सार्थकता तो तभी दीख पड़ती है, जब वह परस्पर गुँथकर कपड़े के रूप में विनिर्मित होता है, किसी के शरीर की शोभा बढ़ाता है, रक्षा करता है और लाज बचाता है। 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता' यह उक्ति अक्षरशः सत्य है।

संसार में सभी छोटे-बड़े काम सहयोग के आधार पर चल रहे हैं। पति-पत्नी के सहयोग से गृहस्थी की नींव पड़ती है। बच्चों, वयस्कों और वृद्धों का परिकर उसे मिल-जुलकर ऐसे ढंग से चलाता है कि आसमान का सुख उस घर-घरौंदे में ही उतर आता है। समाज क्या है? परिवार का समूह। परिवार क्या है-व्यक्तियों का सम्मिलित परिकर।

फैक्टरियों, कारखाने, इंजीनियरिंग स्तर के निर्माण, कृषि, व्यवसाय, गृह उद्योग कई-कई व्यक्तियों के श्रम, सहयोग और कौशल के समन्वय से चल पाते हैं। एक आदमी चाहे कितना ही सम्पन्न या चतुर क्यों न हो, व्यक्तियों का सहयोग जुटाये बिना अपने क्रिया-कलापों को तनिक भी अग्रगामी नहीं बना सकता। रेल, जहाज, पुल, बाँध जैसे बड़े निर्माणों के पीछे अनेक क्रिया-कुशल लोगों का श्रम और बुद्धि कौशल झाँकते देखा जा सकता है। संगठित और सुरक्षित सेना का योगदान देश की सुरक्षा में कितना अधिक होता है, इसे सभी जानते हैं। धार्मिक प्रसार विस्तार का कार्य ईसाई मिशनरों ने संगठित रूप से ही

किया है। राज-क्रान्तियों और सामाजिक परिवर्तनों के पीछे समर्थ जनसहयोग ही काम करता रहा है। बुद्ध का धर्म-चक्र प्रवर्तन संसार भर को प्रभावित कर सकने में सफल रहा। इसके लिए तपस्वी भिक्षु प्रचारकों की भाव संवेदना ही काम करती रही। गाँधीजी के सत्याग्रह की सफलता के पीछे सत्याग्रहियों की सेना ही प्रमुख भूमिका निभाती रहीं। अन्यत्र भी जहाँ-कहीं सुधार परिवर्तन हुए हैं, वहाँ एकजुट लोकसमर्थन ही सफलता के स्तर तक पहुँचा सकने में समर्थ हुआ है।

सामूहिकता की-सहकारिता की शक्ति से सभी परिचित हैं। गोवर्द्धन पर्वत उठाने में कृष्ण को ग्वाल-वालों का सहयोग मिला था। समुद्र का सेतु बाँधने में रीछ-वानरों का संयुक्त प्रयास ही चमत्कारी परिणाम उत्पन्न कर सका। पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक का विशालकाय शिक्षा-तंत्र जनसंकुल के सहयोग से ही खड़ा हुआ है। राजतंत्र भी विशाल जनशक्ति को अपने अंचल में समेटकर ही शासकीय गतिविधियों का संचालन करता है। कभी तो धर्मतंत्र भी ऐसा ही सुरक्षित था, पर अब उसके ध्वंसावशेष ही जहाँ-तहाँ बिखरे दृष्टिगोचर होते हैं। जब वह अपनी सुगठित स्थिति में था, तो उसने समस्त विश्व को सभ्यता और सुसंस्कारिता का पाठ पढ़ाया था।

मधुमक्खियों का छत्ता, चींटियों का किला, टिड्डियों का दल अपनी संगठित प्रगति का परिचय देता है। बन्दर इसलिए आजाद हैं कि वे झुण्ड बनाकर रहते हैं। कुत्तों को इसलिए मनुष्य का गुलाम बनना पड़ा कि वह अपनी बिरादरी के साथ तालमेल बिठाने में कतराता रहा। कहानी है कि एक बार बहेलिए के जाल में फँसी हुई चिड़ियों ने मिलकर एक साथ जोर लगाया था और वे जाल को आसमान में उड़ा ले गयी थीं। संयुक्त शक्ति का जितना गुणगान किया जाय, उतना ही कम है। हारते देवताओं को दैत्यों से हर बार हार जाने पर प्रजापति ने देवताओं की संयुक्त शक्ति एकत्रित करके उससे देवी दुर्गा का सृजन किया था और दैत्य समुदाय का हनन कराकर देवताओं को उनका छिना शासन वापस दिलाया था, तब से कलियुग में संघ शक्ति को ही मूर्द्धन्य माना जाता रहा है।

भेड़ों के बाड़े की तरह या रेल के मुसाफिरखानों की तरह भीड़ एक स्थान पर जमा हो जाने भर से संघ नहीं बनता। भीड़ तो सोमवती अमावस्या और कुम्भ जैसे मेलों पर भी लग जाती है, पर उन आगन्तुकों में परस्पर परिचय तक नहीं हो पाता, फिर संगठन कैसा? सरायें और धर्म-शालायें भी भीड़ से भरी रहती हैं, पर उनमें टिकने वालों का किसी से कोई परिचय सम्बन्ध नहीं होता। ऐसी ही स्थिति परिवारों की भी बनी रहे तो उसे सराय की उपमा ही दी जा सकती है, जिसमें लोग खाने, नहाने, सोने भर की सुविधा पाने के लिए ही जमा रहते हैं और मतलब निकल जाने भर अपनी मौज-मर्जी की गतिविधियों में लग

जाते हैं, यह स्थिति न तो संतोषजनक कही जा सकती है और न उत्साहवर्द्धक ।

परिवार के सदस्यों के बीच इतनी अधिक आत्मीयता होनी चाहिए कि सभी को पूरा परिवार अपना ही बड़ा शरीर प्रतीत हो और उसके प्रत्येक अंग-अवयव को-सदस्य को समुन्नत-सुविकसित बनाने की उत्सुकता, तत्परता बनी रहे । यह दृष्टिकोण ही दूसरों की सेवा, सहायता का आधार बनता है और इसी की प्रतिक्रिया उलटकर प्रत्येक सहयोगी के पास सम्मान, सद्भाव एवं सहयोग के रूप में उलटकर आती है । यही आदान-प्रदान परिवार की संघशक्ति बनता है और उसके लाभ से हर सदस्य लाभान्वित होता है ।

घर के सभी कामों को मिल-जुलकर निपटाने का प्रचलन जिन घरों में भी बन पड़ा होगा, वहाँ सभी को यह अनुभव करने का अवसर मिलेगा कि घर की सारी व्यवस्था हम सब के मिले-जुले प्रयासों के आधार पर चलती है । इस अवसर पर काम करते हुए वार्तालाप भी चलता रहता है और यह सुझाव मिलता रहता है कि घर की व्यवस्था में कहाँ क्या सुधार परिवर्तन होना चाहिए । इनमें से कुछ अव्यावहारिक भी हो सकते हैं, पर कई ऐसे होते हैं जिनकी ओर पहले ध्यान ही नहीं गया था, पर थे बहुत महत्वपूर्ण । परिवार की प्रतिष्ठा, सम्पन्नता, शोभा एवं सहकारिता में किस प्रकार अभिवृद्धि हो, इस ओर सभी का ध्यान बना रहे तो निश्चय ही उस सहकारी योगदान का अच्छा प्रभाव होता है और वह कुटुम्ब, सत्प्रवृत्तियों का केन्द्र बनता है । उस परिकर में से कुरीतियाँ, मूढ़-मान्यतायें, अनैतिकताएँ, असभ्यताएँ क्रमशः कम होती जाती हैं और एक दिन ऐसी स्थिति आती है, जब उसे आदर्श गृहस्थ कहे जाने की मान्यता मिलने लगे । दूसरे उसका अनुकरण करने की प्रेरणा लेते रहें ।

पारिवारिक सहकारिता उथले स्तर की नहीं होनी चाहिए । उसमें आत्मीयता का गहरा पुट रहना चाहिए । आर्थिक दृष्टि से तो सरकारी समितियाँ भी कुछ न कुछ योजनाएँ बनाती और उन्हें कार्यान्वित करती रहती हैं, पर उनका लाभ उतने ही छोटे दायरे में सीमित होकर रह जाता है, जबकि पारिवारिक सहकार में एक-दूसरे के दुःख-दर्द में शामिल होना पड़ता है और अन्य साधियों की प्रगति में अपनी प्रगति मानकर चलना होता है । इसी भावना के अभिवर्द्धन से यह सूझ सूझती है कि अपनी सुविधाओं, सम्भावनाओं को किस प्रकार पूरा करने में सहयोग दिया जा सकता है । जहाँ इस प्रकार का चिन्तन चल रहा होगा, वहाँ उसी स्तर के क्रियाकलाप भी बने बिना नहीं रह सकते । एक-दूसरे का सम्मान करें, हितों का ध्यान रखें, सहयोग देने के लिए, सेवा सहायता के लिए उत्सुक रहें वहाँ यह हो ही नहीं सकता कि सेवा के बदले युग-मिर्माण २, कम्प्यूटर डी, अन्जू, १४.४.९६

सद्भाव न मिले । सेवा के बदले सद्भाव खरीदा जाता है, यह तथ्य सर्वविदित है ।

अपना काम पूरे होने पर बचा हुआ समय आवरागर्दी में लगाने की अपेक्षा घर के लोगों को अधिक समुन्नत बनाने में लगाना चाहिए, घर की शोभा-सुव्यवस्था बनाने में जुट जाना चाहिए । इसके लिए कोई दूसरा कार्यक्रम बनाकर नहीं दे सकता है । यह कार्य तो अपनी ही सूझबूझ से तलाशने का है । बड़े क्लास के बच्चे अपने से छोटी को घर पर पढ़ाने में योगदान कर सकते हैं । घर में कोई अशिक्षित न रहने पाये, इसके लिए जो महिलाएँ कम पढ़ी हों उन्हें आगे की पढ़ाई पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते हुए उनके पीछे लगकर पढ़ने-पढ़ाने का ढर्रा चल पढ़ने तक प्रयत्नरत रहा जा सकता है । जिन्हें किसी प्रकार की रुग्णता है, उनकी परिचर्या में सहयोगी बना जा सकता है । चिकित्सा के लिए भी दौड़-धूप की जा सकती है । घर-आँगन में छोटे-छोटे खेलों का माहौल बनाया जा सकता है और उसमें जिनकी भी रुचि हो उन्हें सम्मिलित किया जा सकता है । रात्रि को छुट्टी होने पर सत्साहित्य पढ़कर सुनाने का कार्य विचारशील सदस्य अपने कन्धों पर ले सकते हैं, किन्तु ऐसी समस्याओं पर वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का घर में प्रचलन किया जा सकता है जो व्यक्ति, परिवार और समाज को समुन्नत बनाने, उसमें घुसी दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन से सम्बन्धित हों ।

घर के सभी सदस्य इस बात के लिए प्रयत्नशील रहें कि अपना काम निपटाते हुए साथ ही अन्य परिजनों का हाथ भी बँटाते रहें । सूख जाने पर कपड़ों को समेटने, उन पर लोहा करके जिसको-तिसको सौंपने का कार्य ऐसा ही है जो अपने जिम्मे काम के साथ-साथ ही इतना सहयोग दूसरों का भी किया जा सकता है । जूतों की मरम्मत कर देना, पालिश लगा देना जैसे काम भी ऐसे हैं, जिनमें कोई अधिक समय नहीं लगता पर उस छोटे से सहयोग से ही साधियों का मन जीता जा सकता है और अपनी आत्मीयता का प्रत्यक्ष परिचय दिया जा सकता है ।

परस्पर सहयोग के आधार पर ही मनुष्य वनमानुष से ऊँचे उठते-उठते सृष्टि का मुकुटमणि बन सकते हैं । मानवी प्रगति में बुद्धिमत्ता से अधिक सहकारिता की वृत्ति का योगदान रहा है-मनुष्य को उदार और सहयोगी होना चाहिए । परिवार में ही नहीं, समाज में भी एक दूसरे से प्यार करना चाहिए । दूसरों के भी काम आना चाहिए, समय पड़ने पर परस्पर सहयोग करना चाहिए और एक दूसरे के हित के लिए त्याग करना चाहिए । माता-पिता, चाचा-ताऊ, चाची-ताई, भाई-भाभी, बहिन-बुआ, भाई-भाई के प्रति, परिवार के प्रति, आस-पड़ोस के प्रति हमारे जो कर्तव्य धर्म हैं उनका पालन यथासाध्य करें । अपना कर्तव्यपालन करते हुए, दूसरों के सुख-दुःख में सम्मिलित

१.४० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

होकर संवेदनशीलता बढ़ायें, सहानुभूति प्रदान करें, उन्हें सुझाव ही न दें बल्कि अपने सहयोग द्वारा सहायता भी करें। इससे मानव में देवत्व का उदय होता है।

गृह कार्यों में एक दूसरे का सहयोग करें। मिल-जुलकर काम करने में वह जल्दी तो होता ही है साथ ही एक खेल या मनोरंजन भी बन जाता है। इससे समता एवं सहयोग की प्रवृत्ति सुदृढ़ होती है। खाते समय पर यदि सब लोग मिल-जुलकर साथ बैठकर खाया करें तो उससे आनन्द की अभिवृद्धि ही होगी। खाने-पीने की अच्छी चीजों में अपना हिस्सा कम और दूसरों का ज्यादा रखना चाहिए। छिप कर कुछ भी न खाया जाय। जो भी हो मिल-बाँटकर खायें। कोई अपने लिए अधिक सुविधा की माँग न करे, वरन् दूसरों को क्या अभाव है, उसका ध्यान रखे। प्रेम व्यवहार की वास्तविकता इन छोटी-छोटी उदार व्यवहार की बातों से ही परिपुष्ट होती है और परस्पर सुदृढ़ स्नेह-सद्भाव को पोषण मिलता है।

एक दूसरे का काम में हाथ बटाने की सहजवृत्ति परिवार के हर सदस्य में होनी चाहिए। अधिकारों की माँग में, पीछे कर्तव्य पालन में आगे रहने की आदत अपने को सबका प्यार और सम्मान मिलता है। अपने लिए कम दूसरों के लिए अधिक का दृष्टिकोण हर प्रकार से सराहनीय है। हारी-बीमारी में सेवा-सुश्रूषा का पूरा ध्यान रखा जाय। बड़े क्लास वाले छात्र अपने छोटे भाई-बहनों को पढ़ाने में सहायता करें। खेलने-धूमने में बड़े-छोटों को साथ लेकर चलें। अपने स्वार्थों की तरह परिवार का हर सदस्य दूसरे सदस्यों का ध्यान रखें। एक दूसरे की प्रगति और सुविधा में सहायता करें तो उस सहयोगी वातावरण में स्वर्गीय तत्वों का सृजन होगा। सभी प्रसन्न रहेंगे और समुन्नत बनेंगे।

पारिवारिक शालीनता के कुछ सुनिश्चित तथ्य

परिवार के हर सदस्य को उन तथ्यों से अवगत भली प्रकार कराया जाना चाहिए, जिनमें उनके कर्तव्य और अधिकार की मर्यादा का निर्धारण है। संसार का गतिचक्र आदान-प्रदान के आधार पर चलता है। प्राप्त करना अधिकार है किन्तु उनका मूल्य चुकाना कर्तव्य। दोनों के मध्य सुनियोजित तालमेल बना रहता है तो गतिचक्र अपनी धुरी पर ठीक तरह से चलता रहता है। एक पहिया छोटा हो और दूसरा बड़ा तो गाड़ी चलेगी नहीं उलट जायेगी। सहयोगी की महत्ता से सभी परिचित हैं। पदार्थों का बिखराव नहीं समुच्चय ही शक्तिशाली बनता है। मनुष्यों का समुदाय ही महान प्रयोजन सम्पन्न कर सकता है। एकाकी परमाणु भी निरर्थक है और अकेला व्यक्ति भी असमर्थ है। हाँ मरना-मारना हो तो बात दूसरी है।

एकाकीपन से अपना अथवा दूसरों का विनाश भर हो सकता है। सृजन और अभिवर्द्धन के लिए समन्वय की

शक्ति ही कारगर सिद्ध हो सकती है। इतना जान लेने पर दूसरा तथ्य यही सामने आता है कि समन्वय, सहयोग के मूल में आदान-प्रदान का सिद्धान्त काम करता है। एक-पक्षीय अनुदान आदर्श एवं अपवाद भी हो सकता है, उसे प्रचलन के रूप में मान्यता नहीं मिल सकती। अधिकार की माँग करना और आशा रखना तभी सार्थक हो सकता है। जब कर्तव्यपालन के लिए उससे भी अधिक उत्साह दिखाया जाय। अधिक इसलिए कि कर्तव्यपालन अपने हाथ में है और अधिकार देना दूसरों के। जो अपने बस की बात है उसे निश्चित रूप से किया ही जा सकता है। प्रतिफल न मिले तो भी इसमें आत्मगौरव, आत्म-संतोष का असाधारण लाभ तो मिलता ही रहता है। भौतिक अधिकार न मिलने पर भी यह आत्मिक-उपार्जन इतना बड़ा है कि उसमें भी भावनाशीलों को लाभ ही दीखता है घाटा नहीं।

परिवार भी एक प्रकार से सहकारी संस्था है इसमें हर व्यक्ति एक दूसरे को देता है, साथ ही कुछ पाने की अपेक्षा भी रखता है। अभिभावक बच्चों को पालते हैं उनके लिए कष्ट उठाते और खर्च करते हैं। साथ ही उनसे कुछ आशा-उपेक्षा भी रखते हैं। सम्मान और अनुशासन उनकी तात्कालिक माँग है और बड़े होने पर सेवा-सुश्रूषा के रूप में प्रतिदान की अपेक्षा रखना बाद की। दोनों एक दूसरे की सद्भावसम्पन्न सेवा-सहायता करें यह तो बहुत ही ऊँची और अच्छी बात है। पर इतना तो व्यवहार बुद्धि से भी सोचा जा सकता है कि पाने वाले को बदला चुकाने से ऋण भार से मुक्ति मिल सकती है। न चुकाने पर ऋण भार का दबाव इतना बोझिल रहता है कि उसकी आत्मा ही कुचल जाती है।

पत्नीव्रत और पतिव्रत यों निभा तो एक पक्ष की आदर्शवादिता भी लेती है पर वह विशिष्टों का कीर्तिमान है। स्वाभाविक और व्यावहारिक यही है कि दोनों एक दूसरे के समर्पण सहयोग का महत्व समझें। अनुग्रह के लिए कृतज्ञ रहें और हर घड़ी बदला चुकाने के अवसर खोजें। वह आदान-प्रदान जहाँ यथावत् रहेगा वहाँ मैत्री निभेगी भी और बढ़ेगी भी। किन्तु जहाँ एक पक्ष ने मात्र अधिकार की रट लगाई और कर्तव्य की उपेक्षा की, समझना चाहिए कि खाई बढ़ेगी और प्रीति के स्थान पर विवशता और कटुता ही शेष रह जायेगी। स्वामी और सेवक, व्यापारी और ग्राहक-मित्र और मित्र, गुरु और शिष्य, देवता और भक्त प्रायः इसी आधार पर एक दूसरे के सेवक-सहयोगी बनकर रहते हैं। एक के हाथ खींच लेने पर दूसरे का बढ़ा हुआ हाथ भी निरर्थक ही सिद्ध होगा। समुद्र और बादलों के बीच देने और लौटाने की नीति ही अनादिकाल से उन्हें सहयोग सूत्र में बाँधे हुए है। धरती पौधों को एक हाथ में खुराक देती है, पर बदले में दूसरे हाथ में खाद और गोबर के रूप में उनसे प्रतिदान वापस माँगी है। जिस दिन इस आदान-प्रदान में व्यवधान उत्पन्न होगा उस दिन न पौधों की हरीतिमा जीवित रहेगी और न धरती की उर्वरता।

परिवार का भावनात्मक महत्व जो भी है प्रत्यक्षतः वह एक सहकारी संस्था है। जिसके हर घटक को अधिकार मिलता है किन्तु साथ ही यह शर्त भी जुड़ी रहती है कि उसे समयानुसार उसका प्रतिदान भी लौटाना होगा। इस लौटाने में जो जितनी आना-कानी करता है वह उतना ही निकृष्ट बनता है और जिसे जितनी उतावली रहती है वह उतना ही उत्कृष्ट ठहरता है।

अभिभावक न तो अपने आश्रितों पर उतना ऋण लादें जिसे वे चुका न सकें और बोझ से आत्मप्रताड़ना सहते दिखाई दें। अनावश्यक अनुदान कभी किसी को पचते नहीं। अति का भोजन कष्टकारक होता है और अति का अनुग्रह दुर्गुणों के दुर्व्यसनों के रूप में उभरता है। अकर्मण्यता और अहंकारिता तो इसमें बढ़ती ही है। अस्तु, बुद्धिमान अभिभावकों के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आश्रितों को स्वावलम्बी और कुसंस्कारी भर बनाये। उन पर अनावश्यक सम्पदा का इतना बोझ न लादें जिसे पाकर वे उपार्जन की चिन्ता से मुक्त हो चलें और खाली समय और व्यर्थ की सम्पत्ति को दुर्व्यसनों में गँवाकर अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारें।

परिजनों का भी कर्तव्य है कि सम्पन्न अभिभावकों से उत्तराधिकार में सम्पदा की माँग न करें। पारिवारिक निर्वाह का यदि कोई व्यवसाय तन्त्र चलता है तो उसे संयुक्त रूप से अक्षुण्ण रखा जा सकता है एवं असमर्थ आश्रितों को ही निर्वाह साधन संचित सम्पदा से पाने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त यदि समर्थ व्यक्ति उत्तराधिकार में सम्पदा की माँग करें तो इसे अनुचित ही ठहराया जायगा। ऐसा वैभव विशुद्ध रूप से समाज की सम्पत्ति है। उसे भले ही श्राद्ध के रूप में लौटाया जाय अथवा मृत्युकर के रूप में। बिना परिश्रम की कमाई और चोरी के कानूनी स्वरूप जो भी हैं उनकी मूल प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं आता। परिवार के हर सदस्य को आरम्भ से ही यह अर्थशास्त्र पढ़ाया जाना चाहिए और उन्हें स्वावलम्बन के लिए उनकी मनोभूमि विकसित की जानी चाहिए।

परिवार एक गाय है जिसका दूध पीने के लिए ही सब ललचाते रहें, यह अनुचित है। उसके लिए चारा, पानी, धूप-छाँव एवं सुविधा, सफाई की जिम्मेदारी भी इन दूध पीने वालों को उठानी चाहिए। परिवार समर्थ होगा तो उसकी छाया का, शोभा का, फल सम्पदा का लाभ भी मिलेगा अन्यथा सूखे ढूँठ से जगह भी धिरेगी और अड़चन भी पड़ेगी। तरह-तरह की अपेक्षाएँ रखना और फरमाइशें करना तो अनेक को आता है, पर इस तथ्य को भुला ही दिया जाता है कि इस संस्थान को परिपुष्टि और परिपक्व बनाने के लिए उससे भी बड़ा योगदान होना चाहिए जो अब तक पाया गया है एवं जो आगे के लिए माँगा जा रहा है। सम्पन्नता तो एक समर्थ व्यक्ति भी उपार्जित कर सकता है पर सुसंस्कारिता का वातावरण उत्पन्न करने में हर सदस्य का समुचित योगदान होना चाहिए।

गृहपति कोई भी क्यों न हो, अनुशासन किसी का भी चलता हो। इस दृष्टि से हर सदस्य अपने आप में पूर्ण है कि उसे पारस्परिक स्नेह-सहयोग को बढ़ाने और सत्प्रवृत्तियों को व्यवहार में उतारने की दृष्टि से अग्रणी रहना है। भूल-उपेक्षा या अवज्ञा करने वाले की नकल करना ओछा विचार है। बड़प्पन इसमें है कि श्रेष्ठ परम्परा का निर्वाह किया जाय और भटकों को रास्ते पर लाने के लिए अपना प्रभावी उदाहरण प्रस्तुत किया जाय।

बिगाड़ने के लिए एक माचिस पर्याप्त है, पर बनाने को दस अँगुलियों समेत दोनों हाथों को परिपूर्ण पराक्रम करना पड़ता है। किसी भी समझदार को विष की बूँद बनने के लिए कदम नहीं बढ़ाना चाहिए, वरन् अमृत घट के रूप में अपनी स्थिति, उपस्थिति और महत्ता का परिचय देना चाहिए।

परिवार निर्माण में उस परिकर के हर सदस्य को भाव भरी भूमिका प्रस्तुत करनी चाहिए। प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता इसी की चलनी चाहिए कि परिजनों में से किसने उस संस्था को समृद्ध और शालीन बनाने में कितनी भूमिका निभाई। यह तथ्य ऐसे ही हैं जिन्हें परिवार के हर सदस्य को बार-बार समझने और समझाने का अवसर मिलता रहना चाहिए।

शालीनता और सुसंस्कारिता का अभ्यास परिवार की पाठशाला में

परिवार निर्माण की दिशा में हर विचारशील व्यक्तित्व का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित होना चाहिए, इस प्रयास की उपयोगिता आवश्यकता के अनेक पक्ष हैं। परिजनों के प्रति रहने वाली सहज शुभेच्छा को चरितार्थ होने का अवसर तभी मिलेगा जब उसका व्यक्तित्व विकसित हो। यह विकास क्रम मात्र परिवार की पाठशाला में पढ़ा और उसी प्रयोगशाला में स्पष्ट जा सकता है। परिवार में सुसंस्कारिता का समावेश कुटुम्बियों के लिए कुबेर जितनी सम्पदा संग्रह करने से भी अधिक मूल्यवान है। निर्माण के अनेक स्वरूप हैं। निजी मकान बना लेना-कारखाना खड़ा करना-नगर बसा देना-धर्मशाला, पाठशाला बनाना जैसे कितने ही काम ऐसे हैं उन्हें समर्थ और समझदार लोग पूरा करते और प्रसन्न होते देखे गये हैं।

साहित्यकार, वैज्ञानिक, कलाकार कई प्रकार की उपलब्धियाँ अपने पीछे छोड़ जाते हैं और मरने के बाद भी उनकी स्मृति जनमानस पर बनी रहती है। इस स्तर की सफलताएँ विलक्षण प्रतिभा और विशिष्ट परिस्थिति पर निर्भर हैं। इच्छा रहते हुए हर कोई इस स्तर की सफलता पा नहीं सकता। इन सब से अधिक महत्वपूर्ण और

१.४२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

अधिक सरल काम परिवार निर्माण का है। उसे कर गुजरने वाले जिस श्रेय के अधिकारी बनते हैं उसे अखबारों में भले ही न छपा जाय पर यथार्थता की कसौटी यही कहेगी कि यह प्रयास अप्रतिम रहा।

सन्त विनोबा की माता ने अपने परिवार की जिस स्तर पर संरचना की उसके फलस्वरूप मानवता को कृतकृत्य होने का अवसर मिला, शिवाजी, नैपोलियन, आदि अगणित महामानव माताओं द्वारा बनाये गये हैं। कौशल्या, कुन्ती, मदालसा, शकुन्तला, सीता आदि ने प्रजनन ही नहीं किया, सृजन भी किया था। गुरु गोविन्दसिंह जैसे कितने ही युग-पुरुषों की कथा गाथा में उनके परिवार का स्तर भी चार चाँद लगाता है। भगतसिंह को परिवार की परिस्थितियों ने प्रेरणा दी। नेहरू परिवार की अपनी परम्परा है। विश्व इतिहास से लेकर आधुनिक पर्यवेक्षण तक में ऐसे अनेकानेक प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें परिवार निर्माण के लिए प्रयत्नशील व्यक्तियों ने महान सृजनकर्ताओं की तरह ही संसार की महती सेवा साधना सम्पन्न की है।

परिवार निर्माण एक विशिष्ट स्तर की साधना है। उसमें योगी जैसी प्रज्ञा और तपस्वी जैसी प्रतिभा का परिचय देना पड़ता है। कलाकार अपने आप को साधता है किन्तु परिवार निर्माता को एक समूचे समुदाय के विभिन्न प्रकृति और स्थिति के लोगों का निर्माण करना पड़ता है। यह कार्य सघन आत्मीयता, समग्र दूरदर्शिता एवं समर्थ तत्परता से ही सम्भव हो सकता है। इसके लिए धरती जैसी सहनशीलता, पर्वत जैसी धैर्य धारणा और सूर्य जैसी प्रखरता का समन्वय सँजोना पड़ता है। इन सद्गुणों के अभाव में ही विपुल सुविधा-साधन जुटाने पर भी परिजन कुसंस्कारी बनते और अभिभावकों को त्रास देते रहते हैं। परिवार निर्माण में निरस्त व्यक्ति कुटुम्बियों की जितनी सेवा करते हैं उससे कहीं अधिक लाभ आत्म-निर्माण के रूप में उठाते हैं। दो लाभ प्रत्यक्ष हैं—तीसरा परोक्ष। सुसंस्कृत परिवारों के अनुदान का संसार को, समाज को सुखी-सम्पन्न बनाने में कितना योगदान देते हैं। इसका लेखा-जोखा यदि रखा जा सके तो प्रतीत होगा कि यह परमार्थ परोपकार का एक उच्चस्तरीय प्रयोजन है।

यहाँ यह बात हजार बार ध्यान रखने की है कि परिवार निर्माण का अर्थ नये बच्चे पैदा करना और उनका सुधार निर्माण करने की कल्पना करना किसी भी प्रकार नहीं है। अपने और विराने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। निर्माण छोटे बच्चों का होता है। ऐसी बात भी नहीं है। प्राचीनकाल में छोटों के लिए गुरुकुल और बड़ों के लिए आरण्यक बनाये और ऋषि-ऋषिकाओं द्वारा चलाये जाते थे। गाँधी, बुद्ध, टैगोर आदि आश्रम बनाकर रहते थे। यह विशुद्ध रूप से पारिवारिकता का प्रयोग है। सन्तों की जमातें, सैनिकों की छावनियाँ, वस्तुतः पारिवारिकता की ही प्रयोगशालाएँ हैं। भले ही अन्यान्य कार्यक्रमों की

प्रधानता रहने से उनका मूल स्वरूप धूमिल क्यों न हो गया हो? अगले दिनों 'लॉर्जर फैमिली' का बड़े पैमाने पर प्रयोग होगा। यह संयुक्त परिवार पद्धति का एक सुधरा हुआ रूप है। शान्तिकुंज गायत्री नगर में वस्तुतः पारिवारिकता का प्रयोग चलता है। मिशन के सामने नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति के कितने ही कार्यक्रम ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि विश्व की अनेकानेक ऐसी हलचलों का सूत्रपात होने जा रहा है जो समय के प्रभाव को उलटकर रख देगी। इन सबमें अधिक महत्व का और तथ्यपूर्ण प्रयत्न यह है कि जन-जन की प्रकृति और प्रवृत्ति पर पारिवारिकता छाई रहे। इस एक ही सत्प्रवृत्ति के अन्तर्गत उन सभी सद्गुणों और सत्-सम्भावनाओं का समावेश है। जो अन्तरंग और बहिरंग क्षेत्र में धुसी हुई संकीर्णताओं और दुष्प्रवृत्तियों से जूझने और पछाड़ने में पूरी तरह समर्थ हो सकती है।

पारिवारिकता देखने-सुनने में बाल-बच्चों का भरण-पोषण जैसी कार्य-पद्धति प्रतीत होती है जिसमें यौनाचार और निवास निर्वाह की व्यवस्था सुविधा को कारणभूत समझा जा सकता है। यह उसका उथला स्वरूप है वस्तुतः उसे आत्मसंयम और उदार व्यवहार की ऐसी मिली-जुली पद्धति कहना चाहिए जिसमें भाव-सम्वेदनाओं का ही सर्वोपरि महत्व है। अभिभावकों द्वारा संतान का भरण-पोषण, माता का शिशुओं के प्रति वात्सल्य, भाई और बहिन के मध्यवर्ती पवित्रता, पितृजनों के प्रति श्रद्धा, पत्नी का पति को परमेश्वर मानना, पति का पत्नी को अर्द्धांगिनी की मान्यता देना, उपार्जनकर्ता की उपलब्धियों का सहवितरण जैसी गतिविधियों का स्वार्थपरता के साथ कोई तालमेल नहीं बैठता। यह सारी व्यवस्था पूरी तरह उच्चस्तरीय भाव-सम्वेदनाओं पर आधारित है।

यदि अधिकार को लाभ एवं स्वार्थ को प्रमुख मानकर सोचा जाय तो इस गठन में असमर्थों को छोड़कर कोई भी सम्मिलित होने को तत्पर न होगा। पत्नी के रोटी के टुकड़ों पर जीवन भर की शारीरिक और मानसिक गुलामी स्वीकार कर पति अपनी कमाई से स्वयं ही गुलछरें क्यों न उड़ाये, पत्नी को गले से क्यों बाँधे जबकि यौनाचार अधिक सस्ते में पूरा होता रह सकता है। माता को बच्चा पेट में रखने से लेकर अपना लाल रक्त सफेद दूध के रूप में मिलाने, यौवन निचोड़ने जैसे अनेक कष्टसाध्य उत्तरदायित्व ओढ़ने में क्यों प्रसन्नता हो?

वयस्क लोग वयोवृद्धों की सेवा सुश्रूषा क्यों करें? जब अर्थशास्त्र में वयोवृद्ध बैलों को कसाई के हाथ बेच देने के समर्थन में अनेक तर्क और लाभ सुझाये हैं तो उसी आधार पर क्यों न घर के वृद्धजनों को उसी घाट उतार दिया जाय, भौतिक लाभ हानि की दृष्टि से विचार करने पर असमर्थों को भले ही परिवार से कुछ लाभ दीखता हो, समर्थों को स्पष्टतः हानि है। ऐसी दशा में स्वार्थ बुद्धि समर्थों को यही परामर्श दे सकती है कि वे परिवार बसाने

और पालने के झंझट में न पड़कर स्वेच्छाचारी, मनमौजी जीवन जियें ? कल्पना की जा सकती है कि यदि भौतिकवादी तर्क, प्रतिपादनों और स्वार्थ-संकीर्णता की पद्धति अपना ली जाय तो फिर परिवार बसाना मात्र घाटे का सौदा ही रह जायगा और उसे अपनाने के लिए समर्थ समझदार कभी तैयार न होगा। ऐसी दशा में मनुष्य जाति का अस्तित्व कितने दिन तक इस धरती पर स्थिर रह सकेगा यह कहना कठिन है।

पारिवारिकता के पीछे भाव सम्बेदनाओं का उभार ही प्रधान काम करता है। उसमें उदारता की उदात्त प्रेरणाएँ ही मचलती देखी जा सकती हैं। घाटा असुविधा समर्पण का प्रतिपादन उच्चस्तरीय अध्यात्म सिद्धान्तों के अतिरिक्त और किसी दर्शन के सहारे नहीं हो सकता। पुण्य परमार्थ का समर्थन अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान के आधार पर सम्भव नहीं। यह विशुद्ध रूप से अध्यात्म दर्शन का ही अनुदान है। आत्मा की भूख, आत्मसंतोष की प्यास मनुष्य की उत्कृष्टता अपनाने और परामर्श प्रयोजन में रस लेने के लिए विवश करती है। यही हैं वे आधार जिन्होंने मानवी चेतना में पारिवारिकता का संचार किया है। उसके साथ ही उन अनेकानेक सत्प्रवृत्तियों के उपहार दिये जिनके कारण मनुष्य को देवता की सन्तान या ईश्वर का राजकुमार कहा जाता है।

सद्भावनाओं का उत्पादन और सम्बर्द्धन करने के लिए जितना उपयोगी और उर्वर क्षेत्र परिवार है उतना दूसरा और कोई नहीं। सद्भावनाओं का उपयोग देशभक्ति, समाजसेवा, सहकारिता, शिक्षा, स्वास्थ्य, साहित्य, कला आदि किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है किन्तु उसका मौलिक उत्पादन वहाँ नहीं हो सकता। संस्कारों में समाविष्ट बहादुरी किसी को सेना में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहित तो कर सकती है, पर ऐसा कठिन है कि किसी कायर प्रकृति के मनुष्य को छावनी में कैद करके वीर बहादुर बना दिया जाय।

समाज सेवा के अनेक क्षेत्रों में अनेक व्यक्ति ऐसे कामों में संलग्न दिखाई पड़ते हैं जो निश्चित रूप से लोकोपयोगी होते हैं किन्तु गहराई से देखने पर पता चलता है कि उनमें संलग्न व्यक्तियों में से कितने ही गुपचुप ऐसे अनाचार करते हैं जिससे लोक कल्याण के आचरण में विनाश और अपव्यय ही पल्ले पड़ता है। होना यह चाहिए था कि लोकसेवा के कार्यों में निरत व्यक्ति उस प्रक्रिया से प्रभावित होते और यदि मूलतः जनसेवी नहीं थे तो भी उस प्रवाह में बहकर समाज सेवा के रंग में रंग जाते। पर जब ऐसा होता नहीं दीखता तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि मनुष्य की मौलिक प्रकृति इतनी प्रबल है कि उसका बदलना सामान्य तौर से नहीं, किसी विवशता उत्पन्न करने वाले अत्याधिक दबाव से ही सम्भव है।

यह तथ्य बताते हैं कि मनुष्य की मौलिक प्रकृति प्रधान है और वह शिक्षण एवं वातावरण से यत्किंचित ही

प्रभावित होती है। उसका वह ढाँचा सबसे अधिक मजबूत होता है जो गर्भावस्था से लेकर दस वर्ष की आयु की अवधि में परिवार की परिधि में रहते हुए उपार्जित किया जाता है। अस्तु, इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि मानवी व्यक्तित्व में सद्भावनाओं का-गतिविधियों में सत्प्रवृत्तियों का-समावेश करना है तो इसके लिए आदर्शवादी कार्यक्रमों में सम्मिलित रहने या रखने से ही काम नहीं चलेगा। यदि ऐसा रहा हो तो तथाकथित नेतागण जो जनसाधारण को आदर्शवादी चिन्तन और कर्तृत्व की प्रेरणाएँ देते रहते हैं, अपने निजी जीवन में भी उनका पालन करते। परामर्श एक प्रकार का आचरण दूसरे प्रकार का यह सिद्ध करता है कि बुद्धि से, वाणी से कुछ भी कहा जा रहा हो मूलनिष्ठा उससे भिन्न है। यह निष्ठा ही असली व्यक्तित्व है और उसके निर्माण में परिवारगत प्रभाव एवं वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः उसी का प्रभाव चिरस्थायी होता और दूरगामी परिणाम उत्पन्न करता है।

युग परिवर्तन अपने समय की महती आवश्यकता है। चिन्तन और चरित्र को, व्यवस्था और प्रचलन को एक प्रकार से इतना अधिक सुधार-परिष्कार करना होगा कि उसे कायाकल्प जैसा कहा जा सके। यह बड़ा काम है। इसके लिए योजनाएँ कहीं से बनें, कुछ भी बनें उनका आधार तो खड़ा करना ही होगा। व्यक्ति के अन्तराल में उत्कृष्टता का, आध्यात्मिकता का समावेश हो वह आधार है जिसके आधार पर सृजन की अनेकानेक योजनाओं को फलने-फूलने का अवसर मिलेगा। कहना न होगा कि भाव सम्बेदनाओं को सुसंस्कृत बनाने के लिए घर-परिवारों का स्तर उठाना पड़ेगा। पारिवारिकता और शालीनता एक ही तथ्य के दो नाम हैं। इसे ध्यान में रखते हुए हमें इस छोटे किन्तु महान कार्य को सम्पादित ही करना होगा जिसे परिवार निर्माण के नाम से जनसाधारण के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वच्छता एवं सुव्यवस्था परिवार भर को सिखाएँ

स्वच्छता के बिना सुन्दरता नहीं रह सकती। कितनी भी भव्य इमारत हो, उसकी सफाई, देख-रेख न की जाये, तो न तो वह आकर्षक लगेगी, नहीं टिकेगी। कितना भी सुन्दर बच्चा हो, यदि गन्दगी लिपटी हो, तो लोग उसे हाथ लगाने में झिझकेंगे तथा माँ और अभिभावकों को कोसेंगे। इसलिये स्वच्छता एवं सुव्यवस्था की आदत घर के प्रत्येक सदस्य में डाली जानी चाहिए।

व्यक्तित्व की अतिरिक्त स्वच्छता का सम्बन्ध मानसिक बौद्धिक एवं आत्मिक प्रगति से तो है ही स्वास्थ्य से भी है। बाहरी स्वच्छता का भी स्वास्थ्य एवं मानसिक प्रसन्नता से सीधा सम्बन्ध है।

१.४४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

घर के सभी सदस्यों को प्रातः उठकर शौचादि कर्म से निवृत्त हो मंजन एवं स्नान करने का नियमित अभ्यास होना चाहिए। बचपन से ही यदि शौच की या मंजन की नियमितता की आदत नहीं बनी तो बाद में शौच की अनियमितता पेट-सम्बन्धी गड़बड़ियों का कारण बनती है। मंजन न करने से दाँत-मसूड़े खराब हो जाते हैं। युवावस्था में ही दाँत-दर्द एवं दाँतों के गिरने के कष्ट का सामना करना पड़ता है। जिन्हें नित्य स्नान का अभ्यास नहीं रहा या स्नान के सम्बन्ध में जिनके स्वभाव में आलस्य-प्रमाद जड़ जमा बैठा उन्हें हाथ-मुँह धोकर चेहरे पर क्रीम-पाउडर लगा लेने की आदत बन जाती है। ऐसों के शरीर से पसीने की दुर्गन्ध निकलती है और अस्वच्छता से फुन्सियाँ, रक्तविकार आदि उत्पन्न होते हैं। ठीक से स्नान करने का भी हमारे यहाँ अधिकांश लोगों को अभ्यास नहीं कराया जाता। किसी प्रकार नदी तालाब में डुबकी लगा लेना या बाल्टी दो बाल्टी पानी लौटे से शरीर के ऊपर डाल लेना स्नान नहीं। ऐसे नहाने की आदत बन जाने पर रोज-रोज नहाने वालों के भी शरीर में मैल की परत जमती जाती है। घुटने, कोहनी, कनपटी, टखने, एड़ी जैसी जगहों में ऐसे लोगों के प्रायः मैल जमी देखी जाती है। अतः ठीक से स्नान कर मैल छुड़ाने तैलिये से शरीर रगड़कर पोंछने की आदत हर सदस्य को डाली जानी चाहिए।

यही बात कपड़ों के बारे में है। नीचे मैली-कुचैली चड़्डी बनियान या गन्दा पेटिकोट आदि पहनकर ऊपर से चमकती साड़ी या कुर्ता-धोती, पैंट, पतलून पहन लेना ही वस्त्रों की स्वच्छता नहीं। शरीर से लगाने वाले कपड़े भी सदा स्वच्छ रखने चाहिए। उन्हें नित्य धोया जाना चाहिए। ऊपर पहनने वाले कपड़े भी अपनी शक्ति के अनुसार सादे, अच्छे एवं स्वच्छ रहें यह ध्यान रखा जाना चाहिए।

प्रत्येक सदस्य शौचालय एवं स्नानघर स्वच्छ रखने में सहभागी बनें, यह प्रवृत्ति परिवार में विकसित की जानी चाहिए। 'फ्लैश सिस्टम' के पखाने हों तो उनमें पर्याप्त पानी डाला जाय तथा ब्रुश विम आदि द्वारा उनकी सफाई की जाय कच्चे पखानों में रेत या राख का टोकरा रखा रहे। हर सदस्य मलविसर्जन के बाद उसे मैले पर ऊपर से डाल दे और टोकरा फिर भरकर रख दे। मेहनत द्वारा नियमित सफाई की व्यवस्था की जाय। भली-भाँति पानी डालकर कड़ी बुहारी द्वारा धोया जाय और फिनाइल मिला जल छोड़ा जाय। पेशाब जाने के बाद भी हर व्यक्ति को पानी डालने की आदत होनी चाहिए। देहातों में भी गड्ढे वाले पाखाने और पेशाबघर बनाये जाने चाहिए ताकि जहाँ-तहाँ गन्दगी न फैले और न ही परेशानी उठानी पड़े या बेपर्दगी अपनाती पड़े। साथ ही उसका इस्तेमाल खाद के रूप में हो सके। गड्ढे न बन पायें तब तक लोटे के

साथ खुरपी लेकर जाने की परम्परा डाली जाय और खुरपी से गड्ढा खोदने के बाद वहीं मल-त्याग किया जाय तथा उसे ढक दिया जाय।

स्नान घरों में भी सफाई रखने में हर सदस्य सहयोग करे। कपड़े धोने या नहाने के बाद स्नानघर में साबुन का झाग और मैला पानी फैले रहने देने की लापरवाही को टोका-सुधारा जाय। स्नानघर सदा स्वच्छ रखा जाना चाहिए, ताकि वहाँ न तो गन्दगी रहे, न ही कोई जमे।

मलमूत्र विसर्जन के स्थानों पर नाकबन्द करके जाना और जैसे-तैसे भागने की सोचना स्वच्छताप्रियता नहीं है। उन स्थानों को स्वच्छ रखना ही स्वच्छता है, यह हर एक को बताया-सिखाया जाय। जिस प्रकार हमारे शरीर में पाचन प्रक्रिया का जितना महत्व है, उतना ही मल-विसर्जन प्रक्रिया का भी। उसी प्रकार घर में रसोई घर को जितना साफ रखा जावे, उतना ही टट्टी या पेशाब घर को।

रसोई को भी भली-भाँति साफ रखा जाना चाहिए। अन्न के कणों-टुकड़ों को समेट कर पशु-पक्षियों को खिला देना चाहिए या कूड़ेदान में डाल देना चाहिए। थाली में डाले गए अन्न के सड़ने से असह्य दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। वहाँ कीड़े पैदा हो जाते हैं। दुर्गन्ध और कीड़े दोनों स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं।

भोजन के समय थाली-लोटे गिलास-कटोरी आदि में कहीं जरा भी मिट्टी-जूठन लगा हो तो खाने वाले का मन बिदक जाता है। इसलिये बर्तनों की धुलाई-सफाई के साथ ही उन्हें ठीक से रखने की भी चिन्ता करनी चाहिए और इस्तेमाल के पूर्व फिर से देख लेना चाहिए कि स्वच्छ तो है। धूल-मिट्टी लग गई हो तो साफ कर लिये जायें।

रसोई का फर्श पक्का है तो गीले टाट से पोंछना जरूरी होता है। कच्चे रसोई में लिपाई करना आवश्यक होता है। चौका-रसोई की स्वच्छता और खाद्य पदार्थ रखने के स्थान की स्वच्छता का ध्यान रखने से ही भोजन व्यवस्थापिका की सुघड़ता का पता चलता है। खाद्य पदार्थ सीलन भरी जगह में न रखे जायें। उन्हें ढककर रखा जाय और समय-समय पर सुखाते रहा जाय, सफाई का तथा खाद्य पदार्थों को ढकने का ध्यान न रखने पर चूहे, मकड़ी, छिपकली, तिलचट्टे, झींगुर, घुन, पई आदि अनेक छोटे-बड़े कीड़ों के उपद्रव का डर रहता है। उनका थूक, मल-मूत्र आदि पेट में पहुँच सकता है और हानि पहुँचा सकता है। ये कीड़े-मकोड़े वहीं मर गये और उनके टुकड़े खाद्य-पदार्थ के साथ पेट में पहुँचे तो विषैली प्रतिक्रिया उत्पन्न करेंगे।

पीने के पानी की स्वच्छता के लिये प्रयुक्त छानने वाले कपड़े को साबुन से धोना तथा सुखाना आवश्यक होता है। पानी को भी ढककर रखना होता है। पेय जल का

पात्र रखने के लिये लकड़ी की तिपाई या पक्की चकती का प्रबन्ध कर लेना चाहिए। पानी भरने के घड़े भीतर से भली-भाँति धोए जायें, लोटा-गिलास आदि धोकर ही पानी लिया दिया जाएँ ये सभी आदतें बच्चों में शुरू से ही डाली जानी चाहिए। सभी कमरों, मेज, कुर्सी, पलंग फर्नीचर समेत घर भर का एक कार्य नित्य झाड़-पोंछ, सफाई होनी चाहिए। इस काम की जिम्मेदारी फेर बदल कर दी जाती रहना चाहिए।

साप्ताहिक सफाई छुट्टी के दिन की जानी चाहिए। उस दिन घर भर के लोग सोत्साह उसमें जुटें। उस दिन घर के कोनों में, दीवाल व छतों में जमा हो गये जाले, बर्फ-तैय्ये के छत्ते वगैरह साफ करें। आस-पास की भी सफाई कर डालें। नालियों, कूड़ेदानों को साफ कर लें। कुँआ हो तो उसके आसपास की सफाई कर दें। पाखाना आदि सब स्थान भली-भाँति धो डालें जाय। काँच वगैरह सब साफ कर डालें। उसी दिन ओढ़ने-बिछाने के कपड़े आदि सुखा लें। जूते-चप्पलों की मरम्मत कर डालें। परिवार के सभी सदस्य उत्साहपूर्वक इसमें जुटें तो काम सरलता से निपट जाता है और मनोरंजन भी होता है।

कभी-कभी विशेष सफाई का अभियान भी चलाना चाहिए। वर्षा की समाप्ति के बाद और ग्रीष्म ऋतु में पूरे घर की सफाई-मरम्मत का काम आवश्यक होता है। नियमित सफाई के बाद भी नमी बनी रहने तथा धूप कम होने के कारण मकान और सामान की हालत खराब हो जाती है। कपड़ों में नमी चढ़ जाने से उनमें गंध आने लगती है। मकान में सीलन आ जाती है। जहाँ हवन होता रहता है, वहाँ कीटाणु बहुत कुछ नष्ट होते रहते हैं। तो भी वर्षा की समाप्ति पर एक बार घर की पूरी तरह सफाई जरूरी होती है। दीपावली का त्यौहार इसी प्रयोजन की पूर्ति कर देता है। दैनिक एवं साप्ताहिक सफाई में परिवार भर के लोगों द्वारा सहयोग का अभ्यास हो गया तो इस वार्षिक सफाई में भी बहुत सारा काम घर के सदस्य संभाल लेते हैं और खर्च कम पड़ता है।

वास्तविक बात यह है कि यदि स्वच्छता का सिद्धान्त मन में बैठ गया तो हरेक को गन्दगी खटकेगी, कुरूपता अस्त-व्यस्त को हटाने की इच्छा उठेगी उसमें आलस्य और प्रमाद की गुंजाइश नहीं रहेगी। कहीं थोड़ी भी अस्वच्छता दिखाई देगी, अव्यवस्था अनुभव होगी तो गृहणी या परिवार के सदस्य को खटकने लगेगी और तब कहीं अस्वच्छता, अस्त-व्यस्तता का रहना सम्भव न होगा।

प्रायः अपने परिवारों में शौकीनी ठाठ-बाट और फैशन के नाम पर थोड़ी साज, सजावट दिखाई देती है। तीज-त्यौहार, विवाह-शादी अथवा किसी महत्वपूर्ण अतिथि आने के अवसर पर सफाई में उत्साह दिखाई देता है, अन्यथा चारों ओर अस्वच्छता का ही साम्राज्य छाया रहता है। स्वभाव न होने से वह खटकती भी नहीं है। कमरों में कपड़े अस्त-व्यस्त, कापी-किताबें इधर-उधर

बिखरी हुई, सामान अव्यवस्थित, आलस्यवश सब ऐसा ही पड़ा बिखरा रहता है। रसोई में बरतन इधर-उधर फैले, धुयें की कालिख का साम्राज्य, धूल भरे जाले लटके रहते हैं। आँगन में बच्चों ने सब में कूड़ा-करकट फैलाया हुआ। कहीं साग की टोकरी पड़ी है तो कहीं अनाज का टीन। एक तरफ कुर्सी पड़ी है तो बीच रास्ते में चौकी। स्नान घर में पानी बह रहा है, काई जम गई है, सीलन और पेशाब की बदबू आ रही है, पखाने से दुर्गन्ध फैल रही है, पानी डालने की किसी को फुरसत नहीं है, मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। ध्यान दीजिए, यह दृश्य कहीं अपने यहाँ का ही तो नहीं है? यदि ऐसा ही है तो हमें मानना चाहिए कि हम घर में नहीं नरक में रह रहे हैं।

हम घर की थोड़ी बहुत सफाई करते भी हैं तो घर तो साफ करते हैं और गन्दगी घर के सामने डाल देते हैं, सड़क पर गिरा देते हैं, अपनी नाली साफ करके कचरा, मैला पड़ोसी के दरवाजे की ओर बढ़ा देते हैं। यह बहुत ही गन्दी और अनैतिक आदत है। अपनी खुद की सफाई के साथ-साथ सार्वजनिक सफाई का भी ध्यान रखें।

जिसके मन में स्वच्छता सिद्धान्त एवं अभ्यास रूप में आ जायगी वह घर और बाहर सब जगह स्वच्छता के नियमों का पालन करेगा। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते कहीं भी वह उनका उल्लंघन नहीं करेगा। जहाँ-कहीं उसका विकृत रूप देखेगा उसे खटकेगा और वह उसे ठीक करने का प्रयत्न करेगा।

स्वच्छता का अर्थ है सभ्यता। स्वच्छता से सभ्यता, नागरिकता और स्वस्थ व्यक्तित्व का बोध होता है। अस्वच्छता-अस्वस्थ वातावरण और असभ्यता की परिचायक होती है।

व्यवस्था से सुन्दरता, सुरुचि, सुविधा और सम्मान प्राप्त होता है। अव्यवस्था-फूहड़पन निकम्मेपन की द्योतक है। इससे हर क्षेत्र में असुविधाओं का ही सामना करना पड़ता है।

घर, बाहर, आँगन, कमरे, रसोई सब साफ-सुथरे हैं, कपड़े-लत्ते, बिस्तर-बैठक, शरीर और वस्त्र सभी स्वच्छ हों तो इस स्वच्छता के वातावरण से मन प्रसन्न रहता है, पवित्र-विचार आते हैं और अन्तःकरण प्रफुल्लित रहता है। पूजा और यज्ञ कार्य में भी हम बाह्य और आन्तरिक पवित्रता की भावना करते हैं। वह बाह्य और आन्तरिक स्वच्छता-पवित्रता हमारे घरों में रहे, यह गृहलक्ष्मी द्वारा ही हो सकता है।

स्वच्छता से सौन्दर्य उपासना की प्रकृति निर्मित होती है। सजावट, चित्रों का चयन, फूल-पत्ती, गुलदस्ते, गमले, बेलें सजाने का नियम इसी का एक अंग है। मन्दिरों की सजावट, स्वच्छता और श्रृंगार सुसज्जा भी हमें प्रसन्नता, रोचकता प्रदान करती है। वैसी ही स्थिति इमारत घरों की होनी चाहिए।

स्वच्छता को मनुष्य की शालीनता और सभ्यता की साक्षी ही समझा जाना चाहिए। व्यक्ति कितना सजग

१.४६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

व्यवस्थित और सुरुचिसम्पन्न है इसकी परीक्षा उसके घर में प्रवेश करके ही की जा सकती है। वस्त्र, जूते, उपकरण, पात्र, पुस्तकें, आदि वस्तुएँ किस क्रम में, किस स्थिति में हैं इसे देखते ही वहाँ रहने वालों के स्वभाव का पता चल जाता है। मनुष्यात्मा का पहला प्रमाण जप-तप नहीं वरन् उसकी सजगता है। जिसे स्वच्छता और व्यवस्था के रूप में देखा-परखा जा सकता है। यह मूलभूत गुण ही वह आधार है जिसके सहारे हर काम सर्वांगपूर्ण और सुव्यवस्थित रीति से किया जा सकता है और वह सही तथा सफल बनकर सामने आता है। इस गुण के अभाव में आलसी, प्रमादी और अव्यवस्थित मनुष्य अपने हर काम को लँगड़ा-लुला, आधा-अधूरा छोड़ते हैं और उनमें इतने छिद्र रह जाते हैं कि जो उस प्रयत्न परिश्रम की उपलब्धियाँ सामने आती हैं वे बहुत ही भौंडी, कुरूप, फूहड़ और अस्त-व्यस्त होती हैं। उनसे काम भले ही चल जाय पर श्रेय नहीं मिल सकता, सराहना नहीं हो सकती। काम चाहे छोटा हो पर उसे ही उत्कृष्ट दृष्टिकोण, समग्र मनोयोग और उल्लास भरी तत्परता के साथ किया जाय तो उसकी समग्रता और सुन्दरता देखते ही बनती है।

सुव्यवस्थित और समग्र प्राप्ति के लिए सजग मनोवृत्ति को पहला स्थान दिया जाना चाहिए। इसे ही निरालस्यता, तत्परता, मनोयोग, सुरुचि, कला, प्रेम आदि नाम दिये जा सकते हैं। परिवार में इसी प्रवृत्ति को अभ्यास में लाने के लिये पूरी अभिरुचि का समावेश किया जाना चाहिए। छोटी से लेकर बड़ी वस्तु को यथास्थान, स्वच्छ, सुसज्जित रूप से रखना चाहिए। स्वच्छता में सभी को पूरी तरह अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। यह कार्य गृह संचालक का है। दूसरों पर गन्दगी फैलाने और अस्त-व्यस्तता बरतने के लिए धुनधुनाना, कुड़कुड़ाना बेकार है। एक सुयोग्य अध्यापक की तरह यह कार्य गृहपति को स्वयं करते हुए-अन्य सदस्यों को उसमें सम्मिलित करना चाहिए और स्वच्छता का, सुरुचि का अभ्यासी बनाना चाहिए।

नौकर है या नहीं प्रश्न यह नहीं। प्रश्न एक ऐसी महत्वपूर्ण आदत के निर्माण का है जो आगे चलकर हर बड़े छोटे कार्यों की सफलता-असफलता का निमित्त बनती है। हर कपड़ा सामान, हर वस्तुएँ हर समय स्वच्छ और व्यवस्थित रहनी चाहिए। उन्हें रखना ही इस ढंग से चाहिए कि गन्दगी उत्पन्न ही न होने पाये। फिर वह कारणवश होती भी हों तो उसकी सफाई को टालने की अपेक्षा तुरन्त ही सँभाला जाना चाहिए। टालने की आदत को जहाँ थोड़ा-सा भी सहारा मिला कि वह फिर धीरे-धीरे आलस्य प्रमाद में ही विकसित हो चलती है और फिर गन्दगी तथा अव्यवस्था का ही वातावरण बन जाता है। यदि सफाई का कोई समय नियत है तो उसमें नौकर ही सब कुछ करे यह ठीक नहीं घर के अन्य लोगों को भी लगना चाहिए और स्वच्छता एवं सुरुचि का अभ्यासी हर एक को बनना चाहिए। दीवारें धुली हुई, फर्श धुला या

लिपा हुआ, फर्नीचर पर पालिश, कपड़े धुले हुए, बर्तन साफ, पुस्तकें सुसज्जित देखकर यह पहचाना जा सकता है कि इस घर में रहने वाले व्यक्ति सुसंस्कृत हैं और उनकी सुरुचि में सजगता की समुचित मात्रा ठीक अनुपात में है।

स्वच्छता एवं सुव्यवस्था दोनों ही सौन्दर्यप्रियता के द्योतक हैं। बच्चों को सुरुचि-सम्पन्न एवं व्यवस्थाप्रिय बनने का पाठ घर में स्वच्छता तथा सुव्यवस्था के नियमों पर आग्रह रखकर ही सिखाया जा सकता है। वस्तुओं का घर में नियत स्थान हो और प्रत्येक सदस्य इस बात का ध्यान रखे कि उपयोग के उपरान्त वस्तु वहाँ रखी जाय। सामान चाहे जहाँ फेंक देना अव्यवस्था का आरम्भ है। शुरू से ही इस प्रवृत्ति पर रोक लगानी चाहिए। प्रारम्भ में तो शीघ्रता के कारण यह आदत अपनायी जाती है किन्तु धीरे-धीरे यह स्वभाव का अंग बन जाती है। इससे कुल मिलाकर समय भी अधिक लगता है व्यवस्थाक्रम भी भंग होता है। दूसरों के लिये या फिर स्वयं अपने लिये एक झंझट खड़ी होती रहती है।

अव्यवस्था का अभ्यास हो गया तो मौका पड़ने पर कोई काम समय पर शुरू ही नहीं हो पाता। पहले बिखरे सामान को सँभालने में ही जुटना पड़ता है। व्यस्तता से मनःस्थिति भी प्रभावित होती है। जहाँ व्यवस्था है वहाँ चित्त में स्फूर्ति रहती है। कार्य में सुगमता रहती है। व्यवस्थित कमरे और घर की छाप देखने वालों पर अच्छी पड़ती है।

स्कूल से लौट आने के बाद बच्चे अपना बस्ता कहीं फेंकते हैं, जूता कहीं और कपड़े जैसे-तैसे उतारकर पटक देते हैं। उस समय उन्हें हर वस्तु का यथास्थान रखने का मार्गदर्शन दिया जाना आवश्यक है। बड़ों को वैसा प्रत्यक्ष मार्गदर्शन न देकर कुशलता एवं नम्रता का आश्रय लेना होता है। वे जो सामान अस्त-व्यस्त कर दें, उसे उन्हीं के सामने सहेजा जाय। कभी-कभी मौका देखकर सुव्यवस्था की, आवश्यकता की चर्चा की जाये।

जूते नियत स्थान पर पंक्तिबद्ध रखे जाएँ। कपड़े हेंगर या खूँटी पर ही टाँगे जायें। धुलने के योग्य कपड़े भी एक जगह बाँधकर या पेटी में भरकर रखे जायें। धुले कपड़े सुखाने के बाद ठीक से यथास्थान रखे जायें। किताब कागज, कलम, पुस्तक, पेन्सिल बच्चे चाहे जहाँ न बिखेर दें। बड़े लोग अखबार पढ़ने के बाद उसे यों ही न पटक दें। निश्चित स्थान पर रखें। रद्दी कागज रद्दी की टोकरी में ही डाले जायें। कलम रुक जाये तो निब को फर्श दीवाल पर न छिड़का जाय। रद्दी कागज से पोंछ लिया जाय। पान की पीक, थूक को चाहे जहाँ न फेंके-पटकें। बीड़ी-सिगरेट जो पीते हैं वे उसके बचे टुकड़े व राख निश्चित जगह ही रखें-गिरायें। माचिस की बुझी तीली चाहे जहाँ न फेंकी जाय। ये सब बातें हैं तो छोटी-छोटी पर घर के सब लोगों को इनका प्रशिक्षण दिया जाय, तो उनके व्यक्तित्व में व्यवस्थाप्रियता का समावेश होता चला जाता है।

स्वच्छता एवं सुव्यवस्था ही सौन्दर्य दृष्टि का निर्माण करते हैं। व्यक्ति की सुरुचि-सम्पन्नता तथा सुघड़ता व्यवस्थाप्रियता का पता उनकी इन्हीं प्रवृत्तियों के प्रत्यक्ष प्रतिफल को देखकर चलता है। छोटी-छोटी आदतों के तिनके मिलकर ही व्यक्तित्व का घोंसला बनाते हैं। अतः हर परिवार में इन प्रवृत्तियों के प्रशिक्षण पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

पंचशीलों को व्यवहार में लाने का एक ही तरीका

घरों में सामूहिक प्रयत्न यह है कि व्यवस्था सम्बन्धी अभ्यास कराने में, गृह संचालक अपने साथ छोटों को ले कर चले। स्वयं करे और कराये। सही तरीका यही है। दूसरों को निर्देश-परामर्श देना है तो अच्छा, पर आदतें बदलने और ढर्रे को मोड़ने में इतने भर से अभीष्ट उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। आदतें बदलने का तरीका एक ही है जो उपयुक्त है, उसे क्रियात्मक रूप से अपनाने और व्यवहार में उतारने का प्रयत्न किया जाय। अभ्यास के लिए कुछ कार्यक्रम निर्धारित करने पड़ते हैं। बहुत समय तक उन्हें करते रहने से पुरानी आदतें छूट जाती हैं और नये निर्धारण, स्वभाव का अंग बनकर अपने आप सामान्य जीवनक्रम का अंग बन जाते हैं।

घर को स्वच्छ, सुव्यवस्थित एवं सुसज्जित रखने के लिए क्या किया जाय? यह प्रश्न कभी पूछा ही न गया हो तो बात दूसरी है, अन्यथा दृष्टि दौड़ाने पर चप्पे-चप्पे पर बिखरे हुए काम सामने आकर खड़े हो जाते हैं। यह शोध दृष्टि है, जिसे विकसित करने पर अवांछनीयताओं को छोड़ने और उपयोगिताओं को अपनाने के लिए सोचने और करने जैसा सूझने लगता है।

गन्दगी को हटाने का ही एक काम हाथ में लिया जाय तो प्रतीत होगा कि वह इतना अधिक है कि पूरे परिवार को कई दिनों तक उसमें जुटाये रखा जा सकता है। टूट-फूट की मरम्मत के ढेरों कार्य ढूँढ़े जा सकते हैं। सुन्दर और सुसज्जित बनाने के लिए पुताई, रँगई जैसे कामों की एक सूची बन सकती है। इन्हें मिल-जुलकर किया जा सके तो सब में सृजनात्मक प्रवृत्ति पनपेगी और अस्त-व्यस्तता, अस्वच्छता एवं कुरूपता को हटाने की आवश्यकता अनुभव करने का स्वभाव बनेगा। भोजन बनाने, कपड़े धोने जैसे कामों को भी कभी मिल-जुलकर किया जा सकता है। उसमें शिक्षा का उपक्रम भी साथ-साथ चलता रहेगा। सामूहिकता उत्साह बढ़ाती है, यह सर्वविदित है। बड़ों का अनुकरण छोटे करते हैं। अभ्यास न होने और संकोच लगने की दो कठिनाइयाँ आमतौर से प्रगति पथ पर नये चरण बढ़ाने में मुख्य अड़चन हैं। इन्हें घर सँभालने में सामूहिक प्रयासों का कार्यक्रम बनाकर सहज ही दूर किया जा सकता है। नित्य, तीसरे दिन, सप्ताह में एक बार जहाँ जिस प्रकार

बन पड़े, ऐसा निर्धारण हर घर में रहना चाहिए। करते समय या आगे-पीछे उस सँभाल प्रक्रिया के हर पक्ष को बताने का क्रम समय-समय पर जारी रखा जाय और उस कथन के प्रमाण, उदाहरणों को बढ़ाया जाता रहे।

पारिवारिक पंचशीलों में जिन पाँच सत्प्रवृत्तियों का उल्लेख है, उनको परिजनों के स्वभाव का अंग बनाने के लिए ऐसी गतिविधियों को जन्म देना पड़ेगा, जिनके सहारे उन्हें परिजनों के स्वभाव का अंग बनाया जा सके। गृह-संचालकों को समय की कमी का रोना नहीं रोना चाहिए। पैसा कमाना ही मात्र, एक काम नहीं है। उतने भर से परिवार के भरण-पोषण की आवश्यकता तो पूरी हो सकती है, पर संस्कारों का अभिवर्द्धन कहीं नहीं हो सकता यदि समझ काम दे तो यह तथ्य स्वीकार करने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होगी कि गुण, कर्म, स्वभाव के समन्वय से बना हुआ व्यक्तित्व ही मनुष्य की वास्तविक पूँजी है। यह वैभव जिसके पास जितनी मात्रा में होगा वह उसी अनुपात में प्रभावशाली, सम्पत्तिशाली और सौभाग्यशाली बनेगा। अस्तु, सच्चे अर्थों में परिजनों का हित चाहने वालों को उनके लिए साधन, सुविधा जुटाने तक ही सीमित होकर न रह जाना चाहिए वरन् सुसंस्कारों के सम्बन्ध का वह कार्य भी हाथ में लेना चाहिए जो दूसरों से नहीं कराया जा सकता।

परिवार निर्माण की कल्पना-कामना भर करनी हो तो बात दूसरी है, अन्यथा इस प्रयोजन के लिए समय निकालना और साथ रहकर, साथ रखकर व्यावहारिक अभ्यास करना आवश्यक है। इसके लिए उपार्जन के घण्टों में कटौती करने की जरूरत नहीं है। शेष समय भी ऐसा है जो आमतौर से आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसन और गप-सप में गुजरता है। उसे बचाया जा सके तो परिवार निर्माण के लिए परिजनों के साथ और मिलजुलकर काम करने के अभ्यास से उन्हें कुछ से कुछ बनाया जा सकता है, पंचशील की परम्पराओं को घर में क्रियान्वित होते देखने का एक ही तरीका है कि गृह संचालक इसके लिए समय निकालें और उन महान सत्प्रवृत्तियों को सबके स्वभाव का अंग बनाने के लिये सर्तकतापूर्वक संलग्न रहें।

परिवार को सफल बनाने के लिये सच्ची पारिवारिक भावना जरूरी

घर को तपोवन बनाने के लिए गृहपति को स्वयं तपस्वी बनना पड़ता है, ताकि उसके अनुकरण से परिवार के सदस्यगण भी उसी दिशा में बढ़ते चले जायें। परिवार से श्रेष्ठ प्रेरणाएँ एवं आनन्द प्राप्त करने के लिये उसका स्वरूप और वातावरण उत्कृष्ट स्तर का बनाना होता है।

आज यदि परिवार उल्लास, हर्ष, सुख-सौमनस्य, शान्ति-संतोष एवं प्रेरणा-प्रकाश नहीं दे पाते, तो इसका

१.४८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

कारण मात्र यही है कि परिवार के दर्शन एवं प्रयोजन को भुला दिया गया है। सड़ी कमजोर जड़ों वाले पेड़ों के गिरने में क्या आश्चर्य? अतः यदि आज परिवार व्यवस्था विघटित होती चली जा रही है और उससे मनुष्य की सुख-सुविधा में कोई सहायता मिलने के स्थान पर कष्ट, वलेश, असुविधा-असन्तोष एवं अवरोध ही प्राप्त होते हैं, तो इससे परिवार-संस्था ही दोषपूर्ण नहीं सिद्ध हो जाती। मध्ययुगीन धार्मिक ग्रन्थों में रक्तरंजित संघर्ष और निरर्थक कर्मकाण्डों तथा अन्धविश्वासों पर भी उनका आग्रह जिस प्रकार धर्म-तन्त्र को त्याज्य, दूषित नहीं सिद्ध करता, उसी प्रकार परिवार-जीवन में व्याप्त विशृंखलता, दुराग्रह और हताशा उसे त्याज्य नहीं सिद्ध करते।

जब परिवार-व्यवस्था इतनी श्रेष्ठ है और उसमें व्यक्ति निर्माण के सभी आधार सन्निहित हैं, तब आज वह सुसंस्कृत व्यक्तियों का उपहार समाज को देने में क्यों नहीं सिद्ध हो रही है? इसका एक ही कारण है, आज परिवार का जीर्ण-शीर्ण ढाँचा तो है, पर उसकी प्राणशक्ति उसमें से विदा हो चुकी है। जहाँ परिवारों में इस प्राणशक्ति के कुछ अंश शेष हैं, वहाँ उसी मात्रा में वैसे परिणाम भी प्राप्त होते स्पष्ट देखे जा सकते हैं। हमारा शरीर हमें प्रिय लगता है। उसकी हम समस्त देखभाल, साज-सम्याल करते हैं। क्योंकि वह हमारे अन्तःकरण और विवेक के अनुसार कार्य सम्पादित करने का समर्थ माध्यम बनता है। प्राणशक्ति से रहित होने पर यही शरीर दूषित मान लिया जाता है। उसे यथाशीघ्र घर से हटाने का प्रबन्ध किया जाता है। उसका स्पर्श भी अशुद्ध कर देने वाला माना जाता है। अतः प्राणशक्ति से रहित परिवार-व्यवस्था को यदि हेय, तुच्छ, दूषित करने वाली कहा गया तो ऐसा कहने वालों का अभिप्राय समझा जाना चाहिए। जब परिवार प्राण-शक्ति से रहित हों, उसमें व्यक्ति-निर्माण तथा आत्म-परिष्कार की क्षमता-प्रेरणा न रह जाये, अपितु वे मनुष्य के शोषण-सखलन का आधार बन बैठे, तब उन्हें तिरस्कार और उपेक्षा के योग्य कहने में अधिक अनौचित्य नहीं। परिवार की क्षत-विक्षत लाश के प्रति ही यह भाव व्यक्त हुआ माना जाना चाहिए।

परिवार की प्राण-शक्ति है सघन आत्मीयता, प्रखर प्रेम। जहाँ समानता और अपनत्व की भाव-सम्बेदनाएँ नहीं हैं, वहाँ परिवार का निष्प्राण ढाँचा ही समझा जाना चाहिए। भाव-सम्बेदना होगी, तो उसकी व्यवहार में स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी होगी। यह अभिव्यक्ति ही पारिवारिकता है।

परिवार-व्यवस्था के जो भी लाभ गिनाये जाते हैं, वे पारिवारिकता के आधार के विद्यमान होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। जहाँ यह बुनियाद ही नहीं, वहाँ और किसी विस्तार की गुंजाइश कहाँ?

परिवार में जब आत्मीयता, प्रेम की भाव-सम्बेदनाएँ और उत्कृष्टता-श्रेष्ठता की विचारधाराएँ हर सदस्य में भरी रहेंगी, तभी उसको वास्तविक सुख मिल सकेगा। मात्र

साथ-साथ रहना परिवार-भावना का द्योतक नहीं जिनके बीच सुख-दुःख की समान अनुभूति है, सघन सम्बेदना है, सहयोग का उत्साह है, उन्हें ही एक पारिवारिक इकाई कहा जा सकता है। जो परिवार एक इकाई की तरह, एक शरीर की तरह नहीं है, उसे सचमुच परिवार माना जाना भी कठिन है।

प्रगाढ़ आत्मीयता एक ऐसी सुखद सम्बेदना उत्पन्न करती है, जिसका आनन्द ही स्वयं में अमूल्य है। यह भावात्मक सघनता ही जीवन में सरसता उत्पन्न करती है। नीरस जीवन दूधर हो जाता है। परिवार यदि सरसता न उत्पन्न कर सके तो फिर उसकी क्या उपयोगिता? वह सहयोग-सद्भाव बढ़ा सके तो उसकी क्या सार्थकता? जहाँ सम्बेदनाओं का आदान-प्रदान न हो, वहाँ परिवार-भावना नहीं मानी जायेगी।

आदान-प्रदान सदैव समानों में होता है। श्रद्धा-आदर, स्नेह-दुलार, बड़े-छोटे के बीच शील-सौजन्य से समता का भाव खण्डित नहीं होता। समता सच्चे अर्थों में आत्मीयता का ही दूसरा नाम है। दूसरे को भी ठीक अपने जैसा मानना ही समत्व-भावना है। इसकी बाह्य अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है, स्वयं अपने साथ भी तो सदा एक-सा ही व्यवहार आवश्यक नहीं होता। जो आहार-विहार हमें स्वस्थ रहते हुए आवश्यक लगता है, अस्वस्थता की स्थिति में उसका स्वरूप एवं क्रम बदलना पड़ता है। जितना स्वाध्याय सामान्यक्रम में हम अपने लिए नियमित रूप से आवश्यक मानते हैं, विशेष कार्य-व्यवस्था में उस समय में कटौती करनी पड़ जाती है। क्रीड़ा-व्यायाम आदि के बारे में भी यही तथ्य लागू होते हैं। यही बात परिवार के भिन्न भिन्न सदस्यों पर लागू होती है।

परिवार में समता का भाव तो रहना चाहिए, पर उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिसकी क्षमता जिसे करने की नहीं है वह भी उसे बराबरी के आधार पर सौंप दिया जाय। बच्चे को समान मानने का अर्थ उसे तिजोरी की चाबी या पुस्तकालय की अकेले देख-रेख सौंप देना नहीं। इससे तो वह अपना और परिवार का अनिष्ट ही करेगा। छोटे भाई को अपने समान मानकर यदि उस पर परिवार का भार उतना ही सौंप दिया गया, तो उसका निर्वाह सम्भव न हो सकेगा। वृद्ध पिता के व्यक्तित्व के प्रति समत्वभाव का अर्थ यदि उनसे अभी भी वैसे ही उपार्जन की अपेक्षा रखना हुआ, तो यह अन्याय ही सिद्ध होगा। इसलिये बाहरी व्यवहार में भिन्नता से समता-आत्मीयता की भावना का कोई अनिवार्य विरोध नहीं है।

आत्मीयता का व्यावहारिक रूप यह है कि विषमता-वर्द्धक, क्रूरता पर आश्रित रूढ़ियों को समाप्त किया जाय। स्त्रियों को पददलित और वृद्धों को उपेक्षित तथा सन्तान को स्वेच्छाचारी बना रखने वाली व्यवस्थाएँ, मान्यताएँ त्याग दी जाएँ तथा प्रत्येक के प्रति उचित आदर-स्नेह का भाव रखा जाए। यह निरीक्षण करते रहा जाय कि परिवार

के प्रत्येक स्त्री-पुरुष, बालक की शारीरिक, मानसिक-बौद्धिक उन्नति का समुचित अवसर मिल रहा है या नहीं ? जीवन-विकास एवं भविष्य-निर्माण के स्वाभाविक अधिकार से कोई वंचित तो नहीं हो रहा है ? या उसे दूसरों की तुलना में बहुत कम साधन तथा अवसर तो नहीं मिल रहे हैं ? किसी को अनावश्यक सुविधा मिल रही हो और किसी पर अनुचित दबाव पड़ रहा हो, ऐसी स्थिति तो नहीं है । जहाँ यह ध्यान रखा जा रहा हो, वहीं पारिवारिक-भावना है । जहाँ लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को-स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को-सम्पत्ति न कमा रहे लोगों से उपाजर्जनीय लोगों को अधिक सुविधाएँ, अधिक सम्मान, खान-पान, वस्त्र, विहार, मनोरंजन के अधिक साधन तथा अवसर दिये जा रहे हों, वहाँ पारिवारिक भावना नहीं है । वहाँ तो अन्यायपूर्ण समझौता मात्र है । 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली मान्यता को पारिवारिकता के आवरण में उचित नहीं ठहराया जा सकता । भले ही कमजोर-दबे लोग मुँह न खोलें, पर उनका मन ऐसे अन्याय, अनीति एवं विषमता के विरुद्ध सदा विद्रोह ही करता रहेगा । अपनत्व का उल्लास ऐसे परिवारों में कभी भी स्थायी नहीं देखा-पाया जा सकता ।

कई गरीब घरों में स्वर्गीय प्रेम एवं आनन्द का वातावरण पाया जाता है । जबकि अनेक अमीर घरों में कलह, दुराव, अलगाव, अकेलेपन से लोग पीड़ित देखे जाते हैं । यदि व्यवहार का सम्बन्ध आमदनी से होता तो यह स्थिति नहीं देखने को आती । आत्मीयता के लिये आर्थिक समृद्धि नहीं, आन्तरिक समृद्धि की आवश्यकता होती है । अपनत्व, प्रसन्नता तथा मधुरता का स्वभाव यदि विकसित हो जाय, तो आर्थिक संकट उसे समाप्त नहीं कर पाते । सादगी, सात्विकता और सम्वेदना भरी सघनता, आत्मीयता विद्यमान हो तो कम आमदनी में भी आनन्द-उल्लास में कमी नहीं आती । क्योंकि वहाँ सच्ची पारिवारिक भावना मनुष्य को शक्ति देती रहती है । यही पारिवारिकता की उपलब्धि है ।

पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह

परिवार के पालने में आमतौर से यह दृष्टिकोण रहता है कि किसके लिए क्या सुविधा-साधन जुटाये गये ? स्त्री-बच्चों के लिए भोजन, वस्त्र एवं मनोविनोद के विविध पदार्थों एवं परिस्थितियों के लिए चेष्टा चलती रहती है । इसमें जितनी सफलता मिली, उतना ही सन्तोष कर लिया जाता है कि हमने परिवार पालन का आवश्यक कर्तव्य-पालन कर लिया है ।

विचार करने पर यह दृष्टिकोण अधूरा और ओछा ही सिद्ध होता है । सुविधा साधन उतनी ही मात्रा में जुटाये जाने चाहिए जितने कि निर्वाह की आवश्यक जरूरतें पूरी

करने के लिए अभीष्ट हैं । विलासिता और अहंकारिता का प्रदर्शन करने के लिए जो भी साधन जुटाये जाते हैं वे तात्कालिक प्रसन्नता भले ही दे सकें, उनके परिणाम अन्ततः बुरे ही होते हैं ।

विलासिता के साधनों का उपभोग करने की आदत यदि छोटेपन से ही पड़ जाय तो अनावश्यक खर्च भी आवश्यक जैसे प्रतीत होने लगेंगे और उनकी पूर्ति न हो सकने पर निरन्तर दुःख बना रहेगा । जीवन की पगडण्डी बड़ी ऊबड़-खाबड़ है । कहा नहीं जा सकता है कि कब किसे किस स्थिति का सामना करना पड़े । आवश्यक नहीं कि जो सम्पन्नता आज है वह भविष्य में भी बनी ही रहेगी । जो आज की आमदनी है वह भविष्य में बच्चों को भी उपलब्ध होती ही रहेगी । यदि घटिया परिस्थितियाँ सामने आईं और कम खर्च में गुजारा करना पड़ा तो वे विलासी आदतें जो अभिभावकों ने लाड़-चाव में लगा दी थीं समस्त जीवनकाल में दुःखदायी रहेंगी । अभावग्रस्तता यदि सहन न हो सकी तो वे अपराधी रीति-नीति अपना लेंगे और अपना लोक-परलोक दोनों की बिगाड़ेंगे । इन दूरगामी परिणामों पर जो ध्यान नहीं दे सकते वे ही अपने परिवार को अनावश्यक विलासी साधनों का अभ्यस्त बनाते चले जाते हैं । वे नहीं जानते कि यह लाड़ चाव प्रकारान्तर से परिवार के सदस्यों के साथ शत्रुता बरतने जैसा व्यवहार ही है ।

परिवार के प्रत्येक सदस्य को सुसंस्कारी बनाना गृहपति का सबसे महत्वपूर्ण और सबसे आवश्यक कर्तव्य है । सदगुणों को स्वभाव का अंग बनाया जा सके-कर्मनिष्ठा में उत्साह स्थिर रह सके ऐसे अभ्यास आरम्भ से ही कराये जाने चाहिए । परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न करनी चाहिए जिनमें रहकर बालक मानवोचित सदगुणों की शिक्षा प्राप्त कर सके और जीवन संग्राम में तैयारी के साथ उतर सके । परिजनों में ऐसी कर्मठता और साहसिकता उत्पन्न करने के लिए जिन अभिभावकों ने प्रबल प्रयत्न किये उन्हीं को सच्चे अर्थों में परिवार का पालनकर्ता कह सकते हैं । बुरी आदतों का अभ्यासी बनाकर जिन्दगी भर कैटीली झाड़ियों में भटकने के लिए जिन्होंने अपनी सन्तान को असहाय छोड़ दिया उन्होंने प्रकारान्तर से शत्रुता ही बरती । बालकों को विलासिता, अहंकारिता और उच्छृंखलता बरतने के खुले अवसर देना वस्तुतः गृह संचालक के पवित्र कर्तव्य से सर्वथा विपरीत स्तर की काम है ।

परिवार के सदस्यों की सच्ची सेवा उन्हें सदगुणी और स्वावलम्बी बनाने में है । बाप-दादों की छोड़ी सम्पदा से ब्याज भाड़े पर गुजारा करने वाली सन्तान भले ही आराम के साथ दिन काट ले पर उसकी प्रतिभा का स्तर लुंज-पुंज ही रहेगा । जिसने कठोर कर्मक्षेत्र में उतरकर भुजबल और मनोबल को चरितार्थ करने का अवसर नहीं पाया उसे एक प्रकार से अपंग ही कहना चाहिए । पूर्वजों की कमाई पर गुजर करने वाली सन्तान को पराक्रम की कसौटी पर कसते हुए अपंग ही घोषित करना पड़ेगा ।

१.५० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

चिड़िया घोंसले में थोड़ा मजबूत होने वाले बच्चे को उड़ना सिखाने के लिए घोंसले से नीचे धकेलती है। बच्चा डरता है, हिचकता है, तो भी वह लाड़-प्यार की भावुकता भुलाकर उसे धकेल ही देती है। नीचे गिरते हुए बच्चा पंख खोलता है। अभ्यास न होने से वह लड़खड़ाता है तो चिड़िया सहारा देती है। लगातार साथ रहकर उसे उड़ने का अभ्यस्त बना देती है। वह जानती है कि जन्म देना या पाल देना ही नहीं बच्चे को स्वावलम्बी बनाना भी आवश्यक है। यह दृष्टिकोण प्रत्येक अभिभावक का रहना चाहिए। ब्याज-भाड़े की कमाई पर परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता पर गुजर करने की बात घर के किसी सदस्य के मन पर नहीं बैठने देनी चाहिए। सबको यह सोचने देना चाहिए कि उन्हें अपनी जिन्दगी का भार स्वयं वहन करना है और अभिभावकों की सहायता से इतना भी अवसर प्राप्त करना है कि स्वावलम्बन की समस्या का हल अपने पराक्रम से ही पूरा किया जा सके।

इस प्रकार की समर्थता प्राप्त करने का उत्साह न केवल बालकों, किशोरों और युवकों में उत्पन्न किया जाना चाहिए वरन् महिलाओं में भी वैसी ही उमंग पैदा की जानी चाहिए। उन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे आड़े समय स्वावलम्बी जीवन जी सकें। आवश्यक नहीं कि यह उपार्जन मुसीबत के समय ही किया जाय। सुविधासम्पन्न स्थिति में भी उत्पादक, पराक्रम करना बड़े सौभाग्य एवं गौरव की बात है इससे दबी हुई प्रतिभा के अनेक परत उभरते हैं और निठल्ले दिन काटने वालों की तुलना में वह पुरुषार्थी व्यक्ति हर दृष्टि से सुयोग्य एवं समर्थ बनता चला जाता है। इस प्रकार के अवसर देना वस्तुतः सुविधा-साधनों से लाद देने की अपेक्षा हजार गुना अधिक श्रेयस्कर है।

कई व्यक्ति अपनी बहु-बेटियों को गुड़िया बनाकर रखते हैं और उन्हें कोमल परमुखापेक्षी बनाये रहते हैं। उनके लिये आरामतलबी के साधन जुटाते हैं और विलासिता के उपकरण इकट्ठे करते हैं। समझा जाता है कि उन्हें यह सुखद सौभाग्य मिल रहा है पर वस्तुतः यह सर्वदा उल्टी बात है। परावलम्बी अनुदान पाकर सम्भव है किसी को शारीरिक सुविधा या मानसिक प्रसन्नता मिलती भी रहे पर आत्मा का पतन ही होता रहेगा। जब तक किसी को यह अनुभव न हो कि वह आत्मनिर्भर है। समर्थ एवं सुविकसित है, तब तक उस गौरव की अनुभूति नहीं हो सकती जो मानवी अन्तःकरण को सन्तोष देने की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है।

न केवल आर्थिक क्षेत्र में वरन् ज्ञान, अनुभव के क्षेत्र में भी परिवार के हर सदस्य को इस योग्य बनाया जाना चाहिए कि वह सामने आने वाली प्रत्येक समस्या का सही

स्वरूप समझने और उन्हें हल करने में अपनी बुद्धिमत्ता के सहारे ही समर्थ हो सके। विद्या, अध्ययन, विचार, विनिमय, अनुभव एवं विविध विषयों की विस्तृत जानकारी के अभाव में मनुष्य की समझ कूपमण्डूक जैसी बनी रहती है। स्वतन्त्र चिन्तन की नीर-क्षीर विवेकी उसमें क्षमता ही नहीं होती। जो पक्ष सुझा दिया जाता है उसी की तोता रटन्त चलती रहती है। गुण-अवगुण के औचित्य-अनौचित्य की उभयपक्षीय चेतना जिसके मस्तिष्क में रहती है वही यथार्थवादी निर्माण पर पहुँच सकता है और उलझनें सुलझा सकता है। अस्तु, यह आवश्यक है कि परिवार के हर सदस्य को इतना विचारशील बनाने के लिये अध्ययन, विचार-विनिमय एवं तर्क-वितर्क कर सकने योग्य मस्तिष्क का निर्णय करने में सहायता दी जाय। जीवन के विस्तृत क्षेत्र में आत्मरक्षा की प्रगति की दृष्टि से ऐसी विचारकता नितान्त आवश्यक है। परिवार के सदस्यों को यदि ऐसी विचारशीलता उत्पन्न करने के अवसर दिये गये हैं तो समझना चाहिए कि गृहपति ने अपने उत्तरदायित्वों में से एक अति महत्वपूर्ण पक्ष का ठीक तरह निर्वाह कर दिया।

प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ही मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है। धन-दौलत जैसे साधनों में स्थिरता तनिक भी नहीं। यदि हो भी तो उतने भर से पेट पालना ही सम्भव है। मनुष्य पेट तक सीमित नहीं। उससे आगे भी उसमें बहुत कुछ है। इस 'बहुत कुछ' को विकसित करने के लिए प्रतिभा को विकासोन्मुख किया जाना चाहिए। कहना न होगा कि प्रतिभा सद्गुणों के समन्वय का ही नाम है। आत्मविश्वास को ही प्रतिभा के रूप में प्रकाशवान देखा जा सकता है। आत्मनिरीक्षण, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास के चार पायों पर आत्मविश्वास अथवा आत्मबल का मचान खड़ा होता है। ऐंठ, अकड़, धूर्तता या उच्छृंखल दुस्साहस के ओछे तरीके अपनाने वाले उद्दण्ड व्यक्ति भी कई बार अपने को प्रतिभाशाली मानने लगते हैं, पर बात वैसी ही नहीं। धैर्य, साहस, संयम, सदाचार, व्यवस्था, कर्तव्यनिष्ठा जैसे सद्गुणों की मिली-जुली धारा ही प्रतिभा बनती है और उसी से मनुष्य प्रभावशाली बनता है। यही प्रभाव दूसरों पर अपनी छाप छोड़ता है और उसी के आधार पर प्रगति के पथ पर बढ़ चलने का पराक्रम उत्पन्न होता है।

उत्तराधिकारियों को सम्पत्तिवान छोड़ कर मरना वस्तुतः उनके लिए स्नेह नहीं वरन् द्वेष भरा आचरण है। उससे उनकी उपार्जन प्रतिभा घटती है और उस प्रयास से सूझबूझ में तीक्ष्णता आने का अवसर नष्ट होता है। स्पष्ट है कि बिना परिश्रम के उपलब्ध हराम की कमाई का उपभोग करने वालों के पीछे आलस्य, प्रमाद जैसी जड़ता से लेकर व्यसन और अपव्यय जैसी अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ पीछे

पड़ती है। व्यक्तित्व जंग लगे निकम्मे लोहे की तरह दिन-दिन गलता चला जाता है। आराम से दिन काटना यों सौभाग्य समझा जाता है पर है वह परले सिरे का दुर्भाग्य। जिसमें संघर्ष न हो, जिसमें पराक्रम और पुरुषार्थ को प्रखर बनाने वाले अवरोध नहीं, भला उस जीवन में भी कोई रस हो सकता है ?

हमें अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य को जीवन संग्राम में बढ़चढ़ कर हाथ दिखा सकने योग्य पराक्रमी योद्धा बनाना चाहिए। इस प्रकार की क्षमता कठिनाइयों से जूझने और स्वावलम्बी रीति-नीति अपनाने से ही विकसित हो सकती है। वस्तुतः यह प्रतिभा ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसी के सहारे गई-गुजरी परिस्थितियों में उत्पन्न हुए व्यक्ति क्रमशः ऊँचे उठे और आगे बढ़े हैं। महामानवों के, प्रगतिशील लोगों के जीवनक्रम में यह तथ्य सर्वत्र उभरा पाया जायगा कि उन्हें संघर्ष में भारी रुचि रही है और परिस्थितियों से जमकर जूझने में उन्होंने प्रबल पुरुषार्थ का परिचय दिया है। दुस्साहस का ही दूसरा नाम उत्कर्ष है। जमीन का पेट चीरकर जब बीज अपनी हस्ती से खिलवाड़ करता हुआ अंकुर बनकर ऊपर उभरता है। तभी उसके वृक्ष बन सकने की सम्भावना मूर्तिमान होती है। विकासोन्मुख जीवन प्रक्रिया भी इसी प्रकार अंकुरित एवं विकसित होती रही है।

सदाचरण की ही तरह प्रबल पुरुषार्थ में और करीने की सुन्दर सुव्यवस्थित जिन्दगी में भी समुचित निष्ठा होनी चाहिए तभी कोई व्यक्तित्व समर्थ और सुविकसित हो सकेगा। परिवार के प्रत्येक सदस्य की मनःस्थिति में इन्हीं सदगुणों के बीज बोये जाने चाहिए। इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि उन गुणों से अपने को अभ्यस्त करें और आये दिन ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते रहें, जिनका अनुकरण करके घर के सभी सदस्यों को उसी मार्ग का अनुगमन उसी क्रिया का अनुकरण करने की इच्छा उत्पन्न होती रहे। हर सदस्य को उसकी स्थिति के अनुरूप कर्तव्य सोचने चाहिए और उत्तरदायित्व। उनके निर्वाह में जहाँ वे चूकते हों, लड़खड़ाते हों वहाँ आगे बढ़कर उन्हें सहायता देनी चाहिए। यह कार्य बिना झिड़के बिना खीजे शान्त-चित्त और स्नेहासिक्त मनःस्थिति के किया जाय तभी सफल हो सकता है।

विलासिता, आरामतलबी और फिजूलखर्ची की आदत घर में किसी को भी नहीं पड़ने देनी चाहिए। चुस्ती और स्फूर्ति स्वभाव का अंग बनती चली जाय। कठिनाइयों से जूझने की हिम्मत बढ़ती जाय तो समझना चाहिए कि उत्तराधिकारी को ऐसी सम्पदा मिल गई जिसके आधार पर वे प्रगतिशील जीवन जी सकेंगे। हँसने-हँसाने को हलके-फूलके रहने की, स्नेह-सद्भाव की, कठोर परिश्रम करने और व्यस्त रहने की आदत अपने घर के लोगों को देकर जो अभिभावक विदा हुए समझना चाहिए उन्होंने अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह सही रीति से कर दिया।

परिवार का सुनियोजन, गठन, उत्कर्ष

परिवार गठन का लाभ और श्रेय तभी है जब उस परिकर में व्यावहारिक सुव्यवस्था और भावनात्मक सुसंस्कारिता की निरन्तर अभिवृद्धि होती चले। इन दिनों सब कुछ धन के आधार पर नापा और आँका जाता है, जिसके पास जितनी अधिक समृद्धि है वह उतना ही लोगों की आँखों में चमत्कार बनकर दीखता है, साथ ही सराहा भी जाता है। इसी कारण लोग अपने को अमीर, दिखाने को सुविधा-साधनों से लदा हुआ दीखने का प्रयत्न करते हैं, इस हेतु अधिक धन की आवश्यकता होती है। लोग उसी को सही-गलत तरीके से कमाने में लगे रहते हैं और उससे निजी प्रयोजन तथा परिवार के सुविधा-साधन बढ़ाने में लगे रहते हैं। समर्थों को अपनी सफलता इसी में दीख पड़ती है, पर वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। किसी परिवार की वास्तविक प्रतिष्ठा उसकी शालीनता और सुसंस्कारिता पर ही निर्भर है। यदि उसमें कमी पड़े तो समझना चाहिए कि बढ़ा हुआ वैभव और ठाठ-बाट उसका उपभोग करने वालों के लिए पतन-पराभव का कारण बनेगा।

अमीरी प्रदर्शित करने वाला ठाठ-बाट क्रमशः अधिक बड़ी शान-शौकत माँगने लगता है, अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। ईमानदारी और परिश्रम से तो उस सीमा तक ही कमाया जा सकता है, जिसमें औसत नागरिक स्तर का निर्वाह हो सके। निजी वैभव जमाने के लिए तो बढ़-चढ़कर हाथ-पैर मारने पड़ते हैं और उसके लिए उचित-अनुचित का, न्याय-अन्याय का विचार छोड़ना पड़ता है। वैभव के पीछे प्रायः उपार्जन में नीतिमत्ता नाम-मात्र की भी जुड़ी नहीं रह पाती। कोई अधिक कमाने भी लगे तो उस बचत को सत्प्रवृत्ति के सम्बर्द्धन में लगाने की उत्कण्ठा भी नहीं रहती। ऐसी मनःस्थिति में विलास-वैभव के प्रदर्शन के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती, यदि परिवार को ठाठ-बाट के आधार पर बड़ा बनाने की सोच रही हो तो उसमें मानवी गरिमा के अनुरूप शालीनता का निर्वाह न बन पड़ेगा और दिशा प्रवाह नैतिक दृष्टि से पतन-पराभव की दिशा में ही बह रहा होगा। यह स्थिति जहाँ भी बन रही होगी वहाँ दुःखदायी परिणाम ही उत्पन्न होंगे, परिवार परिकर में भी इस दुष्प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए।

परिवार क्षेत्र में पनपने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ आरम्भ में छोटे क्षेत्र की छोटी घटनाएँ प्रतीत हो सकती हैं, पर वे पोषण प्राप्त करती रहने पर क्रमशः बढ़ती और फलती-फूलती रहती हैं, परिपक्व होने पर वे घर के हर सदस्य के स्वभाव का एक अंग बन जाती हैं और वह असामाजिक स्तर का बन जाता है, भले ही वह पद या वैभव कितने ही ऊँचे स्तर का प्राप्त क्यों न कर ले। मनुष्य का सर्वतोमूर्खी

१.५२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

विकास उसके स्वभाव में सुनियोजित की हुई सत्प्रवृत्तियों के आधार पर ही सम्भव होता है। इस तथ्य को समझ लेने के उपरान्त यह एक मार्ग सूझ पड़ता है कि गृह संचालकों का प्रमुख प्रयास इस केन्द्र पर केन्द्रित हो कि उस छोटी-सी परिधि में सत्प्रवृत्तियों को अधिकाधिक प्रश्रय मिले। सभ्यता और शिष्टता, सज्जनता से परिवार के हर सदस्य को अभ्यस्त बनाया जाय। सत्प्रवृत्तियाँ अनेक हैं, पर व्यावहारिक जीवन में पंचशीलों को ही प्रतिष्ठा प्राप्त है। श्रमशीलता, मितव्ययता, शिष्टता, सुव्यवस्था और सहकारिता घर के क्रिया-कलापों में परिवार के सदस्यों में इन पंचशीलों का समावेश प्रत्यक्ष दीख पड़ना चाहिए। हर सदस्य को हर क्रिया-कलाप में इन सद्गुणों की प्रत्यक्ष झलक मिलनी भी चाहिए।

भावना क्षेत्र के भी चार धर्म कर्तव्य हैं-समझदारी, ईमानदारी, बहादुरी, जिम्मेदारी। इन चारों को आदर्शवादी के साथ समन्वित किया जाता है, पंचशील और चार सत्य मिलाकर नौ होते हैं, इनको नवर्तलों की उपमा दी जा सकती है। सौरमण्डल नौ ग्रहों का समुच्चय है। गायत्री मन्त्र के नौ शब्दों में, यज्ञोपवीत की नौ लड़ों में इन्हीं आदर्शवादी अवधारणाओं का समावेश है। सत्प्रवृत्तियों के मणि-मुक्तकों से विनिर्मित इस नौ लाख मूल्य वाले हार के समतुल्य वैभव को उपलब्ध कराने का प्रयत्न करना चाहिए, यह सब कहते-सुनते रहने से ही नहीं बन पड़ता। अन्य साथी उन सत्प्रवृत्तियों को अपनाने लगे, इसके लिए यह आवश्यक है कि परिवार के वरिष्ठ सूत्र-संचालक अपनी निजी जीवन में इन्हें इस प्रकार समाविष्ट करें कि वे दूसरों को भी प्रत्यक्ष चरितार्थ होती हुई दीख पड़े। इतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि सुसंस्कारिता प्रशिक्षण का आधा पथ पूरा हुआ, जो आधा और शेष बच जाता है, उसे एक आँख दुलार की, एक आँख सुधार की रखकर करें। साथियों को औचित्य अपनाने के लिए सहमत किया जाना चाहिए, सभी कलाकार उपलब्ध उपकरणों और साधनों का सही प्रयोग करके सृजन की बहुमूल्य कलाकृति बनाते हैं। यह निर्माण और सृजन कार्य परिवार परिकर में चलते रहना चाहिए, इस सन्दर्भ में आवश्यक अनुशासन बरते जाने की प्रथा-परम्परा हर परिवार में चलनी चाहिए और उसमें सहयोग देने के लिए सभी सदस्यों को मानस बनाने और सहयोग देने के लिए तत्पर किया जाना चाहिए। सहकारी संस्था के रूप में किसी परिवार को इसी आधार पर समुन्नत बनाया जा सकता है और उसके सदस्यों में से प्रत्येक को इसी आधार पर नररत्न बनने का सुयोग्य-सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

व्यक्ति और समाज की भलाई इसी में है कि व्यवहार में सत्प्रवृत्तियों का अधिकाधिक समावेश हो और अवांछनीयता के उन्मूलन का प्रयास निरन्तर चलता रहे। यह दोनों कार्य परिवार क्षेत्र से आरम्भ करते हुए सभी साथियों की सेवा-साधना की जा सकती है। परिवार निर्माण के साथ व्यक्ति को भी अपने व्यक्तित्व को

अधिकाधिक सुसंस्कृत बनाने का अवसर मिलता है, समाज की सेवा भी इसी से आरम्भ की जाय तो ठीक है। अपने परिवार के सदस्य यदि सद्गुणी बन सके तो उनके माध्यम से चलने वाली अगली वंश बेल भी उसी ढाँचे में ढलेगी। विकसित व्यक्तित्व का अपना प्रभाव क्षेत्र होता है। दुष्टता इसी प्रकार आतंक का वातावरण बनाती है, उसी प्रकार सज्जनता से भी एक सम्पर्क क्षेत्र प्रभावित होता है और उसकी सराहनीय चर्चा जहाँ तक पहुँचती है वैसी ही अनुकरण भावना पनपती जाती है। सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों ही अपने-अपने स्तर पर वातावरण को प्रभावित करती हैं। रावण-दुर्योधन आदि का समूचा परिवार एवं सम्पर्क क्षेत्र उसी प्रकार के अनाचार का पक्षधर बन गया था। सज्जनता में हरिश्चन्द्र, जनक आदि सम्पन्नों और ऋषि परिकर के लोकसेवियों वाले परिवार इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णिम अक्षरों से अंकित होते रहे हैं।

अवांछनीयताओं का उन्मूलन भी लोकसेवा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। समाज के प्रचलन से व्यक्ति और परिवार प्रभावित होते हैं, पर साथ ही यह भी सच है कि मनस्वी प्रतिभाएँ किसी सत्प्रयोजन को स्वयं अपनाकर अपने प्रभाव क्षेत्र में सुधारवादी हलचलें उत्पन्न कर सकती हैं। कुप्रचलों का विरोध करने के लिए यदि कहीं अन्यत्र मोर्चा लगाने की परिस्थितियाँ न हों तो उस कार्य को अपने प्रभाव क्षेत्र परिवार से तो आरम्भ किया ही जा सकता है। सेनापति का अनुशासन बटालियन के सैनिक मानते ही हैं, वैसी ही परिस्थितियाँ अपने अधिकार क्षेत्र में क्यों नहीं बनाई जा सकती? असहयोग, विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया बड़े न सही छोटे रूप में तो छोटे स्तर पर अपने घर में भी चल सकती है।

प्रयोग-प्रशिक्षण, बीजारोपण-अभिवर्द्धन एवं सुधार परिष्कार के लिए परिवार से बढ़कर और कोई प्रयोगशाला नहीं हो सकती। शर्त एक ही है कि उसकी व्यवस्था सुनियोजित ढंग से की जाय। घुणाक्षर न्याय से, घुनकीड़ा बिना किसी योजना के किधर भी बढ़ता चलता है। संयोगवश उस क्रिया में किसी भाषा के कोई अक्षर भी बन जाते हैं, यह आकस्मिक संयोग भर है। योजनाबद्ध रूप से किया गया प्रयत्न नहीं। इसी प्रकार अधिकांश लोग गृहस्थी बसा लेते हैं, किसी परिवार के अंग बन जाते हैं, पर उसके पीछे कोई सुनियोजित योजना न होने से उसका स्वरूप और भविष्य किसी भी प्रकार का कुछ बन जाता है। सदस्यों में से कुछ भले निकलते हैं कुछ बुरे, कुछ कर्तव्य पालते हैं, कुछ बने को बिगाड़ते हैं। यह बिना सोची, बिना तैयारी की, बिना लक्ष्य की क्रिया-प्रतिक्रिया है। विचारशीलों को परिवार संस्था के साथ ऐसी उपेक्षा, ऐसी दिल्लगी नहीं करनी चाहिए।

उद्यान लगाने वाले माली को पौधों की सिंचाई, निराई, गुड़ाई, बराबर करनी होती है। खरपतवार उखाड़ने, रखवाली में चौकस रहने की जागरूकता अपनानी पड़ती है। ठीक यही बात परिवार के सम्बन्ध में भी है, उसके

हर सदस्य की आदतों, अभिरुचि, योग्यता को ध्यान में रखते हुए उसे आगे बढ़ाने का संरंजाम जुटाना होता है। जो अवांछनीय है उसे सुधारने, बदलने, उखाड़ने के लिए दूरदर्शिता भरे साहस का परिचय देना होता है, प्रगति का यही मार्ग है।

अवांछनीयताओं को समाज से हटाने के लिए बड़े प्रयास और साहस की आवश्यकता होती है, पर उस प्रयोजन को परिवार क्षेत्र में आसानी से सम्पन्न किया जा सकता है। आलस्य-प्रमाद में समय गँवाना, दुर्व्यसनों का शिकार होना, कुरीतियों को अपनाये रहना जैसी अवांछनीयताएँ समाज से प्रचलित पाई जाती हैं, उन्हें घटाने और हटाने का मन होता है, पर वह अपनी इच्छा शक्ति के अभाव में बन नहीं पड़ता। दूसरों से कहा भर जा सकता है, मानना, न मानना उनकी मर्जी पर निर्भर रहता है किन्तु यह कठिनाई उतनी अधिक मात्रा में परिवार क्षेत्र में नहीं होती। घर के बड़े-वरिष्ठों का व्यक्तिगत प्रभाव और दबाव न्यूनाधिक मात्रा में सभी सदस्यों पर होता है, वे समझाने या धमकाने से मानने भी लगते हैं। बताये हुए मार्ग पर चलने में बहुत आनाकानी नहीं करते। नशेबाजी, फैशनबाजी, आवारागर्दी, गन्दगी, हरामखोरी जैसी बुरी आदतों से बचाने के लिए हर सदस्य को उसकी मनःस्थिति के अनुरूप समझाने-बुझाने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज की प्रचलित दुष्प्रवृत्तियाँ अपने परिवार को प्रभावित न करें, इसके लिए सभी में दूरदर्शी विवेकशीलता जगाने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि वे अन्धपरम्परा न अपनाकर जो उचित है उसी को स्वीकार करने का मन बनायें। बाल-विवाह, कन्या विक्रय, वर विक्रय, मृतकभोज, भिक्षा व्यवसाय, पर्दाप्रथा, जातिगत ऊँच-नीच जैसी प्रथाएँ प्रचलित पाई जाती हैं। इनका अन्धानुकरण करने के लिए अपनों में से किसी का मानस नहीं बनने देना चाहिए। परिवार की सदस्य संख्या बढ़ने पर भी बिखराव उत्पन्न होता है और दरिद्रता-विग्रह जैसे अनेक कारण घुसपैठ करते हैं। औसत नागरिक स्तर से अधिक ऊँचा रहन-सहन बनाने, फिजूलखर्ची के लिए हाथ खुला रखने पर भी अनेकानेक बुराइयाँ उपजती हैं और शालीनता को डगमगा देने की स्थिति उत्पन्न करती हैं।

परिजनों को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी बनाना कर्तव्य समझा जाय। किसी को भी असभ्य, अनगढ़ और परावलम्बी न रहने दिया जाय। कायरता, कृपणता भी अभिशाप हैं, किसी को भी अनावश्यक रूप से दम्बू-संकोची नहीं रहने देना चाहिए। शिष्टता और नम्रता को सुस्थिर रखते हुए इतना साहस हर किसी में होना चाहिए कि अनौचित्य को मुखर होकर कहा जा सके। नीति-निष्ठा बनाये रखने के लिए यह एक उपयुक्त आवश्यकता है।

हाथ के लिए काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर उसे समग्र तत्परता और तन्मयता के साथ करना, जिम्मेदारी

निभाना आना चाहिए। कौन कितना कर्तव्यपरायण है? यह उसके क्रिया-कलाप के साथ जुड़े हुए कौशल को देखकर ही समझा जा सकता है, सम्मान और सन्तोष प्राप्त करने का यही तरीका है। ऊँचे उठाना, आगे बढ़ाना भी इन्हीं आधारों को अपनाने से सम्भव होता है। इन तथ्यों को उन सभी को तो समझाना-हृदयंगम कराया ही जाना चाहिए जो अपनों की परिधि में आते हैं। आदर्शों की परम्परा भी चलती है और वह वातावरण में सद्भावना भरने का प्रयोजन पूरा करती है।

परिवार एक साधना-तपोवन

कौशल को निखारने के लिए कार्यक्षेत्र चाहिए। वैज्ञानिकों को प्रयोगशाला की, पहलवानों को व्यायामशाला की, डॉक्टरों को अस्पतालों की, अध्यापकों को पाठशाला की, शिल्पी को कारखाने की आवश्यकता पड़ती है। कौशल का अभ्यास और निखार इन्हीं कार्यक्षेत्रों में होता है। यदि यह साधन न हों तो एकाकी प्रयत्न में ही अपने पुरुषार्थ को प्रकट एवं विकसित कर सकना किसी के लिए भी सम्भव न होगा।

साधना का उद्देश्य है आत्म-परिष्कार। इसी प्रयोजन के लिए अध्यात्म विज्ञान द्वारा प्रतिपादित विभिन्न योग साधनों का प्रयोग होता है। इसी के लिए धर्म-धारणा का, संस्कृति और तत्त्वज्ञान का विशाल काय-कलेवर खड़ा किया गया है। ईश्वर अनुग्रह से लेकर सिद्धि-चमत्कारों तक की अनेकानेक विभूतियाँ जिस आधार पर उपलब्ध होती हैं वह पात्रता है। पात्रता उत्कृष्टता एवं प्रखरता के आधार पर विनिर्मित होती हैं। उसी के लिए किये गये विभिन्न प्रयास साधना कहलाते हैं। साधना अर्थात् जीवन साधना। जीवन साधना अर्थात् उत्कृष्ट-चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व का स्वभाव-अभ्यास। भौतिक एवं आत्मिक सफलताएँ उसी प्रगति पर आधारित हैं भौतिक समृद्धि की तुलना में आत्मिक प्रगति को कहीं अधिक श्रेयस्कर माना गया है क्योंकि उससे अंतरंग समर्थता-बहिरंग सफलता एवं दैवी अनुकम्पा के तीनों ही प्रमुख प्रयोजन पूरे होते हैं। जबकि सम्पन्नता मात्र सुविधा साधन जुटाती है। साधना को परम पुरुषार्थ माना गया है।

साधना-अध्यात्म साधना-जीवन साधना का अभ्यास कहाँ किया जाय इसके लिए दो स्थानों की आवश्यकता है एक पूजा कक्ष, दूसरा प्रयोग क्षेत्र। प्रयोग क्षेत्र की दृष्टि से परिवार ही सर्वसुलभ है। व्यायामशाला में जो सीखा है उसे दंगल में प्रयुक्त करना पड़ता है। स्कूलों में जो पढ़ा है वह दफ्तर में व्यवहृत होता है। मेडीकल कॉलेज की पढाई अस्पताल के मरीजों पर क्रियान्वित होती है। इसी प्रकार पूजा-प्रार्थना से अन्तरंग और स्वाध्याय सत्संग में बहिरंग सत्प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं उन्हें कार्यक्रम में परिणत करने और अभ्यास में उतारने की भी आवश्यकता है। अन्यथा व्यावहारिक प्रयोग के अभाव में योगाभ्यास और

१.५४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

अध्ययन चिन्तन निष्क्रिय पड़ा रहेगा। उस स्थिति में उपासना के बीजारोपण को खाद-पानी न मिलने से उसके सूखने और मुरझाने की ही आशंका बनी रहेगी।

परिवार की प्रयोगशाला में अपने निज के तथा समस्त प्रियजनों के गुण, कर्म, स्वभाव परिष्कृत करने का अभ्यास क्रम आरम्भ किया जाय तो उससे दुहरा लाभ है। भौतिक भी और आध्यात्मिक भी। भौतिक इस अर्थ में कि कुटुम्ब परिवार के समस्त परिजनों को अपने व्यक्तित्व को सुविकसित करने के रूप में एक महान उपलब्धि का लाभ मिलता है। यह उपलब्धि इतनी बड़ी है कि उसे कुबेर की सम्पदा से भी बढ़कर माना जा सकता है। स्तर बढ़ने का अनुदान ऐसा है जिससे समस्त परिजनों के उज्ज्वल भविष्य का आधार खड़ा होता है। उस परिष्कृत वातावरण में रहने वाले सभी लोग सामान्य परिस्थितियाँ रहने पर भी असामान्य प्रसन्नता अनुभव करते हैं और हँसते-हँसते प्रगति के उच्च शिखर तक जा पहुँचते हैं।

तपोवनों में घर बनाने की अपेक्षा घरों को तपोवन बनाया जाय। सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन की साधना जितना सरलतापूर्वक घर परिवार में हो सकती है उतनी अन्यत्र नहीं। पारिवारिकता का अधिकाधिक विस्तार किया जाय। समस्त मनुष्यों को उसके पवित्र सूत्र में बाँधा जाय तो उस प्रयत्न को उच्चस्तरीय परमार्थ ही कहा जायगा।

अपने परिवार को आदर्श बनायें

बाड़े में बन्द भेड़ों की तरह एक घर में रहने वाले मनुष्यों के समूह को परिवार कह भले ही लिया जाये पर उनसे प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती जो परिवार संस्था के साथ जुड़ा हुआ है। एक-दूसरे को स्नेह, सहकार प्रदान करते हुए, उदारता एवं कृतज्ञता का रसास्वादन करते हुए संयुक्त समाज की संरचना में अपनी-अपनी जिम्मेदारी निवाहें तभी परिवार-एक छोटे किन्तु सुख्यवस्थित राष्ट्र की भूमिका सम्पादित कर सकते हैं और उसका प्रत्येक सदस्य लाभान्वित हो सकता है।

परिवार की प्रारम्भिक आवश्यकता तो रोटी, कपड़े और मकान की होती है। इसके बाद शिक्षा, चिकित्सा, आतिथ्य, रीति-रिवाजों के निर्वाह और आपत्तिकालीन स्थिति का सामना कर सकने वाली सामर्थ्य भी रखनी होती है। यह कार्य उपार्जन और खर्च का संतुलन बनाये रहने पर सम्भव हो सकता है। यदि जीवनयापन के लिए आवश्यक सामान्य ज्ञान और लोकव्यवहार का अनुभव हो तो मनुष्य पैसे की तंगी में न रहेगा और खर्च की सुविधा से सम्बन्धित घर परिवार की मोटी आवश्यकताएँ बिना बहुत बड़ी अड़चनों का सामना किये पूरी होती रहेंगी। कम आमदनी हो तो खर्च घटाया जा सकता है। एक

उपार्जनकर्ता पर निर्भर न रहकर घर के दूसरे लोग भी थोड़ी-थोड़ी आमदनी के छोटे-मोटे गृह उद्योग अपनाकर अर्थ संतुलन में सहायक हो सकते हैं। मनुष्य को जितनी बुद्धि मिली है और कलाइयों में जो क्षमता है वह इसके लिए पर्याप्त है कि किसी सामान्य परिवार का गुजारा किसी प्रकार हँसी-खुशी के साथ होता चला जाय।

कठिनाई तब आती है जब परिवार के सदस्यों में स्नेह-सौजन्य का-सद्भाव सहयोग का अभाव रहता है। एक दूसरे में रुचि नहीं लेते अपने-अपने मतलब में चौकस रहते हैं, अनुशासन नहीं मानते और परस्पर मनोमालिन्य रखकर समय कुसमय लड़ते-झगड़ते रहते हैं। जहाँ यह स्थिति होगी वहाँ अर्थ साधन रहते हुए भी परिवार एक ऐसे कैदखाने की स्थिति में होगा जहाँ विवशतापूर्वक समय काटना पड़ता है। ऐसी स्थिति में परिवारों में न घनिष्टता रहती है न आत्मीयता। ऐसी निराद स्थिति में दिन तो कटते रहते हैं, पर वह उपलब्धियाँ जो इस पवित्र संस्था के सदस्यों को मिल सकती थी, प्रायः नहीं ही मिल पातीं। आज के अधिकांश परिवारों की स्थिति ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण बनी हुई है।

परिवार के हर सदस्य को समझना-समझाया जाना चाहिए कि कुटुम्ब एक पूरा शरीर है। जिसमें सभी को एक संस्था की तरह रहना होता है और अपनी स्थिति वही माननी होती है, जो शरीर में विभिन्न अंग अवयवों की है। हाथ-पाँव आदि का अस्तित्व देखने में तो अलग है पर वे पूरी तरह शरीर के साथ जुड़े हुए हैं और उनके परिश्रम का लाभ पूरे शरीर को मिलता है। यों प्रकारान्तर से अन्य अवयवों के उपार्जन का लाभ उन्हें भी मिलता है। इस प्रकार कोई घाटे में नहीं रहता वरन् दूसरे की विशेषताओं का लाभ पाकर वह उपलब्धि प्राप्त करता है, जो एकाकी रहने पर किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती थीं।

इस दृष्टि से छोटे-छोटे परिवारों की अपेक्षा बड़े परिवार बनाने की संयुक्त परिवार प्रथा लाभप्रद है। किन्तु उनकी उपयोगिता इसी शर्त पर है कि उसमें परस्पर सघन सद्भाव और परिपूर्ण सहयोग का वातावरण हो। यदि द्वेष-दुर्भाव की अवज्ञा और उपेक्षा की, आपाधापी की दुष्प्रवृत्तियाँ पनप रही हों तो घर को नरक बनाने की अपेक्षा यही अच्छा है कि लोग अपना-अपना परिवार लेकर अलग हो जायें। इससे दिन-रात का कलह, आक्षेप आरोप होने का सिलसिला तो बंद हो ही जायेगा। सद्भाव की स्थिति में संयुक्त परिवार का लाभ है और दुर्भाव पनपने की स्थिति में उसका बिखर जाना ही श्रेयस्कर है। बड़े-बूढ़ों को एक पक्ष का अनावश्यक आग्रह नहीं करना चाहिए और स्थिति के अनुरूप संयुक्त परिवार को बनाये रखने की तरह ही उसे शान्ति सद्भावपूर्वक अलग करने में भी सहायता करनी चाहिए।

परिवार संस्था की सफलता उसकी भावनात्मक स्थिति और आदर्शवादी आचार संहिता पर टिकी हुई है। जब

तक ये आधार बने रहेंगे तब तक अभावग्रस्त घर परिवारों की भी स्थिति ऐसी सुखद बनी रहेगी जिन पर स्वर्ग न्यौछावर किया जा सके। शरीर की भूख रोटी, कपड़ा और मकान, अन्न, जल एवं हवा तक ही सीमित है, पर आत्मा की भूख स्नेह, सम्मान और सहयोग की परिस्थितियाँ मिलने पर ही बुझती है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि यह तीनों ही अपने परिवार में समुचित मात्रा में विद्यमान बनी रहे। परिवार के छोटे, बड़े और बराबर वालों के बीच ऐसा सघन सम्बन्ध जुड़ा रहे जिससे प्रत्येक-प्रत्येक का सम्मान करें महत्व समझें, एक दूसरे के दुःख-सुख को सफलता-असफलता को अपना समझें।

बड़े छोटों का अधिक ध्यान रखें तो वे बिगड़ने न पायेंगे। घर में स्वस्थ परम्पराएँ डाली जायें। हर कोई श्रमनिष्ठ बने। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी परिश्रमरत रहे। समय कोई बर्बाद न करे। बड़ों का सम्मान छोटों को करना चाहिए, पर बड़ों को निठल्ले बैठे रहना और बात-बात पर हुक्म चलाकर छोटों का समय नष्ट करते रहना अपना अधिकार नहीं मान लेना चाहिए। छोटों का कर्तव्य है कि बड़ों का सम्मान करें पर बड़ों को भी इस दृष्टि से अपने पीछे नहीं आगे ही रखना चाहिए। समान आयु वाले एक दूसरे को घनिष्ठ मित्र समझें और उनके दुःख दर्द में पूरी सहानुभूति रखें तथा एक दूसरे को आगे बढ़ाने में समुचित सहयोग प्रदान करें।

बड़ों को संतुष्ट रखने के लिए उनका सम्मान करना, शिष्टाचार बरतना, आदरणीय संबोधन करना, नित्य प्रणाम करना, उनके शारीरिक कामों में सहयोग देना, कोई नया काम करते समय उनका आशीर्वाद लेना, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखना छोटों का कर्तव्य है। पर कई बार उनके विचार अनुपयुक्त, असामयिक एवं अवास्तविक होते हैं। ऐसे आदेश थोपते हैं जो मानने योग्य नहीं होते। कई बार वे घूँघट, छुआछूत, दहेज धूमधाम में अपव्यय जैसी विकृत परम्पराओं से चिपटें रहने का आग्रह करने लगते हैं। कई बार समाज-सेवा जैसे श्रेष्ठ कार्यों में अड़ंगा डालते हैं तथा स्वार्थवश केवल अपने काम से काम की सीख देने लगते हैं। इसलिए उचित-अनुचित की बात विवेक की कसौटी पर परखने के बाद ही किसी आज्ञा का पालन करना चाहिए। अनुचित आज्ञा की उपेक्षा की जा सकती है। हाँ उस अवज्ञा में भी नम्रता बनाये रखनी चाहिये। उत्तेजित होने से तो ऐसे प्रसंगों पर भी बचा जा सकता है।

एक-दूसरे का सहयोग करना परिवार की स्वस्थ परम्परा होनी चाहिए। हारी बीमारी में सब सबकी पूछताछ करें और देखभाल चिकित्सा, परिचर्या, सहानुभूति व्यक्त करने के लिए तत्परता बरतें। बड़े बच्चे छोटों को पढ़ाया करें। बड़े-बूढ़े फालतू न बैठे वरन् छोटों को कहानियाँ सुनाने से लेकर उन्हें टहलाने, हँसाने, खेल-खिलाने, गृह-उद्योग सिखाने, प्रश्नोत्तर से ज्ञानवृद्धि करने तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार पारिवारिक कार्यों में हाथ

बटाने के लिए तत्पर रहें। निरर्थक समय गँवाते रहने की सुविधा को प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनायें। मिल-जुलकर काम करने की परम्परा पड़े। भोजन बनाने, सफाई रखने जैसे कार्यों का बोझ एक पर न डालकर उसमें अन्य लोग भी सहकार करें तो उनकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया बहुत ही अच्छी होगी।

इन सिद्धान्तों के अनुरूप हमें अपने व्यक्तित्व ढालने चाहिए और परिवार में तदनुरूप परम्पराएँ प्रचलित करनी चाहिए। ऐसे ही वातावरण में पल कर बच्चे सुसंस्कारी बनते हैं। अगली पीढ़ी को यदि उच्च शिक्षा दिला सकने की, उनके लिए सम्पत्ति छोड़ मरने की अपनी स्थिति न हो तो हर्ज नहीं, यदि उसे सद्गुणी सुसंस्कारी बना दिया गया है तो निश्चित रहना चाहिए कि वे हर परिस्थिति में सुखी रह सकेंगे।

परिवार निर्माण का महान प्रयोजन पूरा करने में जितनी सफलता प्राप्त की जा सके उसे समूची मानव जाति की सेवा मानना चाहिए। अपना परिवार भी तो राष्ट्र की ही एक महत्वपूर्ण इकाई है। मिशन के सभ्यों, सदस्यों और सदस्याओं को मिल जुलकर अपने को अपने परिवार को परिष्कृत करने के महान् प्रयोजन में संलग्न होना चाहिए। इस दिशा में किये गये प्रयत्न मिशन की उपयोगिता प्रमाणित करने के अति महत्वपूर्ण आधार सिद्ध होंगे।

हमारी पारिवारिक पाठशाला

परिवार-शिक्षण की दृष्टि से घर के बड़े यह परम्परा आरम्भ कर सकते हैं कि दिन भर की काम-काजी, बात-चीत में समय-समय पर हलके-फुलके ढंग से यह परामर्श देते रहें कि इस कार्य को किस तरह अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है इसमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का जिक्र किया जाय। लड़की यदि आँगन में बुहारी लगा रही है और वह उस कार्य को ठीक तरह कर नहीं पा रही है तो उसे अच्छी तरह सफाई करके दिखानी चाहिए और बताया जाना चाहिए कि भूल कहाँ होती है और उसे दूर करके अच्छी सफाई करने का सिद्धान्त और तरीका क्या है? इसी प्रकार बच्चों द्वारा किये जाने वाले कामों को किस प्रकार अधिक सुन्दर ढंग से किया जा सकता है, बड़ों को इसका मार्गदर्शन व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही रीति से करते रहना चाहिए, कार्यों की तरह ही विचार भी प्रकट होते रहते हैं। इस ओर भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि कौन किस सम्बन्ध में क्या सोचता है और उसके सोचने में कितना औचित्य तथा कितना अनौचित्य मिला हुआ है? परामर्श इस सम्बन्ध में भी दिया जाना चाहिए।

इस सन्दर्भ में एक विशेष बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सुधार का परामर्श देना बहुत ही टेढ़ी खीर है। इसमें दूसरे को अपना अपमान अनुभव हो सकता है, उसके

१.५६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

स्वाभिमान को ठेस लग सकती है। आमतौर से यह सहन नहीं होता। गलती बताने वाले को निन्दक, विद्वेषी, सनकी आदि कहा जाता है और किसी भी उलटे-सीधे तर्क का सहारा लेकर उस परामर्श की काट की जाती है। अशिष्ट लोग मुँहजोरी करने लगते हैं और शिष्ट मुँह से तो कुछ नहीं कहते, पर व्यवहार में उपेक्षा एवं अवज्ञा बरतकर अपना विरोध प्रकट करते हैं। दोनों ही परिस्थितियों में बात एक ही सिद्ध होती है कि परामर्शदाता के मार्गदर्शन को अस्वीकार कर दिया गया।

ऐसे प्रसंगों में खीजने और बुरा मानने की अपेक्षा यह देखना चाहिए कि सत्परामर्श और उपयोगी शिक्षण की भी अवज्ञा क्यों हो रही है? होता यह है कि परामर्श के साथ-साथ भर्त्सना, कटुता, तिरस्कार एवं मूर्ख अनाड़ी सिद्ध करने वाली भावभंगिमा तथा शब्दावली का पुट लग जाता है और सुनने वाले को उतना अंश ही तिलमिला देता है। एक गिलास दूध में एक मक्खी पड़ जाने से सारा दूध अपेय बन जाता है। ठीक इसी प्रकार सत्परामर्श के साथ तिरस्कार, अपमान, कटु शब्दों का समावेश कर दिया जाय-अपना अहंकार और दूसरों को मूर्ख ठहराया जाय तो इतने भर से सारी बात बिगड़ जाती है और गुड़ को गोबर में बदलते देर नहीं लगती।

परामर्शदाता की भूमिका निभाने से पूर्व वाणी की यह कलाकारिता सीखी जानी चाहिए कि किस तरह दूसरे के सम्मान-स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उसे खिजाने नहीं, प्रोत्साहित करने के ढंग से अभीष्ट शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है। जो किया जा रहा है, उसमें जितना श्रम हुआ है, जितना उत्साह दिखाया गया है उतने अंश की पहले प्रशंसा की जानी चाहिए, इसके बाद जो कमी रही है उसकी भूल का उल्लेख न करते हुए यह बताया जाना चाहिए कि उस कार्य को और भी अधिक कुशलता, सुन्दरता एवं सफलता के साथ किस प्रकार किया जा सकता है? खण्डनपरक चर्चा हर प्रसंग में हानिकारक होती है। समीक्षा करना टेडी खीर है। उसे कोई विरले ही गले उतार पाते हैं और कोई विरले ही सन्तुलित ढंग से उसे कर पाते हैं। आमतौर से समीक्षा, कटुता एवं मनोमालिन्य का रूप धारण कर लेती है। इससे दुःखी होकर यह सोचा जाने लगता है कि-"बुरा जमाना आ गया, लोग ढीठ हो गये, सत्परामर्श सुनने को कोई तैयार नहीं-ऐसी दशा में आँखों पर पट्टी और मुँह पर ताला लगाये रहना ही उचित है।"

यहाँ समझने की बात इतनी ही है कि कड़वी कुनैन खाने के लिए प्रौढ़ और दूरदर्शी व्यक्ति ही तैयार हो सकते हैं, बच्चे उसे खाने को रजामन्द नहीं होंगे। खाने के लिए जोर दिया जाय तो वे उसे फेंक-फाँक देंगे और खाने का बहाना बना देंगे। उन्हें खिलाना हो तो चीनी का परत चढ़ाकर गले उतारने की व्यवस्था बना सकते हैं। हमें यही मानकर चलना चाहिए कि भर्त्सना भरा परामर्श किसी को भी स्वीकार नहीं हो सकता। ऐसी समीक्षा से

किसी को सहमत करना कठिन है जिसमें उसकी मूर्खता सिद्ध की गई हो।

समीक्षा किये बिना परामर्श दिये बिना, सुधार सम्भव नहीं। अपने आप अपनी गलती ढूँढ़ लेने और सुधार लेने वाले तो सन्त होते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं उन्हें सँभालने, सुधारने और दिशा देने की आवश्यकता रहेगी ही। इसलिए मध्यवर्ती-सन्तुलित मार्ग निकालना चाहिए और प्रशंसायुक्त निन्दा करने की कला सीखनी चाहिए। जिसे परामर्श दिया जा रहा है उसे अपने और उसके बीच घनिष्ट आत्मीयता और गहरी सद्भावना का विश्वास भी दिलाते रहना चाहिए। समीक्षक के प्रति निन्दक और द्वेषी होने की आशंका जगती है अस्तु, उसे निरस्त करने के लिए परामर्श देने से पूर्व अपनी सद्भावसम्पन्न घनिष्टता का विश्वास किसी न किसी रूप में अवश्य ही स्मरण करा देना चाहिए। हर काम में कुछ न कुछ श्रम और मनोयोग लगा ही होता है, उतने ही प्रशंसा किये बिना समीक्षा की शुरुआत कभी नहीं करनी चाहिए। जो गलती रही है उससे होने वाली हानि को प्रधानता न देकर उस कल्पना चित्र से रंग भरना चाहिए जो सुधार होने पर सुखद सम्भावना सामने आने की आशा जगाता है। वर्तमान भूल से होने वाली हानि की चर्चा परामर्श के अन्त में और हलके ढंग से करनी चाहिए ताकि उसे अभीष्ट जानकारी मिलने और सँभलने की सतर्कता तो जग जाय, पर यह अनुभव न हो कि उसे तिरस्कृत किया जा रहा है। जिन परिस्थितियों में भूल होती रही है, उन दोषी परिस्थितियों को बता देने से भी काम बन जाता है। परामर्शदाता का उद्देश्य निन्दा करना या जी दुःखाना तो होता नहीं, वह सुधार ही तो चाहता है। इस प्रयोजन के लिए व्यक्ति की निन्दा करने की अपेक्षा परिस्थितियों का दोष कह देने से भी काम चल सकता है। इसमें मान-अपमान का झंझट भी नहीं रहता, साथ ही परोक्ष रूप से असावधानी की भर्त्सना भी हो जाती है। मन्तव्य इतने भर से हल हो सकता है।

जिन्हें अपना घर-परिवार सँभालना हो उन्हें सभी सदस्यों को पग-पग पर तो नहीं, पर अवसर देखकर भूलों के लिये टोकने और अधिक अच्छा करने का उपाय बताने की प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी रखनी चाहिए। व्यक्ति एवं परिवार की तरह यही रीति-नीति समाज सुधार के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होनी चाहिए और प्रत्येक शुभाकांक्षी को सत्परामर्श देने का प्रयास निरन्तर जारी रखना चाहिए। यह प्रयत्न किस चट्टान से टकराकर टूटते हैं? जो इसे जान लेगा वह सामने वाले के सम्मान, अपमान का सम्यवेदनाओं का समुचित ध्यान रखे रहेगा। फलतः उसका तीर ठीक निशाने पर बैठता रहेगा और यह शिकायत करने का कोई कारण न रहेगा कि लोग सत्परामर्श भी सुनने-मानने को तैयार नहीं हैं।

प्रत्येक विकासोन्मुख परिवार को अपने यहाँ परामर्श गोष्ठी का नियमित रूप से प्रचलन आरम्भ कर देना

चाहिए। इसे ज्ञान-चर्चा नाम दिया जाय। इसके लिये रात्रि को भोजन से निवृत्त होने के पश्चात् अवकाश वाला समय अधिक उपयुक्त रहता है। इस प्रचलन की जहाँ उपयोगिता समझी जाय वहाँ भोजन जल्दी बनने और जल्दी खाने की परम्परा डाली जानी चाहिए अन्यथा देर तक यही झंझट चलता रहा तो गोष्ठी में सम्मिलित होने का अवकाश ही न रह जायेगा, बच्चे तो तब तक सो ही जायेंगे।

गोष्ठी में कथा, कहानियाँ सुनाने की प्रक्रिया चले बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी नर-नारी कथा-प्रसंगों को बड़े चाव के साथ सुनते हैं। बच्चों के लिए तो प्रायः कथा साहित्य ही छपता है। बड़ों के लिए पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों की ही भरमार रहती है। प्रेसों में प्रायः आधी छपाई कथा साहित्य की होती है। इस रुचि का उपयोग धर्म क्षेत्र में भी चिरकाल से होता आया है। संस्कृत में पुराण, उपपुराण, काव्य, नाटक, ग्रन्थों का विस्तार अन्य विषयों पर लिखे गये समस्त साहित्य की तुलना में भी अधिक है। रामायण, भागवत-आदि कथा ग्रन्थ धर्म क्षेत्र में भक्ति-भावना के साथ पढ़े-सुने जाते हैं और इसका पुण्य-माहात्म्य बताया जाता है। यह सब कथा श्रवण के प्रति मनुष्य की सहज रुचि का परिचायक है।

घरों में चुनी हुई-धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एवं आदर्शवादी दिशा देने वाली प्रेरणाप्रद कथाएँ इस ज्ञान गोष्ठी में सुनाई जानी चाहिए। यदि पुराणों को महत्व देना हो तो एक सिरे से उनका वाचन अन्धाधुन्ध नहीं होना चाहिए। उनमें से उपयोगी अंश ढूँढ़े और उभारे जाने चाहिए। इन ग्रन्थों में ऐसी चर्चाएँ भी कम नहीं जो आज की स्थिति में न केवल निरर्थक हैं वरन् कई बार तो अनर्थ का भी समर्थन करती हैं। अस्तु, यह नितान्त आवश्यक है कि पुराण, ग्रन्थों को पहले स्वयं पढ़ लिया जाय और उसमें से केवल उपयुक्त शिक्षा देने वाले प्रसंगों को छाँटकर ही सुनाया जाय।

इतिहास में ऐसे प्रेरक घटना-क्रम असंख्य हैं जो मानव जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं और अवांछनीयताओं की हानि तथा सन्मार्ग पर चलने के लाभ सिद्ध करते हैं। ऐसे कथा-प्रसंगों पर अनेक प्रेरणाप्रद पुस्तकें बाजार में, पुस्तकालयों में मिल सकती हैं। कल्पित कहानियों एवं उपन्यासों की भी कमी नहीं है। अपनी 'युग निर्माण' मासिक पत्रिका इसी प्रकार की पाठ्य सामग्री से भरी रहती है।

ज्ञान-चर्चा गोष्ठी में इसी प्रकार का कथा साहित्य सुनाया जाय करे। इसमें सम्मिलित होने के लिए न आग्रह करना पड़ेगा और न समझाने, दबाव डालने की आवश्यकता पड़ेगी। बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी उसमें उपस्थित होने के लिए स्वयं ही उत्सुक रहेंगे और कोई यह अनुभव न करेगा कि यह उपदेश प्रवचन का रूखा विषय है और उसे सुधारने, सँभालने के लिए ही सारा संरंजाम खड़ा किया गया है। प्रोक्ष शिक्षा जितनी सफल होती है उतनी प्रत्यक्ष निर्देश की शैली नहीं। कथा प्रसंगों

का यह उपक्रम वस्तुतः परिवार के लोगों की मनोभूमि एवं चिन्तन दिशा परिष्कृत करने के लिए बहुत सरल, सरस और सफल माध्यम है। इसे हर परिवार में आरम्भ किया जाना चाहिए।

'नानी की कहानी' वाली बात अभी भी मुहावरों में आती है। दादी या नानी के जिम्मे एक काम यह भी होता था कि वे बच्चों को कहानियाँ सुनायें। बच्चे उन्हें घेर कर बैठ जाते थे और वे बड़ी हैसी-खुशी के वातावरण में शिक्षा और मनोरंजन का समन्वय करते हुए कहानियाँ कहती थीं। न केवल बालक वरन् पूरा परिवार उन्हें चावपूर्वक सुनता था। चौपालों पर भी बड़े-बूढ़े सिंहासन बत्तीसी, वेताल पच्चीसी, वीरबल विनोद, आल्हाखंड एवं कथा-पुराणों के प्रसंग सुनाते थे और उन्हें सुनने के लिए बड़ी संख्या में छोटे-बड़े उपस्थित होते थे। अब मनोरंजन के दूसरे साधन बन गये-व्यस्तता बढ़ गई और आलस छा गया-ऐसी दशा में वह कहानियों वाला प्रचलन भी बन्द हो गया। रामायण की कथा रात्रि को मुहल्ले-मुहल्ले में होती थी और उसे सुनने के लिए उस क्षेत्र के बहुत लोग इकट्ठे होते थे। इस प्रचलन से ज्ञानवृद्धि और मनोरंजन का दुहरा लाभ है। यह दोनों ही ऐसे हैं जिन्हें निरर्थक नहीं कहा जा सकता। सामूहिकता की प्रवृत्ति घटने और वैयक्तिकता बढ़ने से इस दिशा में शिथिलता बढ़ती जाती है। वह चिन्ता की बात है।

इसी प्रचलन को अब नये सिरे से हमारे घरों में आरम्भ किया जाना चाहिए। पुराने लोग पुस्तकों के तथा शिक्षा के अभाव में कहानियाँ जवानी याद रखते थे। अब वैसी आवश्यकता नहीं रही। इस उद्देश्य को पूरा कर सकने वाली ढेरों पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। मुहल्ले का पुस्तकालय इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। हर घर में नई-नई पुस्तकें खरीदते रहना तो कठिन पड़ेगा, पर एक मुहल्ले में एक छोटा पुस्तकालय इस प्रयोजन के लिए लाभदायक हो सकता है और उससे अदल-बदलकर प्रत्येक परिवार पुस्तकें प्राप्त करने, सुनाने, वापस करने का सिलसिला चला सकता है। एक ही जगह खरीदी हुई पुस्तकों से पूरे मुहल्ले का काम चल सकता है।

घर का कोई उत्साही सदस्य इस कार्य को अपने कन्धे पर ले सकता है। बदल-बदल कर कई व्यक्ति भी इसे पूरा करते रह सकते हैं। कहने-वाले को वक्तृत्व कला का अभ्यास होगा और मनोरंजन की एक उत्साहपूर्ण परिपाटी चल पड़ेगी। अपने कहानी कहने वालों की एक विशेष पद्धति यह होनी चाहिए कि कहानी के हर मोड़ पर एक छोटी समीक्षात्मक विवेचनात्मक टिप्पणी अपनी ओर से लगाते चलें। जिससे उसी में से कितने ही प्रकार के निष्कर्ष निकलते रहें और नई-नई दिशाओं, प्रेरणाओं तथा भाव सम्बेदनाओं का लाभ मिलता रहे। यह शैली मासिक 'युग निर्माण योजना' द्वारा भली प्रकार सीखी जा सकती है। कितने ही छोटे-छोटे जीवन चरित्र तथा कुछ और भी पुस्तकें इस प्रयोजन के लिए छपी हैं। उनकी लेखन शैली

१.५८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

यही है कि ऐतिहासिक प्रसंगों एवं जीवन वृत्तान्तों को टिप्पणी समेत प्रस्तुत किया जाय। हर व्यक्ति निष्कर्ष नहीं निकाल सकता। कथाओं में हर मोड़ पर कुछ समझने योग्य तथ्य दिये होते हैं इन्हें उभारा जा सके तो उससे सुनने वालों की अन्तःचेतना नई-नई अनुभूतियों से लाभान्वित होती रह सकती है। परिवार शिक्षण का यह बहुत ही अच्छा तरीका है। जिन सत्प्रवृत्तियों को घर के लोगों में उगाया, जगाया जाना आवश्यक है उनके लिये सीधा उपदेश देने की अपेक्षा कथा माध्यम से परोक्ष रूप में गले उतारना अधिक श्रेयस्कर है। सीधी शिक्षाएँ रोज-रोज नहीं दी जा सकती। इससे ऊबने और खीजने लगने का खतरा है, पर कथा माध्यम से, तो हर दिन उसी तथ्य को पुष्ट किया जाता रहे तो भी हर्ज नहीं। उन्हें हर दिन उत्साह और चाव के साथ सुना जा सकता है।

अपने परिवार में जिन वृत्तियों की कमी दिखाई पड़ती है जिन्हें बढ़ाया जाना आवश्यक है। उसी स्तर की कहानियों का चुनाव करते रहने से कहने की शैली निखारते रहने से परिवार शिक्षण का काम भली प्रकार चलता रह सकता है।

सप्ताह में एक बार या अवसर के अनुरूप घर की छोटी बड़ी समस्याओं पर परस्पर विचार-विनिमय करते रहने के लिये भी यही कथा अवसर बहुत उपयुक्त है। घर की व्यवस्था एवं प्रगति के सम्बन्ध में हर व्यक्ति को कुछ सोचने और कुछ करने का अवसर मिले तो इससे उपेक्षा और अन्यमनस्कता की स्थिति दूर होगी। परिवार के विकास में इस प्रकार दिलचस्पी जग सकती है और उसका वास्तविक लाभ कुछ ही दिनों में सामने खड़ा दिखाई दे सकता है।

आवश्यक नहीं कि कोई बहुत बड़ी समस्याएँ सामने आने पर ही यह परामर्श विचार-विमर्श किया जाय। कल क्या साग-दाल बननी चाहिए-परसों का त्यौहार किस तरह मनाया जाना चाहिए? जैसी छोटी-छोटी बातें भी परामर्श का विषय हो सकती हैं और अर्थ व्यवस्था, सुसज्जा, शिक्षा, सुधार जैसे समस्या प्रसंगों की जानकारी घर के सभी लोगों को देकर उन्हें पूछा, बताया तथा कुछ सोचने एवं करने के लिए उत्साहित किया जा सकता है। परिवार में हमारा भी कुछ उत्तरदायित्व एवं योगदान है, यह अनुभव घर के सभी सदस्य करने लगे तो उस रुझान एवं सहयोग से परिवार निर्माण का उत्साहवर्द्धक पथ-प्रशस्त हो सकता है।

आवश्यक नहीं कि हर दिन कहानियाँ ही सुनाई जायें। समाचार पत्रों की महत्वपूर्ण घटनाएँ, भजन कीर्तन, रामायण कथा, पहेलियाँ, प्रश्नोत्तर जैसे कई आधार समय-समय पर बदले जाते रह सकते हैं। जिस घर में इन माध्यमों में से जो अधिक पसन्द किया जाय, वहाँ उसकी प्रधानता रखी जा सकती है।

विचार परिष्कार की, दृष्टिकोण विकसित करने की, आदर्शवादी उमंगें उत्पन्न करने की दृष्टि से रात्रि को

कहानियाँ कहने का प्रचलन देखने में छोटा किन्तु परिणाम में बहुत ही बड़ा सिद्ध हो सकता है। इस अति प्राचीन किन्तु अति नवीन परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए हमें नये सिरे से प्रयत्न आरम्भ करना चाहिए। परिवार निर्माण में जहाँ भी रुचि हो वहाँ यह नया प्रयोग-परीक्षण आरम्भ किया जाना चाहिए और निज के अनुभव से यह देखना चाहिए कि यह छोटा-सा शुभारम्भ कितना बड़ा-चढ़ा सत्परिणाम प्रस्तुत करता है।

परिवारों को प्रगतिशील बनाने के आधार

वार्तालाप में बड़ी शक्ति है, यह तथ्य सही होने पर भी यह समझ रखने की आवश्यकता है कि वह गहराई तक प्रवेश नहीं कर पाता। ऊपर सतह तक ही सीमित होकर रह जाता है। मुख्य तथ्य है मनुष्य के जीवन का स्वरूप। उसी से सम्पर्क में आने वाले लोग प्रभावित होते हैं। यदि निज का चरित्र उन तथ्यों से तालमेल न खाता हो, जो कि दूसरों को परामर्श दिया जाता है, तो उसका प्रभाव नगण्य जितना होकर ही रह जाता है।

कुमार्गामिता की शिक्षा रास्ता चलतों से भी ली जा सकती है। कुसंग का प्रभाव जादू जैसा आकर्षक होता है। लुच्चे-लफंगों किसी भले आदमी को भी तनिक से प्रयत्न से कुमार्ग पर घसीट ले जाते हैं, पर आदर्शों की ओर अग्रसर कर सकना सहज-सुलभ नहीं है। उसके लिए तर्क, परामर्श ही काफी नहीं है, अपितु ऐसा व्यक्तित्व भी सामने रहना चाहिए, जो उपदेशों के व्यावहारिक होने का प्रमाण अपने व्यक्तित्व के आधार पर प्रकट कर सके। जुआरी, दुराचारी, व्यसनी अपने जैसे अनेक को सरलतापूर्वक बना लेते हैं। यह सफलता उन्हें इसी कारण मिल पाती है कि दुराचार में उनका पर्याप्त विश्वास होता है। उसे अपने चरित्र व्यवहार में उतारे हुए होते हैं। उनका परामर्श और चरित्र एक जैसा होता है, भले ही वह बुरे स्तर का ही क्यों न हो। ऊँचा उठाने की शिक्षा तो अनेक देते हैं, पर उसका प्रभाव-परिणाम नगण्य जितना ही रहता है। कारण स्पष्ट है। उनकी निज की वास्तविकता ऐसी नहीं होती, जो दूसरों के कानों से आगे बढ़कर अन्तराल तक पहुँच सके। ऐसी दशा में उसका प्रभाव स्वल्प होना स्वाभाविक है। यह तथ्य परिवार निर्माण के बारे में विशेष रूप से लागू होता है। यदि घर के प्रभावशाली लोग हेय स्तर का जीवन जी रहे होंगे, अपने क्रिया-कलाप में शालीनता सम्मिलित किए हुए न होंगे, तो स्पष्ट है कि उनके द्वारा किये गये सुधार-प्रयत्नों को सफलता नहीं ही मिलेगी। दूसरों से सज्जनता-सदाशयता की आशा करना और स्वयं की गतिविधियों को हेय बनाये रहना उपहासास्पद स्थिति ही उत्पन्न करता है। उस प्रभाव से कोई धूर्तता तो सीख सकता है, पर

शालीनता की प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सकता। पानी का स्वभाव ढलान की ओर बह चलने का है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति किसी को भी नीचे की ओर खींचती है, पर ऊँचा उठाने, ऊपर उछालने के लिए विशेष शक्ति लगाने की, विशेष साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ती है। कुएँ से पानी निकालने में क्या प्रयत्न करना पड़ता है, यह सभी जानते हैं। जीना चढ़ने में भी थकान आती है, पर नीचे की ओर कुछ ही प्रयत्न से सहज रूप से गिराया जा सकता है। परिवार वालों को कुसस्कारी शिक्षा कहीं से भी मिल सकती है। सारा वातावरण ही अनौचित्य से भरा पड़ा है। जन-समुदाय भी दुष्प्रवृत्तियों का शिकार पाया जाता है। इससे निष्कृष्टता को ही व्यावहारिक मान बैठना और उसे ही अपना लेना अप्रत्याशित नहीं है। आग सूखी लकड़ी को सहज ही पकड़ लेती है। दुर्बल मनोभूमि वाले प्रभावशाली अनाचारियों को अपना मार्गदर्शक मान लेते हैं। पर जब देखा जाता है कि आदर्शवाद को व्यवहार में उतारने वालों की सर्वथा कमी है, तो उसे सामान्यजन अव्यावहारिक ही मान बैठते हैं और सदुपदेशों को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं।

जिन्हें वस्तुतः अपने परिवार से, प्रियजनों से सच्चा प्यार हो, उन्हें सन्मार्ग की राह पर चलने की ही प्रेरणा लेनी चाहिए। इसी आधार पर भौतिक एवं आत्मिक जीवन में ऊँचा उठा जा सकता है, आगे बढ़ा जा सकता है। प्रगति की चिरस्थायी उपलब्धियाँ व्यक्तित्ववानों को ही हस्तगत होती हैं। दुर्बुद्धिग्रस्त लोग अपनी अप्रामाणिकता के कारण हर किसी की दृष्टि में गये-गुजरे स्तर के ही जँचते हैं। उनका न कोई सच्चा मित्र होता है और न प्रगति में सहायता कर सकने वाला सहयोगी। इसलिए जिनका भी भविष्य उज्ज्वल बनाना हो, उन सबको शालीनता के सदगुणों से सम्पन्न करने का समग्र प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरों को सुधारने से पहले अपने को सुधारना पड़ता है। खिलौने या औजार ढालने के लिए पहले सही साँचा बनाना पड़ता है। यदि साँचे में खोट रहेगा तो फिर सम्पर्क में आने वाले को भी आँधे-तिरछे ढालता रहेगा। परिवार सुधार का प्रथम चरण यही है कि जैसा कुछ परिवार को बनाने-चलाने की इच्छा है, उसके अनुरूप अपने को बनाने की प्रक्रिया से किया जाय। नमूने का मॉडल सामने रहने पर ही तदनुरूप प्रतिमाएँ गढ़ी जाती हैं। इस प्रयास में छद्म नहीं चल सकता। वास्तविकता छिपती नहीं, वह सिर पर चढ़कर बोलती है। विशेषतया दुष्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में तो यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है। उन पर पर्दा नहीं डाला जा सकता है। वे अपनी वास्तविकता से दूसरों को अनायास ही अधगत कराती रहती हैं। भीतर कुछ बाहर कुछ वाली उक्ति अजनबी-अपरिचितों पर तो किसी सीमा तक चल भी जाती है, पर जो निरन्तर साथ रहते हैं, वे भले ही सदगुणों की ओर ध्यान न दें, पर

दुर्गुणों की गन्ध तो सहज ही सूँघ लेते हैं। उनके साथ दुराव की आँख-मिचौनी चल नहीं पाती।

इस तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम करना चाहिए और घर के विचारशील वरिष्ठों को अपना उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे सम्पर्क में आने वाले बाहर वालों और घर वालों को समान रूप से प्रभावित कर सकें।

किसके मन में क्या है? कौन क्या सोचता-मानता है? इसका पता लगा सकना हर किसी के लिए कठिन है। जो कुछ जाना जाता है, उसमें प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप ही प्रमुख होता है। सामान्यतया उसी से किसी का मूल्यांकन होता है। इसलिए मात्र चिन्तन को ही नहीं चरित्र को भी महत्त्व दिया जाता है। कौन क्या सोचता है? क्या चाहता है? उसकी मोटी जानकारी उसके कथन से नहीं, क्रिया-कलापों से लगती है। परिवार को किस दिशा में ले चलना है, उसके लिए परामर्श मात्र जो अपर्याप्त ही बने रहेंगे। उनके सामने ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण रहना चाहिए जो सदाशयता को व्यावहारिक सिद्ध कर सके। ये प्रमाण कहीं बाहर से नहीं ढूँढ़े जा सकते। उसे अपने आपको सुसंस्कारिता के ढाँचे में ढालकर ही किसी पर प्रभाव डाल सकने योग्य बनाया जा सकता है।

पुरातन काल में बच्चों को गुरुकुल भेजने की व्यवस्था थी, वहाँ पढ़ाई तो साधारण ही होती थी, पर संचालक शिक्षकों का स्तर असाधारण रूप से ऊँचा रहता था। वहाँ का अनुशासन और वातावरण भी। वहाँ पढ़ाई नहीं, परिस्थिति ही विद्यार्थी को ढालती थी। अब वे परिस्थितियाँ नहीं रहीं। अध्यापकों के जिम्मे स्कूली पढ़ाई पूरी कराने का काम ही इतना होता है कि वे शिक्षार्थियों के व्यक्तिगत जीवन में चल रहे उतार-चढ़ावों को कैसे देख-समझ सकें। फिर स्वयं भी उन्हें व्यक्ति निर्माण में उतनी दिलचस्पी भी नहीं होती और योग्यता भी नहीं। स्कूल का वातावरण भी ऐसा नहीं होता कि उससे शिक्षार्थी प्रभावित होकर उत्कर्ष की दिशा अपना सके। छात्रवासों की भी ऐसी ही परिस्थिति है। ऐसी दशा में अपने घर को ही गुरुकुल बनाना और गृह संचालकों को ही अधिष्ठाता की भूमिका निभाने के लिए नये सिरे से प्रयत्न करना होगा। बच्चों के प्रति एक आँख दुलार की, दूसरी सुधार की रखकर ही चलना होगा।

बात बच्चों तक ही सीमित नहीं है। व्यक्तित्व की दृष्टि से वयस्क और बूढ़े भी अविकसित की श्रेणी में आते हैं। भले ही उनकी आयु कितनी ही बड़ी क्यों न हो? इस सन्दर्भ में पढ़े और बिना पढ़े एक ही श्रेणी में आते हैं। सभी को पूर्वाग्रह-दुराग्रह घेरे होते हैं। काम-काज की दैनिक गतिविधियों के सम्बन्ध में भले ही उनसे कुछ कहना-सुनना सम्भव न हो, पर जहाँ तक आदतें बदलने का सम्बन्ध है वहाँ तक वे अपनी ही आदतों और गतिविधियों को सही मानते-बताते रहने के मूड में होते हैं। उनमें आदर्शवादिता प्रगतिशीलता की मान्यताएँ गले उतारना और भी अधिक कठिन पड़ता है। बच्चों की

१.६० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

अपेक्षा बड़ों के साथ निपटना और भी अधिक कठिन पड़ता है। गीली लकड़ी आसानी से मोड़ी जा सकती है, पर सूख जाने पर तो अकड़ी ही रहती है और मोड़ने का प्रयत्न करने पर टूट जाने की धमकी देती है। ऐसी दशा में उन्हें बड़ी चतुरता-बुद्धिमत्ता और धैर्य के साथ ही धीरे-धीरे करके राह पर लाया जा सकता है। उन्हें अनगढ़पन की हानियाँ बताने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त है कि सत्प्रवृत्तियों को अपनाने से होने वाले लाभों को अधिक विस्तार सहित प्रमाण-उदाहरणों के साथ बताया जाय और उस प्रस्तुतीकरण पर विचार करने भर के लिए अनुरोध किया जाय। कोई बात भर्त्सना-निन्दा के रूप में न कही जाय। यह बात छोटी एवं वयस्कों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

परिवार को जिस राह पर चलना है, सबसे पहले उस पर स्वयं चल पड़ना चाहिए और दूसरों का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन करना चाहिए। प्रभावी तरीका यही है। इसी उपाय से परिवार की स्थिति में अभीष्ट सुधार परिवर्तन किया जा सकता है।

सिद्धान्तों की अवधारणा का अपना महत्व है। मान्यताओं की कद्र की जानी चाहिए और उनकी प्रशंसा होनी चाहिए पर बात इतने भर से ही समाप्त नहीं हो जाती। होना यह भी चाहिए कि प्रत्यक्ष गतिविधियाँ भी उसी स्तर की हों आदतें भी उसी प्रकार की हों, क्रियाकलापों में वैसा ही समन्वय हो। यों दूसरों को बहकाने के लिए छद्म आचरण भी किए जा सकते हैं। प्रपंच-पाखण्डों से भी किन्हीं को किसी सीमा तक बहकाया जा सकता है, पर काठ की हाँड़ी बार-बार नहीं चढ़ती। दूरवर्ती भले ही इस प्रकार के भ्रम में कुछ समय तक भ्रमग्रस्त रहे जा सकें, पर उनका टिकाऊ प्रभाव नहीं रहता। उसके लिए तो वास्तविकता का गहरा पुट होना ही कारगर सिद्ध होता है।

निरीक्षण करना चाहिए कि अपने गुण-कर्म-स्वभाव में दोष-दुर्गुण कहाँ हैं। उन सभी को निरस्त करने की बात सोचनी चाहिए। यह उपाय करना चाहिए कि घर के सभी लोग किस प्रकार आत्मिक दृष्टि से सुसंस्कारी और भौतिक दृष्टि से स्वावलम्बी बन सकें। यही यह तथ्य परिवार के सदस्यों को हृदयंगम कराया जा सके तो वे प्रगतिपथ पर अग्रसर हो सकते हैं। स्वयं सुखी रहकर अपने सम्पर्क क्षेत्र को समुचित मात्रा में सुखशान्ति प्रदान कर सकते हैं।

सुधार विकास की पृष्ठभूमि बने

धन के, शिक्षा के, पद के आधार पर मनुष्य सर्वतोमुखी प्रगति का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। समग्र उत्कर्ष के लिए सदगुणों की पूँजी ही एकमात्र अवलम्बन है। अनगढ़ लोग दंद-फंद से कुछ प्राप्त कर लें, अन्धे के हाथ बटेर लग जाय, तो उस उपलब्धि से कोई कहने

लायक चिरस्थायी प्रयोजन पूरा नहीं होता। सदगुण ही है जो गई-गुजरी परिस्थिति से घिरे हुए होने पर भी अपने अभ्युदय का मार्ग स्वयं बनाता चला जाता है। साथ ही अपने सम्पर्क क्षेत्र में प्रगतिशीलता एवं प्रसन्नता का माहौल बना देता है।

जिस प्रकार धन परिश्रमपूर्वक उपार्जित किया जाता है, जिस प्रकार विद्वान बनने के लिए अध्ययन में गम्भीरतापूर्वक तत्पर हुआ जाता है, ठीक उसी प्रकार सदगुणों की सम्पदा प्राप्त करने के लिए सतर्कतापूर्वक सतत् प्रयास करने पड़ते हैं। वे अनायास ही आकाश से छप्पर फाड़कर किसी भूमि पर टपकते नहीं हैं। शिल्पकार, कलाकार, चित्रकार बनने की तरह उस प्रयास में सतत् संलग्न होने की आवश्यकता पड़ती है।

यह अभ्यास कुछ मनस्वी अपने आप भी कर लेते हैं, पर सामान्यतया उन्हें किन्हीं प्रतिभाशालियों के सम्पर्क-सान्निध्य में रहकर सीखना पड़ता है। पेड़ पर बेल चढ़ने की तरह ही यह सुयोग्य संयोग बनता है। इस सुविधा से परिवार के सदस्यों को लाभान्वित करने का दायित्व घर के बड़े लोगों का है। किसी की उन्नति-अवनति के लिये प्रशंसा-निन्दा तो उसी व्यक्ति की होती है, पर यदि गहराई में उतरकर देखा जाय, तो उसका निमित्त कारण परिवार के मूर्धन्यों को जाता है। उन्हीं की सतर्कता से घर के छोटे दायरे में रहने वालों को समुन्नत व्यक्तित्व वाला बनाने का निमित्त कारण समझा जा सकता है। यदि उनसे अपेक्षा बरती, तो समझना चाहिए कि वह परिकर व्यक्तित्व सम्पन्न होने से वंचित रह जायगा। इसका दुःखदायी दुष्परिणाम उन सदस्यों को ही नहीं, संचालक को भी भुगतना पड़ेगा। इसलिए जितना ध्यान उपार्जन कर, सामने प्रस्तुत समस्याओं पर दिया जाता है, उससे कम नहीं, वरन् अधिक ध्यान परिजनों के व्यक्तित्व परिष्कार पर दिया जाना चाहिए। इस कार्य में समुचित समय लगाया जाना चाहिए। भले ही अन्य लाभदायक दीखने वाले कार्यों में से समय की कटौती ही क्यों न करनी पड़े?

इसके लिये यह आवश्यक है कि परिवार के साथ अधिक समय तक रहने, अधिक घुल-मिलकर बातें करने, मिल-जुलकर कुछ काम करते रहने का कार्यक्रम बनाया जाय। यह उच्चस्तरीय एवं उपयोगी मनोरंजन है। इसमें आन्तरिक प्रसन्नता होती है। साथ रहने में परिजनों को भी जी खोलने और आवश्यक मार्गदर्शन बातों-बातों में ही प्राप्त कर लेने का अवसर मिलता है।

मनोविनोद के लिए हर किसी की इच्छा होती है। सिनेमा, टी. वी. आदि देखने, ताश-शतरंज, खेल-कूदों में भाग लेने, सैर-सपाटा, गप्पबाजी करने के लिए इसी निमित्त लोग आतुर रहते हैं। समय और पैसा खर्च करते हैं। यह प्रकृति स्वाभाविक भी है और मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित भी। यदि सदा काम में जुटा रहा जाय तो एकान्त सेवन करने जैसे माहौल में पिंजड़े का पक्षी बनकर रहा

जाय, तो उस स्थिति से मन ऊब जाता है और कुछ उठा-पटक करने लगता है, जिसमें विनोद में समय लगने की अपेक्षा दूसरी किस्म की हानियाँ अधिक मात्रा में उठानी पड़ती हैं।

मनोरंजन के दर्शन में गहराई से उतरकर देखा जाय, तो प्रतीत होगा कि प्रचलित विनोदों में परिवार के सदस्यों के साथ अधिक जी खोल कर मिलना और उनके साथ-साथ कुछ-न कुछ करते रहना है। विनोबा बागवानी को अच्छे किस्म का उपयोगी व्यायाम बताते थे। वे कहते थे कि इसमें समय सृजन और उपार्जन में संलग्न रहने से पहलवानों की अपेक्षा बागवानी को तीन-गुना अधिक लाभ मिलता है। यही बात परिवार के साथ सामूहिक उपयोगी प्रेरणाप्रद मनोरंजन करने पर लागू होती है। चौंकि आमतौर से इसका प्रचलन नहीं देखा जाता, इसीलिए उसके लाभों से भी लोग परिचित नहीं हैं। बच्चों को सजाया तो खूब जाता है, पर उनके साथ खेलने का उच्चस्तरीय आनन्द लेने और देने की बात नहीं सोची जाती। सुविधा-साधन जुटा देना भर पर्याप्त मान लिया जाता है, पर वास्तविक आवश्यकता इस बात की है कि पूरा परिवार हँसती-हँसती मनोदशा में रहे। अपनी कहे, दूसरों की सुने। सहकारिता और शिष्टता जैसे सद्गुणों को उन परिस्थितियों में सहज ही बढ़ाते चला जाय।

इसके घर रहने में किसी को घुटन नहीं होती। उस छोटे से परिवार में ही अधिक से अधिक बने रहने की सबकी इच्छा होती है। घर का वातावरण नीरस एवं धिसा-पिटा रहने से ही उसमें लम्बे समय तक रहना भारी पड़ता है। बाहर भागने की इच्छा इसी कारण होती है। झीलों, पार्कों, सिनेमाघरों की सैर करने एवं दोस्तों और सहेलियों के साथ मिल बैठने के लिए जी इसी कारण करता है। यदि प्रयत्न किया जाय तो घर का वातावरण ही इतना मनोरंजनक, उत्साहवर्द्धक, आकर्षक एवं प्रेरणाप्रद बन सकता है कि उसे छोड़कर कहीं मन हलका करने के लिए जाने की किसी की भी इच्छा न हो।

अनुभव के अभाव में यह कार्य कठिन होते हैं, पर वस्तुतः हैं अति सरल। जिन दिनों घर में कोई उत्सव त्यौहार होता है, विवाह-शादी होती है, उन दिनों घर आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। उसी माहौल के बने रहने से बात बनती है। बाहर कोई जाता नहीं और जाता है तो तुरन्त वापस लौट आता है। लौट ही नहीं आता, वरन् बिखरे हुए कामों में से अपने योग्य चुनकर हाथ बँटाने लगता है। ठीक ऐसी ही स्थिति अपने घरों में भी सदा रहनी चाहिए। बच्चे भले ही इधर-उधर कूदते-फाँदते रहें, पर बड़ों को, जिम्मेदारों को तो इसी खेल में रुचि लेनी चाहिए कि वे परिवार के साथ अपने को आत्मसात कर लें। छोटे-बड़े सभी उन्हें साथी-सहचर समझेंगे, तो उनके साथ रहने में भरपूर मनोरंजन की पूर्ति हुई समझने लगेंगे। इसमें दुहरा लाभ है। बच्चे परिपक्व लोगों के साथ रहकर व्यावहारिक जानकारीयों का इतना

लाभ उठा सकेंगे, जितना छोटों के साथ रहकर नहीं उठाया जा सकता। बड़ों का लाभ यह है कि उनका बचपन लौट आता है। बच्चों के साथ रहना, हँसना, खेलना अपने आप में एक बढ़िया किस्म का मनोरंजन है।

बालकों का विकास महत्वपूर्ण तो है, पर उतने तक ही सीमित होकर नहीं रह जाना चाहिए। आयु की दृष्टि से किशोर, तरुण, प्रौढ़ या वृद्ध होते हुए भी अधिकांश व्यक्ति इस स्तर के होते हैं, जिन्हें बहुत कुछ भूलना और बहुत कुछ सीखना चाहिए। इसे पढ़ाना, समझाना अपेक्षाकृत और भी अधिक कठिन होता है, क्योंकि उनमें अहमन्यता की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है। वे अपने दुर्गुणों तक की हिमायत करने लगते हैं। सद्गुण सिखाने जैसे परामर्श देने वाले को अपना अपमान करने वाला समझ बैठते हैं। अपने को पूर्ण मान बैठते हैं और किसी की नसीहत सुनने को तैयार नहीं होते। उन्हें समझाना, राह पर लाना बूढ़े तोते को वाक्य रटाने की तरह कठिन पड़ता है। फिर भी इस कठिनाई से जूझना ही चाहिए और उसे सरल बनाना ही चाहिए।

अपने देश में शिक्षा का अभाव है। तीन-चौथाई लोग अनपढ़ हैं, साथ ही अनगढ़ भी। उन्हें पेट-प्रजनन भर की चिन्ता रहती है। इन्हीं दो प्रयोजनों के लिए मरते-खपते रहते हैं। व्यक्तित्व को परिष्कृत स्तर का बनाने में भी कुछ लाभ है क्या? यह उन्हें कभी जानने, समझने का अवसर नहीं मिला। प्रगतिशीलों के सम्बन्ध में उनकी दो ही मान्यताएँ रहती हैं। एक या तो उनका भाग्य फलित हुआ है या फिर चोरी-चालाकी से उत्कर्ष का अवसर आया है। उन्हें इस बात का भान नहीं हो पाता कि मनुष्य का स्वभाव, व्यवहार, अनुशासन, विवेक जैसे गुणों का समुच्चय ही वह ऊर्जा है, जिसे पाकर जीवन का कमल खिलता है, उत्कर्ष का संरंजाम जुटता है। इस यथार्थता को प्रियजनों के गले तो उतारा ही जाना चाहिए। उन्हें इस बात के लिए सहमत करें कि वे आत्म-निरीक्षण का अभ्यास करें। त्रुटियों को खोजें, व्यवहार में जो अनगढ़पन रम गया है, उसे खोजें और बुहार फेंकने के कार्य का उच्चस्तरीय महत्व समझें। इस प्रयास में तत्परतापूर्वक लगें। साथ ही जिन सद्गुणों की कमी है, उनका विकास-अभ्यास दिनचर्या का प्रमुख अंग बनायें। इतना बन पड़ने पर समझना चाहिए कि व्यक्तित्व निखरा, प्रतिभा जगी, राह मिली, अभ्युदय का द्वार खुला। यह व्यवस्था बनाने में गृहपतियों की, परिवार के वरिष्ठ लोगों की अहम् भूमिका रहनी चाहिए। उन्हें परिजनों के साथ घुलने-मिलने में अपने आप को उन्हीं के स्तर का बनाकर वार्तालाप करना चाहिए। उन्हीं की वय का अपने आपको मानना चाहिए। तभी एकात्मकता जुड़ती है और जी खोलकर बात करने की, आदान-प्रदान की स्थिति बनती है। सुधार-परामर्श का क्रम चलाने से पूर्व पृष्ठभूमि बना लेनी चाहिए अन्यथा परिष्कार का द्वारा खुल न सकेगा।

१.६२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रामाणिकता और प्रतिभा के विकास में घर के हर सदस्य की अभिरुचि, आकांक्षा जगानी चाहिए। वह जागरण ही जीवन-विकास का मूलभूत आधार है। यह उत्कण्ठा जग पड़ने से व्यक्ति इस स्थिति में पदार्पण करता है कि अपनी त्रुटियों को, बुरी आदतों को खोजें। जिन सदगुणों का अभाव है, उन्हें अपने में धारण करने के लिए आतुरता व्यक्त करें। यह जिज्ञासा जग पड़ना ही उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना का प्रमुख आधार है। इस वृत्ति के जगने के उपरान्त ही वह मनःस्थिति बनती है, जो आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त दूसरों को भी अपना परामर्शदाता बनाये। उनके सारगर्भित उपदेशों पर कान धरें। औचित्य को आचरण में उतारें और अग्रगमन की दिशा में अपने कदम तेजी के साथ बढ़ायें।

क्रिया-कलापों की दृष्टि से, प्रगतिशीलता की दृष्टि से क्या कुछ किया जाना चाहिए, इसकी योजना बनानी और कार्यान्वित होनी चाहिए। किन्तु उससे पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि इस अभिनव अभ्यास की दिशाधारा को अपनाने के लिए मनःस्थिति को लचीला बनाया जाय। उसे सुधारने और सम्हालने की आवश्यकता को अपनाने के लिए उत्सुक बनाया जाय। इतना बन पड़े तो मार्गदर्शक का कार्य घर के अधिपति ही नहीं, सदग्रन्थ और वरिष्ठजन भी कर सकते हैं। स्वाध्याय और सत्संग से भी यह लाभ मिलता रह सकता है।

पारिवारिक सुसंस्कारिता को प्रमुखता मिले

हमारे देश में नारी की स्थिति में सुधार युग का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ माना जा सकता है। उस समय राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के उन्मूलन का आन्दोलन छेड़कर सर्वप्रथम नारी उत्थान का उद्घोष किया। उसके बाद तौ स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द से लेकर महात्मा गाँधी आदि और भी अनेक महापुरुषों ने इस दिशा में प्रयास किये। नारी की अवनति के साथ ही भारतीय समाज की पतन गाथा शुरू हुई और उन्नीसवीं शताब्दी में उसकी स्थिति में सुधार लाने के प्रयासों के साथ ही भारतीय समाज ने भी उत्कर्ष की सीढ़ियाँ चढ़ना शुरू किया। यह अनायास ही नहीं है। जब तक परिवार या समाज का आधा भाग दूसरे आधे भाग पर बोझ बनकर रहेगा तब तक न तो परिवार का कल्याण हो सकता है न समाज का उत्थान। क्योंकि आधे भाग की वह शक्ति जो प्रगति में लग सकती है-उस बोझ को ढोने में ही खर्च होती रहेगी।

इसे एक सौभाग्य ही समझना चाहिए कि पुनर्जागरण के युग में प्रवेश करते ही भारत में भी उस स्तर के प्रयासों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और उस दिशा में कुछ किया भी गया। इस आधुनिकता की लहर के और

चाहे जो भी प्रभाव या कुप्रभाव हुए हों पर उसका एक अच्छा प्रभाव तो यह है कि स्त्रियों में भी अपनी स्थिति का बोध और योग्यता के प्रति आत्मविश्वास पैदा होने लगा है। यही कारण है कि साक्षरता के प्रसार की दृष्टि से शिक्षित महिलाओं की संख्या भी बढ़ी है। १९८१ की जन-गणना के अनुसार इनकी संख्या ७ करोड़ ९१ लाख है जो स्त्रियों की कुल जनसंख्या ३३ करोड़ ४ लाख का लगभग एक चौथाई है। यह वृद्धि अपने आप में महत्वपूर्ण है। अब तो लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा भी सभ्रान्त परिवारों में आवश्यक अनुभव की जाने लगी है और वे अपनी बच्चियों को लड़कों के समान शिक्षित बनाने की व्यवस्था करते हैं। उन सामान्य या मध्यवर्गीय परिवारों में जहाँ कि लड़कों की शिक्षा पर ध्यान दिया जाता है, लड़कियों को भी थोड़ा-बहुत पढ़ाना-लिखाना जरूरी समझा जाने लगा है।

निश्चित ही यह स्थिति सुखद है, पर शिक्षित स्त्रियाँ क्या करें? वे अपनी विकसित योग्यता और बढ़ी हुई क्षमता का सदुपयोग कैसे करें-यह एक प्रश्न है। सामान्यतः महिलाओं का कार्यक्षेत्र घर परिवार तक सीमित रहता है। चूल्हा-चौका सँभालने और परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं का ध्यान रखने तक ही उनका उत्तरदायित्व सीमित है। यह काम तो अनपढ़ और अशिक्षित महिलाएँ भी कर सकती हैं। इसी मान्यता से प्रेरित होकर लड़कियों को स्कूल भले ही भेजा जाता हो, पर उनकी शिक्षा पर लड़कों के समान ध्यान देना सामान्यतः जरूरी नहीं समझा जाता है।

लड़के चूँकि पढ़-लिख लेने के बाद नौकरी करते हैं या प्राप्त शिक्षा के सहारे अपनी आजीविका के साधन जुटाते हैं। उनको पढ़ाते समय सम्मानपूर्ण आजीविका का उद्देश्य सामने रहता है। इसलिए उनकी पढ़ाई-लिखाई पर बराबर ध्यान दिया जाता है पर लड़कियों के लिए ऐसा कोई उद्देश्य नहीं रहता। उन्हें आज की दुनिया के उपयुक्त चुस्त और समझदार भर बनाने के लिए थोड़ा बहुत पढ़ा देना आवश्यक समझा जाता है।

सम्पन्न और सभ्रान्त परिवारों में जहाँ कि उच्च शिक्षा का ध्यान कन्याओं के लिए भी समान रूप से रखा जाता है-लक्ष्य स्पष्ट नहीं रहता। घर की नाक ऊँची बनाए रखने, प्रतिष्ठित और अपने स्तर के लोगों में उठने-बैठने लायक बनाने की भावना ही वहाँ रहती है। इसी भावना के कारण शिक्षा प्राप्ति के लिए की गई वर्षों की तप साधना पर धन्ये में ही उलझी फँसी रहती है।

इधर पढ़ी-लिखी लड़कियों द्वारा समानाधिकार के नाम पर नौकरी-धन्ये में लगने की प्रतिद्वन्द्विता भी बरती जाने लगी है। देखा जाय तो समानाधिकार की उन्मादग्रस्त स्थिति में नौकरी करना या किसी पद पर नियुक्त होने की होड़ करना, दिग्भ्रामित अवस्था का ही प्रतीक है और यह भावना नारी के शोषण, अब तक की दुरावस्था तथा सामाजिक कुरीतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही जन्मी है।

नारी का शोषण बन्द होना चाहिए उसकी वर्तमान अवस्था में सुधार आना चाहिए तथा उसे हीन और अपंग बनाने वाली कुरीतियाँ मिटनी चाहिए, पर इसका मतलब यह नहीं कि यह सब कार्य अविवेकपूर्ण ढंग से करते हुए स्त्रियों द्वारा अपने महज दायित्वों को भी नकार दिया जाय। आधुनिकता के उन्माद और नारी मुक्ति के अंधे जोश से प्रेरित स्त्रियाँ घर का काम सँभालने, बच्चों की देख-रेख करने और पति तथा परिवार के सदस्यों की जरूरतों का ख्याल रखने को अपमानजनक समझती हैं। एक आधुनिक स्त्री अपने पति या सास की हलकी-सी बात को अनुचित दबाव मानती है तथा उसे सहन नहीं कर सकती। पर दफ्तर में अपने अधिकारी की डाँट-डपट तथा साथियों के व्यंग्य को सहज समझती और सहन भी करती है।

कहने का अर्थ यह कदापि नहीं कि नारी को नौकरी-धंधा करना ही नहीं चाहिए। जिन परिवारों की आर्थिक स्थिति वस्तुतः शोचनीय है और उनकी आवश्यकताएँ अकेले पति की कमाई से पूरी नहीं होती, उनकी महिलाएँ कोई काम कर घर की अर्थ व्यवस्था सुधारने में सहयोग दें-यह प्रशंसनीय है। लेकिन विशुद्ध समानाधिकार की भावना अथवा किसी के आश्रित न रहने के दृष्टिकोण से प्रेरित होकर घरेलू जिम्मेदारियों को निभाने से इन्कार कर देना मूर्खता है।

घरेलू आवश्यकताओं के लिए नौकरी करने की स्थिति कुछ महिलाओं के सामने ही आती है। क्योंकि जो उच्च शिक्षित हैं, विवाह से पहले अच्छी डिग्री प्राप्त कर चुकीं, उनके माता-पिता अपनी पुत्री का विवाह आर्थिक दृष्टि से सुसम्पन्न परिवारों में ही करते हैं। वहाँ इस तरह की स्थितियाँ बहुत कम ही आती हैं जिनमें कि स्त्रियों को कमाने या धनोपार्जन के लिए घरेलू दायित्वों से थोड़ा हाथ खींचना पड़े। कदाचित् वैसी अवस्था आ भी जाय तो नौकरी करना कोई बुरी बात नहीं है। पर समानाधिकार को लेकर यह कदम उठाना गलत है।

परिवार के सदस्य का कार्यक्षेत्र घर और बाहर इन दो नामों से विभाजित करना वैसे भी गलत है। परिवार के लिए घर और बाहर कोई अलग-अलग क्षेत्र नहीं है, वस्तुतः यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। घर का अर्थ है परिवार की आन्तरिक व्यवस्था, जिसमें छोटी-छोटी बातों को लेकर बच्चों के निर्माण और घरेलू वातावरण को ऊँचा बनाने तक के कार्य सम्मिलित हैं। यह काम स्त्रियाँ ही भली-भाँति कर सकती हैं। पुरुष का कार्यक्षेत्र बाहर समझा जाता है। परिवार के लिए आवश्यक साधनों को जुटाना उनकी व्यवस्था करने जैसे काम पुरुष के जिम्मे समझे जा सकते हैं और इसी आधार पर उसका कार्यक्षेत्र बाहर मान लिया जाता है। वस्तुतः नारी और नर के घर और बाहर के कार्यक्षेत्र कोई अलग-अलग नहीं हैं। उनका स्वरूप भले ही भिन्न हो पर दोनों सम्बन्धित हैं, अन्योन्याश्रित हैं, एक ही परिवार के हाथ-पैर हैं। दोनों को दोनों की आवश्यकता समान रूप से पड़ती है।

इनमें से किसी भी एक पक्ष में त्रुटि आने पर दूसरा लड़खड़ा जाता है और परिवार अस्त-व्यस्त होने लगता है। नर और नारी के सुपुर्द ये दोनों तरह के कार्य उनकी विशिष्ट क्षमताओं और योग्यताओं के कारण ही विभाजित किये गए हैं। आपत्तिकाल में तो वे परस्पर एक दूसरे का काम चला सकते हैं, पर स्थायी रूप से वैसी बात सोचना अस्वाभाविक ही है।

नारी अपनी शारीरिक संरचना संवेदना युक्त स्वभाव और संतुलित मनःशक्ति के कारण घर की अन्दरूनी व्यवस्था अधिक कुशलता के सँभाल सकती है। लेकिन जब केवल प्रतिद्वन्द्विता के कारण पुरुष की बराबरी की दिग्भ्रमित धारणा के कारण जिस काम को पुरुष करता है उसी को करने में वह अपनी शान समझने लगे तो यह एक भयंकर भूल होगी और इसके कारण सहयोग, स्नेह-सद्भाव के धागे टूटने का डर पैदा हो जाएगा। अपनी शिक्षा, योग्यता और प्रतिभा को उपार्जन के क्षेत्र में लगाने के पीछे अक्सर यह भ्रान्त धारणा काम करती है कि इससे पति के आश्रय की विवशता खत्म होगी। इस प्रतिशोध भावना का उदय होने पर वे यह भूल जाती हैं कि पुरुष भी तो अन्तःकरण और अन्य आवश्यकताओं के लिए स्त्री पर निर्भर है। एक तरह से दोनों के लिए एक दूसरे का सहयोग जरूरी है। इस आधार पर न कोई छोटा है और न बड़ा। न कोई आश्रित है न आश्रयदाता जहाँ-कहाँ भी ऐसे भाव आते हैं, उन्हें नष्ट करना चाहिए न कि प्रतिद्वन्द्विता अपनानी चाहिए।

सम्पन्न परिवारों की स्त्रियों द्वारा नौकरी करने का एक कारण यह भी है कि वे अपने ऐश-मौज की सामग्री सुविधापूर्वक प्राप्त करने के लिए लालायित रहती हैं। जब कभी पुरुष का उपार्जन इसके लिए अपर्याप्त पड़ता है अथवा मनचाही सुविधाएँ नहीं मिलती हैं तो उन्हें नौकरी करने की सृज्नी है। शौक-मौज या विलासिता के साधन जुटाने के लिए नौकरी करने वाली महिलाएँ भी कोई लाभ में रहती हों-ऐसा दिखाई नहीं देता। अपना सारा समय नौकरी में लगा देने पर उन्हें अपने घर का काम निपटाने के लिए नौकर रखने की आवश्यकता होती है। कहना न होगा कि अलग-अलग कामों के लिए अलग-अलग नौकर रखने होंगे। जैसे रसोई बनाने के लिए रसोइया, कपड़े धोने के लिए धोबी और बच्चों की देखभाल के लिए नौकर-आया इत्यादि। इन सब में ही तीन चौथाई तनखाह बँट जाती है और शेष जो बच जाता है, उससे क्या तो सुविधाएँ मिलती होंगी और क्या साधन?

सरकारी नौकरी एक तो मुश्किल से मिलती है और उसमें कभी तबादला हो गया तो दो अलग-अलग जगह के खर्च, आने-जाने का भोड़ा अलग-अलग व्यवस्थाएँ इनमें ही सारा वेतन चला जाता है। घर में कुछ मिलता भी है तो नाममात्र को और वह भी घर रखे गए नौकरों बच्चों की देख-रेख में खर्च में खर्च हो जाती है। बच्चों को कितना भावनात्मक दबाव सहन करना पड़ता होगा इसका तो अनुमान लगाना भी मुश्किल है।

१.६४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

महिलाओं द्वारा नौकरी करने में सबसे ज्यादा हानि बच्चों को होती है। बच्चों को माँ की छत्रछाया हर घड़ी आवश्यक महसूस होती है। पिता की अनुपस्थिति का उन पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि माँ की अनुपस्थिति का दुष्प्रभाव। क्योंकि बच्चा माँ के साथ नौ माह तक एक प्राण होकर जिया है, उसकी साँस में साँस लेता रहा है और जब तक उसका पूरा विकास नहीं हो पाता—वह उसी के संरक्षण में स्वयं को सुरक्षित पाता है। अतएव बच्चों के निर्माण की दृष्टि से भी केवल प्रतिद्वन्द्विता, समानाधिकार अथवा विलास के साधन हेतु नौकरी करना अनुचित है।

आर्थिक दृष्टि से बचत के लिए नौकरी की जाय तो वह भी मात्र दुराशा ही सिद्ध होगी। क्योंकि बाहर नौकरी करने के साथ जो खर्च बढ़ जाते हैं, वे होने वाली बचत को महत्वहीन कर देते हैं। इसके विपरीत घर में रहकर अपने काम अपने हाथ से करते हुए काफी पैसा बचाया जा सकता है। सम्पन्न परिवार की महिलाएँ जो और अधिक सम्पन्न बनने के लिए नौकरी करती हैं तथा घर की व्यवस्था के लिए खुद नौकरों पर निर्भर रहती हैं वे यदि अपना काम अपने हाथ से करने लगे तो काफी बचत हो सकती है। दाल-मसाले, पापड़, बेसन बढ़िया, शरबत आदि खुद तैयार करने, स्वयं ही सफाई करने, झाड़ू लगाने, बरतन मौजने, कपड़े धोने का साबुन या सर्फ घर पर बनाने, सिलाई-बुनाई घर पर ही कर लेने एवं बच्चों को स्वयं पढ़ाने आदि बातों के खर्च का हिसाब लगाया जाय तो यही बचत करीब दो-सौ रुपये तक बैठती है। नौकरी करने वाली महिलाओं की बचत और घर पर अपने हाथ से ही सारा काम कर लेने पर हुई बचत की तुलना की जाय तो दूसरे पक्ष का वजन ही अधिक बैठेगा। इसके साथ जुड़ी कई स्थितियाँ और लाभ ऐसे हैं। जिनकी कीमत नहीं आँकी जा सकती। जैसे बच्चों के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण, पारिवारिक सुखशान्ति और स्नेहिल घरेलू सम्बन्ध आदि।

प्रश्न उठता है कि शिक्षित नारी की योग्यता या प्रतिभा का उपयोग क्या इतने तक ही सीमित है? क्या उसे केवल उन्हीं कामों तक अपने को सीमित रखना चाहिए जिनको कि परम्परागत रूप से अनपढ़ और अशिक्षित स्त्रियाँ भी कर लिया करती हैं? यह कहना तो सही है कि अनपढ़ और अशिक्षित महिलाएँ भी घरेलू काम-काज कर लेती हैं तथा परिवार चला लेती हैं। पर उनके परिवार चलाने और शिक्षित महिलाओं द्वारा गृह संचालन में बहुत बड़ा अन्तर है। वैसा ही अन्तर जैसा कि एक ने कोई काम फूहड़ और अनगढ़ तरीके से किया हो और दूसरों ने कलात्मक ढंग से। शिक्षित महिलाएँ परिवार का संचालन कलात्मक ढंग से कर सकती हैं। वे केवल परिवार की

संचालिका ही नहीं होती हैं साथ ही शिक्षित महिलाएँ अपनी शिक्षा, योग्यता का उपयोग रचनात्मक कार्यों में भी कर सकती हैं और समाज को उसका अधिक लाभ मिल सकता है। नौकरी करने में जहाँ केवल योग्यता का विक्रय ही होता है और उसका भी ठीक-ठीक मूल्य नहीं मिलता वहीं रचनात्मक कार्यों में अपना समय, श्रम लगाकर वे समाज को अधिक लाभ दे सकती हैं, जो धूम फिर कर वापस उन्हीं तक पहुँचेगा। सेवा-साधना के बदले में मिलने वाला आत्मसन्तोष तो तात्कालिक दृष्टि से लाभदायक है ही।

इस तरह के रचनात्मक कार्यों में पढ़ाई की महिलाओं को पढ़ाने, निरक्षर और अनगढ़ स्त्रियों को साक्षर बनाने तथा शिक्षण प्रदान करने, उन्हें सुरुचिपूर्ण ढंग से रहने की प्रेरणा व दिशा देने का काम समय की माँग को पूरा करता है। सेवा-भावना से प्रेरित होकर किये गए इस तरह के कार्य शिक्षित महिलाओं को वास्तव में प्रतिष्ठित और श्रद्धेय बना सकते हैं। अध्ययन द्वारा अपनी योग्यता का विकास, लेखन, विभिन्न कलाओं का अभ्यास आदि ऐसे कार्य हैं जिनके द्वारा अपनी योग्यता का सही सही सदुपयोग किया जा सकता है और उसका आत्म-सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है।

पारिवारिक सुख के लिए अर्थ साधनों की आवश्यकता से कोई इन्कार नहीं करता। पर ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि इन प्रयोजनों के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता सद्भावना एवं सुव्यवस्था की है। यह दोनों तत्व विद्यमान रहेंगे तो अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी हँसते-हँसाते दिन गुजारे जा सकते हैं। स्नेह, सौजन्य, सहकार, सद्व्यवहार ही वह पूँजी है, जिसके सहारे एक साथ रहने वाले मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदान से छोटे से परिवार में स्वर्गीय वातावरण का सृजन कर सकते हैं। स्वर्ग में हर्षोल्लास की परिस्थितियाँ मिलने की कल्पना की जाती है। उसका व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप देखना हो तो किसी सद्गृहस्थ के घर-परिवार में प्रवेश करके देखा जा सकता है। ऐसे स्नेहसिक्त वातावरण में रहने के लिए हर किसी का मन ललचायेगा, भले ही वहाँ साधनों की न्यूनता का भी सामना क्यों न करना पड़े। ऐसे ही परिवार में सुसंस्कारी बालक विकसित होते हैं और उन्हीं का परिष्कृत व्यक्तित्व बड़े होने पर उन्हें महामानवों की श्रेणी में ला बिठाता है। जिन्दगी को चैन से गुजारने के लिए भी ऐसी ही पारिवारिक परिस्थितियाँ होनी चाहिए।

प्रश्न यहाँ भी यही उत्पन्न होता है कि ऐसा वातावरण किस प्रकार उत्पन्न हो? उसका सृजन कौन करे? निश्चय है, इस ताले की कुंजी सुगृहणी के हाथ में है। नर सुयोग्य और सुसम्पन्न होने पर इस संदर्भ में हाथ बँटा सकता है, साधन जुटा सकता है, पर आगे बढ़कर कोई

बड़ी भूमिका निभा सकना उसके लिए सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी भूमिका परिवार व्यवस्था में बहुत स्वल्प होती है। नहाने, खाने, सोने जैसे ढर्रे के नित्यकर्मों को करने में ही उसका अधिकांश समय बीत जाता है। गृहकार्य से निपटने के बाद तुरन्त आजीविका उपार्जन तथा दूसरे आवश्यक कार्यों के लिए उसे बाहर भागने की जल्दी पड़ती है। ऐसी दशा में वह झल्लाने, समझाने के अतिरिक्त कोई महत्वपूर्ण भूमिका निभा ही नहीं पाता। इस दायित्व का समुचित निर्वाह तो कोई सुयोग्य, शिक्षित समझदार गृहिणी ही कर सकती है। गृहलक्ष्मी जो नाम दिया गया है वह अलंकार या भावुकता नहीं— उसके पीछे तथ्य है। लक्ष्मीजी ने अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से अपने लोक को स्वर्ग बनाया इस पौराणिक प्रतिपादन का प्रत्यक्ष उदाहरण देखा हो तो किसी गृहलक्ष्मी के घर में जाकर वहाँ बरसने वाले स्नेह-सौजन्य और सज्जनोचित क्रिया-कलापों के माध्यम से सहज ही देखा जा सकता है।

आन्दोलनों की चकाचौंध में हमें दो ही कार्य महत्वपूर्ण मालूम पड़ते हैं, जिनके लिए धुँआधार शोर मचता है और कर्णबेधी नगाड़े बजते हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि महत्व उपद्रवों, धमाकों एवं बवण्डरों का नहीं वरन् उन सृजनात्मक प्रवृत्तियों का है जो मनुष्य की अन्तःचेतना को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करके उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर कराती है। हमारे घरों में ऐसा वातावरण बने तो उस प्रयोजन की बहुत कुछ पूर्ति मात्र भावनात्मक आधार पर ही हो सकती है, जिसके लिए प्रचुर सम्पदा का संग्रह आवश्यक समझा जाता है। नारी के स्वातंत्र्य का तो समर्थन किया जाय, उन्हें सुशिक्षित बनाने हेतु बहुमुखी प्रयास भी किये जायें, पर ध्यान यह रखा जाय कि परिवार का निर्माण-भावी पीढ़ी को सुसंस्कारित करने का दायित्व-गृहस्वामी को सहारा-दिशा देने का काम भी उसी का है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता रही है। ऋषिकालीन परम्परा में ऋषि पत्नियों ने केवल शिक्षा प्राप्त करती थीं अपितु आश्रम व्यवस्था में पूरा सहयोग देकर ऋषियों के दायित्वों में हाथ बैठाती थीं।

आधुनिक प्रगति एवं शिक्षा विस्तार कार्यक्रम से संगति बिठाकर परिवार संस्था को सुव्यवस्थित, सुसंस्कारी बनाने का नारी का कर्तव्य उसे सतत् स्मरण कराया जाय, सामूहिक स्तर पर ऐसे प्रयास चलते रहें तो ही देव संस्कृति के अध्यायों में वर्णित 'धरती पर स्वर्ग' की कल्पना साकार हो सकती है।

परिवार को कुसंस्कारी न बनने दिया जाय

अनेक लोगों का कहना है कि आज पारिवारिक जीवन में फैली फूट, बिखराव तथा गृहकलह का कारण आर्थिक प्रभाव है। घर-घर लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ती चली जाती हैं किन्तु आमदनी बढ़ने का मार्ग

दिखलाई नहीं देता। हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये परेशान हो रहा है, इच्छाओं की आपूर्ति लोगों में क्रोध, असहिष्णुता तथा चिड़चिड़ापन बढ़ा रही है। असंतोष से प्रेरित लोगों का पारस्परिक प्रेम कम हो गया है। इसीलिए घर-घर में फूट तथा लड़ाई-झगड़ा दिखाई देता है। यदि लोगों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो जायें उनकी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की प्रकामपूर्ति होती रहे तो मनो में माधुर्य तथा स्वभाव में सरसता बनी रहे। फिर उनमें न तो आपस में लड़ाई-झगड़ा हो, न टूट-फूट और न किसी प्रकार का गृह-कलह ही दिखाई दे। सब समान रूप से शान्त, सन्तुष्ट तथा सुखी जीवन बिताते हुए मिल-जुलकर रहें।

लोगों की यह धारणा पूरी तरह सही नहीं है। आर्थिक कठिनाइयों में कुछ असन्तोष होता अवश्य है, किन्तु इस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक घर-घर में दिखाई दे रहा है। यदि आर्थिक सम्पन्नता ही पारिवारिक सुख-शान्ति एवं सौहार्द का कारण रही होती तो सम्पन्न परिवारों में गृह-कलह एवं बिखराव दिखाई नहीं देता। संसार में जहाँ गरीब परिवार पड़े हैं वहाँ एक से एक बढ़कर सर्वसम्पन्न परिवार भी मौजूद हैं। गार्हस्थिक सुख-शान्ति यदि आर्थिक सम्पन्नता पर ही निर्भर होती तो हर धनवान परिवार को सुखी, सन्तुष्ट तथा संगठित रहना ही चाहिए। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है।

एक बार गरीब परिवार में तो शान्ति एवं संगठन देखा जा सकता है किन्तु अमीर परिवारों में आये दिन झगड़े और बँटवारे होते रहते हैं। लड़के सयाने होते ही अपना हिस्सा अलग माँगते हैं। भाई-भाई से बटवारा करने के लिये न्यायालय की ओर दौड़ रहा है। काररोजगारों के खण्ड होते, घरों में हिस्से होते और सयाने सदस्यों को अलग बसते आये दिन देखा जा सकता है। गृह-कलह का जितना बड़ा कारण निर्धनता नहीं है, उससे हजार लाख-गुना बड़ा कारण सम्पन्नता है। धन के कारण घरों में न केवल कहासुनी ही होती रहती है बल्कि खून-खराबी तक की नौबत आ जाती है। बड़े घरों की महिलायें गहने-कपड़ों की कमी ज्यादाती को लेकर जूझा करती हैं और पुरुष आय व्यय को लेकर द्वन्द्व मचाये रहते हैं। ऊपर से लकड़क और मुस्कान से मीठी दिखाई देने वाली अमीर लोगों की जिन्दगी अन्दर से प्रायः कटु एवं क्लेशपूर्ण ही होती है। कदाचित् ही कोई ऐसा भाग्यवान गृहपति हो जो धनवान हो और भाई-बन्धु, पुत्र-पुत्रियों के बीच सुख-शान्ति की जिन्दगी बिता रहा हो। गृह-कलह का कारण निर्धनता और सुख-शान्ति का आधार धन को मानने वाले भारी भ्रम में हैं उन्हें अपनी धारणा में सुधार कर ही लेना चाहिए।

गृह-कलह का सारभूत कारण न तो निर्धनता है और न तो धनता। इसका आधारभूत कारण है परिवारों का असंस्कृत होना। जिस परिवार के सदस्य सुशील, सुसंस्कृत, सभ्य एवं उदात्त स्वभाव के होंगे उस परिवार में

१.६६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

गृह-कलह कदाचित् ही हो फिर चाहे वे निर्धन हों अथवा धनवान ! परिवारों से गृह-कलह को आमूल नष्ट करने और उनमें संगठन, सुदृढ़ता, सुख और शान्ति बनाये रखने के लिये उनको सुसंस्कृत बनाना होगा ।

संस्कार के अभाव में सुशिक्षित होने पर भी परिवारों के सयाने लड़के दुर्व्यसनी एवं दुर्गुणी बन जाते हैं । वे चारित्रिक महत्त्व और उसकी परिभाषा न जानने से उच्छृंखल, निरंकुश तथा अनुशासनहीन हो जाते हैं । घरों के बड़े-बूढ़े अधिकार एवं कर्तव्य में संतुलन न रख सकने के कारण क्लेश के कारण बन जाते हैं । स्त्रियाँ घर की सुख-समृद्धि में शान्ति, सन्तोष, स्नेह-सौहार्द एवं हँसी-खुशी के योगदान की महत्ता न जानने से गाल फुलाये, मुँह लटकाये, रूठी, ऐंठी और चख-चख करती हुई वातावरण को असहनीय बनाये रहती हैं । संस्कारों के अभाव में उनका स्वभाव असहनीय एवं व्यंग्यवादी बन जाता है । घर की बड़ी-बूढ़ियाँ अधिकार लिप्सा से पीड़ित परिजनों का उठना-बैठना तक दूधर कर देती हैं । इन सब विकारों, विकृतियों एवं त्रुटियों का कारण क्या है ? परिवारों का असंस्कृत होना ।

यदि परिवारों के सदस्य सुसंस्कृत हों तो वे अपने अधिकारों की सीमा और कर्तव्यों की प्रसार परिधि को पूरी तरह से समझ सकते हैं । फलस्वरूप उनमें संतुलन बनाए रखकर घर में गृह-कलह होने का अवसर ही न आने दें । स्वार्थों के टकराने, कर्तव्य एवं अधिकारों में असंतुलन आने और हृदयों से त्याग भावना का तिरोधान हो जाने पर ही गृह-कलह का जन्म होता है । यदि प्रयत्नपूर्वक इन न्यूनताओं को दूरकर दिया जाये तो आज के जलते नरक कुण्ड के समान कलह-कुपित घर सुख-शान्ति के स्वर्ग बन जायें और तब परिवारों के उस मंगलमय वातावरण में क्या लौकिक और क्या पारलौकिक ऐसी कौन-सी समृद्धि हो सकती है, जो उपलब्ध नहीं की जा सकती ।

परिवार को सुसंस्कृत बनाने का अर्थ है, उसके सदस्यों के गुण, कर्म, स्वभाव में सुन्दर विकास करना । दूसरों को दुःखदायी व कुमार्ग पर ले जाने वाले उनके दुर्गुणों और क्रोध, द्वेष, दुर्भावों, ईर्ष्या स्वार्थ, अनुदारता, असहिष्णुता आदि दोषों का परिमार्जन कर उनके स्थान पर सदाचार, सुशीलता, प्रेम, परस्पर उदारता, मधुरता और प्रसन्नता के बीजारोपण करना ही उनका संस्कार करना है । परिजनों में सुशील संस्कार विकसित करने का दायित्व गृहपति को ही अपने ऊपर लेना चाहिए । क्योंकि परिवार का मुख्य सदस्य एवं संचालक होने से उसका प्रभाव सबसे अधिक होता है । प्रायः गृहपति की बात कदाचित् ही कोई सदस्य नीचे डालेगा । हाँ ऐसी परिस्थिति तब आ सकती है जब गृहपति स्वयं ही सुसंस्कृत न हो, स्वयं ही गुणों का अनुसरण न करता हो अथवा सुधार में सीख के स्थान पर अधिकार का प्रयोग करे और दण्ड अथवा डर के आधार पर वांछित संस्कारों को आरोपित करने का प्रयत्न करे । ऐसी भूल से पहले से ही असंस्कृत परिवार में गृहकलह

का एक और कारण बन जायेगा और पुण्य प्रयत्न अभिशाप के रूप में फलीभूत होने लगेगा ।

परिवार को गुणी, सदाचारी तथा सुशील बनाने के लिए सबसे पहले गृहपति को वैसा बनना होगा । यदि उसमें बीड़ी, सिगरेट, पान, तम्बाकू, शराब आदि का कोई दुर्व्यसन हो तो उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए । अपनी आवश्यकताओं को यथासम्भव संक्षिप्त कर देना चाहिए । अपना जीवनक्रम एक निश्चित दिनचर्या में नियमित कर देना चाहिए । क्रोध, कटुता तथा उत्तेजना से स्वभाव को मुक्तकर प्रसन्नता, स्थिरता तथा मधुरता सिद्ध करनी चाहिए । अधिकारों की परिधि संकुचित कर कर्तव्यों का दायरा बढ़ा-चढ़ा देना चाहिए । गुरुता गौरव नहीं गर्व छोड़कर विनम्रता की विशेषता विकसित करनी चाहिए । आत्मसंयम एवं आत्म-अनुशासन से अपने को सजाकर एक आदर्श मुखिया के समान अपने जीवन को एक अनुकरणीय उदाहरण के रूप में सबके सामने रखना चाहिए । गृहपति का इस प्रकार से सुसंस्कृत किया हुआ जीवन साकार शिक्षा के रूप में परिवार के प्रत्येक सदस्य के अन्तराल प्रभावित करेगा और वे धीरे-धीरे स्वभावतः स्वयं ही सुसंस्कृत एवं सुशील बनने लगेंगे ।

इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे उपयोगी उपाय हैं जिनको शिक्षा एवं प्रशिक्षण के रूप में काम में लाकर सदस्यों को संस्कार की दिशा में और अधिक अग्रसर किया जा सकता है ।

परिवार के प्रत्येक सदस्य को हर सम्भव उपाय से शिक्षित एवं साक्षर बनाना ही चाहिए । उनमें से विकासोन्मुख सदस्यों को शिक्षा और विकसित एवं प्रौढ़ निरक्षर सदस्यों के लिये साक्षरता की व्यवस्था करनी चाहिए । बिना शिक्षा एवं साक्षरता के संस्कार शोधन में कठिनाई होगी । शिक्षा जीवन-निर्माण की आधारशिला है ऐसा मानकर विद्यालय के योग्य सदस्यों को विद्यालय में जाना चाहिए और अन्यो को घर पर ही पढ़ने का प्रबन्ध करना चाहिए । घर-घर लगने वाली चटसार में छोटों को बड़ों से पढ़ने और बड़ों को छोटों से पढ़ने में किंचित मात्र भी संकोच न करना चाहिए । जिस परिवार के सारे सदस्य शिक्षा में रुचिवान बना लिये गये मानो उसके सुसंस्कृत होने की सम्भावनाएँ सुनिश्चित बना दी गईं ।

आस्तिकता शुभ संस्कारों की जननी है । घर के हरे सदस्य को आस्तिक बनाने के लिये परिवार का वातावरण धार्मिक बनाये रखा जाये । इसके लिए नित्य ही प्रातः अथवा सायंकाल सामूहिक प्रार्थना का कार्यक्रम चलाया जाये । चटसार के समय ही नित्य प्रति, गीता, रामायण, भागवत अथवा किसी अन्य धर्मग्रन्थ का वाचन श्रवण होना चाहिए और पर्वोत्सवों के अतिरिक्त साप्ताहिक अथवा पाक्षिक भजन, कीर्तन की व्यवस्था की जानी चाहिए । इस प्रकार घर का वातावरण धार्मिक बनाये रहने से सदस्यों के चरित्र में दुर्गुणों के समावेश की सम्भावनाएँ बड़ी सीमा तक निकल ही जायेंगी ।

इस प्रकार मानसिक सुधार के साथ-साथ सुसंस्कार जाग्रत करने के लिये शारीरिक सुधार की भी आवश्यकता है। शारीरिक सुधार में स्वास्थ्य का प्रमुख स्थान है। स्वास्थ्य सुधार के लिये शारीरिक व्यायाम की बहुत आवश्यकता है। इसके लिये वृद्ध व्यक्ति प्रातःभ्रमण का कार्यक्रम बना सकते हैं। तरुण सदस्य परिश्रमपूर्ण व्यायाम कर सकते हैं, किशोर अपने साथियों के साथ हॉकी, फुटबॉल, वालीबॉल आदि खेल खेलने जा सकते हैं। स्त्रियाँ अपने स्वास्थ्य के लिए अनाज पीस-कूट सकती हैं। घरों में बागवानी, घर की सफाई, कपड़ों का धोना और पानी भरना भी उनके लिए व्यायाम का लाभ दे सकता है।

भोजन के विषय में परिवार के सारे सदस्यों की रुचि एक जैसी बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह प्रयत्न सात्विक भोजन का अभ्यास कराने से सहज ही में सफल हो सकता है। तामसी अथवा राजसी भोजन करने से ही मनुष्य की रुचि तथा जिह्वा बिगड़ जाती है। सात्विक आहार मनुष्य की रुचि को सरल, साधारण तथा स्थिर बना देता है। सात्विक वृत्ति वाले व्यक्ति को साधारण तथा सादे से सादे भोजन में स्वाद आता है। उसकी जिह्वा गहरे रसों की याचना नहीं करती। अस्तु, घर की रसोई को पराकाष्ठा तक सरल, सात्विक तथा साधारण रखना चाहिए। भोजन का स्तर इतना माध्यमिक होना चाहिए जो तीसों दिन समान रूप से चलता रहे। यह नहीं होना चाहिए कि दो दिन तो पूरी पकवान, मेवा-मिष्ठान्न अथवा खीर, हलवा बन गया और बाकी दिन शाक-दाल में भी कमी होती रहे। साधारण एवं समान भोजन जहाँ स्वाध्याय में असन्तुलन नहीं लाता वहाँ अल्पव्ययी भी होता है। शाक, सब्जी तथा ऋतु फलों की अधिकता दूध, दही, मक्खन, मलाई आदि पौष्टिक पदार्थों से किसी भी दशा में कम लाभकर नहीं होती।

परिवार के सारे सदस्यों के वस्त्र एक ही स्तर के आवश्यकतानुसार मोटे एवं मजबूत होने चाहिए। वस्त्रों की विषमता सदस्यों में स्पर्द्धा जगा देती है। फैशन, प्रदर्शन तथा अलंकारिणी को तो पूरे परिवार से पूरी तरह बहिष्कृत कर देना चाहिए। वस्त्र अधिक से अधिक स्वच्छ तथा कम से कम विविधतापूर्ण रखे जायें। सादी वेशभूषा सदस्यों में सात्विक स्वभाव को विकसित करेगी।

घर के आय-व्यय का ज्ञान हर समझदार सदस्य को रहना ही चाहिए। इसके लिये उनको सम्मिलित करके घर का बजट बनाना बहुत ही उपयोगी रहेगा। घर के आय-व्यय का ज्ञान रहने से कोई भी सदस्य अपनी आवश्यकताओं को आर्थिक परिधि से बाहर ले जाने से बचेगा। इस प्रकार उसमें सन्तोष तथा मितव्ययता का विकास होगा।

इन उपायों को काम में लाने के अतिरिक्त गृहपति का कर्तव्य है कि वह घर की व्यवस्था पर पूरा ध्यान दे।

सदस्यों का आपसी मनोमालिन्य दूर करने के लिये दैनिक गोष्ठी करे जिसमें वह सब के गुणों की महिमा तथा पारस्परिक प्रेम का महत्व समझाएँ। उन्हें ऐसी कहानियाँ तथा समाचार सुनायें जो चरित्र-निर्माण तथा सौहार्द की दिशा में प्रेरक हों।

कहना न होगा कि इस प्रकार अपने उदाहरण के साथ यदि गृहपति संस्कार शोधन के इन कतिपय उपायों को अविकल रूप से काम में लाये तो कोई कारण नहीं कि उसका परिवार सुसंस्कृत न हो जाये और गृह कलह दूर होकर उसके स्थान पर सुख-शान्ति का वातावरण न रहने लगे।

परिवार को सुसंस्कृत बनायें

जिस प्रकार वृक्ष की सफलता उसकी जड़ पर निर्भर है उसी प्रकार मनुष्य की सफलता एवं सुख-शान्ति परिवार पर निर्भर है। यदि वृक्ष की जड़ कमजोर, अव्यवस्थित शुष्क अथवा अनुपयुक्त हों तो वृक्ष किसी भी दशा में विकसित होकर फल-फूल नहीं सकता। परिवार के व्यवस्थित, सुसंस्कृत तथा उपयुक्त होने पर ही व्यक्ति जीवन में वांछित उन्नति की ओर बढ़ सकता है। मनुष्य के जीवन विकास में परिवार का महत्वपूर्ण योगदान भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

गृहस्थ-जीवन को पृथ्वी पर स्वर्ग कहा गया है। मनुष्य का युग-युग का अनुभव बतलाता है कि जो सुख पारिवारिक जीवन जीने में है वह किसी अन्य प्रकार की जीवन-पद्धति में नहीं है। आश्रम व्यवस्था का प्रचलन करने वाले ऋषि-मुनियों ने गृहस्थ आश्रम को सबसे पुनीत एवं उपयोगी बताया है। जीवन की सारी व्यवस्था परिवार पर निर्भर रहती है। शेष तीन आश्रम भी गृहस्थ आश्रम पर निर्भर रहते आये हैं।

पारिवारिक जीवन एक प्रकार की सुन्दर, स्वस्थ सहकारी जीवन पद्धति है। परिवार के प्रत्येक सदस्य का सुख-दुःख प्रत्येक से जुड़ा रहता है। सभी एक दूसरे की सुख-सुविधा में सहायक होते हैं। गृहपति यदि परिवार चलाने के लिये श्रम करता है तो गृहस्वामिनी उसके लिये समय पर भोजन तथा आराम की व्यवस्था किया करती है। पति जो कुछ कमा कर लाता है पत्नी उसे सँजोती तथा उसका इस प्रकार से अधिक से अधिक सदुपयोग करती है जिससे कि घर की व्यवस्था रोचक, मनोरम एवं सम्पन्नतापूर्ण बनी रहे। माता-पिता बच्चों का पालन पोषण करने में श्रम करते हैं तो बच्चे भी उन्हें अपनी किलकारियों तथा आज्ञानुवर्ती से आनन्दित करते रहते हैं। बूढ़े हो जाने पर अपने माता-पिता के हाथ-पाँव बन कर उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देते। सम्मिलित परिवारों में अनेककी कमाई एक साथ घर आती और एक साथ भोजन व्यवस्था होने से घर-बार भरा-पूरा बना रहता

१.६८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

है। एक सदस्य के बीमार हो जाने पर सारे सदस्य उसकी चिन्ता एवं सेवासुश्रूषा करते हैं जिससे रोगी बड़ा ही आश्वस्त अनुभव करता और शीघ्र अच्छा हो जाता है। सदस्यों के मिल-जुलकर रहने से परिवार की प्रतिष्ठा एवं शक्ति बढ़ती है, जिससे कोई दुष्ट अनायास उसे हाँफि पहुँचाने की हिम्मत नहीं कर पाता। इस प्रकार यदि परिवार संगठित, सुव्यवस्थित तथा सुमतिपूर्ण है तो उसकी तुलना में स्वर्ग का सुख भी तुच्छ आँका जायेगा।

पारिवारिक जीवन में न केवल भौतिक सुख-सुविधा के लाभ हैं अपितु आध्यात्मिक लाभ भी कुछ कम नहीं हैं। पारिवारिक जीवन में हर मनुष्य अपनी व्यक्तिगत स्वार्थपरता त्याग कर दूसरों की सुख-सुविधा का ध्यान रखने का अभ्यास सिद्ध करता है। अतिथि सेवा, परोपकार, दान-पुण्य का जितना अवसर गृहस्थ जीवन में मिलता है उतना अन्य जीवन में नहीं। गृहस्थ लोग निहंगों की अपेक्षा कहीं अधिक सहिष्णु, सदाचारी तथा सौहार्दपूर्ण हो जाया करते हैं। प्रेम का प्रकाश जितना गृहस्थ के भाग्य में होता है। उतना गृहस्थहीन व्यक्ति के भाग्य में नहीं। गृहस्थी में माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन, चाचा-ताऊ आदि सारे सदस्य एक-दूसरे को स्नेह तथा प्रेम किया करते हैं। जितना बड़ा परिवार होता है सदस्यों के प्रेम का दायरा उतना ही बड़ा होता है। जिस गृहस्थ के बेटा-बेटी, नाती-पोते हैं तो वह उनको प्रेम करने के स्वभाव के कारण दूसरे के बच्चों को भी प्रेम करता है। माँ-बहिन, बेटा-बहू वाला सदगृहस्थ उसी दृष्टि से दूसरे की बहू-बेटियों को देखता है। परिवार निःसन्देह मनुष्य के नैतिक प्रशिक्षण का एक सुन्दर केन्द्र है।

बेटे-बेटियों तथा नाती-पोतों की ब्याह-शादी होने पर गृहस्थ के स्नेह-सम्बन्धों की परिधि और भी बढ़ जाती है। यदि वह बुद्धिमान इनमें स्वार्थ तथा संकीर्णता से दूषित अपनत्व न रखे और सारे सर्गों एवं सम्बन्धियों को विश्व विराट का घटक मानकर निश्छल प्रेम करे और उनके लिये सहायता, सहयोग के लिये निस्वार्थ भाव से तत्पर रहे तो उसकी यह आत्मीयता विश्व प्रेम में परिणत हो जाये और वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला एक आध्यात्मिक व्यक्ति बन जाये। त्याग भावना पारिवारिक जीवन का विशेष गुण है। यों तो मूल-मानव पशुओं की तरह स्वार्थी होता था उसे किसी दूसरे की सुख-सुविधा का जरा भी ध्यान नहीं रहता। किन्तु जब वही स्वार्थ मानव गृहस्थ जीवन में स्त्री, बच्चों तथा भाई बहिनों के बीच बसता है तब अपेक्षाकृत अधिक निःस्वार्थी हो जाता है। अपने से पहले उसे अपने स्त्री-बच्चों तथा भाई-बहिनों एवं माता-पिता की सुख-सुविधा का ध्यान रहता है और वह सुखपूर्वक उनके लिये कुछ भी त्याग करने के लिये तैयार रहता है। प्रेम अथवा ममतावश ही सही त्याग भावना का विकास होना हर प्रकार से कल्याणकारी है।

किन्तु यह सब सुख स्वर्गमय भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ होते तभी हैं जब परिवार सुसंगठित, व्यवस्थित तथा सुसंस्कृत होते हैं अन्यथा अव्यवस्थित एवं असभ्य परिवारों से बड़ा कोई नरक नहीं है। असफल गृहस्थी गले की फाँसी बन जाती है। अशिष्ट पत्नी, उच्छृंखल संतानें, स्वार्थी भाई और क्रूर माता-पिता किसी भी व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन स्वाहा कर देने के लिये विकट वैश्वानर के समान ही होते हैं। जब तक परिवारों में अपेक्षित अनुशासन, वांछित व्यवस्था और आवश्यक शिक्षा-दीक्षा के साथ शुभ संस्कारों की परम्परा बनी रही, पारिवारिक जीवन स्वर्ग सुख का सार बना रहा और सदगृहस्थ देवताओं जैसा सुख पाते हुये बड़े-बड़े महात्मा एवं लोकसेवी बनते रहे। किन्तु जब से परिवारों को प्रयास पूर्वक सुसंस्कृत बनाने के कर्तव्य की उपेक्षा की जाने लगी गृहस्थ-जीवन जीता जागता नरक कुंड बन गया है।

आज जिधर भी दृष्टि डालिए लोग पारिवारिक जीवन से ऊबे, शोक-सन्ताप में डूबे, अपने भाग्य को कोसते नजर आते हैं। बहुत ही कम परिवार ऐसे होंगे जिनमें स्नेह-सौभाग्य की सुधा बहती दिखाई पड़े अन्यथा घर-घर में कलह, क्लेश, कहा सुनी, झगड़े-टंटे, मार-पीट, रोया-धोई, टूट-फूट, बाँट-बटवारा और रार, जिद फैली देवर-भौजाई यहाँ तक कि पति-पत्नी तथा बच्चों एवं बूढ़ों में टूट-फूट लड़ाई-झगड़ा, द्वेष-वैमनस्य तथा मनोमालिन्य उठता और फैलता दिखाई देता है। आज का पारिवारिक जीवन जितना कलुषित, कुटिल और कलहपूर्ण हो गया है कदाचित् ऐसा निकृष्ट जीवन पहले कभी भी नहीं रहा होगा। स्वर्ग-सुख के प्रतिबिम्ब गृहस्थ जीवन की यह नारकीय दुर्दशा आश्चर्य, खेद तथा चिन्ता का विषय है। हम गृहस्थों को इस अवांछित गृहस्थ जीवन पर शर्म करनी चाहिए और आत्म-कल्याण से लेकर राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि तक इसे शीघ्र से शीघ्र सुधार कर आदर्श गृहस्थ का रूप दे देना चाहिए।

अपने पैरों खड़े होते ही पुत्र असमर्थ माता-पिता को छोड़ कर अलग घर बसा लेता है। भाई-भाई की उन्नति एवं समृद्धि शत्रु की आँखों से देखता है। पत्नी-पति को चैन नहीं लेने देती। बहू-बेटियाँ, फैशन प्रदर्शन सन्निपात से ग्रस्त हो रही हैं। छोटी संतानें, जिदी, अनुशासनहीन तथा मूढ़ बनती जा रही हैं। परिवारों के सदस्यों के व्यय तथा व्यसन बढ़ते जा रहे हैं। कुटुम्ब कबीले वाले कौटुम्बिक प्रतिष्ठा को कोई महत्व देते दृष्टिगोचर नहीं होते। निःसन्देह यह वह भयावह स्थिति है। परिवार टूटते, बिखरते जा रहे हैं। चिन्ताशील सदगृहस्थ इस विषयपूर्ण विषम स्थिति में शरीर एवं मन से चूर होते जा रहे हैं। गृहस्थ धर्म एक पाप बनकर उनके सामने खड़ा हो गया है। अनेक समाज हितैषी, लोकसेवी, परोपकार की भावना रखने वाले सदगृहस्थ इस असहनीय पारिवारिक परिस्थिति के कारण अपने जीवन

लक्ष्य की ओर न बढ़ सकने के कारण अपने दुर्भाग्य को धिक्कार रहे हैं ।

इस अपुनीत पारिवारिक परिस्थिति में यदि कोई यह आशा करता है कि वह सुख-शांति एवं प्रसन्नतापूर्वक गृहस्थ का सुख लेकर अवस्थानुसार कुछ आध्यात्मिक लाभ का प्रयत्न करेगा तो उसकी आशा को दुराशा ही कहना होगा । ऐसे नारकीय पारिवारिक जीवन में सुख-शांति की परिस्थितियाँ पा सकना, संतोष सौहार्द एवं सौभाग्य की उपलब्धि कर सकना सम्भव नहीं दीखता । इसके लिये सड़े-गले पारिवारिक ढर्रे को बदलना होगा, साहसपूर्वक उसे शिक्षित, प्रशिक्षित तथा सुसंस्कृत बनाना होगा । तभी कुछ निस्तार की सम्भावना सम्भव हो सकती है । सड़े-गले पुराने ढर्रे पर अभ्यासपूर्वक चलते रहने से परिस्थिति का स्वयं संभलना तो दूर दिन-दिन और बिगड़ती जायेगी ? यदि आज हम घर से बाहर निकल कर समाज, राष्ट्र तथा विश्व की कोई सेवा नहीं कर सकते, उसकी सुधार-संभाल नहीं कर सकते, तो कम से कम अपने परिवार, जिस पर कि हमारी सुख-समृद्धि तथा उन्नति-विकास निर्भर है, की तो साज-संभाल करे ही । परिवार को सुधार कर सुव्यवस्थित तथा सुसंस्कृत बना लेने पर भी परोक्ष ही नहीं प्रत्यक्ष रूप से समाज-सेवकों की सूची में आ जायेंगे । क्योंकि परिवार समाज का ही एक अभिन्न अंग है ।

पारिवारिक जीवन की इस पतनपूर्ण दयनीय दशा के कारण खोजने पर पता चलता है कि इसका दायित्व हम गृहस्थों पर ही है जिन्होंने परिवार परम्परा का मुख्य उद्देश्य विस्मरण कर दिया है और इसे एक टूटी-फूटी गाड़ी समझकर खींचते रहना ही अपना कर्तव्य समझ लिया है ।

परिवार बसा लेना आसान है, लोग आये दिन बसाते ही रहते हैं । उसका पालन भी कोई विशेष कठिन नहीं, सभी उसका पालन करते हैं । किन्तु परिवार को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने के लिये उसका निर्माण करना एक श्रमसाध्य कर्तव्य है । अधिकतर लोग परिजनों के लिये अधिकाधिक सुख-सुविधाएँ देने, उनके लिये अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र तथा आराम की चीजें जुटाना ही पारिवारिक जीवन का उद्देश्य मान बैठे हैं । उनका ध्यान परिवार की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए धनोपार्जन तक ही सीमित रहता है । वे यह कभी नहीं सोच पाते कि भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा स्वास्थ्य के साथ परिवार की एक सर्वोपरि आवश्यकता भी है और वह है उसे सद्गुणी बनाना । असद्गुणी परिजन न तो परिवार की प्रतिष्ठा सुरक्षित रख पाते हैं और न उसमें सुख-शांति का ही आगमन होने देते हैं । खाने-पीने, पहनने ओढ़ने और मौज-मजा के आदी परिजन कभी भी अनुशासित तथा संगठित नहीं रह सकते । अवश्य ही उनमें स्वार्थपरता बढ़ जायेगी और वे जरा-जरा-सी बात पर एक दूसरे से कलह, क्लेश तथा ईर्ष्या, डाह करेंगे । शालीनता सोचने

तथा मौज-मजा तक अपने दृष्टिकोण को केन्द्रित रखने वाला व्यक्ति कभी भी त्यागी, परोपकारी, स्नेही तथा उदार नहीं हो सकता । इन गुणों का अभाव किसी भी परिवार की सुख-शांति में आग लगा देने के लिए काफी है । अस्तु, आवश्यक है कि जहाँ स्थिति के अनुसार परिजनों को अधिक से अधिक सुख-सुविधा पहुँचाई जाये वहाँ इससे पहले यह अनिवार्य है कि उन्हें गुणी, व्यवस्थित, अनुशासित तथा मर्यादित बनाने का प्रयत्न किया जाये । परिवार का निर्माण परिवार पालन से शत सहस्र गुना महत्वपूर्ण है ।

सद्गृहस्थ को चाहिए कि वह अपने परिवार को एक वाटिका तथा अपने को उसका उत्तरदायी माली समझे । जिस प्रकार एक माली अपने बाग को सींचता, उसमें खाद देता और एक-एक फूल-पत्ती की देखभाल एवं साज-संभाल करता हुआ इस बात का भी ध्यान रखता है कि उसके पौधों में कोई कीड़ा तो नहीं लग रहा है, उसके बाग में निरर्थक झाड़-झंखाड़ तो नहीं उगे आ रहे हैं और यदि वह इसके लक्षण देखता तो तुरन्त ही सावधान होकर उनको दूर करने के उपाय करता है । इसी प्रकार सद्गृहस्थ को चाहिए कि वह अपने परिवार का पालन करे, उसे भोजन, वस्त्र दे, शिक्षा-दीक्षा दिलवाये किन्तु इस पर भी पूरा ध्यान रखे कि उसके परिवार का कोई व्यक्ति व्यसनी, स्वार्थी अथवा संकीर्ण तो नहीं हो रहा है, उसके घर में कलह-क्लेश तथा टूट-फूट के कारण तो नहीं उभर रहे हैं । यदि उसे ऐसे कोई संकेत मिले तो तुरन्त सुधार में तत्पर हो जाये । स्नेह, सख्ती, शासन, अनुशासन जिस उपाय से बने समाहित होती हुई विकृतियों को दूर करे । परिवार में पनपती हुई विकृतियों की उपेक्षा करना अथवा उन्हें दूर करने में प्रमाद करना परिवार को नरक बनाने की असावधानी होगी । किन्तु कोई भी सद्गृहस्थ अपने परिवार को सुख-सौरभ पूर्ण हरी-भरी वाटिका का रूप देने में तभी सफल हो सकता है जब वह अपना जीवन आदर्श बनाकर परिजनों के सम्मुख उदाहरण के रूप में रखे । सदाचारी सद्गृहस्थ का परिवार सुख-शांति का घर बनाया जा सकता है । आज ही से सदाचारी सद्गृहस्थ बन जाइये कल ही आपका परिवार नरक कुंड से बदलकर स्वर्ग सुख का आवास बन जायेगा ।

परिवार में सत्प्रवृत्तियों की फसल उगायें

शरीर में जिस प्रकार अंग-अवयव गुँथे हुए हैं उसी प्रकार शरीर के साथ परिवार के सदस्य भी जुड़े हुए हैं । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसका निर्वाह एकाकी नहीं हो सकता, आवश्यकता एवं समस्याएँ इतनी अधिक हैं कि उनका समाधान मिल-जुलकर अपनाई जाने वाली

१.७० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सहकारिता के आधार पर निकलता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति सामाजिक सहकारिता है, उसी ने उसे बुद्धि-वैभव प्रदान किया है और साधन-सम्पदा बढ़ाने तथा खर्चने का वह उपाय सुझाया है जिसे आज की भाषा में पदार्थ विज्ञान, अर्थशास्त्र एवं क्रिया कौशल कहते हैं। बुद्धिमत्ता के यही क्षेत्र हैं। इनमें अतीत से लेकर अद्यावधि जो भी प्राप्ति हुई है उसके मूल में सहकारिता की, सत्प्रवृत्ति ही परोक्ष भूमिका निभाते हुए देखा जा सकता है। समाज का यह भाग जो निरन्तर साथ सम्बद्ध रहता है-परिवार कहा जाता है।

परिवार की सुरक्षा एवं प्रगति का ध्यान भी उसी तरह रखना कर्तव्य है जितना कि शरीर का रखा जाता है। जिन लोगों के बीच निवास निर्वाह होता है वे सभी कुटुम्बी हैं। अपने स्त्री-बच्चों से ही परिवार का, सीमा बन्धन नहीं जोड़ना चाहिए वरन् वे भी परिजन कहलाते हैं, जो एक साथ रहते और परस्पर स्नेह, सहयोग का आदान-प्रदान करते हैं। इसमें विवाहित-अविवाहित होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। वंशधरों की तरह व्यवसाय और विचार भी मनुष्यों में घनिष्टता उत्पन्न करते हैं। एक नाव में बैठने वाले सभी कुटुम्बी बन जाते हैं क्योंकि उनका डूबना-उतरना साथ-साथ ही होता है।

परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी आमतौर से समझी और निभाई जाती है। इसमें एक कड़ी प्रज्ञा परिजनों की और भी जोड़नी चाहिए कि परिजनों के शरीरों को ही पोसने, सँजाने, सम्पन्न एवं प्रसन्न बनाने तक ही अपनी जिम्मेदारी सीमित न रखी जाय वरन् इस समूची व्यवस्था से भी कहीं अधिक भारी उत्तरदायित्व उनके व्यक्तित्व निखारने का समझा जाना चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में उपेक्षा बरती गई तो समझना चाहिए कि व्यक्तित्व अनगढ़, कुसंस्कारी बने रहने पर सम्पन्नता, शिक्षा बलिष्ठता मात्र से उनका भला न हो सकेगा। दुर्गुणी व्यक्ति उपलब्धियों का दुरुपयोग करते हैं। फलतः अपनी तथा साथियों की दुर्गति ही बनाते रहते हैं। वैभव आवश्यक तो है, पर स्मरण रखने योग्य तथ्य यह भी है कि शालीनता के अभाव से उससे दुष्प्रवृत्तियों का ही परिपोषण होता है और साँप को दूध पिलाने की तरह उलटा दुष्परिणाम ही उत्पन्न होता है। लाड़-चाव में जो अपने परिवार को दुर्गुणी बना लेते हैं उनका अविवेक भरा प्यार भी अत्याचार से भी भारी पड़ता है।

परिवार संस्था को सद्गुणों की प्रयोगशाला, पाठशाला, फैक्ट्री, नर्सरी मानकर चला जाय और इस लिए 'एक आँख प्यार की दूसरी सुधार की' रखने वाली नीति अपनाई जाय तो आत्मीयजनों के उस छोटे समुदाय को सच्ची सेवा कहा जायगा। इस दिशा में आरम्भ से ही ध्यान रखा जा सके, तो बहुत ही उत्तम अन्यथा गिनती भूल जाने पर उसे नये सिरे से गिनना चाहिए। देर से समझ आये तो भी उसे समझदारी ही कहा जायगा। प्रज्ञा परिजनों की दृष्टि अपने सम्बद्ध परिजनों को सुसंस्कारी बनाने की रहनी

चाहिए। सम्पन्नता की कमी रह जाने पर भी सज्जनता के सहारे काम चल सकता है, किन्तु सज्जनता रहित सम्पन्नता अन्ततः दुःखद दुष्परिणाम ही प्रस्तुत करती है।

उत्तराधिकारियों के लिए कुबेर जितना वैभव छोड़ मरने की ललक न उनके हित में है न अपने हित में। मुक्त का माल पचता नहीं। भले ही वह अत्याचार, छल, छद्म से कमाया गया हो या उत्तराधिकार, लाटरी आदि के माध्यम से पाया गया हो। विष खाद्य छोड़ मरने की अपेक्षा यह अच्छा है कि अपना पुरुषार्थ उन्हें सद्गुणी बनाने के लिए नियोजित रखा गया है। किसी से सम्पन्नता की प्रतिस्पद्धा नहीं करनी चाहिए। होड़ करनी हो तो शालीनता का उन्मुक्त क्षेत्र उसके लिए खुला पड़ा है। उसी में अपने पराक्रम एवं कौशल का परिचय देना चाहिए।

जानकारियाँ तो कहने-सुनने से भी मिल सकती हैं। भूगोल, गणित, शिल्प, संगीत तो उस्तादों से भी सीखा जा सकता है, पर चरित्र निर्माण की प्रेरणा प्रदान करने वाले को अपना उदाहरण प्रस्तुत करना पड़ता है। आगे चलने पर ही अनुयायी भी पीछे लगते हैं। बातूनी नसीहतें इस प्रयोग में तनिक भी काम नहीं आती। अपनी फजीहत दूसरों को नसीहत देने वाले व्यंग्य-उपहास का कारण ही बनते हैं। उनकी बात गले नहीं उतरती भले ही वह हित-कारक क्यों न हों। साँचे में खिलौने ढलते हैं, परिवार में जिन सत्प्रवृत्तियों का प्रचलन करना हो उनका अभ्यास प्रयोक्ता को सर्वप्रथम करना पड़ता है। परिवार को सुसंस्कृत बनाने की आकांक्षा तभी पूरी होती है जब अपने गुण, कर्म, स्वभाव में सदाशयता का समावेश उत्साहवर्द्धक, प्रेरणास्पद मात्रा में किया जा सके। दोनों प्रयोजन सम्बद्ध हैं। आत्मनिर्माण और परिवार-निर्माण की प्रक्रिया गाड़ी के दो पहियों की तरह साथ-साथ चलती है। दूसरों के लिए मेंहदी पीसने वाले के अपने हाथ अनायास ही रच जाते हैं। परिवार के प्रति यदि सच्ची आत्मीयता शुभेच्छा और सद्भावना हो तो उसे क्रियायन्त्रित करने का उपयुक्त मार्ग एक ही है कि उन्हें सद्गुणी, सज्जन, प्रतिभावान एवं सुसंस्कृत बनाया जाय। इसका शुभारम्भ अपने को सुधारने और ढालने के साथ ही बन पड़ता है। आदर्श उपस्थित करने से ही उत्साह उत्पन्न होता है।

पारिवारिक पंचशीलों की चर्चा, समय-समय पर की जाती रही है। श्रमशीलता, सुव्यवस्था, मितव्ययता, शालीनता और सहकारी उदारता की आदत घर-परिवार के लोगों में डाली जा सके तो आरम्भ में अनख लगने पर भी, आनाकानी, अवज्ञा होने पर भी-यदि उस बीजारोपण, परिपोषण को जारी रखा जा सके तो इस पुण्य प्रयास के सत्परिणाम हाथों-हाथ देखने को मिल सकते हैं। आत्मसन्तोष एवं दूसरों का सम्मान-सहयोग पाने पर कोई भी अपनी विशिष्टता पर गर्वगौरव अनुभव करता है। उस मार्ग पर उठते कदम उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना को सुनिश्चित बनाते हैं। औलाद के लिए दौलत छोड़

मरने उनकी बेतुकी फरमाइशें पूरी करते रहने की अपेक्षा समझदारी इसमें है कि उनके स्वभाव एवं व्यवहार में आदर्शवादिता का अनुपात बढ़ाया जाय। यह ऐसा उपकार है जिसके प्रति कुटुम्बियों की अन्तरात्मा चिरकाल तक कृतज्ञ कृत-कृत्य बनी रहेगी। यह ऐसा उपहार है। जिसकी तुलना में उन्हें हीरक हारों से लाद देना भी हलका पड़ता है।

दूसरों के यहाँ क्या होता है इसकी नकल करने, ललचाने की आवश्यकता नहीं। हमें अग्रणी होना चाहिए और पड़ोसी परदेशियों के सामने यह आदर्श उपस्थित करना चाहिए कि उन्हें इस परिवार का अनुकरण करते हुए गौरवान्वित होना चाहिए। अनुयायी क्यों बनें? अग्रणी क्यों नहीं। कुप्रचलों को अस्वीकार करने में भी साहसिकता है। अन्धी भेड़ों की तरह उन हेय लोगों का अनुसरण नहीं करना चाहिए जो वैभव का उद्धत प्रदर्शन करने के लिए अन्तरात्मा वेध चुके। आदर्श छोड़ चुके और चरित्र गँवा चुके।

प्रज्ञा परिजनों को अपने घर-परिवार में पंचशील के प्रति ऐसा सम्मानास्पद वातावरण बनाना चाहिए जैसा कि धार्मिक लोग पाँच देवताओं के प्रति अपनाते और संसारी लोग पाँच रत्नों के रूप में धन, लक्ष्मी को पूजते हैं। सभी बलिष्ठता, सुन्दरता, विद्वता, ख्याति, सम्पन्नता चाहते हैं। यदि आकांक्षाओं में शालीनता के पक्षधर पंचशीलों का भी समावेश किया जा सके तो समझना चाहिए कि सुरुचि जागी और पाने योग्य उपलब्धियों की महत्ता समझाने वाली विवेक बुद्धि उभरी। यह जागरण ऐसा ही है जैसा कि रात्रि को मृतक, मूर्च्छितों जैसी घोर निद्रा का परित्याग कर लोग प्रभातकाल में जगते, निवृत्त होते और श्रेयस्कर क्रियाशीलता में संलग्न होते हैं।

घर से आलस्य, प्रमाद को विदा करना चाहिए और वातावरण ऐसा बनाना चाहिए कि हर सदस्य को हर समय उपयोगी कार्यों में व्यस्त रहने का अवसर मिले। निठल्ले न स्वयं बैठें न आत्मीयजनों को बैठने दें। विश्राम की भी आवश्यकता है किन्तु आलस्य, प्रमाद को विश्राम या बड़प्पन का चिन्ह नहीं माना जाना चाहिए। जीवन का स्वरूप है-समय। समय का सदुपयोग श्रम पराक्रम के साथ ही किया जा सकता है। घर में ऐसे क्रियाकलापों का प्रचलन करना चाहिए जिसमें हर समर्थ सदस्य को अपने-अपने ढंग से व्यस्त रहना पड़े। उनसे उनका आरोग्य, बुद्धिबल, कौशल बढ़ेगा साथ ही व्यक्तित्व निखरेगा। घर को सुव्यवस्थित, सुसज्जित रखने तथा गृह उद्योग स्तर के शाक-वाटिका, टूट-फूट, मरम्मत कपड़े धोना, सीना जैसे हलके, भारी ऐसे अनेक छोटे-बड़े काम खड़े किये जा सकते हैं जो श्रम सामर्थ्य को अस्त-व्यस्त होने से बचाये रह सकें, जो सृजनात्मक प्रवृत्ति का परिपोषण करते रह सकें।

स्वच्छता, सुन्दरता, सुव्यवस्था यह सारे उपक्रम सुरुचि के परिचायक हैं। सच्ची कलाकारिता इसी में है कि शरीर, वस्त्र, उपकरण, निवास का हर पक्ष सुन्दरता किन्तु सादगी से भरा-पूरा दृष्टिगोचर हो, गन्दगी सहन न करना ही सौन्दर्य की आराधना है। अस्तव्यस्तता और कुरूपता एक ही बात है। शरीर का गठन ईश्वर के हाथ है। खर्चीली सजधज में विलासिता और अहमन्यता के उद्धत प्रदर्शन की गन्ध आती है किन्तु हर वस्तु को, हर निर्धारण को, हर प्रयास को योजनाबद्ध, सुव्यवस्थित रखा जा सके तो समझना चाहिए कि दृष्टिकोण में गौरवास्पद कलाकारिता का समावेश हो रहा है। समझना चाहिए कि 'मैनेजर' का पद संसार में सबसे ऊँचा है। जो अपनी-अपने परिवार की सुव्यवस्था का अभ्यास कर रहा है वह किसी दिन महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के निर्वाह में अपनी प्रतिभा का परिचय भी देगा।

मितव्ययता से सादगी और सज्जनता की, दूरदर्शिता और आदर्शवादिता का परिचय मिलता है। फैशन आदि अपव्यय करने वाले अपने मन में जो भी समझते रहें, विचारशैली की दृष्टि में ओछे, बचकाने एवं अप्रामाणिक ही सिद्ध होते हैं। धन अपव्यय के लिए नहीं कमाया जाता, उसकी एक-एक पाई ऐसे सत्प्रयोजनों में खर्च करनी चाहिए जिससे भौतिक एवं आत्मिक प्रगति के साधन जुटते हों। समाज को भी सत्प्रवृत्तियाँ सम्बर्द्धन के लिए उदार अनुदानों की निरन्तर आवश्यकता रहती है और सब कुछ उन्हीं से बन पड़ता है, जो अपव्यय से पैसा बचा सकते हैं जो पैसे को कूड़ा समझते हैं और उसकी फुलझड़ी जलाते हैं उन्हें उपयोगी प्रसंग पर मन मसोसना पड़ता है, कर्जदार बनना पड़ता है। अनीति की कमाई पर उतारू होना पड़ता है। इस सारे जंजाल से वह सहज ही बच सकते हैं जो खर्च करने से पहले हजार बार विचार करते हैं और गाँठ तभी खोलते हैं जब खर्च को औचित्य की कसौटी पर हजार बार कस लें। ऐसी विवेकयुक्त कृपणता उस उद्धत अपव्यय से हजार गुनी अच्छी है जो अनेकानेक दुर्गुणों, दुर्व्यसनो को जन्म देती और भविष्य को अन्धकारमय बनाती है।

शालीनता चौथा पारिवारिक पंचशील है। घर के लोग परस्पर मीठा बोलें, शिष्टाचार बरतें, एक दूसरे का आदर करें, हाथ बढ़ावें और मान-मर्यादा का ध्यान रखें। असमय, अनगढ़ लोग उच्छ्वंखलता बरतें और अनुशासनहीनता का परिचय देते देखे जाते हैं। बात-बात में आवेश लाने वाले और सन्तुलन गँवा बैठने वाले मानसिक रोगियों में गिने जाते हैं। उन्हें कोई दया का पात्र समझता है कोई घृणा का। सज्जनता के साथ धैर्य जुड़ा हुआ है उसमें सहिष्णुता और तालमेल बिठा कर चलने की दूरदर्शिता का समावेश रहता है। परस्पर स्नेह-सौजन्य

१.७२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

बनाये रहने, सहयोग भरा आदान-प्रदान चलाने के लिए स्वभाव में शालीनता का समावेश करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह समझा ही नहीं, व्यवहार में भी लाया जाना चाहिए। निरन्तर पर्यवेक्षक और अभ्यास करते कराते रहने से यह आदत भी स्वभाव का अंग बन जाती है।

उदार सहकारिता से एक-दूसरे का हाथ बँटाने की प्रवृत्ति को प्रधानता दी जाती है। कर्तृत्व को प्रधान, अधिकार को गौण रखना पड़ता है। उदारता बरतने पर उलटकर सद्भावना मिलती है जो पूँजी की अपेक्षा अनेक गुना लाभांश उत्पन्न करने वाली उच्चस्तरीय भाव प्रेरणा देती है।

प्रज्ञा-परिजनों को अपने परिवार में इन पंचशील की सत्प्रवृत्तियों का बीजरोपण, अभिवर्द्धन करना चाहिए। वे देखेंगे कि इस आधार पर कैसे हरीतिमा लहलहाती है। और कैसी बहुमूल्य फसल कटती है ?

परिवार योगाभ्यास का सुव्यवस्थित कार्यक्षेत्र

सिद्धान्त और अभ्यास के मिलने से शिक्षा का समग्र स्वरूप बनता है। शान्ति, सुव्यवस्था और प्रगति के लिए जिन सिद्धान्तों का महत्व है उनका वर्ण, धर्म, अध्यात्म दर्शन, नीति, मर्यादा, अनुशासन आदि की विधि-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक समझाया गया है। स्वाध्याय एवं सत्संग के प्रत्यक्ष तथा मनन-चिन्तन के परोक्ष माध्यमों में भी उत्कृष्टता की उपयोगिता, आवश्यकता समझने में सहायता मिलती रहती है। यों माहौल पतनोन्मुख दुष्प्रवृत्तियों का ही रहता है कि और प्रचलन निकृष्टता की ओर ही धकेलता है फिर भी उत्कृष्टता के बौद्धिक समर्थन का अभाव नहीं है। धर्मशास्त्रों से लेकर उपदेशकर्त्ताओं का प्रतिपादन अच्छाई और ऊँचाई का ही महत्व बताता है। अन्तरात्मा के मर्मस्थल भी उसी का समर्थन करते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से प्रगतिशीलता का स्वरूप एवं महत्व, समझने समझाने में कोई बड़ी कठिनाई नहीं है।

अब दूसरा पक्ष रह जाता है अभ्यास का। जीवन क्रम में मानवी आदर्शों का समावेश करने के लिए यह आवश्यक है कि सिद्धान्तों को व्यवहार में उतारा जाय। कठिनाई यह पड़ती है कि इसका अभ्यास कैसे हो ? कुसंस्कार चिरसंचित हैं, निकृष्ट योनियों में रहने के कारण जन्म-जन्मान्तरों से कृमि-कीटकों जैसी आदतों और पशुओं जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ स्वभाव का अंग बनकर रह रही होती हैं। इन मान्यताओं, आकांक्षाओं और आदतों का समुच्चय इतना जटिल और गहरा होता है कि अन्तःकरण

के मर्म स्थल से उनका उखाड़ना अति कठिन होता है। सद्विचारों और सद्भावों का प्रशिक्षण एक कोने पर रखा रह जाता है और वे हठीली दुष्प्रवृत्तियाँ अवसर पाते ही नंगा-नाच नाचने लगती हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व ही प्रगति पथ की सबसे बड़ी बाधा है। उसी से निपटने के लिए योग और तप के अन्तर्गत आने वाले अनेकानेक अनुष्ठानों का अभ्यास करना पड़ता है। उपासना और साधना का अन्तःक्षेत्र में चलने वाला पुरुषार्थ इसी प्रयोजन के पूर्ति के लिए सृजा गया है।

सत्प्रवृत्तियों को व्यवहार में कैसे उतारा जाय ? इसके लिए सुनियोजित और निरन्तर प्रयोग में आने वाले कार्यक्षेत्र की आवश्यकता है। वह क्षेत्र ऐसा होना चाहिए जिसमें एक नहीं-उन अनेकानेक सत्प्रवृत्तियों का अभ्यास चलता रहे तो सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनिवार्य रूप से अभीष्ट है। ऐसा कार्यक्षेत्र परिवार ही हो सकता है। परिवार अर्थात् वह समुदाय जिसके साथ साधना-सूत्रों से जुड़ा रहना पड़ता है और जिनके साथ दैनिक आदान-प्रदान में कभी-कभी ही किसी-किसी से वास्ता पड़ता है। इसलिए समाजसेवी के लिए यह अवसर कम ही रहता है कि नियमित रूप से निरन्तर सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन का अभ्यास चलता रहे। परिवार समाज का वह घटक है जिसके साथ व्यक्ति का सम्पर्क निरन्तर रहता है और उस सम्पर्क का स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय स्थायित्व भी प्रदान करता है।

परिवार वस्तुतः एक साधना तपोवन है जिसमें मनुष्य को अपनी तथा साधियों की दुष्प्रवृत्तियों से जूझना पड़ता है। इतना ही नहीं उस निराकरण के साथ-साथ सत्प्रवृत्तियों के संस्थापन और अभिवर्द्धन का भी प्रयत्न चलता है। जन्मजात रूप से मनुष्य भी एक पशु है। उसकी काया को मानवता की उच्च सिंहासन पर बिठाने के लिए सुसंस्कारी अभ्यासों का कष्टसाध्य प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रयत्न की सफल प्रयोगशाला के रूप में परिवार की भूमिका ही प्रधान होती है। स्वार्थ-परमार्थ का जैसा सुन्दर सामंजस्य इस क्षेत्र में सहज स्वाभाविक रीति से उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र मिल सकना कठिन है।

भावना और कुशलता के दोनों ही पक्ष पारिवारिकता विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत सरलतापूर्वक चलते रह सकते हैं और गृहस्थ के लिए योगी, तपस्वी, परमार्थी तथा सुधारक की अति महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा सकना संभव नहीं हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि पारिवारिकता को उच्च आदर्शों के अनुरूप ढाला और विकसित किया जाय। इसी प्रक्रिया को गृहस्थ योग कहते हैं।

आकर्षण और विनोद का माहौल बनाने की आवश्यकता

सद्गुणों की क्षमता बहुत ही विस्तृत है। दैवी सम्पदाएँ गीता में २६ गिनाई गयी हैं। संसार के अन्यान्य धर्म दर्शनों में भी उनका विशद वर्णन-विवेचन हुआ है। बात जितनी बड़ी होती जाती है, उतनी ही जंजाल बनती जाती है। विशाल संख्या वाले तथ्यों को समझना और याद रखना भी कठिन हो जाता है। इसलिए उनकी संख्या जितनी कम हो, उतनी ही सुविधाजनक रहेगी।

इस दृष्टि से मान्यतापरक सद्गुणों को चार की संख्या में भी सीमित किया जा सकता है। (१) समझदारी, (२) ईमानदारी, (३) जिम्मेदारी और बहादुरी। इन चारों को चार वेदों का सार-संक्षेप भी माना जा सकता है। दिशाएँ चार हैं। वर्ण भी चार और आश्रम भी चार, युग भी चार और ब्रह्माजी के मुख भी चार। ऐसी ही प्रतिष्ठा उपरोक्त चार गुणों की की जा सके, तो समझना चाहिए कि जीवन के गणेश चतुर्थी जैसा बन पड़ने का आधार मिल गया। विष्णु भगवान के चार हाथों का आशीर्वाद और चार आयुधों का समर्थन मिल गया।

यों कहने को तो सभी अपने को समझदार कहते हैं, पर उनकी यह मान्यता कसौटी पर कसने से खोटे-सिक्के की तरह अवास्तविक सिद्ध होती है। चतुर, बालक, धूर्त, प्रपंची भी अपने आपको समझदार होने का दावा करते हैं। अधिक पढ़े-लिखे और पद अधिकार उपलब्ध कर लेने वाले भी ऐसे ही दावे करते हैं। जिनने सम्पदा जमा कर ली है, वे भी अपने को दूसरों की तुलना में अधिक समझदार होने का अभिमान सँजोये हुए होते हैं। सफलता पाने वाले, विपक्षी को गिरा देने वाले भी समझदारी की डींग हाँकते देखे गये हैं। पर वस्तुतः यह उन सबका भ्रम मात्र ही है।

समझदारी की वास्तविकता उसकी दूरदर्शिता में सन्निहित है। दूरदर्शिता अर्थात् कृत्यों के परिणाम का सही प्रकार अनुमान लगा सकना। लोगों को तात्कालिक लाभ ही सब कुछ दीखता है, भले ही उसका परिणाम आगे चलकर कितना ही कष्टकारक, पतनोन्मुख एवं अपयश से भरा-पूरा वर्णित हो। जाल में फँसने वाली चिड़िया, मछुओं के छद्म में घुस पड़ने वाली मछलियाँ इसका उदाहरण हैं-वे आटा देखती हैं, काँटा नहीं। असंयमी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। लोलुपता उनसे कुछ भी करा लेती है। वासना, तृष्णा में आक्रान्त व्यक्ति क्षणिक चसक पर, चासनी में डूब मरने वाली मक्खी की तरह आचरण करते हैं। लिप्सा की ललक जब तक पूरी नहीं हो पाती उससे पहिले ही दुष्परिणाम के संकट गहराने लगते हैं। चटोरे अभ्यास से अधिक मात्रा में खा मरते हैं और पेट को, समस्त शरीर को अनेकानेक बीमारियों का घर बना लेते हैं। कामुक और नशेबाज भी अपने पैरों

कुल्हाड़ी मारते हैं। सूखी हड्डी चबाने वाला कुत्ता अपने जबड़ों से निकलने वाले खून को सूखी हड्डी का स्वाद मानता और जबड़ों को लहलुहान करता रहता है। बचपन में आवारागर्दी करने वाले लड़के आगे चलकर पग-पग पर ठोकरें खाते हैं और हेय स्तर का जीवन जीते हैं। इसके विपरीत जिन्हें दूर की सूझती है, वे किसान की-माली के-विद्यार्थी के तरह आरम्भ में कठोर श्रम-खुशी-खुशी करते हैं और समय आने पर सम्पन्नता, सफलता और प्रतिष्ठा का अयाचित प्रतिदान प्राप्त करते हैं। कुमार्ग छोड़कर और सन्मार्ग अपनाना और कुछ नहीं, मात्र दूरदर्शिता अपनाने की सहज प्रतिक्रिया है। सदाशयता का राजमार्ग भी इसे समझा जा सकता है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए गृहपति को भी लगना चाहिए। साथ ही परिवार के अन्य जनों को भी प्रेरित, प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

मित्रों, साथियों की सभी को आवश्यकता पड़ती है। उनके साथ जी खोलकर बात करने का सुयोग मिलता है। इसीलिए हर किसी का मन उन्हें खोजने, साथ रहने का होता है। अच्छा है यह आवश्यकता परिवार के परिसर में ही पूरी की जाती रहे। सभी सदस्य एक-दूसरे को घनिष्ठ मित्रता के धागे में बाँधते रहें। ऐसी परिस्थिति न बनने दें, जिससे कोई किसी के साथ जी खोलकर बात न कर सके। संकोच को ही शिष्टाचार मान बैठें। परस्पर लजाते और झेंपते रहें। अत्यन्त आवश्यक काम की बात कहने भर को मुँह खोलें और तत्काल बन्द कर लें। यह स्थिति सभी की प्रगति में बाधक बनकर अड़ती है। इसलिए जहाँ यह अड़चन अड़ रही हो, वहाँ उसे निरस्त करने का प्रयत्न चलना चाहिए।

परिजनों की घनिष्टता के अनेक लाभ हैं। उन्हें सहचरत्व का लाभ घर में मिल जाता है, तो उसमें क्लब जैसा आकर्षण बना रहता है। बाहर भागने की आतुरता नहीं उभरती। इससे कुसंग में फँसने की आशंका न रहेगी। इन दिनों माहौल ही कुछ ऐसा है, जिसमें शालीनता, सज्जनता, सहृदयता, आदर्शवादिता के तत्व कहीं ढूँढ़े नहीं मिलते। जहाँ भी देखा जाय पतन-पराभव का वातावरण मिलेगा। इस जाल-जंजाल में फँसने से सब प्रकार की हानियाँ उठाते रहने के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। इसलिए समझदारी इसी में समझी जाती है कि घर के सदस्यों को कुसंग में फँसने और दुर्गुणों का पिटारा बनने से रोका जाय, पर इसमें भी आंशिक सफलता ही मिलती है, कारण कि घर के वातावरण में डॉट-डपट, झिझक-संकोच, नीरसता जैसा ही कुछ पाया जाता है। उसमें न कहीं आकर्षण होता है, न मनोरंजन। रोटी खाने, नित्य-कर्म करने और नींद लेने जैसी सुविधाएँ ही वहाँ मिलती हैं। सराय में ठहरने जैसी इतनी स्वल्प सुविधाओं से शरीरचर्या का काम तो चल जाता है, पर मन को तनिक भी सन्तोष नहीं होता-यार-दोस्तों से मिलने, क्लब में मनोरंजन करने निकल जाते हैं, ताश-चौपड़ खेलते

१.७४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

हैं। बच्चे जरा से पंख उगते ही बाहर भागते हैं, उन्हें आवाज़ा किस्म के लोग ही फालतू मिलते हैं। उन्हीं के पास भरती के लिए समय होता है। बस ख़ाँ बैठ जाता है और बताकर या बिना बताये किसी बहाने से उन्हीं के साथ मिला जाता है। महिलाएँ भी सहेलियों के घर पर डोलती रहने वाली बुद्धियों के साथ गपबाजी करती हैं। यह सभी प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें किसी का भला नहीं। मात्र हानि ही हानि है। समय की इस बर्बादी को रोकने के लिये एकमात्र उपाय यही है कि घर के वातावरण में इतने आकर्षण बढ़ा दिए जायें, जिनमें हर किसी का मन लगा रहे। आमतौर से सभी दिन का अधिकांश भाग अपने आवश्यक कार्यों में व्यतीत करते हैं। रात को सोते हैं। मनोरंजन ढूँढ़ने का समय थोड़ा ही हाथ लगता है। यही यदि कुसंग में बीत जाय, तो समझना चाहिए कि जो कमाया गया था, उससे कहीं अधिक हानि उठाये जाने का संकट खड़ा हो गया। उसमें फँसने वाले की जिन्दगी खराब होने के लक्षण प्रकट हो गये।

यदि यह अखरता है, तो उपाय एक ही है कि घर में खोज-खोजकर परीक्षा प्रशिक्षण के आकर्षण, मनोरंजन के कार्यक्रम प्रचलित किए जायें। संगीत, खेल-स्वाध्याय, कथा-कहानी जैसी प्रतिष्ठापनाएँ अवकाश वाले क्षणों में चलनी चाहिए। घरेलू पुस्तकालय ऐसा होना चाहिए जिसमें विचारशीलता को प्रोत्साहन देने वाली सामग्री भरी पड़ी हो। अनभ्यस्त होने के कारण यह नया आरम्भ कुछ अटपटा और कठिन लग सकता है, पर वस्तुतः वह है अति सरल। कठिनाई मात्र आरम्भ करने के प्रथम चरण की ही है। एक बार उत्साह और साहसपूर्वक घर के ढाँचे में सुधार करने की बात सोच ली जाय, तो फिर उसे पूरा कर गुजरना किसी के लिए भी-कुछ भी कठिन नहीं पड़ना चाहिए।

विचार-विनिमय प्रत्यक्ष चलने में शिक्षक आड़े आये, तो परिवार में उसकी जिससे घनिष्टता हो, उसके माध्यम से कठिनाई तथा इच्छा जानी जा सकती है और उसी माध्यम से अपने परामर्श उस तक पहुँचाये जा सकते हैं। यों ऐसे गम्भीर प्रश्न बहुत ही कम होते हैं, जिनके लिए गहराई तक कुरेद-बीन करने की आवश्यकता पड़े और उसके दार्शनिक स्तर के उत्तर-विस्तार देने पड़ें। हँसने-हँसाने के मूड में भी आवश्यकता समाधान तर्क-तथ्य और प्रमाण सहित संक्षेप में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। न बन पड़ना सम्भव हो, उसके लिए स्पष्ट मना करके विद्वेष खड़ा करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि बात उपेक्षा में टाल दी जाय। एक समय की उमंग समय बीतते जाने पर ढीली पड़ती जाती है। इस प्रकार बहुत-सी अड़चनें समय के दबाव से स्वयमेव हल हो जाती हैं। महत्वपूर्ण प्रश्न नवीन आकर्षणों के आरम्भ करने का है। इसके लिए अधिक आकर्षण विनोद खेलकूद का है। जहाँ उछल-कूद की गुंजाइश हो वहाँ बैडमिंटन, टेबिल टेनिस जैसे प्रयोग घर में ही आरम्भ किये जा सकते हैं। जहाँ जगह

की कमी हो वहाँ ताश, शतरंज, चौपड़, कैरमबोर्ड जैसे उपकरणों का प्रयोग किया जा सकता है।

संगीत, सहगान-कीर्तन, कथा-चर्चा जैसे प्रयोग भी ऐसे हैं, जो घर में ही मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराते हैं। इनके प्रति पिछला आकर्षण अभ्यास न रहा हो तो नया चस्का लगाया जा सकता है।

एक-दूसरे के कामों में सहायता देना भी एक ऐसा काम है, हर घड़ी हर किसी को नजर उठाते ही मिल सकता है। सहयोग और सहकारिता के क्रिया-कलापों में वह शक्ति सन्निहित है, जो एक-दूसरे को परस्पर जोड़ती है, सहयोगी और मित्र बनाती है। यही तो वह प्रमुख आवश्यकता है, जो परिवार के सभी सदस्यों को स्नेह-सद्भाव के सूत्र में लम्बे समय तक बाँधे रहती है। इन छोटी-छोटी घटनाओं को हर कोई बहुत समय बीत जाने पर भी याद करता रहता है और कृतज्ञता की गहराई तक सँजोये रहता है।

कृतज्ञता की गरिमा बहुत कम लोग समझ पाते हैं। याद तो उसे कोई-कोई ही रखते हैं। इसका उपाय यही है कि घर के लोग अपनी सेवा-सहायता की चर्चा तो करें पर दूसरों के द्वारा जो जिसकी जितनी सहायता बन पड़ रही है, वह किस सद्भावना पर आश्रित है, इसका संकेत किया जाता रहे। अपने को छोड़कर घर के अन्य सदस्यों ने दूसरे साथियों के प्रति जो सद्भाव बना रखे हैं, उस मनोदशा की चर्चा का क्रम भी चलते रहना चाहिए। इस प्रकार कृतज्ञता की मुरझाती बेल को सींचने का सुयोग बन सकता है और एक-दूसरे के लिए अधिक सद्भाव उभरते रहने का अवसर मिल सकता है। यह सद्भावना ही किसी परिवार को समुन्नत बनाने की प्रमुख भूमिका अदा करती है।

स्वाध्याय परम्परा-पारिवारिक प्रगति का प्राण

पारिवारिक जीवन की असफलता और निरन्तर बढ़ रहे असन्तोष से चिन्तित अमेरिकी सरकार के समाज कल्याण विभाग ने उन परिस्थितियों का व्यापक सर्वेक्षण कराया जो इन असफलताओं का कारण बन रही हैं। यह इस सर्वेक्षण का एक पहलू था जिसमें केवल निषेधात्मक तत्वों की खोज सम्भव हुई, पर बुराई का कारण जान लेना उसके निवारण के उपाय खोज लेना मात्र किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकते। जब तक असफलता और असन्तोष के स्थान पर सफलता व सन्तोषजनक परिणामों का विकास करने वाले विधेयात्मक पक्ष पहलू न खोजे जायें।

पौधों में लगी बीमारी ढूँढ़कर उसकी औषधि छिड़क देने से बीमारी का प्रकोप थम सकता है, पर उतने मात्र से अच्छी फसल अच्छी उपज की आशा नहीं की जा सकती जब तक उसके पोषण अभिसिंचन के भी उपाय व्यवहार में न लाये जायें। यह तथ्य जैसे ही विशेषज्ञों की समझ में

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्ष रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्ष रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झाँझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्ष रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

१.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रिय पदार्थों के लोक-कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखरने की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। परमार्थ प्रवृत्ति का प्रतीक मानकर समय, श्रम एवं सद्भाव समर्पण ही प्रकारान्तर से यज्ञीय कर्मकाण्ड का सार तत्व है। इस देव प्रवृत्ति को जन-जन में जगाया जाना चाहिए और उसका प्रतीक पूजन अपने परिवारों से आरम्भ करना चाहिए। ब 'बलि वैश्व परम्परा' को दैनिक धर्मकृत्य माना गया है। उसका प्रचलन इन दिनों लुप्त प्रायः हो गया है। हमारे परिवारों से उसका पुनर्जीवन आरम्भ होना चाहिए।

चौके में जब भोजन तैयार हो जाय तो खाना आरम्भ करने से पूर्व चूल्हे में से अग्नि बाहर निकालकर प्रण्वलित की जाय और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े घी और शक्कर मिलाकर गायत्री मन्त्र उच्चारण करते हुए पाँच बार में हवन कर दिये जाएँ। बाद में जल अंजलि की परिक्रमा उस अग्नि के चारों ओर परिक्रमा रूप में घुमा दिया जाय। इस अग्नि को पवित्र माना जाय। बुझने पर भस्म को सुरक्षित रख लिया जाय और सुविधानुसार किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर दिया जाय। यही है बलिवैश्व, अग्निहोत्र की सरल प्रक्रिया जिसे महिलाएँ बड़ी आसानी से बिना किसी अड़चन के अपने घरों में नियमित रूप से करती रह सकती हैं। इसमें खर्च कुछ नहीं, किसी प्रकार का झंझट भी नहीं। इस पुनीत प्रक्रिया में भावभरा आदर्श यह सन्निहित है कि यज्ञीय परम्परा का परिपोषण करने में इस परिवार की सुनिश्चित आस्था है।

भगवान को भोग लगाकर तब प्रसाद ग्रहण की परम्परा भारतीय संस्कृति का अंग है। कमाना अपना पुरुषार्थ है, पर खाने से पूर्व विराट् सत्ता को, विशाल विश्व की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए। उपाार्जन को समर्पण भगवान की सत्प्रवृत्तियों को, बचा हुआ निर्वाह अपने लिये। यही है ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सार निष्कर्ष। यज्ञ कृत्य में इसी बलिदर्शन की प्रतीक पूजा की जाती है और प्रेरणा ग्रहण की जाती है कि व्यक्तिगत रीति-नीति से जीवन को यज्ञमय बनाना लक्ष्य होगा तथा समाज में संसार से कुछ उठा न रखा जायगा। इन्हीं के आदर्शों की मूर्तिमान पूजा प्रक्रिया उन्हें जीवन्त रखने तथा परिपुष्ट बनाने की शपथ 'बलिवैश्व' के रूप में हर दिन उठाई जाती है।

गायत्री को भारतीय संस्कृति की माता और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों की अभ्यर्थना अपने परिवारों में निष्पक्षित रूप से होनी चाहिए। 'नमन वन्दन' के माध्यम से गायत्री उपासना का न्यूनतम क्रियाकलाप सम्पन्न होता है और बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ द्वारा यज्ञ देव की अभ्यर्थना की जाती है। भगवान पहले पीछे का तात्पर्य है-आदर्श पहले, समाज पहले। उसके उपरान्त निर्वाह एवं उपयोग।

बलिवैश्व का नन्हा-सा क्रिया-कृत्य भोजन बनाने वाली एक महिला एक मिनट समय में पाँच रत्ती सामग्री

हवन करके पूरा कर देती है, पर उस भावना से परिचित हर किसी को होना चाहिए। समय-समय पर बलिवैश्व की यज्ञ दर्शन की व्याख्या-विवेचना होनी चाहिए और अपनी परम्परा में उस दर्शन की प्रमुखता रहने की स्मृति रहने की प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए।

बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ पारिवारिक पंचशीलों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पंचशील में (१) सुव्यवस्था, (२) मितव्ययिता, (३) सहकारिता, (४) श्रमशीलता, (५) शालीनता है। इनकी विवेचना अन्यत्र की जा रही है। भोजन को पेट में अवस्थित वैश्वानर भगवान तक पहुँचाने से पूर्व हर सदस्य पाँच बार गायत्री मन्त्र का घौन रूप से या उच्चारणपूर्वक पाठ कर लिया करे। यह भी मानसिक अग्नि होत्र एवं बलिवैश्व का ही प्रतीक है।

(३) सामूहिक प्रार्थना, आरती, सहगान

सामूहिक प्रार्थना का क्रम हर घर में चलना चाहिए। एकाकीपन का स्थान हर क्षेत्र में सामूहिकता को लेना चाहिए। मिल-जुलकर किये गये कार्य हर दृष्टि से अधिक प्रभावी और अधिक सफल होते हैं। यह दृष्टि उपासना के सन्दर्भ में भी रखी जाय। एकाकी उपासना के अतिरिक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेना भी आवश्यक समझा जाय। यह सामूहिकता पूजा, आरती से एक धर्म परम्परा के रूप में आरम्भ होनी चाहिए और उसका विस्तार घर के हर काम में मिल-जुलकर काम करने का उत्साह निरन्तर बढ़ना चाहिए। मिल-जुलकर काम करना खेल की तरह आनन्ददायक हो जाता है। कुशलता बढ़ती है और प्रतिफल का उपयोग करने में गर्व एवं सन्तोष होता है।

प्रातःकाल जल्दी उठने की आदत पड़ सके तो सामूहिक प्रार्थना, आरती एवं सहगान में से तीनों का या एक-दो की जो व्यवस्था बन सके वह बनानी चाहिए। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही हो जाने का है। यही बात सायंकाल के सम्बन्ध में भी है। तीनों में से एक दो या तीनों की करने में जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँ वैसा करना चाहिए। सूर्य अस्त होने के उपरान्त सोने तक के समय में से जो जहाँ अनुकूल पड़े निर्धारित रखा जा सकता है। आरती की विधि सब को मालूम है, उसमें अधिक आवाज करने वाले शंख, घडियाल, झांझ आदि या कम आवाज करने वाले घण्टी, मजीरा आदि का उपयोग हो सकता है।

आरती को शास्त्रीय विधि से करना हो तो उसके लिए निर्धारित विधि-विधान अपनाया जा सकता है। इसकी पुस्तिका भी उपलब्ध है। इसके टेप बनाये गये हैं जो टेप रिकॉर्डर पर चढ़ा देने से परिपूर्ण आरती का आनन्द देते हैं। इनके साथ-साथ धीमे स्वर से घर के लोग उच्चारण करते रहें तो कण्ठ भी सधेगा और स्वर विभेद कारण उत्पन्न होने वाली अस्त-व्यस्तता एवं धर्म की दिशा में मनोभूमि को अग्रसर करने वाले एक दो गीत अदल-

बदलकर गाये जाने चाहिए। यह भाव प्रशिक्षण, सम्मिलित होने-बालों पर सुसंस्कारी छाप डालता है। इस गायन के साथ वाद्य यंत्रों का जहाँ समावेश हो सके वहाँ उसके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। संगीत कला को इस आधार पर घर-घर में जीवन्त रखा जा सकता है। साथ ही धर्म शिक्षा का प्रयोजन भी नियमित रूप से पूरा होता रह सकता है।

(४) स्वाध्याय का ज्ञानयज्ञ

काया को भोजन, मस्तिष्क को स्वाध्याय और अन्तः-करण को उपासना का अवसर देने से सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीरों को परिपोषण होता है। तीनों को ही खुराक मिलती रहे इनमें से एक भी भूखा न रहने पाये ऐसा प्रबन्ध हर घर में रहना चाहिए। स्वाध्याय को ज्ञान यज्ञ कहा गया है। प्राचीनकाल में उच्चस्तरीय सत्संग भी सर्व सुलभ था, पर अब न वैसे लोग रह गये हैं और न समय सम्बन्धी सुविधा है। फिर प्रेम विस्तार में साहित्य के माध्यम से वह प्रयोजन और भी सरल कर दिया है। अपने घरों में युग साहित्य को स्वाध्याय का आधार माना जाय और उसके लिए नियमित समय निकाला जाय। उसे नित्य कर्म में सम्मिलित रखा जाय। इसके लिए घर में एक छोटा पुस्तकालय चले और उसका लाभ हर सदस्य उठाये। पढ़े-लिखे परिजन अपनी सुविधा के समय न्यूनतम आधा घण्टा स्वाध्याय के लिए किसी न किसी प्रकार समय अनिवार्य रूप से निकालें। इसे भोजन की तरह ही आवश्यक समझें और भजन के समतुल्य मानते हुए उसे जीवनचर्या में प्रमुखता दें। जो बिना पढ़े हैं उन्हें युग साहित्य को पढ़े-लिखे सदस्य पढ़कर सुनाया करें। भाषा-की जटिलता एवं उच्च विचारों को न समझ पाने की कठिनाई को सरल भाषा में व्याख्या करके समझाया जा सकता है।

युग निर्माण मिशन के हर कर्मठ कार्यकर्ता को परिवार निर्माण के लिए घरेलू ज्ञान मन्दिर स्थापित करने का, इसके लिए ज्ञानघट की स्थापना करने का अनुरोध आरम्भ से ही किया जाता रहा है। मिशन के प्रति आस्था परिपक्व होने का प्रमाण घर के ज्ञान मन्दिर की, घरेलू ज्ञान मन्दिर की स्थापना को माना गया है। पूजा कक्ष की जितनी उपयोगिता है उतनी इस ज्ञानमंच की भी है। सद्ज्ञान को अपनाने की प्रेरणा ही ज्ञानयज्ञ अभियान का प्रथम चरण है। यह घरेलू पुस्तकालयों से ही पूरा होता है। विचार क्रान्ति को इसी आधार पर व्यापक बनाया जा सकता है। जनमानस के परिष्कार में जितना योगदान परामर्श-प्रशिक्षण का है उतना ही युगान्तरीय चेतना को नियमित स्वाध्याय के माध्यम से लोकमानस में उतरने का है।

ज्ञानघटों की स्थापना और उस राशि से घरेलू पुस्तकालयों की स्थापना को मिशन की सक्रिय सदस्यता का अनिवार्य शुल्क माना गया है। उपयोगिता न समझ

पाने का कारण इस सन्दर्भ में जहाँ भी अब तक उपेक्षा बरती गई हो वहाँ अब इस प्रौढ़ता की अवधि आने पर अन्त होना ही चाहिए। हमारे हर घर में ज्ञानघट निश्चित रूप से रखे जायें। उस पैसे से हर महीने युग साहित्य खरीदा जाय। परिवार निर्माण के सन्दर्भ में पिछला साहित्य भी मौजूद है आगे और भी नियमित रूप से छपेगा। मिशन की चारों पत्रिकाएँ व्यक्ति, परिवार और समाज के नव-निर्माण की पृष्ठभूमि बनाती हैं यह किसी से छिपा नहीं है। हर घर में दो ज्ञानघट रखे जा सकें तो एक घट की राशि से चारों पत्रिकाएँ और दूसरे की राशि से पुस्तकें नियमित रूप से मँगाई जा सकती हैं। पिछले दिनों जो उपेक्षा बरती जाती रही है। उसका प्रायश्चित कुछ अधिक राशि एक बार ही निकालकर घरेलू ज्ञान मन्दिर की स्थापना के लिए इस सन्दर्भ की इकट्ठी पुस्तकें मँगाकर इस स्थापना का शुभारम्भ किया जा सकता है।

परिवार में यदि युग साहित्य नियमित रूप से पढ़ा जाने लगे तो राम परिवार को वशिष्ठ के सान्निध्य का जो लाभ मिलता रहा था प्रायः वही लाभ परिवार निर्माण अभियान के हर सदस्य को मिलता रह सकता है। ज्ञानघट की स्थापना युग साहित्य की व्यवस्था और अनिवार्य स्वाध्याय की प्रथा-परम्परा जिन घरों में चल पड़े समझना चाहिए वहाँ त्रिवेणी संगम जैसा सुयोग बना। यह प्रयास किसी धूमधाम के साथ अपनी गरिमा का डंका भले ही पीटे किन्तु इतना निश्चित है कि जिन परिवारों में इस प्रचलन को अवसर स्थान मिलेगा उनमें सत्प्रवृत्तियों का सम्बर्द्धन होना उनका सत्परिणाम पूरे परिवार को मिलेगा।

(५) सत्संग, कथा श्रवण

सत्संग की महिमा शास्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक गाई है। कथा श्रवण का पुण्य सर्वविदित है। धर्मक्षेत्र में इनकी चर्चा भी होती रहती है, घर इनका उपयुक्त अवसर कभी-कभी ही आता है। सो भी उसमें ऐसी सड़ी-गली वस्तुएँ मिलती हैं जिन्हें गले उतारने वाला उलटा भ्रम में फँसता और अस्त-व्यस्त बनता है। इन परिस्थितियों में नियमित सत्संग और सुनियोजित कथा, श्रवण का समावेश इसी एक प्रक्रिया में सम्भव हो सकता है कि रात्रि की कथा कहने और कथा सुनने की परम्परा आरम्भ की जाय।

बच्चों को कहानियाँ सुनने का शौक होता है। इसमें मनोरंजन और उच्चस्तरीय प्रशिक्षण के दोनों तत्व हैं। प्राचीनकाल में वृद्धाएँ घर के बालकों को कथा, कहानियाँ नियमित रूप से सुनाती थीं उसके माध्यम से कोमल मनो पर सुसंस्कारिता की स्थायी छाप डालती थीं। देखने में 'नानी की कहानी' बाल और वृद्धों का मनोरंजन भर प्रतीत होता है, पर वास्तविकता यह है कि यदि इस कथा, श्रवण को उद्देश्यपूर्ण बनाया और सुनियोजित किया जा सके तो उसका सत्परिणाम हर दृष्टि से श्रेयस्कर हो सकता है।

पंचतन्त्र नामक कथा ग्रन्थों का निर्माण उड़ण्ड राजकुमारों को विनोद और शिक्षण का समन्वय करके सत्

१.८६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सत् शिक्षण गले उतारने के लिए किया गया था। वह पूर्णतया सफल हुआ। उसी प्रक्रिया को घरों में कथा प्रचलन के माध्यम से हर घर में पुनर्जीवित किया जा सकता है। व्यक्ति सम्पर्क से चलने वाले सत्संग की यह अति सरल किन्तु चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया है।

घर की कोई सुयोग्य महिला इस उच्चस्तरीय कार्य को उठाये। समय नियत रहे। एक-दो कथा-कहानियाँ नियमित रूप से कहने की शैली में मनोरंजन और विषय में प्रभावोत्पादक तत्व होंगे तो न केवल बालक वरन् बड़ी आयु के भी सब लोग उसे चावपूर्वक सुनेंगे। मासिक युग निर्माण योजना में दस वर्ष तक प्रेरक जीवन गाथाएँ छपती रहीं हैं, उन अंकों को इधर-उधर से संग्रह किया जा सकता है और उनमें छपे प्रसंगों को कथा रूप में कहा जा सकता है। युग साहित्य में सस्ते जीवन चरित्र भी इसी उद्देश्य के लिए छापे गये थे। प्रायः एक घण्टे में वह पुस्तिका भली प्रकार सुनाई जा सकती है। इस तरह कथा साहित्य की आरम्भिक आवश्यकता इस प्रकार पूरी हो

सकती है। पौराणिक कथाओं में से जिनमें जितने अंश में प्रेरक तत्व हैं उन्हीं को कथा प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इस प्रकार बाल साहित्य में से भी आदर्शवादी शिक्षण दे सकने वाली कहानियाँ छाँटी जा सकती हैं। कहानी कहने वाला दिन में जहाँ-तहाँ से प्रेरक कहानियाँ ढूँढ़े और रात को सुनाये। इसमें कठिनाई पड़ती हो तो युग साहित्य में छपे कथा प्रसंगों को पढ़कर सुनाते रहने से भी यह कार्य मजे में चलता रह सकता है। कथा श्रवण का सत्संग क्रम परिवार निर्माण के महान कार्य में परोक्ष रूप से अपना महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ेगा।

नमन-वन्दन, बलिवैश्व, आरती, कीर्तन, स्वाध्याय प्रचलन, कथा श्रवण के उपरोक्त पाँच कार्य ऐसे हैं जो हर घर में सरलतापूर्वक आरम्भ किये जा सकते हैं। कार्यों के छोटे स्वरूप को देखते हुए बड़े परिणाम की आशा सामान्य बुद्धि से नहीं की जा सकती किन्तु यदि इन्हें कार्यान्वित किया जा सके तो प्रतीत होगा कि इन प्रयत्नों का सम्मिलित परिणाम कितने सुखद प्रतिफल प्रस्तुत करते हैं।



परिवार का पोषण ही नहीं, निर्माण भी

परिवार का पालन ही नहीं, निर्माण भी करें

समाज सेवा का सबसे समीपवर्ती और सबसे सरल कार्यक्षेत्र हमारा परिवार ही हो सकता है। ईश्वर ने जिन प्राणियों के साथ रक्त-सम्बन्ध बनाकर तथा कर्तव्य और उत्तरदायित्व के बन्धनों में बाँधकर परिवार के रूप में प्रस्तुत किया है, उनकी सेवा करना प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक है। यों जितने अधिक मनुष्यों और प्राणियों की सेवा जितनी जिससे बन पड़े, उतनी ही उत्तम है, पर कौटुम्बिक उत्तरदायित्व तो अनिवार्य रूप से उठाने ही होते हैं, इनमें उपेक्षा बरतने से जो दुष्परिणाम निकलते हैं वे धर्मकर्तव्य, समाज-हित और परिवार संगठन की दृष्टि से बहुत ही विपरीत एवं घातक सिद्ध होते हैं। इसलिए सेवाधर्म की ओर लक्ष्य रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह कार्य अपने घर से ही आरम्भ करना चाहिए।

यों अपने परिवार के लिए भोजन, वस्त्र की व्यवस्था सभी करते हैं। बच्चों की शिक्षा और विवाह का प्रबन्ध भी सबको करना पड़ता है। दवा-दारू, मनोरंजन तथा अन्य आवश्यक व्यवस्थाएँ भी समय-समय पर होती रहती हैं। इन कार्यों को गरीब, अमीर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उपेक्षा या उत्साह से किसी न किसी तरह पूरा करते ही रहते हैं। पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात छूटी ही रह जाती है और वह है परिवार को संस्कारवान बनाना।

सुसंस्कारों के अभाव में मनुष्य का व्यक्तित्व गिरा हुआ ही बना रहता है। जिसका व्यक्तित्व निम्न श्रेणी का है, वह भले ही धन, विद्या, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, प्रतिभा आदि की दृष्टि से कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, निकृष्ट प्रकार का जीवन ही व्यतीत करेगा। उसे न तो स्वयं ही आन्तरिक शान्ति मिलेगी और न उसके सम्पर्क में रहने वाले सुखपूर्वक निर्वाह कर सकेंगे। दुर्गुणी व्यक्ति समाज के लिए, अपने लिए और परिवार के लिए अभिशाप ही सिद्ध होते हैं। इसलिए परिवार में सदगुणों की सुसंस्कारिता की अभिवृद्धि करना प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का एक आवश्यक धर्मकर्तव्य माना गया है।

स्कूलों में अध्यापक लोग निर्धारित पाठ्यक्रम पढ़ा सकते हैं, पर उनसे चरित्र शिक्षण की आशा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि चरित्र कहने-सुनने से नहीं सीखा जाता, उसके लिये तो वातावरण एवं अनुकरणीय उदाहरण चाहिए। स्कूलों के अध्यापकों का सम्पर्क बच्चों से पढ़ाई के निर्धारित घंटों में ही होता है—उनके निजी चरित्र और व्यक्तिगत व्यवहार से सीधा सम्बन्ध न होने से छात्र कोई

सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं करते। बुराई तो कहीं से भी सीखी जा सकती है, पर अच्छाई के लिए अनुकरण की प्रेरणा देने वाले आदर्शों की आवश्यकता होती है। अभ्यास में अच्छाईयाँ तब आती हैं जब प्रभावित करने के लिए वैसा वातावरण भी प्रस्तुत हो। इस प्रकार की व्यवस्था घर में रहे तो ही यह सम्भव है कि बच्चों पर जीवन को श्रेष्ठता के ढाँचे में ढालने वाली छाप पड़े।

परिवार की सबसे बड़ी सेवा एक ही हो सकती है कि घर के हर व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया जाय। जिस प्रकार अपनी त्रुटियों और बुराईयों को घटाने और हटाने की उपयोगिता है उसी प्रकार 'परिवार-शरीर' के प्रत्येक अंग को प्रत्येक परिजन को सुधरा हुआ एवं सुसंस्कृत बनाना आवश्यक है। यह कार्य दूसरे लोग नहीं कर सकते, स्वयं किये बिना उद्देश्य पूरा नहीं होगा। क्योंकि घरवालों पर जितना अपना प्रभाव एवं अपनत्व है उतना दूसरों का नहीं हो सकता, घर के प्रभावशाली व्यक्तियों को ही यह कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए।

डॉटने-फटकारने व भला-बुरा कहने, दोषारोपण एवं झुँझलाहट से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार अपने ऊपर झुँझलाकर या लम्बी-चौड़ी योजना बनाकर एक दिन में अपना सुधार नहीं हो सकता, उसी प्रकार परिवार की बहुत दिन की जमी हुई भली-बुरी स्थिति उतावली में नहीं बदली जा सकती। बन्दर को तमाशा करना सिखाने वाले कलन्दर जिस धैर्य, अध्यवसाय और सतत प्रयत्न से काम लेते हैं, वही रास्ता हमें भी अपनाना पड़ेगा। तोड़-फोड़ सरल होती है पर निर्माण कार्य कठिन है। मनुष्य की योग्यता और प्रतिभा उसकी रचना शक्ति को देखकर ही आँकी जाती है। परिवार के निर्माण में बड़ी चतुरता, कुशलता, धैर्य, प्रेम, सहिष्णुता एवं आत्मीयता से काम लेना होता है। समय-समय पर साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनानी पड़ती है, तब कहीं शनैः-शनैः अभीष्ट परिणाम सामने आता है।

इसके लिए घरेलू पाठशाला एवं सत्संग गोष्ठी के रूप में दैनिक शिक्षणक्रम का एक कार्यक्रम निर्धारित करना चाहिए। सुविधा के समय परिवार के सब लोग मिल-जुलकर बैठा करें और प्रेरणाप्रद प्रसंगों को लेकर वार्तालाप किया करें। दैनिक समाचार-पत्रों में छपने वाली कुछ भली या बुरी खबरों को लेकर उनकी आलोचना इस ढंग से की जा सकती है कि सुनने वालों पर भलाई के प्रति निष्ठा और बुराई के प्रति घृणा भाव पैदा हो। नई खबरें सुनने की सबकी इच्छा रहती है। आकर्षक, मनोरंजक और विवेचनात्मक ढंग से खबरें सुनाने का कार्य घर के सभी लोग पसंद करेंगे। उनका मनोरंजन भी होगा शिक्षा भी मिलेगी। इसी प्रकार महापुरुषों के जीवन चरित्रों के

२.२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

कोई अंश, व्रत-पर्वों के इतिहास, पौराणिक उपाख्याम, कथा-गाथाएँ कहने का कार्यक्रम चलाया जाता रहे तो घर में सबका मनोरंजन भी होगा और अप्रत्यक्ष रूप में वे सब शिक्षाएँ भी मिलने लगेंगी जो परिजनों को सुसंस्कृत बनाने के लिए आवश्यक हैं।

कभी-कभी घर की समस्याओं पर विचार-विनिमय भी करते रहना चाहिए। किसे क्या कठिनाई और क्या शिकायत है इसकी जानकारी परस्पर सब लोग रखे रहें और उसका हल खोजते रहें तो निश्चय ही वे बढ़ेंगी नहीं, घटेंगी ही। कड़ा प्रतिबंध लगा कर व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को एकदम अवरुद्ध कर देना तो ठीक नहीं, पर प्रयत्न यह करना चाहिए कि सब लोग अपनी भूलों के समझने और सुधारने की आवश्यकता अनुभव करने लगे।

अशिक्षा के विरुद्ध व्यापक अभियान आरम्भ करने की जो अपनी योजना है, उसका आरम्भ अपनी घरेलू ज्ञान-गोष्ठी ही से हमें आरम्भ करना चाहिए। घर में जो बिना पढ़े-लिखे हैं उन्हें पढ़ाना चाहिए। प्रयत्न यह करना चाहिए कि कोई भी निरक्षर न रहे। निरक्षरता मानव-जीवन का एक कलंक है। इस कलंक से अपने घर के सभी सदस्यों को मुक्त कर लेना चाहिए। 'अखण्ड-ज्योति' का एक भी सदस्य ऐसा न हो जिसकी स्त्री बिना पढ़ी रह जाय। घूँघट और संकोच की मूर्खता को इस पुनीत कार्य में जरा भी आड़े नहीं आने देना चाहिए। घर के बड़े-बूढ़ों को इस कार्य में अपनी सहमति देने के लिए राजामंद करना चाहिए। एकान्त समय में तो उनकी बिना सहमति के भी शिक्षण चल सकता है। जो स्त्रियाँ बड़ी आयु की हो चुकी या जिन घरों में पर्दा नहीं होता वहाँ तो यह कठिनाई भी नहीं आती। कई बार बड़ी आयु की स्त्रियाँ इसे व्यर्थ समझती हैं, कहती हैं—'हमें कोई नौकरी थोड़े ही करनी है जो पढ़ें।' उन्हें समझाना चाहिए कि पढ़ना, ज्ञान के नेत्र खोलने के लिए होता है, नौकरी के लिए नहीं। शिक्षा की उपयोगिता समझाकर तरुण, अधेड़ और बूढ़ों को भी इस कार्य के लिए तैयार किया जा सकता है। यदि अपना स्वभाव मधुर और उत्साह पक्का है तो आज नहीं तो कल, घर के निरक्षर लोग साक्षर बनने को उद्यत हो ही जावेंगे।

परिवार को सभ्य, सुशिक्षित, सच्चरित्र एवं विवेकशील बनाने के लिए प्रयत्न करना प्रत्येक विचारवान मनुष्य का आवश्यक धर्मकर्तव्य है। उसे पूरा करने से हम अपना उत्तरदायित्व पूरा करते हैं, समाज को सुसंस्कृत बनाने में भारी योगदान देते हैं और अपने बगीचे के सुविकसित होने से स्वयं भी लाभान्वित होते हैं। युग-निर्माण के लिए परिवार-निर्माण आवश्यक है। इसके लिए हमें ध्यान भी देना चाहिए और समय भी।

परिवार निर्माण एक अनिवार्य उपयोगी प्रयास

परिवार में सुसंस्कारिता का वातावरण बनाना प्रत्येक विचारशील, जागरूक और विवेकवान व्यक्ति का कर्तव्य है। इस संगठन में रहने और उसका लाभ उठाने का ही दृष्टिकोण यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना ले तो परिवार संस्था का कोई महत्व नहीं रह जाता। यदि एक साथ रहने का का नाम ही परिवार है तो लोग धर्मशालाओं, होटलों और रेलगाड़ियों में भी एक साथ रहते हैं। उतने मात्र से ही इन स्थानों पर रहने वाले लोग परिवार के सदस्य नहीं बन जाते। परिवार एक साथ रहने वाले व्यक्तियों का नाम नहीं है। उसमें रहने वाले सदस्य एक दूसरे के प्रति घनिष्ठ आत्मीयता के सूत्र में बँधे रहते हैं। साथ रहने, एक चौके में खाने और एक दूसरे से बोल-चाल, बात-चीत, प्रेम-व्यवहार से सम्बद्ध रहने के अतिरिक्त भी स्वजन आपस में एक दूसरे के प्रति कर्तव्यों में बँधे रहते हैं। उन कर्तव्यों की पूर्ति करते चलना परिवार में रहने की, परिवारीजन कहलाने की अनिवार्य शर्त है। नासमझ, अबोध और छोटे बच्चों की अपेक्षा कर्तव्य पालन की आवश्यकता, अनिवार्यता, परिवार के बड़े सदस्यों के लिए अधिक है। छोटे बच्चों को तो कर्तव्य और दायित्वों की भाषा ही नहीं समझ पड़ती फिर वे उन्हें पूरा कहाँ से कर सकेंगे? उन्हें कर्तव्य और दायित्व समझाना आगे की बात है। पहले तो यह आवश्यक है कि बड़े लोग स्वयं कर्तव्यपरायण तथा परिवार के प्रति उत्तरदायी बनें।

यह उत्तरदायित्व परिवार के लोगों को संस्कारवान बनाने, उन्हें आदर्श और उत्कृष्ट व्यक्तित्वसम्पन्न बनाने के लिए जागरूक प्रयासों के रूप में ही पूरा किया जा सकता है। इन प्रयासों की कुशलता और तत्परतापूर्वक सम्पन्न किया जाए तो न केवल परिवार उत्कृष्ट व्यक्तित्वों को उत्पन्न करने में समर्थ हो सके वरन् उन प्रयासों के द्वारा अगणित मानवीय समस्याओं का समाधान भी परिवार की परिधि में रहकर ही सम्भव हो सकता है, सामाजिक कुरीतियाँ और समस्याएँ कोई आसमान से नहीं टपकतीं, वे समाज की इकाई व्यक्तियों की प्रवृत्ति से ही जन्मती हैं। व्यक्ति यदि असंस्कृत, अदूरदर्शी और विवेकवान होंगे तो उनकी प्रवृत्तियाँ, गतिविधियाँ और क्रिया-कलाप भी उसी स्तर के होंगे। व्यक्तियों की गतिविधियाँ और उनके क्रियाकलाप ही कई तरह की सामाजिक समस्याएँ खड़ी करते हैं। यदि उनके दृष्टिकोण और रीति-नीति में कोई परिष्कार किया जाए तो उन समस्याओं का जड़-मूल से उच्छेदन किया जा सकता है।

यही नहीं बहुत सी ऐसी समस्याएँ भी परिवार के माध्यम से हल की जा सकती हैं जिनका व्यक्ति की रीति-नीति से प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि सभी समस्याएँ व्यक्तियों के अपने दृष्टिकोण और रीति-नीतियों,

क्रियाकलापों से ही उत्पन्न होती है फिर भी कुछ का स्वरूप सीधे उससे सम्बन्धित नहीं होता। उदाहरण के लिए अशिक्षा को ही लें। प्रत्यक्षतः इसका कारण परिस्थितियाँ और साधनों का अभाव लगता है परन्तु वास्तव में इसका कारण रुचि का अभाव और शिक्षा का महत्व न समझना है। कारण जो भी हो अशिक्षा अपने देश की एक बहुत बड़ी समस्या है और लगभग तीन चौथाई जनता अशिक्षित है। इन सभी लोगों को शिक्षित बनाना बड़ा काम लग सकता है, बड़ा काम है भी सही किन्तु इतनी बड़ी समस्या का समाधान निरक्षरता का उन्मूलन घर-पड़ोस के शिक्षित लोग ही थोड़ा-थोड़ा समय देकर सहज ही कर सकते हैं, जबकि सरकारी तन्त्र देश की तीन चौथाई जनता को साक्षर बनाने के लिए तन्त्र खड़ा करने में प्रायः असफल ही रहेगा। गरीबी उन्मूलन में कुटीर उद्योगों को प्रथम उपाय माना जा सकता है। यह प्रचलन ऊपर से नहीं थोपा जा सकेगा। घर के लोग आवश्यकता अनुभव करेंगे तो उसके साधन उसी प्रकार जुटा लेंगे जैसे विवाह-शादियों में खर्च करने के लिए पैसा कहीं से भी किसी भी प्रकार जुटा लेते हैं। स्वास्थ्य को बनाने और बिगाड़ने में भोजन सम्बन्धी ढेरें तथा स्वच्छता, दिनचर्या की प्रमुख भूमिका रहती है, उसे सुधारने में ही आरोग्य का संरक्षण हो सकेगा, गली-गली अस्पताल बनाने और घर-घर डॉक्टर पहुँचाने से भी जो कार्य नहीं हो सकता वह आहार-विहार सम्बन्धी पारिवारिक ढर्रा बदलने से हो सकता है।

जनसंख्या नियन्त्रण परिवार नियोजन की समस्या अत्यधिक विकट है। यह राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। यह कार्य सीधा घर की मान्यताओं पर निर्भर है, परिवार के हर सदस्य की इस सन्दर्भ में जागरूकता रहे और प्रजनन को अशुभ माना जाने लगे तो यह कार्य सहज ही हो सकता है, जो सरकारी महकमे की दौड़-धूप नहीं कर पा रही है। चरित्र गठन और व्यक्तित्व-निर्माण का कार्य अत्यधिक महत्व का काम है, समर्थता, समृद्धि और प्रगति के सभी प्रयोजन इसी रथ चक्रों के आधार पर गतिशील हो सकते हैं, यह कठिन कार्य परिवार संस्था के अतिरिक्त और किसी के बलबूते का नहीं है। स्कूलों में कुछ भी क्यों न पढ़ाया जाता रहे, घर का वातावरण ही व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव को गढ़ने ढालने में सफल होगा। जो कार्य नीति, सदाचार और धर्म, अध्यात्म का विशालकाय तन्त्र चिरकाल से चल रही घूम-धाम और ऊहापोह के सहारे भी कर नहीं पाया उसे परिवारों का सुधारा हुआ वातावरण देखते-देखते सम्पन्न कर सकता है।

नागरिकता और सामाजिकता की कारगर शिक्षा देना और शालीनता को स्वभाव का अंग बना देना, न प्रवचनों के हाथ में है और न साहित्य इस दिशा में बहुत आगे तक जा सकता है। इन प्रचार तन्त्रों से दिशा-दर्शन भर हो सकता है। सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बनाना

उपचारों से नहीं अन्तरंग के मर्मस्थल को प्रभावित करने वाली एवं दैनिक जीवन में कार्यान्वित होने वाली परिपाटी से ही सम्भव हो सकता है। यह महान कार्य यदि कभी कोई कर सकता है तो वह एक ही तन्त्र होगा-परिवार का परिष्कृत वातावरण।

सामाजिक कुरीतियाँ, अनुपयुक्त, प्रथा-परम्परायें, मूढ़ मान्यतायें और रूढ़ियाँ, कितनी कष्ट कर और कितनी खर्चीली विभीषिकायें रचती रहती हैं, उसे हम सब आये दिन अनुभव करते हैं। समाज सुधार के नारे लगाये जाते और आन्दोलन किये जाते हैं, पर देखा गया है कि स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं होता। विवाह-शादियों के प्रचलन को ही लें तो उसमें बाल-विवाह से लेकर देन-देहेज, धूम-धाम और उपजातियों में ही दूँद-खोज के कारण कितनी जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और दूरगामी दुष्परिणाम प्रस्तुत करती हैं, इसे सभी जानते हैं, बदलते हटाने की बात भी सोचते हैं पर घर-परिवार का भीतरी वातावरण इतना जड़ दुराग्रह अपनाए बैठा होता है कि बुद्धिमानी एक कोने पर बैठी रहती है और रूढ़ियाँ क्रियान्वित होती रहती हैं। सुधार अभीष्ट हो तो पत्ते तोड़ने से नहीं जड़ काटने से ही काम चलेगा।

नारी को पददलित बनाये रखने और उसकी प्रगति में पग-पग पर अवरोध खड़े करने में उसका पति ही कारण नहीं होता, सारा परिवार उस अनीति को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाये रहता है। फलतः प्रगतिशीलता का समर्थक होते हुए भी पति कुछ कर नहीं पाता। लोकलाज से उसे घर वालों का दबाव सहना पड़ता है और आदर्शवादी मान्यताओं को मन ही मन में मसोसे रहना पड़ता है। भावी पीढ़ी का निर्माण परिवारों में सुसंस्कारिता उत्पन्न होने से ही सम्भव हो सकता है, इस तथ्य को बहुत दिनों से समझा-समझाया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में एक कड़ी और भी जुड़नी चाहिए कि नारी उत्थान का कार्य भी पारिवारिक वातावरण में परिवर्तन करने से ही सम्भव हो सकता है। पुत्र और पुत्री में भेद, पर्दा-प्रथा, शिक्षा की उपेक्षा, विवाह की जल्दी, प्रगति प्रयासों का विरोध, असहयोग, अस्त-व्यस्त ढर्रे में पूरा समय नष्ट होते रहना और प्रगति प्रयासों के लिए समय न मिलना जैसे अवरोध ही नारी की प्रगति में बाधक और अवनति के निमित्त हैं। इन अनाचारों का परिपोषण एक व्यक्ति नहीं, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से पूरा पारिवारिक वातावरण ही करता है। नारी उत्थान की समस्या का हल, यदि वस्तुतः करना हो तो उसके लिए प्रचलित ढर्रे को बदलना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

खाद्य-संकट जैसी कितनी ही समस्याएँ देश को हैरान करती रहती हैं, घरों में शाक-वाटिका लगाने तथा अन्न का उपयोग कम करके शाकों को उसका स्थानापन्न बनाया जा सके, पकाने की विधि, अन्न की सुरक्षा में जूठन छोड़ने तथा अधिक बना डालने जैसी उपेक्षाओं में यदि सतर्कता बूझी जाने लगे तो इतने भर से अन्न की

२.४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

इतनी मात्रा बच सकती है कि उतने से ही विदेशों से अन्न मँगाने जैसी कठिनाई का हल निकल सके। गौरक्षा के लिए कितने ही आन्दोलन चलते हैं, पर आत्यांतिक समाधान एक ही है कि मात्र गाय का दूध ही प्रयुक्त किया जाय। हर परिवार की यही माँग हो तो गौपालन का व्यवसाय देश का प्रमुख उद्योग बन जायेगा और उससे न केवल धर्मभावना एवं स्वास्थ्य रक्षा का सवाल हल होगा, वरन् उपयोगी बैल मिलने से लेकर असंख्यों की बेकारी दूर होने का एक नया मार्ग भी मिलेगा।

प्राचीनकाल में हर घर के पीछे, एक व्यक्ति-लोक सेवा के लिए समर्पित होता था। घर के अन्य लोग उसके पारिवारिक उत्तरदायित्वों को अपने कन्धों पर वहन करते थे। लोकमंगल के रचनात्मक कार्यों में भावभरी जन-शक्ति चाहिए। इसे नौकरी देकर इन दिनों खरीदा जाता है। यह खरीद खर्चीली भी रहती है और निकम्मी भी, यदि हर परिवार अपने में से एक को लोक समर्पित कर सके तो बिना अतिरिक्त अर्थ व्यवस्था जुटाये बिना भर्ती किये इतने समाजसेवी मिल सकते हैं कि उलझी हुई असंख्यों समस्याओं का समाधान उनके द्वारा सहज सम्भव हो सके। वानप्रस्थ परम्परा ने पुरातन युग को सतयुग में बदला था। संन्यासी लोकजागरण का कार्य करते थे, कितने ही ब्रह्मचारी विवाह की उपेक्षा करके सीधे समाज सेवा के महान कार्य में जुट जाते थे यही थीं वे महान परम्पराएँ जिनने इस देश को देवभूमि बनाया और यहाँ के लोगों ने संसार के कोने-कोने में जाकर सभ्यता का पाठ पढ़ाया। पारिवारिक संकीर्णता का दबाव इन दिनों अधिक है कि कोई परमार्थ परायण होने की बात सोचे या कदम उठाये तो उसे परिवार से लेकर मित्र-सम्बन्धियों तक के भारी विरोध का सामना करना पड़ता है। परिस्थिति को उलटा जा सके, परमार्थ को प्रश्रय-प्रोत्साहन मिलने लगे तो प्राचीनकाल की तरह फिर असंख्यों लोक-सेवी मिल सकते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास की आवश्यकता घर भर के लोग अनुभव करने लगे तो समझना चाहिए कि व्यक्ति और समाज का कायाकल्प प्रस्तुत करने वाला सतयुग स्वर्ग से उतरकर धरती पर आने के लिए तैयार हो गया।

कितने ही दुर्व्यसन और दुर्गुण मनुष्य समाज को खोखला करते हैं। सिगरेट, शराब आदि का प्रचलन परिवार में विरोधी वातावरण न रहने से ही पनपता है। सिख परिवार में तम्बाकू और जैन परिवार में माँसाहार का प्रचलन प्रायः नहीं ही पाया जाता। इसमें व्यक्ति विशेष को श्रेय नहीं वरन् पूरे परिवार का दबाव काम करता है। नशेबाजी जैसी दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए पारिवारिक वातावरण का सहयोग मिलना आवश्यक है।

अनेक रचनात्मक कार्यों के लिए श्रमशक्ति और धन शक्ति की कमी पड़ती रहती है। इसके लिए सरकार भारी टैक्स लगाती है और संस्थाएँ चन्दा एकत्रित करती हैं। यदि समर्थ व्यक्ति एक घण्टा समय और दस पैसा नित्य देने

लगे और यह प्रथा आवश्यक कृत्यों की शृंखला में जुड़ सके तो किसी असुविधा का सामना किये प्रचुर परिमाण में श्रम और धन अनायास ही उपलब्ध हो सकता है और उतने से ही नवसृजन के अनेकानेक प्रयोजनों की पूर्ति सरलतापूर्वक होती रह सकती है। साठ करोड़ भारतीयों में से बीस करोड़ समर्थ माने जा सकते हैं। इतने लोगों का एक घण्टा मिलने से बीस करोड़ घण्टों का श्रमदान उपलब्ध हो सकता है। इतने भर से नवसृजन का पर्वत जैसा भारी काम अँगुलियों पर उठ सकता है। बीस करोड़ समर्थ दस पैसा नित्य दें तो वह राशि दो करोड़ प्रतिदिन होती है। दो करोड़ प्रतिदिन अर्थात् ७२० करोड़ वार्षिक। इतनी बड़ी राशि में इन रचनात्मक कार्यों के ढाँचे सहज ही खड़े किये जा सकते हैं, जिनके बिना आज आदर्शवादी प्रगति में भारी अड़चन खड़ी हो रही है। साहित्य और कला को नवसृजन में लगाने की आवश्यकता हर कोई अनुभव करता है, सत्साहित्य का सृजन एक आवश्यक कार्य है। इन दिनों का प्रधान मनोरंजन और प्रभावी माध्यम सिनेमा है। दोनों के लिए पूँजी मिल सके तो फैले हुए कूड़े-करकट को बुहार फेंकने और उसके स्थान पर अभिनव को स्थानापन्न बनाना सहज सुलभ हो सकता है। एक वर्ष के ७२० करोड़ सत्साहित्य के लिए, दूसरे वर्ष के फिल्म के लिए, तीसरे वर्ष के चल पुस्तकालयों के लिए, चौथे वर्ष के साक्षरता के लिए, पाँचवें वर्ष के अवांछनीयताओं के उन्मूलन के लिए लगाये जा सकें तो यह पंचवर्षीय योजना अपने देश का समग्र कायाकल्प करके रख सकती है। इतने भर से भौतिक परिस्थितियों और मनःस्थितियों में जमीन आसमान जैसा अन्तर प्रस्तुत किया जा सकता है। न सरकार पर बोझ पड़ेगा और न दानियों का द्वार खटखटाना पड़ेगा। परिवार में जिस प्रकार अनेक प्रथा-परम्पराएँ भी प्रचुर धन खर्च कराती और समय बर्बाद कराती रहती हैं, उसी प्रकार एक घण्टा और दस पैसा नित्य परमार्थ प्रयोजनों के लिए निकालने जैसे छोटे अनुदान को भी उसी में सम्मिलित किया जा सके तो इतने नगण्य से अंशदान को सम्मिलित योगदान इतना बड़ा हो सकता है कि प्रचुर धनशक्ति और जनशक्ति के सहारे नया संसार बनाकर खड़ा कर देने जैसा चमत्कार किया जा सके।

अनैतिकतायें और अपराधी दुष्प्रवृत्तियाँ रोकने के लिए पुलिस, कचहरी, जेल, कानून आदि का खर्चीला ढाँचा चल रहा है, इतने पर भी पतनोन्मुख प्रवाह में कोई कमी आती नहीं दीखती। दण्ड से बच निकलने की प्रचुरता इतनी अधिक बढ़ गई है कि अपराधों की रोकथाम का प्रयोजन पूरा नहीं दीखता। यह अन्धकार भरे भविष्य का लक्षण है। रोकथाम की बात यदि कभी सफल हुई-तो उसमें पारिवारिक शालीनता ही प्रधान भूमिका सम्पन्न करेगी। छोटे रूप में अनीति की शिक्षा वहीं से मिलती है। अपराधों को सहन करने और समर्थन देने का प्रश्रय भी वहीं से मिलता है। छोटे रूप में पलने वाली आदतें बड़े

होने पर कालरज्जु जैसे सर्पिणी बनती और शालीनता को डसकर समाप्त करती हैं। यदि परिवार में अनीति का प्रश्रय न देने का प्रचलन हो उसको समर्थन सहयोग न मिले तो, अधिकांश दुष्प्रवृत्तियाँ पनपने का अवसर ही नहीं पा सकती।

व्यक्तिगत दोष-दुर्गुणों से लेकर सामाजिक कुरीतियाँ और अनैतिक, अवांछनीय, भ्रष्ट प्रवृत्तियों तक जितनी भी समस्याएँ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में व्याप्त हैं, उनका हल परिवार में खोजा जा सकता है।

विश्व में अनेकानेक स्तर की समस्याएँ, विपत्तियाँ एवं विभीषिकाएँ बिखरी पड़ी हैं, ऐसी विकट जो सुलझाये सुलझती नहीं। इतने बुद्धिमान और इतने सुसम्पन्न मानव समाज को निरन्तर व्यथित, उद्विग्न, आशंकित बनाये रहने वाली इन विपन्नताओं की उत्पत्ति आखिर होती कहाँ से है? इसका पता लगाने पर प्रतीत होता है कि चिन्तन और चरित्र की दृष्टि से सड़े-गले परिवार अपनी कीचड़ में से विषैले कृमि-कीटक उत्पन्न करते हैं, इन विषाणुओं की सेना लोकमानस को जर्जर बनाकर रख देती है। समस्त विकृतियों का उद्गम केन्द्र यही है। यदि परिवारों में सुसंस्कारिता की परिस्थितियाँ बनी रहें, तो इस नन्दनवन में कल्पवृक्ष फलते और परिजात-फूलते दिखाई देंगे। स्वर्गीय वातावरण बनाने की यह पृष्ठभूमि है।

इस सन्दर्भ में परिवार के प्रति अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। परिवार का अर्थ उन लोगों तक ही सीमित नहीं समझा जाना चाहिए जो एक चूल्हे पर पकाते-खाते और एक घरोंदे में रहते हैं। पारिवारिक परिधि में हर स्तर के व्यक्ति को सम्मिलित किया जा सकता है। विवाहित, अविवाहित की इसमें समान रूप से गणना हो सकती है। प्रचलित मान्यता के अनुसार अपनी स्त्री और उसके पेट से उत्पन्न हुए बाल-बच्चे परिवार गिने जाते हैं, बहुत हुआ तो माता के पेट से उत्पन्न हुए भाई-बहिन भी इस परिवार में समझे जा सकते हैं। पाश्चात्य देशों में स्त्री-पुरुष ही परिवार है, समर्थ होते ही बच्चे अपनी गृहस्थी आप बसाते हैं, अभिभावकों के साथ किसी कर्तव्य उत्तरदायित्व के बन्धन में बँधे नहीं रह जाते।

भारतीय पारिवारिकता उससे भिन्न है। उसमें संयुक्त कुटुम्ब की परिपाटी है। कई पीढ़ियों के लोग एक ही घर-परिवार में संयुक्त रूप से ही रहते, एक ही चूल्हे पर पकाते-खाते और कृषि आदि एक ही व्यवसाय में संलग्न रहकर गुजारा करते हैं। अपने ही अंशजों का उत्तरदायित्व सँभालने जैसी संकीर्णता उनमें नहीं होती। विधवाएँ, निराश्रिताएँ और दूर रिश्ते की महिलाएँ इसी परिवार में आश्रय पातीं और शान्तिपूर्वक निर्वाह करती देखी जाती हैं। यही भारतीय आदर्श है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के अन्तर्गत अधिक लोगों के एक साथ रहने और निर्वाह एवं विकास के लिए सामुदायिक रीति-नीति अपनाने की प्रयोगशाला ही परिवार है। उसका आधार छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी।

मिल-जुलकर रहने, योग्यतानुसार कमाने, आवश्यकतानुसार खर्च करने की आदर्शवादिता परिवार का मेरुदण्ड है। अध्यात्म की दृष्टि से अधिक लोगों का आत्मीयता के बन्धनों में बँधना सुख-दुःख को मिल-बाँटकर वहन करना, अधिकार को गौण और कर्तव्य को प्रमुख मानकर चलना पारिवारिकता है। इसे सहकारी जीवन पद्धति कह सकते हैं। इन दिनों आर्थिक क्षेत्र में सर्वत्र सहकारी प्रयत्नों की उपयोगिता समझी जा रही है और उसे प्रमुखता मिल रही है। देहातों में सहकारी समितियों का विस्तार हो रहा है, औद्योगिक कारखाने लिमिटेड कम्पनियों के रूप में चलते हैं।

मानवी प्रकृति में बुद्धि की प्रधानता को कारण समझा जाता है पर वस्तुतः महिमा सहकारिता की है। कुटुम्ब बनाकर रहने और समाज व्यवस्था अपनाने से ही उसने इस स्तर तक पहुँचने में सफलता पाई है, जिससे वह सृष्टि का मुकुटमणि समझा जाता है। सहकारी स्वभाव ने उसे पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर बुद्धिमान, सुयोग्य और समृद्ध बनाया है। भौतिक, आत्मिक प्रगति का सारा रहस्य मिल-जुलकर रहने की पद्धति में सन्निहित है, उसी को अधिक सुसंयत रूप से छोटी-छोटी इकाइयों में क्रियान्वित करना परिवार है। इसी सत्प्रवृत्ति को जीवनयापन के हर क्षेत्र में विकसित करना पारिवारिकता है। इसी का विकसित रूप समाजवाद एवं साम्यवाद है। अध्यात्म दर्शन भी इसी आस्था पर आधारित है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का सिद्धान्त समस्त मानव समाज को, प्राणिमात्र को आत्मीयता के सूत्र में बँधता है और संयुक्त रूप से प्रगति करने तथा मिल-बाँटकर खाने की प्रेरणा देता है।

स्त्री के पेट से उत्पन्न हुए बच्चों का भरण-पोषण तो पशु-पक्षियों में भी चलता है। नर-नारी कामुकता के आधार पर घर बसाते व अण्डे बच्चों की साज-सँभाल करते हैं। यह प्रकृति प्रेरणा है। परिवार यहाँ से आरम्भ भले ही होता है, पर इतने दायरे में सीमित नहीं रहता। उसकी परिधि अधिकाधिक बढ़ी होती जानी चाहिए। यहाँ तक कि विश्व परिवार के आदर्शों का परिपालन करते हुए विराट ब्रह्म के दर्शन करने चाहिए। विरक्त भी एकाकी नहीं रहते उनका आश्रय सम्प्रदाय परिवार है। कुमार-कुमारी, विधुर-विधवा भी विवाहितों की तरह ही किसी निर्वाह तन्त्र के अंग बनकर ही रहते हैं।

विशाल परिवार की दृष्टि को विकसित करना, जीवनयापन की प्रक्रिया में अधिकाधिक लोगों को संयुक्त करना यही पारिवारिकता का तत्त्व दर्शन है, जिस पर लोक-कल्याण अवलम्बित है। यह तो परिवार संस्था के व्यापक और विस्तृत अर्थ की बात हुई। उदार दृष्टि से विचार करने पर तो यह पूरा विश्व ही अपना परिवार दिखाई देने लगेगा। लक्ष्य वही होना चाहिए। किन्तु परिवार के वर्तमान कलेवर को, प्रचलित स्वरूप को ही देखें, तो वही अपने आप में इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि उसी के ऊपर व्यक्ति और समाज का भाग्य-भविष्य निर्भर है।

२.६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

व्यक्ति और समाज का भाग्य भविष्य निर्धारित करने वाली यह संस्था इन दिनों अपने आप बुरी तरह अस्तव्यस्त स्थिति में पड़ी है। गंगोत्री का गोमुख अवरुद्ध हो जाय तो भागीरथी की पतित पावनी धारा की उपलब्धियों का आनन्द कैसे मिले ? गंगा का अवतरण भागीरथ के प्रयासों से हुआ परन्तु उसकी स्वच्छता और गतिशीलता में अवरोध उत्पन्न न होने पाये, यह उन सबका उत्तरदायित्व है, जो भागीरथी से लाभ उठाते हैं, तथा उसका महत्व मानते हैं। आदिम मनुष्य को परिवारी प्रकृति का बनाने और उसे इस महान संस्था की छत्रछाया में फलने-फूलने का अवसर जिन्होंने दिया, वे तत्त्वदर्शी निश्चित रूप से भागीरथ के समतुल्य थे। उन्होंने परिवार संस्था के रूप में विश्व मानव को भौतिक सिद्धियों से हर घड़ी लाभान्वित करने वाली दिव्यगंगा धरती पर बुलाई। अब आप सभी व्यक्तियों का जिन्होंने इस संस्था से लाभ उठाया, यह कर्तव्य है कि उसकी पवित्रता और प्रवाहशीलता में जो गतिरोध उत्पन्न हो रहा है, उसका निराकरण करें।

इस दिशा में यदि प्रभावशाली कदम उठाए जाएँ तो उससे स्वार्थ भी सधता है और परमार्थ भी। इस दिशा में किये गए प्रयासों का परिणाम भी तत्काल देखने को मिल सकता है। परिवार निर्माण की दिशा में उपयोगी कदम उठाते ही उनका प्रभाव तुरन्त उत्पन्न होता है। अर्थ-सन्तुलन, स्नेह-सौहार्द, वातावरण में सुसंस्कारिता और सभी के लिए प्रगति के अवसर जैसे लाभ, परिवार निर्माण के कदम उठाते ही तुरन्त मिल जाते हैं। यदि यह कदम भ्रंशला-प्रतिक्रिया की तरह हर घर-परिवार में उठने लगे, तो इससे समाज पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा और समाज का काया-कल्प देखते-देखते प्रस्तुत हो जायेगा। यह इसका परोक्ष लाभ हुआ। इस प्रकार परिवार निर्माण की दिशा में कदम उठाते ही समाज और युग निर्माण की सम्भावना भी साकार होने लगती है। इसीलिए व्यक्ति और परिवार निर्माण को समाज निर्माण का आधार स्तम्भ कहा गया है।

परिवार निर्माण की उपयोगिता और चेष्टा

व्यक्ति निर्माण और समाज निर्माण के दोनों महान प्रयोजन परिवार निर्माण की उपेक्षित किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रक्रिया के साथ जुड़े हुए हैं। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है। विश्व कल्याण एवं मानवी उत्कर्ष के लिये यों कितने ही छोटे-बड़े सेवा कार्य किये जा सकते हैं पर निकटतम क्षेत्र में अनवरत क्षेत्र में जो सेवा साधना की जा सकती है, वह परिवार निर्माण के रूप में ही सम्भव है। ऐसे लोग जो सेवा स्वीकार करने और अनुरोध पर ध्यान देने के लिए

सरलतापूर्वक सहमत हो सकते हैं वे अपने घर परिवार के लोगों से बहतर कदाचित् ही कहीं मिल सकें। उन पर आत्मीयता का दबाव रहता है। असहयोग एवं प्रताड़ना का भय भी। निरन्तर साथ रहने के कारण उन्हें समय-समय पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गलतियों को सुधारने एवं सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए बिना विशेष कठिनाई के सहमत किया जा सकता है। अन्य लोगों के सुधारने का प्रयत्न करने में इतना अवसर नहीं मिल सकता, न उन पर कुछ दबाव ही रहता है। अस्तु, सुधार परिष्कार की सेवा साधना के लिए सरलतम क्षेत्र ढूँढ़ना हो तो वह परिवार के अतिरिक्त कदाचित् ही और कहीं मिल सके।

अन्य लोगों के बिगाड़-सुधार का भला-बुरा परिणाम उन्हीं के सम्पर्क क्षेत्र में विशेष रूप से होता है। यों प्रकारान्तर से सारा मानवी समाज ही एक सूत्र में बँधा है और एक के कृत्य एवं स्तर अन्यान्यों को भी किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं, फिर भी सीधा सम्बन्ध उन्हीं से रहता है, जो एक दूसरे के साथ अधिक घनिष्टतापूर्वक जुड़े हैं। परिवार के लोगों के साथ सहज घनिष्टता होती है। फलतः एक की हलचलों एवं परिस्थितियों से उस समुदाय के अन्य लोग भी प्रभावित होते हैं। घर का एक व्यक्ति असामान्य स्तर का बनने लगे तो उसकी प्रतिक्रिया अन्य साथियों पर भी होती है। स्वयं सज्जन रहते हुए भी परिवार के लोगों की दुर्जनता उद्दिग्न करके रख देती है। घर का एक व्यक्ति बागी होता है तो अन्य लोगों की नींद हराम हो जाती है। एक उठता है तो अन्यो को भी उसके सहारे उठने का अवसर मिलता है। शरीर का एक अंग पीड़ित हो तो अन्य अंगों की सहज गतिविधियाँ लड़खड़ाते लगती हैं। यही बात परिवार के सम्बन्ध में भी है। समस्त कुटुम्बी एक दूसरे की स्थिति से प्रभावित होते हैं। ऐसी दशा में निजी स्वार्थ को देखना हो तो भी वह परिवार से कम की परिधि में नहीं सधता।

ऐसी सेवा जो तत्काल और प्रत्यक्ष ही अपना सत्परिणाम प्रस्तुत करे, परिवार को सुसंस्कृत बनाने के रूप में ही हो सकती है। समृद्ध एवं समुन्नत बनाने के लिए साधनों की आवश्यकता है, साथ ही परिस्थितियों की अनुकूलता भी चाहिए। यह सर्वथा अपने ही हाथ में नहीं होता। सुविधा साधन जुटाने के लिए धन चाहिए। वह अभीष्ट मात्रा में मिल ही जायगा, इसका कोई भरोसा नहीं। फिर धन होने पर भी परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती चली जायें तो सम्पन्नता भी काम नहीं आती। विग्रहों से उत्पन्न अस्त-व्यस्तता को सम्भालना ही इतना कठिन पड़ जाता है कि सम्पन्नता से लाभान्वित होने का अवसर भी हाथ नहीं लगता। कितने ही धनी मानी, स्वस्थ समर्थ-निर्धनों से भी गई बीती मनःस्थिति और परिस्थिति में समय काटते देखे जाते हैं। प्रतिकूलताओं का दौर चल पड़े तो धन, सम्पत्ति के आधार पर अपने को, अपने परिवार को सुखी बनाने की इच्छा एक कोने पर धरी ही रह जाती है। ऐसा न हो तो भी यह निश्चित है कि धन का-साधनों का लाभ तभी

उठाया जा सकता है जब उसका उपयोग करने वाले सुसंस्कारी हों। अन्यथा उपलब्धियाँ नशे की तरह उन्माद उत्पन्न करती और विष की तरह विनाश रचती देखी गई हैं। ऐसे भाग्यशाली कम ही होते हैं जो सम्पदा की विपुलता और उसके सहारे सुखद परिणति का दुहरा लाभ प्राप्त कर सकें। सम्पन्नता के सहारे परिवार को सुखी-समुन्नत बनाने की कामना बहुत ही कम लोगों की पूरी होती है।

सरलता इसमें है कि परिवार के वातावरण में सुसंस्कारिता उत्पन्न की जाय। इसका प्रतिफल हाथों-हाथ देखने को मिलेगा। निर्धनता इस प्रयास में कोई बाधा नहीं पहुँचाती। गरीबी के कारण सुविधा साधनों में कमी पड़ती है, अस्तु कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इतने पर भी शालीनता के निर्वाह में उस कमी के कारण कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार परिस्थितियों की विपन्नता सामने आ खड़ी होने पर भी नीति-पथ से डगमगाने का कोई कारण नहीं होता। सच तो यह है कि संकटग्रस्त परिवार के लोग एक-दूसरे की सेवा सहायता में और भी अधिक सद्भावना और सहकारिता का परिचय देते हैं। मुसीबत के कारण सदाशयता और भी अधिक निखरती है। दूरदर्शिता, साहसिकता जैसे सद्गुणों के परिपक्व होने का अवसर प्रायः विपन्न परिस्थितियों में ही मिलता है।

साधनों से सुविधा तो रहती है और दूसरों को चमत्कृत करने का अवसर भी मिलता है। इतने पर भी वे सुसंस्कारिता के सम्बर्द्धन में कोई विशेष भूमिका नहीं निभाते। सच तो यह है कि सम्पन्नता के कारण उसके उपभोक्ता आलस्य, प्रमाद, अहंकार एवं अनेकानेक दुर्व्यसनों से ग्रसित होते देखे जाते हैं जबकि निर्धनता की स्थिति में वैसे उद्धत आचरण के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती।

यहाँ सम्पन्नता-विपन्नता की तुलनात्मक समीक्षा नहीं की जा रही है। मात्र इतना कहा जा रहा है कि परिवार को सुसंस्कृत बनाने की सरलता समझी जाय और यह न सोचा जाय कि इस महान प्रयोजन में निर्धनता बाधक हो सकती है। इसी प्रकार व्यस्तता की बहानेबाजी गढ़ना भी बेकार है। परिवार में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिए अलग से समय निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सामान्य क्रिया-कलापों के बीच ही वह प्रशिक्षण सहज स्वभाव चलता रहता है। महान माताओं ने अपनी सन्तानों को विश्व के ऐतिहासिक महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने योग्य बनाया इसके लिए उन्होंने हर दिन कोई नियमित कक्षाएँ नहीं चलाई और न किसी अतिरिक्त प्रयोगशाला में ढलने भेजा। सामान्य दिनचर्या के बीच ही ऐसे सुसंस्कार देती चली गई कि समय आने पर इन सद्गुणों ने चमत्कार दिखाया और उन सुसंस्कृतों को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाया। वे माताएँ स्वयं श्रेयाधिकारी बनीं और उनकी संतति ने उत्तराधिकार में उच्चस्तरीय अनुदान पाया।

परिवार निर्माण के लिए क्या साधन जुटाने होंगे यह पूछने की आवश्यकता नहीं। उसमें केवल महत्व समझने और ध्यान देने भर की आवश्यकता है। इतना बन पड़े तो प्रयास सहज ही चल पड़ेंगे। आरम्भ में ढर्रा बदलने भर की कठिनाई पड़ेगी। अभ्यस्त ढर्रा, स्वभाव का अंग बन जाता है। कितनी ही दुष्प्रवृत्तियाँ आदतों में सम्मिलित हो जाती हैं। उसकी हानियाँ समझते हुए भी भारी अड़चन यही रहती है कि आदत अपने आप छूटती नहीं। छुड़ाने के लिए जिस साहस की आवश्यकता है वह होता नहीं। फलतः अनुपयुक्त रीति-नीति के अभ्यस्त दुःख सहते और सिर धुनते रहते हैं। अपना बचाव करने की मनोवैज्ञानिक कमजोरी विपन्न परिस्थितियों का दोष किसी दूसरे के मत्थे मढ़ने की विडम्बना रचती रहती है। उससे भी कुछ बनता नहीं। आत्मप्रवंचना से उद्दिग्नता को किसी सीमा तक हलकी भले ही कर लिया जाय प्रयोजन तनिक भी सिद्ध नहीं होता।

परिवार निर्माण की महत्ता और उपयोगिता जिनकी समझ में आ जाय और जो सचमुच ही इस दिशा में कुछ करना चाहते हों, उन्हें एक ही साहस जुटाना पड़ेगा कि घर के प्रचलित चिन्तन और क्रियाकलाप में उपयोगी सुधार परिवर्तन करने के लिए कटिबद्ध हुआ जाय। इसके लिए अन्य सदस्यों से परामर्श किया जाय और उनका सहयोग सम्पादित किया जाय। आवश्यक नहीं कि सभी लोग सच्चे मन से इस प्रयास का समर्थन करें। जो सहयोग देने को तत्पर हों, उनके सहारे ही गाड़ी को आगे बढ़ाया जा सकता है।

परिवार निर्माण से ही व्यक्ति और समाज का निर्माण सम्भव

परिवार निर्माण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से आत्मनिर्माण और समाज निर्माण के दोनों उद्देश्य अनायास ही पूरे होते चलते हैं। तालाब में तैरना यों एक सामयिक और सीमित अभ्यास है, पर उससे तैराकी के बहाने शिक्षार्थी अपने अंग-प्रत्यंगों को विशेषतया फेफड़ों को मजबूत बनाने का लाभ उठाता है साथ ही आवश्यकतानुसार किसी नदी तालाब को पार करने, डूबते को बचाने जैसी विशेषताओं से अपने को सुसम्पन्न बनाता है। व्यायामशाला में कसरत करना भी एक सामयिक अभ्यास है। उसे करते समय स्फूर्ति का, साहसिकता का परिचय भर मिलता है, किन्तु प्रवीणता आने पर शरीर सुदौल और बलिष्ठ होने के कारण साथियों पर छाप छोड़ने, शत्रुओं को आतंकित करने, दंगल में कुश्ती जीतने, व्यायाम शिक्षण पाने जैसे अनेक अन्यान्य लाभ उठाना भी सम्भव हो जाता है। परिवार निर्माण को इसी स्तर का कार्य समझा जाना चाहिए। जिसमें तत्काल तो अर्थ संतुलन, सद्व्यवहार, स्नेह-सौहार्द, सुसंस्कृत वातावरण

२.८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सभी के लिए प्रगति अवसर जैसे लाभ मिलते हैं और उस व्यवस्था को देखने वाले सराहना करते-करते नहीं थकते । यह प्रत्यक्ष लाभ हुआ । दूरवर्ती और परोक्ष लाभ इसके अतिरिक्त हैं ।

स्वभावतः परिजनों के प्रगतिशील, समुन्नत, यशस्वी, समृद्ध एवं सुसंस्कृत होने की आकांक्षा रहती है । यह शुभेच्छायें मात्र कल्पना करने या आशीर्वाद देने से सम्भव नहीं हो जातीं । इन्हें फलित करने के लिए उस वातावरण को समर्थ बनाना पड़ता है । जिसमें पलकर किसी अनगढ़ को सुगढ़, अविकसित को समुन्नत बनाने का अवसर मिलता है । जलवायु की अनुकूलता में वृक्ष-वनस्पतियाँ विकसित और फलित होती हैं । प्रतिकूलता रहने पर बहुमूल्य पौधे भी सूखते, दम तोड़ते देखे गये हैं । यही बात प्राणियों के सम्बन्ध में भी है । समर्थ वर्ग के जीव-जन्तु भी अनुपयुक्त परिस्थितियों से दुर्बल, रुग्ण रहने और अस्तित्व गँवाने लगते हैं । मनुष्य की आत्मसत्ता महान अवश्य है किन्तु उसको भी सौँस लेनी पड़ती है । घुटन भरे घेरे में रहकर उसे अपनी स्वाभाविक चेतना से हाथ धोना पड़ता है । विष खाने से ही नहीं विषाक्त गैस से भी मृत्यु होती है । व्यक्ति के निजी दोष-दुर्गुण प्रगति पथ में जितना अवरोध उत्पन्न करते हैं, उससे कम नहीं कुछ अधिक ही बाधा उस वातावरण के कारण उत्पन्न होती है जो परिवार में कुसंस्कारी परिस्थितियों के कारण बना होता है ।

कल्पना एक बात है योजना दूसरी । योजना एक बात है और व्यवस्था दूसरी । व्यवस्था एक बात है और तत्परता दूसरी । कुटुम्बियों को सुखी-समृद्ध देखने की कल्पना शुभेच्छा उचित भी है और स्वाभाविक भी । पर उतने भर से काम कुछ नहीं बनता । कल्पना तो सिंहासनारूढ़ होने या आसमान के तारे तोड़ लाने की भी हो सकती है, पर उसका कोई आधार न बनता हो तो शेखचिल्ली जैसा उपहासास्पद ही बनना पड़ेगा ।

छोटे से लेकर बड़े कामों तक की व्यावहारिक योजना बनानी पड़ती है । उसे क्रियान्वित करने में तन्मयता एवं तत्परता नियोजित करनी पड़ती है, आवश्यक साधन जुटाने होते हैं । पानी के ढलान की तरह पतनक्रम सहज लुढ़कने लगता है, पर सदुद्देश्यों के लिए सृजनात्मक प्रयास खड़े करने और उन्हें गतिशील रखने में अनवरत प्रयास की आवश्यकता पड़ती है । पतन पथ पर पानी से लेकर ढेले तक को बहते लुढ़कते देखा जा सकता है । वे जब तक जीवित हैं तब तक बिना किसी प्रेरणा के अधिक गहरे गर्त में गिरने के लिए स्वयमेव बढ़ते रह सकते हैं ।

उत्कर्ष की बात दूसरी है उसके लिए निरन्तर शक्ति जुटानी पड़ती है । कुँए से पानी खींचने में हाथ रुकने से ही तत्काल सारा काम जहाँ का तहाँ रुक जाता है । छत पर चढ़ने के लिए जब तक पैर बढ़ेंगे तभी तक प्रगति होगी । रुकते ही सब कुछ ठप्प हो जायेगा । गिरने का क्रम अलग है और उठने का दूसरा । ढेला ऊपर फेंकना

हो तो वह प्रयत्न उतनी ही दूर तक सफल होगा जब तक उसके पीछे फेंकने वाले की शक्ति काम करती रहेगी । परिवार निर्माण की प्रक्रिया पर भी यही तथ्य लागू होते हैं । सभी जानते हैं कि खर्च जुटाने के लिए आमदनी के स्रोत निरन्तर खुले रखने की आवश्यकता होती है । आमदनी बन्द होते ही खर्च के लाले पड़ जाते हैं । ठीक इसी प्रकार परिवार निर्माण के लिए प्रेरणाप्रद वातावरण बनाने की जागरूकता एवं तत्परता काम करती रहेगी । तभी तक वह प्रयास सफल होता रहेगा । इस संदर्भ में न तो उथले प्रयत्न सफल होते हैं और न हाथ खींच लेने पर भी स्वयमेव चलते रह सकते हैं । जब हर छोटा बड़ा काम सफलता के स्तर तक पहुँचने के लिए आवश्यक सूझ-बूझ श्रमशीलता और साधन-सामग्री की अपेक्षा करता है तो फिर परिवार निर्माण ही उसका अपवाद कैसे हो सकता है ?

निर्जीव निर्माण सरल-सजीवों का उत्कर्ष कठिन है । वस्तुएँ जहाँ की तहाँ रखी रहती हैं । अपने मन से उलट पलट नहीं करती, पर सजीव प्राणी तो हर घड़ी कुसंस्करिता का परिचय देते और नई-नई समस्याएँ उत्पन्न करने से नहीं चूकते । ऐसी दशा में प्राणियों का विशेषतया मनुष्यों का भावनात्मक निर्माण कितना कठिन हो सकता है । इसे कल्पना से नहीं अनुभव से ही जाना जा सकता है । सर्कस के जानवर सधाने का काम जिन्हें करना पड़ता है वे बता सकते हैं कि अनगढ़ पशुओं को कुशल कलाकार की तरह रंगमंच पर आने योग्य बनाने में कितने मनोयोग और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है । परिवार भी एक पूरा सर्कस है । जिसमें विभिन्न स्तर और प्रवृत्ति के प्राणी बसते हैं । उनका शरीर पोषण तो सरल है, पर बौद्धिक एवं भावनात्मक निर्माण करने के लिए असाधारण दूरदर्शिता और तत्परता अपनानी पड़ती है । इतना सब किये बिना मात्र शुभेच्छा का मूल्य कल्पना-जल्पना जितना उपहासास्पद बनकर ही रह जाता है ।

परिवार निर्माण का प्रत्यक्ष पक्ष इतना ही है कि उस परिधि में रहने वाले प्रत्येक परिजन का वर्तमान सुखद और भविष्य उज्ज्वल बनता है । निर्माताओं को इसके बदले में आत्मसंतोष, गर्व-गौरव, श्रद्धा-सम्मान एवं यश-श्रेय प्राप्त होता है । फले-फूले उद्यान को लगाने-सजाने वाला माली सामान्य श्रमिकों की तुलना में कुछ अधिक ही श्रेय और लाभ कमाता है । परिवार निर्माण में तत्पर मनुष्यों की उपलब्धियाँ किसी कुशल माली, भवन निर्माता, सफल उद्योगपति, सर्कस के रिंग मास्टर से अधिक ही आँकी जाती हैं । 'कम नहीं' ।

यह तो प्रत्यक्ष की चर्चा हुई । परोक्ष इससे अलग क्षेत्र है निर्माता अपने आप में उच्चस्तरीय प्रवीणता प्राप्त करता है । वाद्ययन्त्रों के ध्वनि प्रवाह से श्रोताओं को तरंगित होने का अवसर मिलता है । पर इसके लिए प्रयासरत वादक की कला भी निखरती है और उसके व्यक्तित्व की कीमत भी बढ़ती है । मूर्तियाँ मन्दिरों और भवनों की शोभा

बढ़ाती हैं, पर उनके निर्माण में प्रवीणता अर्जित करने वाले धन्य और यश भी कमाते हैं। साहित्यकार, कलाकार, लोकरंजन की कुशलता अनेक को गुदगुदाती है, पर उस परमार्थ के बदले उन्हें जो व्यक्तिगत लाभ मिलता है वह पाठकों और दर्शकों की अपेक्षा कम नहीं। अधिक मूल्य का ही होता है।

दूसरों के हाथों को रचाने के लिए मेंहदी पीसने वाले के हाथ अनायास ही रच जाते हैं। इत्र बनाने वाले श्रमिकों के हाथ और कपड़े बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही महकते रहते हैं। सत्प्रयत्नों में संलग्न व्यक्तियों को उस प्रयोजन से सम्बन्धित अनेक विशेषताओं और प्रवीणताओं का लाभ सहज ही मिलता रहता है। रंगमंच सजाने का काम करने वाले कर्मचारी उस दृश्य का आनन्द मुफ्त में ही लेते रहते हैं। परिवार निर्माण में प्रधानतया सद्विचारों और सदगुणों का प्रयोग करना पड़ता है। परिजनों को वही सिखाना पड़ता है। यह प्रशिक्षण मात्र वाणी से नहीं हो सकता। शिक्षक को अनिवार्यतः अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होता है। गीली मिट्टी से सुन्दर खिलौने ढलते जिन्होंने देखे हैं वे जानते हैं कि यह चमत्कार वस्तुतः उस साँचे का है जिसमें खिलौने की छवि पहले से ही साफ सुथरे ढंग से उभरी हुई है। इसमें कमी रहेगी तो जो बनेगा वह भी काना-कुबड़ा ही होगा।

व्यक्ति निर्माण में कभी भी मात्र बौद्धिक प्रशिक्षण कारगर सिद्ध नहीं हुआ है। प्रभावी प्रवचनों और प्रदर्शनों से यदि व्यक्तित्वों को ढालना सम्भव रहा हो तो यह काम कब का हो गया होता और इसे समर्थ लोगों ने कब का पूरा कर लिया होता। ज्योति से ज्योति जलती है और तेजस्वी व्यक्तित्वों के प्रभाव से नये व्यक्ति ढलते हैं। अस्तु परिवार के जिन मूर्धन्य लोगों को अपने क्षेत्र में नवसृजन करना है। उन्हें वह सब कुछ पहले अपने स्वभाव में उतारना होगा जो उन्हें परिजनों से कराना है। समझाने भर से काम चल जाता तो कितना अच्छा होता तब समझ की तूती बोलती और चरित्रनिष्ठा के द्वार खटखटाने की आवश्यकता न पड़ती। किन्तु विवशता का क्या किया जाय? प्राचीनकाल से भी गुरुकुलों के कुलपति ही नर-रत्नों की टकसाल दिखाते थे और वही प्रक्रिया अनन्तकाल तक चलेगी।

परिवार में उत्कृष्टता का वातावरण बनाना इस दृष्टि से थोड़ा कठिन भी है, पर उसकी तुलना में जो लाभ मिलता है, उसे देखते हुए कठिनाई अथवा परिश्रम रत्ती भर नहीं है। इस प्रयास में संलग्न होने वाले परिजनों का सर्वोपरि लाभ ऐसा है जिसकी तुलना अन्य भी किसी से नहीं की जा सकती है।

परिवार निर्माण के लिए तत्पर होने में प्रिय परिजनों का सर्वोपरि लाभ ऐसा लाभ है जिसकी तुलना किसी सौभाग्य से नहीं हो सकती। उत्तराधिकारियों के लिए धन वैभव छोड़ सकना उतना सुखद नहीं हो सकता जितना

उन्हें सुसंस्कारी बना देना, यह सम्पत्ति ऐसी है जो उनको सदा गौरवान्वित रखेगी और पग-पग पर श्रेय, सहयोग से लाभान्वित करेगी। सफलताएँ किसी भी क्षेत्र की क्यों न हों उन्हें व्यक्तित्व सम्पन्न लोग ही प्राप्त करते हैं।

इस सृजन में सर्वोपरि लाभांश स्रजेता के हिस्से में आता है। मूर्तियाँ गढ़ने से, चित्र बनाने से, अभिनय से दर्शकों को लाभ मिलता है और वे कृतियाँ भी सम्मानस्पद होती हैं किन्तु गढ़ने वालों को आर्थिक लाभ भी होता है, सन्तोष भी मिलता है साथ ही अपनी कलाकारिता को अधिकाधिक समुन्नत बनाने का वह लाभ भी मिलता है जो उस स्रजन से सम्बन्धित अन्य किसी को भी नहीं मिलता, उच्चस्तरीय कलाकारिता की उपलब्धि सभी सिद्धियों की तुलना में कहीं अधिक ऊँची है। परिवार सृजन में संलग्न व्यक्तियों को असामान्य कलाकार कह सकते हैं। सामान्य कलाकार वस्तुओं को गढ़ने और हलचलों में सौष्ठव भरने तक सीमित रहते हैं। यह जड़ पदार्थों को पदार्थजन्य हलचलों से आकर्षित बनाने भर की बात हुई। बड़ी बात वह है जिसमें मनुष्य जैसे उद्भूत प्राणी को सुसंस्कारिता से सम्पन्न करते हुए देव स्तर तक पहुँचाया जाय।

दूसरों की आदतें बदलने के लिए अपनी आदतें बदलनी होती हैं। दूसरों का स्वभाव सुधारने के लिए पहले अपना सुधारना होता है। उपदेशों से जानकारी भर दी जा सकती है। व्यक्ति का सुधारना उन्हीं के लिए सम्भव होता है जो अपने आपको आदर्श के रूप में विकसित कर सके हैं। शिक्षा तो सहज ही सुनी जा सकती है पर प्रेरणा तभी मिलती है जब अनुकरण के लिए प्रभावशाली आदर्श सामने हो। ज्योतिवान दीपक ही दूसरे नयों को जलाता है। साँचे के अनुरूप ही खिलौने या पुर्जे ढलते हैं। दूसरे को कुछ सिखाना बताना भर हो तो बात दूसरी है अन्यथा ढालने का लक्ष्य सामने हो तो सर्वप्रथम स्वयं ढालने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

परिवार को सुसंस्कारी बनाने के प्रयास में उसके लिए अग्रणी लोगों को सर्वप्रथम अपनी ही गढ़ाई करनी पड़ती है। इस सन्दर्भ में जो जितनी सफलता प्राप्त कर लेंगे उन्हें परिवार निर्माण में उसी अनुपात में सफलता मिलेगी। जो गुण सहचरों में उत्पन्न करने हैं वे सर्वप्रथम अपने में उत्पन्न करने होंगे। अनुकरणप्रिय मनुष्य प्राणी जो कुछ समझता है उसमें तो शिक्षकों के परिश्रम का फल भी कहा जा सकता है पर जो बनता है उसमें प्रायः उन्हीं के चरित्रों का योगदान होता है जो साथ रहते और प्रभावित करते हैं। कुसंग और सत्संग के परिणामों से सभी परिचित हैं। इनमें शिक्षण परामर्श नहीं वह प्रभाव काम करता है जो साथी की भली-बुरी विशिष्टता के कारण उत्पन्न होता है।

सुशिक्षण में पाठ्य विधि पर्याप्त नहीं, उसके लिए उच्चस्तरीय व्यक्तित्व से सुसम्पन्न अध्यापक चाहिए। यह प्रबन्ध न बन पड़ा तो समझना चाहिए कि शिक्षा का अर्थ

२.१० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

जानकारी ही बना रहेगा और उससे कौशल सम्बर्द्धन का छोटा-सा प्रयोजन भर पूरा हो सकेगा। शिक्षा से व्यक्तित्व का निर्माण यदि सच है तो उसके साथ यह शर्त भी अनिवार्य रूप से जुड़ी रहेगी कि शिक्षक का स्तर प्रवक्ता भर नहीं रहना है। वरन् स्रजेता के स्तर तक ऊँचा उठकर अपनी दक्षता का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है।

परिवार निर्माण की दृष्टि से तो यह नितान्त आवश्यक है। मखौलबाजी और बिडम्बना बनानी हो तो पर उपदेश कुशल रहने से भी काम चल सकता है किन्तु यदि वस्तुतः सत्परिणाम ही चाहिए तो स्रजेताओं को यह सिद्ध करना होगा कि जो कहा जा रहा है उस पर उनकी गहन आस्था है। यह प्रमाण अपने चिन्तन और चरित्र में उच्चस्तरीय आदर्शों का समावेश किये बिना किसी प्रकार सम्भव नहीं। जो इस सत्य को समझेंगे और परिवार निर्माण के लिए वस्तुतः इच्छुक होंगे उन्हें वह प्रयास आत्मनिर्माण से आरम्भ करना होगा ताकि ढलाई की जटिल प्रक्रिया को सरल एवं सम्भव बनाया जा सके। यह है वह लाभ जो परिवार निर्माण के लिए प्रयास करने वालों को आत्मनिर्माण के रूप में अनायास ही उपलब्ध होता है।

घर को तपोवन बनाने की बात कही जाती रही है। गृहस्थ को योग की संज्ञा दी गई है। पतिव्रत, पत्नीव्रत, पितृसेवा, शिशु वात्सल्य, समता, सहकार की संप्रवृत्तियाँ यदि सधन-सद्भावना की मनःस्थिति से सम्पन्न की जा सकें तो उनका महत्व योगाभ्यास एवं तप साधन से किसी प्रकार कम नहीं होता। इस प्रतिपादन से सहस्रों कथा-गाथाओं से इतिहास पुराणों के पन्ने भरे पड़े हैं। कर्मयोग की जितनी उत्तम साधना गृहस्थ में हो सकती है उतनी कदाचित् ही अन्यत्र बन पड़े। इस प्रसंग में यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि आत्मनिर्माण के लिए सरल और सार्थक साधना पद्धति परिवार-निर्माण के रूप में ही प्रयुक्त हो सकती है। ऋषि इसी कार्य को गुरुकुलों में आरण्यकों में चलाते हुए सम्पन्न करते थे। परिवार का तात्पर्य समुदाय है। विशेषतया पिछड़े वर्ग का समुदाय। शिवजी की बारात का वर्णन जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि "तनुछीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन तनु धरे" भूत पलीतों का पिछड़ा वर्ग ही उनका समुदाय था। दयालु व्यक्ति इसी समुदाय पर अपना ध्यान केन्द्रित करते और उनकी सुख-सुविधा जुटाने में आत्मोत्सर्ग करते रहते हैं। मूर्धन्यों की पारिवारिकता इसी स्तर पर प्रकट परिलक्षित होती है।

परिवार निर्माण की प्रतिक्रिया समाज निर्माण में होने की बात समझने में किसी विचारशील को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। जितने महामानवों ने विश्व इतिहास में महती भूमिकाएँ सम्पन्न की हैं। उनके व्यक्तित्व सुसंस्कृत वातावरण में ही ढले थे। निजी प्रतिभा का मूल्य स्वरूप और प्रभावी वातावरण की क्षमता महान है। प्रतिभाएँ सुसंस्कारी वातावरण में ढलती हैं तो वे दुष्ट दुरात्मा बन कर अपनी और दूसरों का अहित ही करती रहती हैं।

यदि उन्हें सुसंस्कृत परिस्थितियों में पलने, परिपक्व होने का अवसर मिला होता तो निश्चय ही स्थिति सर्वथा भिन्न रहती। परिस्थितियों ने जिसे डाकू बना दिया, यदि उसे दिशा और सहायता मिली होती तो किसी सेना का कुशल सेनापति अथवा साहसिक नेतृत्व कर सकने में पूर्णतया सफल सिद्ध हुआ होता। व्यक्ति की मौलिक प्रतिभा को कितना ही महत्व या श्रेय क्यों न दिया जाय, वातावरण के प्रभाव को झुठलाया नहीं जा सकता। कहना न होगा कि मनुष्य को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में सबसे अधिक सामर्थ्य परिवार के वातावरण में ही होती है। जो उसका निर्माण कर सके वे प्रकारान्तर से सच्चे सेवक हैं। जिस खदान से नर रत्न उपलब्ध हो सकें उसकी प्रशंसा हजार जीभों से करनी पड़ेगी।

रस्सा और कुछ भी नहीं बिखरे हुए धागों का संयुक्त समुच्चय भर है। समाज और कुछ नहीं, परिवार में बसे हुए मनुष्यों का समुदाय मात्र है। व्यक्तियों का उत्पादन ही नहीं, परिपोषण और परिष्कार भी उसी में होता है। समाज जैसा भी कुछ है पारिवारिक परम्पराओं की देन है। समाज को जैसा भी कुछ बनाना है वैसी परिस्थितियाँ परिवारों में उत्पन्न करनी होंगी। व्यक्ति के एकाकी निर्माण का कोई तुक नहीं। बहरे इसलिए गुँगे होते हैं कि वे सुन नहीं पाते और शुद्धोच्चार की प्रक्रिया का अनुकरण करने का अवसर नहीं पाते। यदि कोई बहरा सुनने लगे तो कुछ ही दिन में उसका गुँगापन अच्छी खासी बोल-चाल में बदल जायगा। यह अनुकरण का चमत्कार है। व्यक्ति की आन्तरिक ढलाई का कार्य दो तिहाई मात्र में दस वर्ष तक पूरा हो चुका होता है। प्रवृत्ति की दृष्टि से व्यक्ति शेष सारे जीवन में एक तिहाई संस्कार ही ग्रहण कर पाता है। दस वर्ष तक की आयु प्रायः परिवार की परिधि में ही व्यतीत होती है। प्रौढ़ावस्था आने पर भी मनुष्यों को प्रायः तेरह घण्टे घर के भीतर ही रहना पड़ता है। स्त्रियाँ और बाल-वृद्ध तो अपना अधिकांश समय उसी सीमा में रहकर व्यतीत करते हैं। इस क्षेत्र में यदि शालीनता और समर्थता बनी होगी तो निश्चय ही उस परिधि में रहने वालों को ऐसा अनुदान मिलता रहेगा जिसके सहारे वे अपनी उपयोगिता एवं विशिष्टता का परिचय दे सकें। वे समाज निर्माण का सुदृढ़ और चिरस्थायी आधार समझा जाना चाहिए।

किसी राष्ट्र की समृद्धि, सामर्थ्य, प्रतिभा एवं वरिष्ठता सरकारी दफ्तरों या अफसरों से सीमित नहीं होती वहाँ तो उसकी झाँकी मात्र मिलती है। छावनियों में रहने वाली सेना ही किसी राष्ट्र की शक्ति नहीं है वास्तविक शौर्य पराक्रम तो गली मुहल्लों और घर परिवारों में उगता और बढ़ता है। छावनियों में सेना उपजती नहीं, वह परिवारों से ही आती है। राष्ट्रीय समृद्धि के लिए सरकारी कोष की नाप-तोल करना अपर्याप्त है। समृद्धि तो परिवारों में संचित रहती है। सरकार तो उन पर टैक्स लगाकर निचोड़ती भर है। राष्ट्रीय चरित्र का मूल्यांकन अफसरों को

देखकर नहीं नागरिकों के स्तर से किया जाता है। सन्त, ऋषि, महापुरुष, सुधारक, प्रज्ञावान, मूर्धन्य कलाकार, आसमान से नहीं टपकते। उन्हें आवश्यक प्रकाश पारिवारिक वातावरण तथा सम्पर्क में आने वाले सृजन परिजनों से ही उपलब्ध होता है। अन्न कोठों में भरा तो रहता है, पर उसका उत्पादन खेतों में होता है और खेत का हर पौधा उस सम्पदा को बढ़ाने में समर्थ सहभागी की भूमिका निभाता है।

समाज निर्माण के लिए कुछ भी किया या कहा जाता रहे। आन्दोलन और प्रचार के लिए किसी भी प्रक्रिया को क्यों न अपनाया जाय। प्रचार तन्त्र और सृजन संस्थान का कितना ही बड़ा ढाँचा खड़ा किया जाय किन्तु वास्तविकता की आधारशिला परिवार के प्रचलन में सुधारात्मक प्रवृत्तियों के समावेश से ही सम्भव हो सकेगी। जड़ को सींचे बिना पत्ते पौधे और उद्यान को सुरम्य बनाने में अन्य उपाय आधे-अधूरे ही बने रहेंगे। वृक्षों को खुराक तो जड़ों से मिलती है, समाज का अक्षयवट अपना परिपोषण परिवारों से उनमें व्यवस्थित क्रम से रहने वाले व्यक्तियों से ही प्राप्त करता है। अस्तु, समाज निर्माण की समाज सुधार की बात सोचने वालों को उस महान आरोपण के लिए परिवारों की क्यारियाँ ही उर्वरता सम्पन्न बनानी होंगी। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है।

कहा जाता रहा है कि व्यक्ति और समाज दो पहिये हैं और परिवार उन दोनों को जोड़ने तथा गतिशील करने वाली धुरी। यह धुरी सही रीति से द्रुतगति से घूमने लगे तो समझना चाहिए, प्रगति पथ सुनिश्चित रीति से चल पड़ा और उसका परिणाम उज्ज्वल भविष्य के रूप में प्रयुक्त होकर ही रहेगा।

परिवार निर्माण के स्वर्णिम सूत्र

अपने परिवार के जिन लोगों को नियति ने एक सूत्र में बाँधकर हमें सौंपा है, उनमें भी अन्य मनुष्यों की तरह दोष-दुर्गुण होने सम्भव हैं। उनकी प्रतिक्रिया अपने मन पर प्रतिकूल होनी भी स्वाभाविक है, पर यह स्थिति अकाट्य नहीं है। कोई बुद्धिमान चाहे तो इसे बदल भी सकते हैं। दोषों की भाँति गुण भी हर किसी में होते हैं। अपने परिवार के जिन व्यक्तियों को हम दोषयुक्त देखते हैं उनमें भी कुछ गुण होंगे ही, यदि उन गुणों पर अधिक ध्यान दिया जाय, बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया जाय तो निश्चय ही उनकी मात्रा बढ़ेगी। बहुत चर्चा करने से दोष भी बढ़ते हैं और गुण भी बढ़ते हैं। दोषों की चर्चा कम करके गुणों को कहा, सुना और समझा जाय तो निश्चय ही यह सुधार का बहुत अच्छा तरीका सिद्ध होगा। उपेक्षा करने से दोष घट जाते हैं।

दोषों की चर्चा बार-बार सुनने से मनुष्य हताश होता है, अपने को तिरस्कृत अनुभव करता है और धीरे-धीरे निर्लज्ज एवं ढीठ बनता चला जाता है। कभी एकान्त में बहुत आदर और प्रेमपूर्वक वातावरण में दोषों की ओर ध्यान दिलाना, जिन परिस्थितियों में उसे उन भूलों का शिकार बनना पड़ा उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना और अन्ततः उन्हें छोड़ने की आवश्यकता एवं उपयोगिता बताना लाभदायक हो सकता है। उन भूलों को छोड़ने के लिए कोई व्यावहारिक तरीका भी सुझाया जाना चाहिए। इस प्रकार किसी की बुराइयों को घटाने या हटाने में सुविधा होगी, किन्तु यदि उसे सबके सामने तिरस्कृत एवं लांछित किया जायगा तो वह भूल को छोड़ने की अपेक्षा चिढ़कर और उलटा आचरण करेगा। दबाव से तत्काल किसी को विवश किये जाने पर केवल सामयिक रोकथाम हो सकती है। दबा हुआ असन्तोष एवं प्रतिरोध किसी अन्य रूप में फूटता है तो वह और भी बुरा पड़ता है।

दोषों को सुधारने के लिए बहुत ही धैर्य और संयम की आवश्यकता है। प्रेम और सेवा, सहानुभूति से लोगों के मन पर अपनी छाप छोड़ने वाले लोगों के अनुरोध पर कठोर मन वाले लोगों का भी हृदय परिवर्तन होते देखा गया है। सहनशीलता, क्षमता और उदारता के आधार पर बुरों को भला बनाया जा सकता है। आतंक, गाली-गलौज, मार-पीट, दबाव, निन्दा, दुराग्रह के आधार पर क्रिया तो रुक सकती है पर मन नहीं बदल सकता। जिसका मन नहीं बदला वह सुधरा कहाँ? भीतर ही भीतर सुलगते रहने वाली चिन्गारी तो कभी विस्फोट के रूप में भी प्रकट हो सकती है। इसलिए सुधार के कार्य में धैर्य रखने, प्रतीक्षा करने और क्रमिक परिवर्तन होने का तरीका ही अच्छा है। हमारी इच्छानुसार दूसरे लोग तुरन्त सुधर जायें ऐसी अधीरता से लाभ नहीं हानि ही होती है।

जो लोग अपने साथ सम्बद्ध हैं उनको साथ लेकर चलने के लिए उदारता और सहनशीलता का भारी महत्व है। शंकर जी को सबसे बड़ा देवता इसीलिए माना गया है कि उनके समाज में भूत, पत्नी, सर्प, सिंह सभी के लिए आदरपूर्ण स्थान प्राप्त है। जिनके मस्तक पर ज्ञान की गंगा और प्रेम का चन्द्रमा विराजमान होता है सचमुच वे बड़े उदार होते हैं और अपने साथ छोटे-खरे सभी को निवाह लेते हैं। कितने ही उदारहृदय व्यक्ति अपनी फूहड़, कर्कशा, कुरूप, रोगिणी, मूर्खा यहाँ तक कि शीलरहित पत्नी को भी बड़े आदरपूर्वक जीवन भर निवाहते हैं और अपनी ओर से कर्तव्य पालन में रत्तीभर भी कमी नहीं रहने देते। इसी प्रकार उदार महिलाएँ अपने पतियों में अनेक दोष रहते हुए भी उन्हें सहन करती हुई, निवाहती हुई, जिन्दगी पूरी कर लेती हैं। यह बड़प्पन का चिह्न है। मनुष्यता का गौरव इस प्रकार की सहनशीलता में ही होता है।

कई बार बुढ़ापे की कठिनाइयों के कारण माता-पिता चिड़चिड़े हो जाते हैं और अनुपयुक्त बातें करने लगते हैं।

२.१२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

समझाने बुझाने में अपना अपमान मानते और खिन्न होते हैं। इन परिस्थितियों में सहनशीलता ही सबसे उपयोगी नीति सिद्ध होती है। उनकी बातों को धैर्य और सहानुभूति के साथ सुना जाय और जितना सम्भव हो उतना आदेश तुरन्त मानकर बाकी बात को पीछे के लिए छोड़ दिया जाय तो तात्कालिक झंझट तुरन्त शान्त हो सकता है।

कई बच्चे बड़े नटखट होते हैं, उनके नये रक्त की चंचलता कुछ न कुछ करने को विवश करती है। अनुभव के अभाव में जो करते हैं वह गड़बड़ जैसा बन जाता है। इन परिस्थितियों में बच्चों पर बरस पड़ना, उन्हें बुरी तरह धमकाना या तिरस्कृत करना, अपना माथा ठोकना और खिन्न होना उचित नहीं। उनकी कुछ बातों को अनदेखा-अनसुना किया जा सकता है, कुछ को हँस मुस्करा कर विनोद के रूप में लिया जा सकता है, कुछ के लिए उन्हें मीठी झिड़की दी जा सकती है और कुछ ऐसा भी सुझाया जा सकता है कि वे किसी उपयोगी खेल, या कार्य में अपनी चंचलता को प्रयुक्त कर सकें। इस प्रकार बालकों के ऊधम से नाकोंदम रहने वाली समस्या सहनशीलता के आधार पर बहुत ही हलकी और छोटी प्रतीत होने लग सकती है।

शरीर में नये खून की तेजी और मस्तिष्क में अनुभव की कमी होने के कारण अक्सर घर के वयस्क लड़के-लड़कियाँ कुछ न कुछ ऊँट-पटाँग करते रहते हैं। उनमें जोश तो होता है पर होश नहीं। पच्चीस वर्ष से कम की आयु 'गधा पच्चीसी' कही जाती है। उस अवधि में होशियार बच्चों में भी न्यूनाधिक गधापन बना रहता है। इस उम्र के बच्चों पर काबू रखना भारी चतुरता और दूरदर्शिता का काम है। समझाना, धमकाना, प्यार करना, प्रोत्साहन देना, सहन करना इन सभी साधनों को समन्वय करके नवयुवकों का मार्गदर्शन सम्भव होता है। राजा जिस प्रकार साम, दाम, दंड, भेद की नीति के सहारे प्रजा पर शासन करता है उसी प्रकार परिवार का संचालन करने के लिए गृहपति में आवश्यक दूरदर्शिता रहनी चाहिए।

आतुर, उत्तेजित, असहिष्णु, अधीर, निराश, कटुभाषी, छिद्रान्वेषी प्रकृति के गृहपति अपने इन्हीं दोष-दुर्गुणों के कारण सारे परिवार को अव्यवस्थित कर देते हैं। घर के सदस्यों में एक दो ऐसे भी हों जिनका व्यक्तित्व निखरा हुआ न हो तो बाकी लोग उन्हें निभाते हुए घर की व्यवस्था बनाये रह सकते हैं। परस्पर मनोमालिन्य के अवसर मानवीय दुर्बलताओं के कारण प्रायः नित्य ही आते रहते हैं। समझदार लोग उनकी उपेक्षा करते हैं और आत्मीयता सहिष्णुता एवं उदारता के आधार पर परिवार संस्था को विघटित होने से बचाये रहते हैं। समाज में प्रतिष्ठा केवल उन्हीं परिवारों की सुरक्षित रहती है जिनमें दूरदर्शिता और उदारता की आवश्यक मात्रा मौजूद है। इसके अभाव में धन, विद्या, पद, प्रतिष्ठा आदि सब कुछ होते हुए भी क्षुद्रता और संकीर्णता के कारण घटित होती

रहने वाली छोटी-मोटी घटनाओं के कारण वह परिवार अपनी प्रतिष्ठा एवं सुदृढ़ता खोता चलता है और कुछ दिन में वह बुरी तरह बिखर भी जाता है।

जिस प्रकार शरीर के विभिन्न कलपुर्जे मिलकर पूर्णता होती है और उन सबके ठीक काम करने पर नीरोगिता रहती है, उसी प्रकार परिवार का उचित गठन मानव जीवन की सुव्यवस्था का ठोस आधार बनता है। अन्य सारे सुख साधन एक ओर और परिवार का सुसंतुलन यदि एक ओर रखा जाय तो पारिवारिक जीवन का महत्व अधिक मानना पड़ेगा। जिन लोगों के साथ मिल-जुलकर जीवनक्रम चलाना पड़ता है उनकी व्यवस्था अव्यवस्था का अपने ऊपर भारी प्रभाव पड़ता है। अशान्त और विक्षुब्ध पारिवारिक जीवन लेकर कोई व्यक्ति न तो सन्तुष्ट रह सकता है और न प्रसन्न। भले ही बाहरी सुविधाएँ कितनी बढ़ी-चढ़ी क्यों न हों?

कभी-कभी संयोगवश भी किसी परिवार में अच्छे या बुरी व्यक्तियों का बाहुल्य होता है। अव्यवस्था रहते हुए भी समझदारी का मंगलमय दौर बना रहता है। कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी दुर्भाग्य पीछा नहीं छोड़ता और कुपात्रता अपना नंगा नाच करती है। यह अपवाद हैं और कभी-कभी कहीं-कहीं ही देखने को आते हैं। आमतौर से जिन परिवारों की सद्भावना की जमीन पर उगाया गया है, स्नेह से सौँचा और सहिष्णुता का खाद दिया गया है वे हरे-भरे रहते और फलते-फूलते हैं। गरीब परिवारों में स्वर्ग-सी एकता एवं शान्ति देखी गई है और अपार ऐश्वर्य वाले कुटुम्ब, ईर्ष्या, द्वेष की अग्नि में जलते रहते हैं। स्वार्थ, संकीर्णता, असहिष्णुता जहाँ भी रहती है वहीं नरक उत्पन्न करती है, पारिवारिक जीवन में इन तत्वों की अभिवृद्धि रहेगी तो वहाँ भी नरक के दृश्य ही उपस्थित रहेंगे।

पारिवारिक प्रगति एवं शान्ति मानव जीवन की एक श्रेष्ठ सफलता मानी गई है। इस विभूति का वरदान उन्हें ही मिलता है जो मानव स्तर की उत्कृष्टता का महत्व समझते हैं और इन दिव्य सम्पदाओं से घर के प्रत्येक सदस्य की मनोभूमि को परिपूर्ण बनाने के लिए तत्परतापूर्वक प्रसन्न रहते हैं।

परिजनों के सुधार की पूर्ण प्रक्रिया

आमतौर से लोग दूसरों को अपने अनुकूल बनाने के लिए उपदेश देने की प्रणाली को अपनाते हैं। सोचा यह जाता है कि लच्छेदार भाषा में लम्बा-चौड़ा उपदेश करने से दूसरे प्रभावित हो सकते हैं और वे अपना स्वभाव एवं दृष्टिकोण बदलकर हमारे अनुयायी या अनुकूल बन सकते हैं। इसी मान्यता के आधार पर आज चारों ओर प्रवचनों, भाषणों और लेखों की घुड़दौड़ मची हुई है। यह मान्यता

पूर्णतया निरर्थक है, ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि कभी-कभी इनका कुछ प्रभाव भी होता देखा गया है, पर यदि वक्ता के व्यक्तित्व से सुनने वाला प्रभावित हो तभी वह प्रभाव पड़ता है। सभा, सोसाइटियों में भाषण करते समय लोग प्रस्तुत वक्ता की बड़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करते हैं। यदि सुनने वालों ने उस पर विश्वास कर लिया और वक्ता के व्यक्तित्व से प्रभावित हो गये तब तो वे उसकी बात ध्यानपूर्वक सुनेंगे एवं उसका प्रभाव भी ग्रहण करेंगे अन्यथा उसकी भाषण शैली की आलोचना को अपने मनोरंजन का विषय बनाकर खिसक जावेंगे।

वाचालता की निरर्थकता

आज वक्ता बहुत बढ़ गये हैं और साथ ही वाचालता भी, पर देखा यह गया है कि अपने स्वार्थ की कोई बात भले ही मान ले पर ऐसी कोई बात उनकी न सुनी मानी जायगी, जिसमें सुनने वाले को कोई कष्ट या नुकसान दीखता हो। राजनैतिक व्याख्यानदाता असंतोष उभारकर कोई बड़ी-चढ़ी माँगें करने, हड़ताल कराने, लड़ाने के लिए श्रोताओं को तत्पर कर सकते हैं पर जुआ, नशा, सिनेमा, आलस्य, असंयम, स्वार्थ, कुविचार, दुःख, दुस्वभाव आदि छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं कर पाते क्योंकि मनुष्य स्वार्थ, संकीर्णता एवं बुराई को बड़ी कठिनाई से ही छोड़ता है। उसे छुड़ाने के लिए उच्चकोटि के श्रेष्ठ संस्कार वाले व्यक्ति ही सफल होते हैं क्योंकि वे वाणी से नहीं अपने आचरण एवं व्यक्तित्व से दूसरों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार के ठोस प्रभाव से प्रभावित व्यक्ति ही अपने में सुधार या त्याग कर सकने की प्रेरणा से प्रभावित करते हैं।

वाणी की चतुरता से प्रभावित करने की कला अब जनता द्वारा एक प्रकार से वेश्या-नृत्य की तरह तिरस्कृत एवं बहिष्कृत ही की जा रही है। लोग उससे कुछ मनोरंजन भले ही कर लें, अपने में कोई ठोस परिवर्तन तब तक नहीं करेंगे जब तक वक्ता के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित न हों। यह तथ्य जितना सामाजिक क्षेत्र में लागू होता है उतना ही पारिवारिक क्षेत्र में भी। हम चाहते हैं कि हमारे परिजन, स्त्री, बच्चे हमारा कहना मानें, अनुकूल आचरण करें और उस रास्ते पर चलें जिस पर हम चलाना चाहते हैं तो उनके सामने अपना आचरण भी प्रस्तुत करना पड़ेगा। ठीक है समझाना-बुझाना भी उचित और आवश्यक है यदि तर्क, प्रमाण और उदाहरणों के साथ कोई बिना लाग-लपेट की बात सीधे ढंग से समझाई जाय तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव भी पड़ता है और परिणाम भी निकलता है पर हृदय, स्वभाव, विचार और भाव परिवर्तन जैसी कोई बड़ी बात किसी से कराने के लिए सबसे कारगर उपाय यही है कि हम अपने आपको बदलें, सुधारें और अपने उत्कृष्ट व्यक्तित्व की छाप अपने अनुयायियों पर छोड़ें। जलते हुए दीपक से दूसरे दीपक

जलाये जाते हैं। जो स्वयं ही बुझा पड़ा है वह दूसरों में प्रकाश कैसे उत्पन्न करेगा ?

वातावरण का प्रभाव

परिवार में शान्ति और व्यवस्था तभी रह सकती है जब घर के लिए सज्जनता, स्नेह एवं सदाचरण से परिपूर्ण गतिविधियाँ अपनावें। आज हमारे चारों ओर जो दूषित वातावरण फैला हुआ है, उसका प्रभाव दुर्बल मस्तिष्क के लोग आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। अच्छाई की अपेक्षा बुराई अधिक आसानी से सीखी जा सकती है। वातावरण के संपर्क में हमारे घर वाले भी आते ही हैं, चारों ओर जो हो रहा है, उसे वे भी देखते-सुनते ही हैं अतएव वे भी उन बुराइयों को सीख लेते हैं जो छोटी होते हुए भी हमारी पारिवारिक व्यवस्था एवं सुख-शान्ति को नष्ट करने में चिंगारी जैसी सिद्ध हो सकती हैं। दुर्गुणों और दुर्भावों का सबसे बुरा प्रभाव परिवार पर पड़ता है क्योंकि अधिक समय तक अधिक घनिष्टतापूर्वक परिवार के लोग ही साथ-साथ रहते हैं और अपने गुण-दोषों से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। समाज में मनुष्य एक दूसरे से बहुत थोड़े समय तक मिलते हैं, वहाँ बनावट भी बरती जाती है इसलिए किसी प्रकार दुर्गुणी व्यक्ति भी अपना काम चला लेते हैं। घर परिवार में तो हर आदमी की आदतें नंगे रूप में प्रकट हो जाती हैं क्योंकि उसी क्षेत्र में तो उसे अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करने के लिए विवश होना पड़ता है। किसी व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप उसके परिवार में रहकर ही देखा जा सकता है क्योंकि ढोंग बाहर तो चल जाता है, पर घर में तो उसे अपना नग्न स्वरूप ही प्रकट करना होता है।

परिजनों को दुर्गुणी न बनने दें

दुर्गुणी परिजन, उतना ही दुःख देते हैं जितना शरीर में घुसा हुआ कोई निरन्तर पीड़ा देने वाला कष्टसाध्य रोग। दुर्गुणी स्वजनों को सदगुणी बनाना उतना ही आवश्यक है जितना बीमार शरीर को नीरोग बनाना। शरीर में घुसे हुए रोग की उपेक्षा करने और उसे पनपने देने में एक दिन मृत्यु संकट ही उपस्थित हो जाता है। उसी प्रकार परिजनों में घुसे हुए दुर्गुण उस छोटे से घर को नष्ट-भ्रष्ट और नारकीय अग्नि-कुंड जैसा दुःखदायक बना सकते हैं। इसलिए समय रहते उस स्थिति में परिवर्तन कर लेना चाहिए। आग छोटे रूप में जब लगी हो, तब प्रारम्भिक दशा में उसे आसानी से बुझाया जा सकता है पर जब वह दावानल का प्रचंड रूप धारण कर ले तब उसे बुझा पाना सम्भव नहीं रहता। दुर्गुणों के समाधान के लिए प्रयत्न आरम्भिक स्थिति में सफल हो सकते हैं, उनमें परिपक्वता आ जाने पर सुधार की गुंजाइश बहुत कम ही रह जाती है।

कोई व्यक्ति यदि सुखी रहने की आकांक्षा करता हो तो उसे अपने शरीर की तरह परिवार को भी निर्मल बनाना पड़ेगा और उसके लिए उसे पूरा ध्यान देना और प्रयत्न करना अपेक्षित होगा। यह कैसे हो ? यह सोचते

२.१४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि उपदेश देने की प्रक्रिया एक बहुत छोटी सीमा तक ही कारगर होती है। इतने मात्र से यदि काम चल गया होता तो हर घर में कोई न कोई समझाने-बुझाने वाला रहता ही है और वह अपने बलबूते कुछ न कुछ सॉफपटाँव समझाता ही रहता है। तब फिर सुधार क्यों न हो गया होता? फिर कोई घर क्यों अशांति का केन्द्र रहा होता?

परिवार संस्था को नष्ट न करें

पाश्चात्य देशों में परिवार संस्था को ही नष्ट कर डालने का प्रयत्न चल रहा है। वे रोग के साथ रोगी कोभी समाप्त कर रहे हैं। वहाँ वयस्क होते ही लड़कों को माता-पिता का आश्रय छोड़कर स्वावलम्बी बनना पड़ता है और अपना अलग घर बसाना पड़ता है। इस प्रकार स्त्री और उसके छोटे बच्चों का ही परिवार रह जाता है। माँ-बाप बूढ़े होने पर अपनी संचित कमाई पर गुजारा करते हैं या सरकार से वृद्धावस्था की सहायता लेकर 'वृद्ध-गृहों' में रह जिन्दगी के दिन पूरे कर लेते हैं। फिर भी उनकी समस्या सुलझ नहीं पा रही है। दुर्गुणी पति-पत्नी एक दूसरे को दुःख देते ही हैं और उन्हें पुराने को छोड़ने तथा नया साथी ढूँढ़ने की मुग़तृष्णा में निरन्तर भटकना पड़ता है। किशोर बालक वहाँ भी माता-पिता के लिए सिर दर्द बने रहते हैं, वयस्क होकर स्वावलम्बी हो जाने से पूर्व के दिन, जब तक कि बच्चे किशोर रहते हैं, माता-पिता को बुरी तरह कुढ़ाते रहते हैं। इस गुत्थी को योरोप वाले भी नहीं सुलझा पा रहे हैं फिर भारत में तो वह सुलझेगी भी कैसे? जहाँ माता-पिता, छोटे बहिन-भाई, विधवाएँ, विधुर आर्थिक तथा अन्य कारणों से विवश होकर एक ही नाव में बैठकर ज़िंदगी पार करते हैं। हमारी आर्थिक मान्यताएँ, बच्चों का भविष्य, आर्थिक परिस्थितियाँ एवं उपाजन की कठिनाई को देखते हुए परिवार को इस प्रकार तोड़-फोड़ डालना सम्भव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में पश्चिमी देशों की अपेक्षा हमारे लिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि परिवार की परिस्थितियाँ सुधारने का प्रयत्न किया जाय और यह कार्य आर्थिक सुधार से नहीं मानसिक स्तरों के स्वस्थ निर्माण से ही सम्भव है। घर के लोग सदगुणी बनें तभी समस्या सुलझ सकती है।

परिवार की सुख-समृद्धि

प्रत्येक सदगृहस्थ की आकांक्षा रहती है कि उसका परिवार खुशहाल और प्रेमपूर्ण वातावरण में निर्वाह करे पर वह इसके लिए उन्हें सदगुणी बनाने की आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं देता। ऐसी दशा में आकांक्षा अतृप्त ही रह जाती है और निर्धन व्यक्ति जिस प्रकार मन मसोसते और अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं उसी तरह दुर्गुणी परिवार के संचालक को भी अपनी व्यथा को हर घड़ी सहन करते रहना पड़ता है, पर इतने से भी तो कुछ काम चलने वाला नहीं है। बढ़ती हुई बुराई जब विस्फोट की

स्थिति में पहुँचती है तो सहनशक्ति का हास भी हो जाता है और जीवन नरक के प्रत्यक्ष दर्शन करने को विवश होना पड़ता है।

परिवार को सुधारने की इच्छा रखने वाले हर व्यक्ति को सबसे पहले अपने आप को सुधारना पड़ेगा क्योंकि असली प्रवचन वही है। माता और पिता पर बच्चों को जन्म देने का ही नहीं, उन्हें सुसंस्कारी बनाने और दीक्षा देने का उत्तरदायित्व भी है। पढ़ाई ठीक न होने का दोष शिक्षकों को दिया जा सकता है पर आदतें ठीक न होने का दोष विशुद्ध रूप से अभिभावकों को ही दिया जायगा, जिन्होंने ढील छोड़कर बच्चों को बिगड़ जाने की स्थिति तक चला जाने दिया। लाड़-प्यार में आरम्भ के दिनों में माँ-बाप बच्चों पर बहुत खर्च करते हैं, बच्चा पैसे के मूल्य को समझ नहीं पाता और वह फिजूलखर्ची की आदत सीख जाता है अंततः वही आदत बढ़ी-चढ़ी स्थिति में पहुँचकर बच्चे को 'उड़ाऊ' बना देती है। माता-पिता यदि आरम्भ से ही मितव्ययी रहें और धन को सदुपयोग से बरतें, सादगी अपनावें तो बच्चा भी धन की उपयोगिता एवं आवश्यकता को समझेगा और अपव्ययी न बन सकेगा। माता-पिता में परस्पर जो कलह, संघर्ष और मनोमालिन्य रहता है उसका प्रभाव बच्चों के कोमल हृदय पर पड़े बिना नहीं रह सकता। वे भी द्वेष, घृणा, कटुता और दुराव की भावनाएँ हृदयगम कर लेते हैं और आगे चलकर यही दुर्गुण, क्लेश एवं द्वेष का विकराल रूप धारण करके सामने आते हैं। जिन माता या पिता के हृदय में अपने माँ-बाप के प्रति, पति या पत्नी के प्रति, ईश्वर के प्रति, धर्म के प्रति श्रद्धा होगी उसके बालक भी अपने माता-पिता के प्रति, बड़े-बूढ़ों के प्रति श्रद्धावान एवं भावनाशील रहेंगे।

शिक्षा का सामयिक प्रारम्भ

एक माता किसी सुयोग मनोवैज्ञानिक के पास गई और पूछा कि वह अपने चार वर्ष के बच्चे की शिक्षा कब से आरम्भ करावे? मनोवैज्ञानिक ने उत्तर दिया आप पाँच वर्ष लेट हो गईं। बालक के गर्भ में आते ही उसका शिक्षण अपने आप में आवश्यक हेर-फेर के साथ आरम्भ कर लेना चाहिए। पाँच वर्ष की आयु तक तो बालक आधी पढ़ाई समाप्त कर लेता है। सूक्ष्म रूप से घर के सारे प्रभाव परमाणु बच्चे के अंतःकरण में प्रवेश कर जाते हैं, स्वभाव ढल जाता है। पाँच वर्ष के बाद तो उसे स्वभावजन्य नहीं, अक्षर ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करनी ही शेष रह जाती है।

रज-वीर्य के संयोग से बालक का शरीर ही नहीं बनता वरन् दोनों के मन की मानसिक स्थिति के आधार पर बालक का मन भी बनता है। जो माता-पिता स्वयं दुर्गुणों एवं कुसंस्कारों से भरे पड़े हैं वे अपने बच्चों में क्यों कर सत्प्रवृत्तियाँ पनपती देख पावेंगे? काम-वासना में अंधे होकर जिन्होंने बिना पूर्व तैयारी के बिना अपने गुण, कर्म, स्वभाव में आवश्यक सुधार किये, संतानोत्पादक किया है

वस्तुतः उन्होंने विष बीज ही बोया है। आमतौर से पहली संतान-मूर्ख और अंतिम संतान बुद्धिमान होती देखी जाती है उसका कारण माता-पिता का नवयौवन की स्थिति में परिपक्व एवं ढलती उम्र में बुद्धिमान होना ही एकमात्र कारण है। संतान का जन्म पृथ्वी पर पीछे होता है, उस पर वातावरण का प्रभाव जन्म लेने के बाद पड़ता है पर वास्तविक जन्म तो गर्भ में आने के दिन ही हो जाता है और उसकी शिक्षा-दीक्षा उसी दिन से आरम्भ हो जाती है।

माता-पिता का दायित्व

अभिमन्यु को चक्रव्यूह भेधन की शिक्षा अर्जुन ने तब दी थी जब वह अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में था। हर एक बालक अभिमन्यु की परिस्थिति में ही होता है, उसे जो कुछ सिखाया जाता है हम अर्जुन की तरह अपनी वाणी, क्रिया द्वारा उसे सिखा सकते हैं। रानी मदालसा ने अपने बच्चों को गर्भ में ही ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देकर ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न किया था। जब उसके पति ने एक बालक राजकाज के उपयुक्त बनाने का अनुरोध किया तो मदालसा ने उन्हीं गुणों का एक तेजस्वी बालक उत्पन्न कर दिया। हर माता की स्थिति मदालसा की-सी होती है। यदि वह अपना गुण, कर्म, स्वभाव में आवश्यक सुधार कर ले तो वैसे ही गुणवान बालक को जन्म दे सकती है जैसा कि वह चाहे। ऊसर खेत और सड़े बीज के संयोग से जैसे बेतुके अविकसित पौधे पैदा हो सकते हैं, वैसे ही बच्चे हमारे घरों में जन्मते हैं। गुलाब के फूल बढ़िया खेत में अच्छे माली के पुरुषार्थ से उगाये जाते हैं पर कैंटीली झाड़ियाँ चाहे जहाँ, चाहे जब उपज पड़ती हैं। अच्छी संतान सुसंस्कारी माता-पिता ही प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु कुसंस्कारी बालक हर कोई फूहड़ स्त्री-पुरुष उगलते रह सकते हैं। अच्छी सद्गुणी संतान की आकांक्षा गुलाब की फसल उगाने की तरह है जिसके लिए माँ-बाप को काफी पहले अपने आपको संस्कारवान बनाने के लिए तत्पर होना पड़ता है। यदि यह कार्य हमें कठिन लगता हो तो संस्कारवान संतान की आकांक्षा भी छोड़ देनी चाहिए और जैसे भी उड़ंड, दुर्गुणी, कुसंस्कारी, दुर्मति बच्चे जन्मे उन्हें अपनी करनी का फल मानकर संतोष कर लेना चाहिए।

पहले अपना सुधार

एक महात्मा इसके लिए प्रसिद्ध थे कि उनकी शिक्षाओं का दूसरों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वे जिससे जो कुछ कह देते थे वह वैसे ही करने लगता था। इस प्रशंसा को सुनकर एक महिला अपने बच्चों को लेकर यह उपदेश दिलाने महात्मा के पास पहुँची कि बच्चा अधिक शक्कर न खाया करे। डॉक्टर मिठाई के लिए मना करते थे पर बालक मानता न था। महात्मा पहले तो कुछ गम्भीर हुए पर पीछे को दस दिन बाद आकर उपदेश देने के लिए कहकर उसे विदा कर दिया। महिला दस दिन

बाद फिर आई। महात्मा ने शक्कर न खाने का उपदेश दिया और बालक ने उसी दिन से उसे मानना शुरू कर दिया। पास बैठने वाले लोगों ने पूछा इतनी छोटी बात के लिए आपने दस दिन बाद आने के लिए उस महिला को क्यों कहा? महात्मा जी ने बताया कि तब वह स्वयं शक्कर बड़ी रुचिपूर्वक खाते थे। इसलिए उन दिनों दिये गये उपदेश का कोई प्रभाव बालक पर नहीं पड़ सकता था। इन दस दिनों में मैंने स्वयं शक्कर त्यागी और उसके प्रति घृणा बुद्धि भी पैदा की। इतना सुधार अपने में कर लेने के बाद ही मेरे लिए यह सम्भव हो सका कि बच्चे को शक्कर छोड़ने का प्रभावशाली उपदेश दे सकूँ।

बच्चों को आमतौर से उनके अभिभावक बहुत अच्छे उपदेश देते रहते हैं और उन्हें राम, भरत एवं श्रवण कुमार देखना चाहते हैं, पर कभी यह नहीं सोचते कि क्या हमने वाणी एवं आक्रोश को अपने में आवश्यक सुधार करके इस योग्य बना लिया है कि उसका प्रभाव बच्चों पर पड़ सके?

परिवार और हमारे कर्तव्य

परिवार ही वह आधार है, जिस पर समाजरूपी किला स्थिर रहता है। पारिवारिक व्यवस्था में एक ओर तो मनुष्य की सुख-सुविधाओं में वृद्धि होती है तथा प्रगति के मार्ग खुलते हैं, तो दूसरी ओर सृष्टि का चक्र भी इसी धुरी पर चलता है। मानव को, जन्म लेने से सक्षम होने तक, परिवार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जैसा परिवार होगा, वैसे ही व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव बनेंगे तथा वैसे ही राष्ट्ररूपी मन्दिर खड़ा होगा।

पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध ने इस व्यवस्था को लगभग हिलाकर रख दिया है। हमारी परिवार व्यवस्था संकुचित होती चली जा रही है। पश्चिम में तो संयुक्त परिवार की प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है। हमारे यहाँ भी इसका प्रभाव पड़ा है और संकीर्णता की मनोवृत्ति फैली है। यही कारण है कि हम दिनों-दिन अधिक स्वार्थी तथा संकीर्ण होते चले जा रहे हैं। जैसा खाद तथा पानी पौधे को मिलेगा, वृक्ष का ढाँचा वैसे ही होगा। स्वार्थपरता तथा संकीर्णता की जो बाढ़ हमारे यहाँ फैली है, उसका एकमात्र कारण हमारे परिवार का वह स्वरूप बदल जाना है, जो कभी था। आवश्यकता आ पड़ी है कि हर विचारशील इस चरमराती हुई पारिवारिक-व्यवस्था को सहारा दें तथा फिर से विचार करें कि भूल कहाँ है? क्योंकि यही गिरावट अगर चलती रही तो समाज का बड़ा ही वीभत्स रूप सामने आयेगा, जिसमें मनुष्य-मनुष्य को कच्चा चबा जाने की बात सोचेगा।

हमारे पुराने विचारकों ने गृहस्थ जीवन की बड़ी महिमा गाई है तथा सद्गृहस्थ को योगी कहकर पुकारा है। वास्तव में वह योगी है भी। अगर अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रहें। योगी की परिभाषा मोटे शब्दों में यही

२.१६ समाज का मेरुदण्ड संशक्त परिवार तंत्र

है कि जो समाज को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दे, सद्गृहस्थ परिवार के संचालन का भार अपने ऊपर लेता है तथा यह अनुभव करता है कि उसके ऊपर एक ऐसी पाठशाला की जिम्मेदारी है, जिसमें देश तथा समाज के कर्णधारों को शिक्षण मिलता है।

विवाह तो प्रायः सभी करते हैं। लेकिन जहाँ एक व्यक्ति सृष्टि-संचालन तथा प्रजा-पालन की दृष्टि से शादी करता है। दूसरा काम-सेवन की सुविधा को ध्यान में रखकर करता है। दूसरे वर्ग के लोगों को हम सद्गृहस्थ के दायरे में नहीं रख सकते। जहाँ सद्गृहस्थ का विवाह करना, उसकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है, असद्गृहस्थ के लिए दुःख का कारण बन जाता है। समाज के प्रति कर्तव्य समझकर विवाह करने वाले लोगों की सन्तानें स्वभावतः शिष्ट एवं शालीन होकर सुख-शान्ति की वृद्धि का कारण सिद्ध होती हैं। क्योंकि ऐसा व्यक्ति विवाह द्वारा आई हुई जिम्मेदारी को समझता है तथा उत्पन्न कर्तव्यों को पूरी तत्परता से पूरा करने के लिए सारी क्षमता का प्रयोग करता है। विवाह उसके लिए काम-क्रीड़ा अथवा इन्द्रिय-भोग का रजिस्ट्रेशन न होकर, एक धार्मिक तथा सामाजिक कर्तव्य होता है।

वास्तव में परिवार एक ऐसी प्रयोगशाला है, जहाँ सद्गृहस्थ की क्षमताओं का विकास निरन्तर होता जाता है। गृहस्थ-जीवन की महिमा तभी है, जब सद्गृहस्थ बन कर परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों का सर्वतोमुखी पालन किया जाय अन्यथा वही परिवार दुःख और कष्ट का कारण बन जाता है।

शादी करने का दृष्टिकोण यही होना चाहिए कि इसके माध्यम से समाज को योग्य राष्ट्रप्रेमी प्रदान किया जाय। अन्यथा काम-सेवन की दृष्टि से किया गया विवाह नरक का ही सृजन करता है।

सद्गृहस्थों का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने परिवार में संकीर्णता का प्रवेश न होने दें। विभिन्न घटकों में प्रेम का वातावरण रहे। प्रेम तथा सहयोग के अभाव में परिवार-नर्क का रूप धारण कर लेता है। स्वार्थपरता अभाव से ही उत्पन्न होती है। अक्सर अभाव में लोग लड़ने-झगड़ने लगते हैं। सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि परिवार को जितने अर्थ की आवश्यकता है, उसका उपार्जन करे। आर्थिक स्थिति ठीक हुए बिना प्रगति के मार्ग अवरुद्ध रह जाते हैं। इस कमी को दूर करने के दो ही उपाय हैं-पहला अनावश्यक खर्चों में कटौती तथा दूसरा आय की वृद्धि। सद्गृहस्थ को सोचना होगा कि इन दोनों में से कौन-सा कदम उठाना होगा, जिसमें आर्थिक-समस्या का निवारण हो। आय की वृद्धि करने के लिये उसे अपने आलस्य-प्रमाद पर विजय पाना होगा तथा कर्मठता का परिचय देना होगा। आलसी तथा अकर्मण्य निश्चय ही उतना उपार्जन नहीं कर पाते, जिससे परिवार की आवश्यकता पूरी की जा सके। इस स्थिति में हर

सदस्य किसी तरह छीन-झपटकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस छीन-झपटी में स्वार्थपरता का जन्म होना स्वाभाविक है। पूरे समय के सदुपयोग तथा पूरे परिश्रम करने पर भी अगर आर्थिक-तंगी दूर न हो तो सभी सदस्यों को विचार-विमर्श द्वारा यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि किन-किन खर्चों में कटौती की जा सकती है।

स्वार्थपरता के अंकुरित होने का दूसरा कारण है-अधिक सम्पन्नता। इस स्थिति में हर सदस्य अपने लिये अधिक से अधिक पाने की इच्छा करने लगता है तथा विलासिता, अकर्मण्यता तथा फैशनपरस्ती को प्रश्रय मिलता है। ऐसी अव्यवस्थित दशा में स्वार्थपरता तथा कलह परायणता की वृद्धि हो जानी स्वाभाविक ही है।

एक और गुण, जो सद्गृहस्थी के लिये जरूरी है-समता की दृष्टि है। उसे हर सदस्य को समता की दृष्टि से देखना चाहिए। किसी को अधिक महत्व दे देना तथा किसी को कम-कलह को जन्म देना है। ईर्ष्या-द्वेष का जन्म होता है तथा दोनों की दृष्टि संशयात्मक हो जाती है ऐसे परिवार को टूटते देर नहीं लगती।

हमें पारिवारिक-सुख को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये समानता का व्यवहार करना होगा। जिसकी जो आवश्यकता तथा स्थिति होती है, उसी के अनुसार उस पर खर्च करना और ध्यान देना चाहिए, किन्तु भोजन तथा वस्त्र के मामले में सबको बराबरी की दृष्टि से ही देखना चाहिए।

सद्गृहस्थ को शिष्टाचार को महत्व देना चाहिए। क्योंकि शिष्ट-परिवार से ही शिष्ट-व्यक्ति समाज को प्राप्त होंगे। सद्गृहस्थ स्वयं मर्यादित-जीवन जीकर दूसरे सदस्यों को भी वैसी ही रीति-नीति अपनाने की प्रेरणा देते हैं।

परिवार के हर सदस्य को शिक्षित तथा विकसित करने की जिम्मेदारी भी सद्गृहस्थ समझता है; क्योंकि अशिक्षित तथा अनपढ़ व्यक्तियों पर सदाशयता के सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं।

समाज की आवश्यकतानुरूप बच्चे पैदा करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। कोई जमाना था, जब अधिक बच्चे होना सौभाग्य की निशानी समझी जाती थी। पर आज अधिक बच्चे पैदा करके हम समाज तथा अपने प्रति अन्याय ही करेंगे।

हर व्यक्ति समाज का ऋणी है। हम आज जो भी हैं, समाज द्वारा ही विनिर्मित हैं। समाज के प्रति हमारे कर्तव्य की जानकारी हमें होनी चाहिए। समाज ने शिक्षा, ज्ञान, अन्न, वस्त्र आदि कितने ही प्रकार की सुविधायें देकर हमें प्रगति के मार्ग पर अग्रसर किया है तो हमारा भी कर्तव्य है कि समाज को योग्य नागरिक प्रदान कर अपनी सामाजिक-निष्ठा का परिचय दें। इसीलिए हमारे वैदिक मनीषियों ने गृहस्थाश्रम को एक प्रमुख आश्रम बताया तथा इसे धर्म का एक अंग बनाया। संसार रहने लायक तभी तक है, जब तक यहाँ प्रेम का विस्तार है। हम समाज-प्रेमी व्यक्ति समाज में बढ़ा सकते हैं, अगर गृहस्थाश्रम की

महत्ता को हृदयगम कर लेते हैं। अन्यथा वही होगा जो पश्चिमी सभ्यता के परिवारों में होता है। वहाँ के परिवार किस तरह बिखर रहे हैं, किसी से छिपा नहीं है।

परिवारों को इस दुर्गति से उबारा जाय

परिवार व्यक्तित्व के निर्माण की प्रयोगशाला और पाठशाला है। स्कूलों में बहुत कम पढ़ाई होती है। उतने से काम कितना चलता है। ढलाई तो परिवार की परम्परा के प्रभाव प्रवाह में बन पड़ती है। मनुष्य को निजी विकास करना हो तो अपने गुण, कर्म, स्वभाव के उत्कर्ष का अभ्यास परिजनों पर प्रयोग करने के रूप में ही कर सकता है। तैरना तालाब में घुसने से आता है। परिवार को प्रशिक्षित समुन्नत बनाने के लिए बड़ों को अपना उदाहरण प्रस्तुत करना पड़ता है और पग-पग पर सूझ-बूझ का परिचय देना संतुलन बिठाना पड़ता है। यह समझदारी एकाकीपन से सम्भव नहीं। परिवार एक छोटा राष्ट्र है जो उसकी व्यवस्था बना लेगा वह बड़े क्षेत्र की बड़ी जिम्मेदारियाँ पूरी कर सकने में भी असफल न रहेगा।

इन तथ्यों से न्यूनाधिक मात्रा में सभी अवगत होते हैं किन्तु इस विडम्बना को क्या कहा जाय, जिसके कारण गृहस्थों की स्थिति दिन-दिन असमाधानकारक बनती जा रही है। निराशा ही निराशा दीख पड़ती है। बहुत लोगों का एक साथ रहना कोई बड़ी बात नहीं है। रेल के डिब्बे में, मुसाफिर खाने में, धर्मशालाओं में, थोड़ी जगह रहते भी बहुत लोग घुसे बैठे रहते हैं। इतने पर भी उनसे स्नेह-सहयोग कहाँ पाया जाता है? जेलखानों में, अस्पतालों में, कारखानों में, सिनेमा, सरकसों में भी भीड़ बहुत रहती है पर उतने भर से परस्पर सौजन्य की शृंखला में कहाँ बँधते हैं। ऐसा न होने पर जितनी धिचपिच बढ़ती है उतनी ही हैरानी में भी बढ़ोत्तरी देखी जाती है।

रोटी खाने और रात गुजारने का प्रयोजन तो सराय में रहकर भी पूरा किया जा सकता है। गृहस्थ साधना सर्वथा दूसरी बात है। उसे एक प्रकार का योगाभ्यास कहा गया है जिसमें संयम और सेवा की साधना हृदय की विशालता विकसित करते हुए सँजोनी पड़ती है। अस्तु, उस क्षेत्र में भी सत्परम्पराओं का समुचित समावेश होना चाहिए। उसमें जितनी कमी पड़ेगी उतनी ही अव्यवस्था, उच्छृंखलता पनपेगी। परिवारों का सौमनस्य आकाश से नहीं उतरता या उसे कलाकारों जैसी अपनी दूरदर्शिता और तत्परता का परिचय देते हुए कुम्हार द्वारा बनाये पकाये गये बर्तनों की तरह विनिर्मित करना होता है। उसमें जितनी कमी पड़ेगी उतनी ही विद्रूपता दृष्टिगोचर होती है।

प्रायः सुविधा-साधनों की विपुलता जुटा देने भर से कोई परिवार सुखी-समुन्नत समझा जाता है। पर वास्तविकता ऐसी है नहीं सुविधाएँ अनुकूलतायें जुटा देना

एक बात है और उनका सही सदुपयोग कर सकना सर्वथा दूसरी। सत्परम्पराओं के अभाव में सम्पदा का दुरुपयोग होता है। उनके सहारे दुर्गुण पनपते हैं। विलासिता, अहमन्यता, प्रमाद एवं दुर्व्यसनों को अपनाने में दरिद्रता नहीं सुसम्पन्नता कारण होती है।

पुरातन स्वर्णिम युग में परिवारों के बीच स्नेह-सौजन्य पलता पनपता था। एक दूसरे को भरपूर सद्भाव और सहकार प्रदान करते थे। दुलार और सुधार में किसी की भी उपेक्षा नहीं होती थी। उस परम्परा की अवमानना होने पर परिस्थितियाँ भी उलटती जा रही हैं और घर जीते-जागते नरक बनते जा रहे हैं लूट के माल की तरह हर सदस्य उस परिकर में से सुविधाएँ तो खसोटना चाहता है पर यह नहीं बनता कि खाद पानी लगाकर इस वृक्ष को समृद्ध बनाने में योगदान दिया जाय।

आखिर ऐसा होता क्यों है? इसका कारण यहाँ भी वही है जो अन्य क्षेत्रों में पतन-पराभव का कारण बना हुआ है। सदाशयता की जहाँ भी उपेक्षा बरती जायगी वहीं दुर्गति उत्पन्न होगी। गृहस्थ बसाने, बढ़ाने और किसी महत्वपूर्ण प्रयोजन के उपयुक्त बनाने में यदि आदर्शों का समावेश रहे तो ऐसे बुरे दिन देखने को न मिलें जैसे कि हर परिवार पर छाये हुए दीखते हैं।

घर बसाने का आरम्भ विवाह प्रक्रिया से आरम्भ होता है। वर वधू का चयन सौन्दर्य और वैभव के आधार पर होता है। जिस वधू को ससुराल में रूप और दहेज के कारण प्रवेश मिला है वह पहले ही दिन समझ जाती है कि दुनिया में चेहरे का आकर्षण और दौलत ही सब कुछ है। गुणों की कोई कीमत नहीं। ऐसी दशा में यदि उसका मन अधिक रूपवान, धनवान की ओर खिंचने लगे तो किसी के पतिव्रत को दुहाई देते हुए यह बात अनुचित नहीं रहनी चाहिए। जब आधार ही गलत रहा-आरम्भ ही गलत हुआ तो उससे श्रेष्ठ परिणति की आशा कौन करे?

दाम्पत्य जीवन अनन्य सहकार की परिणति है। एक को दूसरे का ध्यान रखना पड़ता है। दोनों को समान रूप में एक दूसरे को स्नेह, सम्मान, विश्वास और सहकार प्रदान करना है। ताली दोनों हाथ से बजती है। पति उच्छृंखलता बरते और पत्नी को दासी समझे तो दोनों पहियों की समता सहकारिता रहने पर भी गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं।

सन्तानोत्पादन इन दिनों इस घोर महँगाई के जमाने में असाधारण उत्तरदायित्व है। उसके लिए आँखें मूँद-कर अनावश्यक उत्पादन में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। पत्नी का स्वास्थ्य, परिवार की आर्थिक स्थिति, बच्चों का भविष्य और समूचे समाज पर पड़ने वाले दबाव को ध्यान में रखते हुए प्रजनन में प्रवृत्त होने से पूर्व हजार बार सोचना चाहिए कि उतना भार उठा सकना सम्पन्नता और क्षमता में कमी रहने पर भी उठाना

२.१८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

उचित है या नहीं। अनावश्यक रूप से बच्चे उत्पन्न करने के उपरान्त इतनी अधिक समस्या उत्पन्न होती है कि उनके कारण गृहस्थ का ढाँचा ही चरमरा जाता है। स्वास्थ्य शिक्षा, स्वावलम्बन, चरित्र व्यक्तित्व आदि की आवश्यकता जब जुट नहीं पाती तो विग्रह खड़े होना स्वाभाविक है।

सद्गुणों के सम्बर्द्धन की बात को भी निर्वाह साधन जुटाने जितना ही महत्व मिलना चाहिए। श्रमशीलता, मितव्ययता, सुव्यवस्था, शालीनता और सहकारिता को सद्गुणों का सच्चा वैभव माना जाय और इन मानवी गरिमा को अक्षुण्ण रख सकने वाली विभूतियों को हर सदस्य के स्वभाव अभ्यास में सम्मिलित किया जाय। इसके लिए परिवार के वरिष्ठों का प्रमुख उत्तरदायित्व है कि वे संकोच छोड़ें और स्वयं आगे बढ़कर घर के हर सदस्य को साथ लेकर अभ्यास करावें। एक आँख दुलार की दूसरी सुधार की रखने से ही शालीनता पनपती है। हर किसी को मनमर्जी बरतने देने से या तो अराजकता फैलेगी और वही स्थिति बनेगी जो आज सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

उत्तराधिकार में धन छोड़ मरने की अपने समाज में ऐसी कुप्रथा है जिससे संतान के लिए सोची गई सुविधा के स्थान उनके लिए अगणित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। परस्पर विग्रह का यह एक बहुत बड़ा कारण है। सदस्य को स्वावलम्बी बनाना चाहिए और यह अनुभव करना तथा करने देना चाहिए कि पैतृक सम्पदा हथियाने या उड़ेलने की दोनों ही प्रवृत्तियाँ अनैतिक, असामाजिक एवं अन्ततः हर किसी के लिए हर दृष्टि से हानिकारक हैं। सद्गुणों को सुविकसित व्यक्तित्व की विरासत छोड़ मरना ही दूरदर्शिता के दृष्टि से पर्याप्त होना चाहिए।

लड़की, लड़कों में भेदभाव, कुरीतियों का घटाटोप, दिनचर्या की अस्तव्यस्तता, स्त्रियों को पर्दे में कैद रखना, कामाळ व्यक्तियों को मनमर्जी का खर्च करने की छूट मिलना, जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ संयुक्त, परिवार की जड़ें खोखली करते हैं। अनुशासन रह सके और सज्जनोचित आचार संहिता निभ सके तो ही परिवार का स्तर ऊँचा रहेगा। इन तथ्यों को नये सिरे से समझने-समझाने की आवश्यकता है।

सुसंस्कृत परिवारों का निवास ही स्वर्ग है और दुष्प्रवृत्तियों के प्रचलन से वह नरक बनता है इस आधार पर हमें ऐसी आचार संहिता बनानी चाहिए जिसमें एक भावभरी सहकारी समिति की तरह न्यायोचित व्यवस्था का निर्वाह सध सके। आज की स्थिति में वे सत्परम्पराएँ न रहने पर परिवार टूटते जा रहे हैं। उन्हें फिर से धरती के स्वर्ग बनाने के लिए जन-जन का दृष्टिकोण एवं अभ्यास बदलने की आवश्यकता अनुभव की जानी चाहिए।

प्यार भी-सुधार भी

यों हर व्यक्ति अपने सम्पर्क परिचय क्षेत्र में हर किसी से प्रेम सहयोग की आशा अपेक्षा करता है। यह उचित भी है और आवश्यक भी। बदले में प्रत्युपकार एवं प्रशंसा करना भी इसी आधार पर बन पड़ता है। सर्वथा एकाकी व्यक्ति तो अपना निजी जीवनक्रम भी ठीक तरह नहीं चला पाता, पर जहाँ प्रगति और सुविधा का प्रश्न है, वहाँ तो भौतिक क्षेत्र में सहयोग और आत्मिक क्षेत्र में स्नेह की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ती है।

पारिवारिक घनिष्टता, सहकारिता और सुव्यवस्था तो विशेषतया इसी आधार पर निभती है। इसके बिना नीरसता ही छाई रहती है और उपेक्षा, अवज्ञा, अनुशासनहीनता भी पनपती है। सुसंस्कृत परिवारों को नर-रत्नों की खदान समझा जाता है। श्रेष्ठ समुन्नत नागरिक प्रायः ऐसे ही परिवारों में पनपते हैं। महापुरुषों का उद्भव भी प्रायः ऐसे ही वातावरण में होता है।

आवश्यक नहीं कि स्वजन सम्बन्धियों, परिजनों के लिए बढ़-चढ़कर सुविधा साधन ही जुटाये जायें। उनके न होने पर भी काम चल सकता है। पर एक आकांक्षा ऐसी है जिसके बिना किसी को स्वजन की तृप्ति नहीं हो सकती वह है सद्भावना। आत्मीयता इसी को कहते हैं। अपने आप का जितना ध्यान रखा जाता है, उतना ही यदि अन्य किसी का भी रखा जा सके, तो समझना चाहिए कि आत्मीयता विकसित हुई और घनिष्टता सधी। वह इतनी तृप्तिदायक है कि वह मिलते रहने पर अन्य प्रकार के अभावों को भी सहते रहा जा सकता है।

किसी को सुधारना हो तो उसके लिए भी प्यार का पुट रहना चाहिए। प्यार वह आग है जिससे किसी को भी पिघलाया जा सकता है। धातुओं को पिघलाकर ही उन्हें औजार-उपकरणों, पुर्जों के रूप में ढाला जाता है। गलाई के बाद ढलाई होती है। सुधारने के प्रयास करने के पूर्व उसमें प्यार की भाव संवेदना का समावेश करना चाहिए।

अभिभावकों को छोटों के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। इसके लिए कहावत है कि 'एक आँख प्यार की-दूसरी सुधार की' रखी जाय। इसी सन्तुलन से जीवनक्रम प्रगति पथ पर ठीक तरह चल पाता है। दोनों में से यदि मात्र एक का ही प्रयोग किया जाय तो वह अतिवाद कहा जायगा और परिणामतः अहितकर सिद्ध होगा। सन्तुलन ही सब प्रयोजनों में सही सिद्ध होता है। पारस्परिक व्यवहार में भी।

प्यार में मनुष्य को प्रोत्साहन मिलता है, साहस विश्वास एवं आश्वासन भी। जहाँ भी यह मिलता है। उसे आत्मीय माना जाता है। आत्मीय का सिखावन परामर्श भी गले उतरता है और उसकी समीक्षा, आलोचना भी सहन होती है। यहाँ तक कि प्रताड़ना भी विद्रोह या विद्रोह उत्पन्न नहीं करती। उसकी कटु प्रतिक्रिया स्नेह का स्मरण आते ही समाप्त हो जाती है।

सुधार का अर्थ प्रताड़ना नहीं है वरन् अधिकाधिक सुयोग्य, समुन्नत बनाने के लिए कष्टसाध्य तत्परता में संलग्न करना है। देखा गया है कि सुविधायें मनुष्य को आलसी, विलासी बनाती हैं। उपभोग करने के साधन असाधारण रूप से मिलने लगे तो मनुष्य प्रमादी, व्यसनी और अहंकारी बनता चला जाता है। वैभव प्रदर्शन में रुचि बढ़ती है और वाहवाही लूटने, प्रसिद्धि पाने तथा बड़प्पन की धाक जमाने की उत्कण्ठा बेहिसाब विस्तृत होती चली जाती है। यह सब असाधारण सम्पदाओं की प्रतिक्रिया है। मोहजन्य प्यार ऐसे ही उपहार उड़ेलता रहता है। लोग प्यार का परिचय इसी रूप में देते और पाते हैं कि उन्हें चापलूसी भरा मधुर व्यवहार असीम मात्रा में मिले। साथ ही सुविधा सामग्री की भी विपुलता न्योछावर होती रहे, भले ही वह किसी प्रकार पाई, कमाई गयी हो। प्रियपात्र को श्रम न करने देने, कोई अभाव-अनुभव न होने देने, भविष्य के लिए सम्पदाओं के ढेर लगा देने का सिलसिला चलता है यह घटिया दर्जे का, मनुष्य के व्यक्तित्व को बिगाड़ने वाला-उसमें अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ भर देने वाला है। राजा-रईसों के स्त्री, बच्चे, प्रिय पात्र प्रायः इसी प्रकार की आदतों से ग्रसित होते चले जाते हैं। इससे उनका भविष्य बिगड़ता था। साधन घटते या छिनते ही उनकी बुरी तरह दुर्दशा होती थी। छोटे रूप में सामान्य गृहस्थों के परिवार में भी यही प्रक्रिया चल पड़े तो वह आकार में छोटी होते हुए भी हानिकारक उतनी ही होती थी जितनी कि बड़ा दुलार पाने वालों को वह अधिक गहरे पत में धकेलती थी।

सुधार का तात्पर्य है निखार। उभार, उत्थान, उत्कर्ष, अभ्युदय। यह गुण पक्ष है। पदार्थ पक्ष नहीं। पदार्थों की, सुविधा-साधनों की, ललक-लिप्सा की बड़ी मात्रा में पूर्ति होते रहने से तात्कालिक प्रसन्नता तो होती है पर उतने भर से आन्तरिक वर्चस्व में अभिवृद्धि नहीं होती। यह सम्भावना तो तब बनती है जब व्यक्ति संयमी, साहसी, पुरुषार्थी और स्वावलम्बी बनता है। इन्हीं सदगुणों को अभ्यास में उतारने के लिए प्रयत्न किया या कराया जाता है उसी को सुधार प्रक्रिया समझा जा सकता है। इस दिशा में कदम बढ़ाने पर मन मारना पड़ता है, संयम साधना पड़ता है और अभ्यस्त, अनुपयोगी आदतों को उखाड़ फेंकने के लिए दुस्साहस अपनाना पड़ता है। इस स्थिति को कोई सहज स्वीकार नहीं करता उसके लिए तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरणों से भरेपूरे परामर्श देने पड़ते हैं। साथ ही दबाव भी। आवश्यक नहीं कि वे दबाव भर्त्सना भरे हों या उन्हें निर्देश पालन के लिए बाधित किये जाने के ढंग से प्रयुक्त किया गया हो। उन्हें इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि प्रगतिशीलता अपनाने की परिणति क्या हो सकती है और अनगढ़ बने रहने पर पिछड़ापन ही हाथ लगता है। सुधार की शुरुआत वहाँ से होती है जहाँ व्यक्ति को समुन्नत, सुसंस्कृत, प्रखर प्रतिभा सम्पन्न बनाने की ललक जगती है और निश्चित मार्ग पर

चल पड़ने की उमंग मचलती है। यही है महान बनने का मार्ग। जिसकी मनःस्थिति में उत्कृष्टता का पक्षधर उभर आया समझना चाहिए कि उसके अभ्युदय का द्वार खुल गया उज्ज्वल भविष्य का सुयोग बन गया।

जिन्हें हम सच्चे मन से प्यार करते हैं। उनके लिए उपरोक्त दोनों ही अनुदान उपलब्ध कराये जाने चाहिए। आत्मीयता की भाव-सम्बेदनाओं में अमृतोपम मिठास होता है। उसे पाने के लिए हर कोई तरसता है जिसे जितनी मात्रा में वह उपलब्ध हस्तगत होती है वह उतना ही कृतकृत्य हो जाता है। माता और बच्चों के बीच, पति और पत्नी के बीच सहज रूप से दुलार की वर्षा होती देखी जा सकती है। यह प्रकृति-क्रम है। शिशुओं के प्रति वात्सल्य छोटे जीव-जन्तुओं में भी बरसता है। मनुष्य की स्थिति और जिम्मेदारी उनकी तुलना में कहीं ऊँची है। उसे अपने प्रियपात्रों को सदगुणी, सुयोग्य, साहसी एवं पराक्रम परायण बनाना उनकी स्वच्छता सर्वतोमुखी हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

प्यार वह नहीं जिसमें उत्कृष्ट लक्ष्य का समावेश न हो। बाजारू दोस्ती का स्वरूप यह है कि प्रियपात्र का चापलूसी के सहारे अधिकाधिक शोषण किया जाय। पतियों को पत्नियों के साथ प्रेम के नाम पर इसी विडम्बना को रचते देखा जाता है। वास्तविकता की परख यह है कि साथी को बहिरंग और अन्तरंग दृष्टि पाने से किसने किसे कितना समुन्नत बनाया?

सुधार-परिवर्तन की सरल प्रक्रिया

जिस प्रकार कृषि, व्यवसाय, उद्योग, शिल्प आदि में उसकी समग्रता अर्जित करने के लिए पूरा ध्यान देना पड़ता है। उसी प्रकार परिवार संचालन में भी सतर्कता बरतनी पड़ती है। यदि उसका एक भी पक्ष गड़बड़ाने लगे तो छोटे पुर्जे की खराबी से पूरी मशीन बन्द हो जाने जैसा संकट उठ खड़ा होता है। सम्पन्नता कितनी ही आवश्यक क्यों न हो, पर वही सब कुछ नहीं है। कई बार तो वह सर्प को दूध पिलाने की तरह अनर्थकारी भी बन जाती है। दुर्गुणों को पोषण मिलता है और वे दुष्प्रवृत्तियों का रूप धारण करके ऐसे संकट खड़े करती हैं, जिनसे गरीब मध्यवर्ती लोग सहज ही बच जाते हैं।

मनुष्य जीवन की प्रगति और अवनति का प्रधान कारण है-उसके व्यक्तित्व का स्तर। वह यदि सुसंस्कृत सुविकसित हों, तो समझना चाहिए कि उत्कर्ष-अभ्युदय के सारे स्रोत खुल गये। सुख-शान्ति से रहने, साथियों की प्रसन्नता, कृतज्ञता, सहकारिता प्राप्त होते रहने के सरंजाम जुट गये। यदि इसके विपरीत कहीं व्यक्तित्व गया-गुजरा, हेय और अनगढ़ रहा, तो समझना चाहिए कि प्रचुर सुविधा-साधन होते हुए भी चिन्तन, चरित्र और व्यवहार

२.२० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

में विकृतियाँ भरे रहने के कारण परिस्थिति विग्रहकारी ही बनी रहेगी। न स्वयं चैन से रहना बन पड़ेगा और न साथियों को सन्तुष्ट रख सकना। उलझी हुई समस्याएँ और भी अधिक उलझती जायेंगी और उस जाल-जंजाल से निकल सकने के लिए कोई उपाय न सूझ पड़ेगा। ऐसी दशा में स्वजन सम्बन्धी भी कोई कारगर सहायता कर सकने में समर्थ न हो सकेंगे। जीवन रोते-रुलाते, गिरते-गिराते व्यतीत होगा। भले ही दोष किसी का समझा जाता रहे। संसार दर्पण की तरह है। उसमें अपना प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। जो गये-गुजरे स्तर के हैं, उन्हें प्रगति और प्रसन्नता का अवसर कभी भी न मिल सकेगा।

इस तथ्य को समझते हुए परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों के गुण-कर्म-स्वभाव में शालीनता के समावेश का निरन्तर प्रयास होना चाहिए। इस कार्य में परिवार के वरिष्ठ एवं समझदार लोगों का विशेष उत्तरदायित्व है। श्रमशीलता, शिष्टता, मितव्ययता, व्यवस्था एवं सहकारिता के पंचशीलों को पाँच देवों की तरह आराध्य मानने की बात हर एक के गले उतारनी चाहिए। उनकी महिमा एवं महत्ता विस्तारपूर्वक समझानी चाहिए। सीधे ऐसे परामर्श काम न करते हों, तो फिर दूसरा तरीका एक ही बच जाता है कि प्रगतिशील लोगों के जीवन चरित्रों, संस्मरणों के प्रेरक प्रसंग समय-समय पर सुनाते रहा जाय। अच्छा तो यह है कि रात्रि को अवकाश के समय घेरलू मनोरंजन की तरह कथा-कहानियाँ कहते रहने का क्रम चलाया जाय यह तद्विषयक पुस्तकों के सहारे हो सकता है। घर में ऐसा साहित्य रहना ही चाहिए, जिसे पढ़ने-सुनने से उत्कर्ष की दिशाधारा का परिचय मिले। कहानियाँ स्वयं में एक अच्छा मनोरंजन हैं। उसमें लोकरुचि भी होती है। पुस्तक विक्रेताओं की दुकानों पर तीन-चौथाई, कथा-साहित्य मिलता है, क्योंकि माँग और बिक्री भी उसी की रहती है। वेद केवल चार बनकर ही समाप्त हो गये, पर पुराण अठारह बने। इतना ही नहीं इसके बाद अठारह उप-पुराण भी बने। इनमें से प्रत्येक का कलेवर इतना बड़ा है, जिसे वेदों-उपनिषदों की तुलना में कहीं अधिक विस्तार वाला देखा जा सकता है। यह कथा सुनने की लोकरुचि का प्रमाण है। वह छोटों से लेकर बूढ़ों तक को समान रूप से प्रिय होता है।

‘पंचतन्त्र’ ग्रन्थ के निर्माण की कथा प्रसिद्ध है। एक राजा के लड़के बड़े उजड़-थे। पढ़ाने वाले किसी अध्यापक को टिकने न देते थे। पढ़ने-लिखने में तनिक भी रुझि नहीं लेते थे। राजा को चिन्ता हुई कि इनका भविष्य कैसे बनेगा? उसने घोषणा की, कि जो अध्यापक हमारे लड़कों को पढ़ाने और सुधारने में सफल होगा, उसे मुँहमाँगा पुरस्कार दिया जायगा। कई विद्वान आये और हार मानकर वापस लौट गये।

अन्त में एक विष्णु शर्मा नामक विद्वान आये। उन्होंने नया बीडा उठाया और नया तरीका अपनाया। वे मात्र कहानियाँ सुनाते थे। राजकुमारों को धीरे-धीरे इसमें

दिलचस्पी बढ़ी और वे देर तक अध्यापक के पास बैठकर कहानियाँ सुनते रहते। वे कथाएँ बड़ी सारगर्भित होती थीं। उनमें जीवन विकास के तथ्यों का भरपूर समावेश रहता था। सुनने वाले लड़कों के मन में वे तथ्य भी उतरते गये। उन्हें अपने भविष्य और विकास के सम्बन्ध में सोचने का अवसर मिला। फलतः उनकी विचारधारा बदलती चली गयी। वे सही मार्ग समझने के साथ-साथ उस पर चलने भी लग गये। इस प्रकार कुछ ही दिन में उनकी समस्त गतिविधियाँ सन्तोषजनक एवं उत्साहवर्द्धक बन गयीं। पढ़ने-लिखने लगे। धीरे-धीरे ऐसे बन गये, जैसा कि राजा चाहता था। पंडित को मुँहमाँगा पुरस्कार मिला और वह कथा ग्रन्थ पंचतन्त्र के नाम से लोकप्रिय हुआ।

यह एक घटना भर है, जिसने समय की सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति की। अब जीवन के अनेक पक्ष प्रकाश में आये हैं। समस्याएँ प्रकट हुईं और अनेक समाधान आवश्यक जान पड़े हैं। अस्तु कथा साहित्य भी समय के अनुरूप होना चाहिए। ऐसा अनुरूप जो व्यक्तित्व विकास में सभी पक्षों पर प्रकाश डाल सकने में सक्षम हो।

दुर्भाग्य एक ही है कि लेखकों, प्रकाशकों और बुक सेलरों की फौज खड़ी हो जाने पर भी ऐसा साहित्य नहीं सृजित जा सका, जो व्यक्तित्व विकास की आवश्यकता पूरी करने में कोई महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके। कुत्साओं को भड़काने वाला, दिशाभ्रम उत्पन्न करने वाला साहित्य तो नित्य नये पहाड़ की तरह उपजता चला जाता है, पर उसमें दिशा-बोध करा सकने वाली क्षमता नहीं के बराबर होती है। इतने पर भी उपयोगिता का बीज नाश नहीं हुआ है। ढूँढ़ने पर सत्साहित्य भी मिल ही जाता है। भले ही वह ‘खोदा पहाड़ निकली चूहिया’ वाली उक्ति ही चरितार्थ करता हो। भले ही स्वल्प मात्रा में जहाँ-तहाँ उपलब्ध क्यों न होता हो? ढूँढ़ने वाले कोयले की खदान में हीरा ढूँढ़ लेते हैं। खारे समुद्र में गोता लगाकर मोती बटोर लाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि व्यक्तित्व विकास में सहायक सिद्ध होने वाला साहित्य कहीं-न-कहीं से कामचलाऊ मात्रा में खोजा न जा सके। इसी की घरों में अवकाश के समय पढ़ने की, सुनने की आवश्यकता होनी चाहिए। यह सामग्री विवेचनात्मक भी हो सकती है और कथा-प्रसंगों से सम्बन्धित भी। दोनों ही पक्ष उपयोगी हैं। बच्चों की समझ में कहानियाँ ही आती हैं, पर बड़े तो विचारोत्तेजक सामग्री में भी रस ले सकते हैं और उस आधार पर ऐसा बहुत कुछ हृदयगम कर सकते हैं, जो समुन्नत-सुसंस्कृत बनाने में उत्साहवर्द्धक रूप में सहायक सिद्ध हो सके।

यों निजी विचार-विनिमय का भी महत्व है और उस आधार पर भी परिवार के सदस्यों के साथ उनकी स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप विचार-विनिमय किए जाते रहने का क्रम चलता रह सकता है। वार्तालाप और परामर्श मात्र भौतिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में नहीं

होते रहने चाहिए, वरन् वार्तालाप इस संदर्भ में भी होते रहना चाहिए कि चिन्तन और चरित्र में अपेक्षाकृत कैसे अधिक सुधार तथा विकास किया जाता रह सकता है। इसमें भिन्न-भिन्न लोगों के लिए उनकी स्थिति को देखते हुए अलग-अलग प्रकार के परामर्श आवश्यक हो सकते हैं। हर व्यक्ति की समस्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। हर किसी को अपनी स्थिति के अनुरूप प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर करने वाला व्यावहारिक परामर्श चाहिए। मात्र सिद्धान्तों की चर्चा विवेचना भर कर देने से काम नहीं चलेगा। इसके लिए भिन्न-भिन्न स्तर का परामर्श, मार्ग-दर्शन चाहिए। उसे समय-समय पर उपलब्ध कराते रहना परिवार के प्रभावशाली सदस्यों का काम है।

इस सन्दर्भ में एक बड़ी कठिनाई यह है कि किसी भी व्यक्ति को अपने सुधार के सम्बन्ध में दूसरों का परामर्श रास नहीं आता, इसमें वह अपना अपमान समझता है। सभी की मान्यता है कि दुनिया में डेढ़ अकल है, जिसमें से एक उसकी और आधी समस्त संसार की। अपने को हर कोई सर्वज्ञ एवं सुयोग्य मानता है। कोई जब उसकी समीक्षा करता है, तो उसे इसमें अपमान लगता है और बताने वाले को अपना विरोधी-विद्वेष मान बैठता है। इस मनोवैज्ञानिक कठिनाई से बचने का एक ही उपाय है कि सीधी शिक्षा न देकर किसी अन्य की घटना का सन्दर्भ देते हुए उसे तथ्य से अवगत कराया जाय। यह कार्य कहानियों, संस्मरणों के माध्यम से अधिक अच्छी तरह हो सकता है। वह उपलब्ध न हो, तो विवेचनात्मक पुस्तकों के वे अंश विशेष अनुरोध करके पढ़ाये-सुनाये जा सकते हैं, जिनमें उनकी निजी समस्याओं पर सार्वजनिक रूप से प्रकाश डाला गया है। यदि उस प्रकार की पुस्तकों का लेखक कोई प्रामाणिक व्यक्ति हो तो और भी अच्छा। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि यह परामर्श उन लेखक महोदय का है, जो तुम्हारे लिए फिट बैठता है। इस पर विचार किया जाय और यदि उचित समझा जाय, तो उस परामर्श को अपना लिया जाय। यह तरीका अधिक सटीक और प्रभावशाली है।

गीता के प्रतिपादनों को इसीलिए महत्वपूर्ण माना गया है कि वह भगवान् कृष्ण के मुख से कही गयी है, यदि इस संदर्भ को हट्टा दिया जाय और उन्हीं प्रतिपादनों को अपने विचार कहकर सुनाया जाय, तो उसकी उपेक्षा ही होगी और मान्यता देने में सन्देह भी बना रहेगा। यही बात अन्य प्रसंगों के सम्बन्ध में भी है। घर के लोगों को कोई सिद्धान्त की बात-उनके स्वभाव से विपरीत कही जाय तो 'घर का जोगी जोगन्ना, आन गाँव का सिद्ध' वाली कहावत सिद्ध होती है। जिन लोगों के साथ रहना होता है, उन्हें अति परिचय के कारण सामान्य समझा जाता है और महत्व नहीं मिलता। इस कठिनाई से पार पाने का यही तरीका ठीक पड़ता है कि जो सुधार-परिवर्तन घर वालों में कराये जाने हैं, उनके सम्बन्ध में आवश्यक शिक्षा स्वयं के विचार न बताकर किसी प्रामाणिक व्यक्ति का

मन्तव्य बताया जाना चाहिए। यही बात कथा-संस्मरणों के माध्यम से भी गले उतारी जा सकती है।

प्रयत्न जारी रखा जाय। निराश न हुआ जाय। प्रगति धीमे क्रम से होती हो तो भी धैर्य रखा जाय। सतत् प्रयास निष्फल नहीं जाते। वे समयानुसार फलित होते और अपना लक्ष्य पूरा करके रहते हैं।

परिवार को सम्पन्न ही नहीं सुसंस्कृत भी बनायें

व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती कड़ी परिवार है। वह दोनों ही क्षेत्रों को पोषण प्रदान करती है। हृदय, ऊपरी भाग मस्तिष्क, मुख एवं चेहरे के साथ जुड़ी हुई इन्द्रियों को भी पोषण प्रदान करता है और नीचे के हिस्से में धड़ से जुड़े हुए अंग-अवयवों को भी। व्यावहारिक जीवन में परिवार को हृदय माना जाता है, जो अपने प्रत्येक सदस्य को परिष्कृत, परिपुष्ट बनाता है, साथ ही समाज को समुन्नत, सभ्य, समर्थ बनाने का कार्य भी करता है। इसे धड़ के हाथ-पैरों की सुरक्षा, सुव्यवस्था के समतुल्य समझा जा सकता है। इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी आश्चर्य है कि परिवार को समग्र रूप से समुन्नत बनाने में न्यूनतम ध्यान दिया जाता है।

घर के कमाऊ व्यक्ति गृहपति का स्थान ग्रहण करते हैं। इन्हें बरीयता इसी आधार पर मिली हुई है। उनका प्रधान पौरुष भी यही रहता है। इसलिए वे अर्थप्रधान बन जाते हैं। परिवार को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए वे आर्थिक साधनों से ही प्रयत्नरत रहते हैं। अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, मनोरंजन के उपकरणों का बाहुल्य, महँगी पढ़ाई का प्रबन्ध, ठाठ-बाट, शान-शौकत, खर्चीली शायियाँ आदि की योजनाएँ बनती और कार्यान्वित होती रहती हैं।

धन भी निर्वाह की एक सर्वविदित आवश्यकता है। पर वह उतनी बड़ी नहीं है, जिसके उन्माद में प्रगति की अन्यान्य आवश्यकताओं को पूरी तरह भुला दिया जाय। समग्र विकास ही वास्तविक विकास माना जाता है। यदि शरीर का एक अंग बहुत मोटा, बहुत फूला बन जाय, तो उपलब्धि नहीं वरन् बीमारी ही कहा जायगा। इसी प्रकार परिवार की अर्थव्यवस्था तो ठीक हो, किन्तु सदस्यों का स्वास्थ्य, स्वभाव, चिन्तन-चरित्र लड़खड़ाने लगे और वे दुष्प्रवृत्तियों, दुर्व्यसनों के चंगुल में फँसते जायें। तो समझना चाहिए कि संकटों के, विग्रहों के बादल घिरने में देर नहीं। ऐसी दशा में आर्थिक सम्पन्नता उन दुर्गुणों की वृद्धि में सहायक होगी। आग में तेल पड़ने की तरह वह भड़कने ही लगेगी। इससे तो वे गरीब नफे में रहते हैं, जो रोज कमाते और रोज खाते हैं। उनके पास न वक्त खाली रहता है और न फिजूलखर्ची की सुविधा। इस विवशता के कारण उन्हें अनेक अवांछनीयताओं से बचे रहने का

२.२२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

संयोग अनायास ही मिल जाता है। कुसंग में पड़ने के लिए उनके पास फालतू समय नहीं रहता। दुर्व्यसन खरीदने के लिए जेब में पैसा नहीं रहता। यह स्थिति सम्पन्न समुदाय में उपहासास्पद भले ही हो पर जीवन के स्वस्थ विकास का, कुमार्ग न अपना पाने का सुयोग-सौभाग्य तो मिलता ही रहता है।

परिवार के संचालक उत्तरदायी सदस्यों को दृष्टिकोण में विशालता और समग्रता रखनी चाहिए। उन्हें बारीकी से देखना चाहिए कि उनका श्रम, समय, कर्तव्य और उत्तरदायित्व परिजनों के लिए अर्थ साधन जुटाने में तो समाप्त नहीं हो रहा है। यदि ऐसा ही है, तो अपनी भूल माननी चाहिए और विचार करना चाहिए कि जीवन विकास के लिए जिन अन्य तथ्यों की आवश्यकता है, उनकी ओर ध्यान दिया जा रहा है कि नहीं? उनके सम्बन्ध में सतत प्रयत्नशील रहा जा रहा है कि नहीं?

निर्वाह साधनों की तरह स्वास्थ्य भी एक महती आवश्यकता है। उसे वास्तविक और आधारभूत सम्पदा माना जाना चाहिए। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस लक्ष्य की प्राप्ति बहुमूल्य स्वादिष्ट व्यंजनों या पौष्टिक दवाओं के सहारे नहीं हो सकती। इस हेतु प्रकृति का अनुसरण करना पड़ेगा। इन्द्रिय संयम बरतना पड़ेगा। आहार में ही नहीं विहार में भी समग्र संयम का समावेश करना पड़ेगा। अधिकांश लोग आवश्यकता से अधिक मात्रा में अभक्ष्य पदार्थों का समय-कुसमय चर्वण करते रहते हैं। यह भूल तो देखने में तनिक-सी प्रतीत होती है, पर वास्तव में दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु का वही मूलभूत कारण है। रसोईघर में क्या बने, किस प्रकार बने और उसे कौन कितनी मात्रा में, किस प्रकार खाये इसकी सुव्यवस्था बना लेना घर को एक ऐसा सुरक्षित किला बना लेना है, आहार, श्रम और दिनचर्या में सुव्यवस्था का नियमन एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका ठीक तरह परिपालन करते रहने पर स्वस्थ रहने की गारण्टी मिल जाती है। स्वास्थ्य संरक्षण के बहाने उन नियमों-अनुशासनों के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, जो न केवल स्थिति को, दिनचर्या को, स्वस्थता को सँभालता है, वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति का पथ प्रशस्त करता है।

अभिभावक उचित-अनुचित तरीकों से अपनी, परिवार की सम्पन्नता बढ़ाने में जुटे रहते हैं। इसी में वे अपना गौरव मानते हैं और वर्तमान तथा भविष्य को सुख-शान्ति से भरा-पूरा होने की कल्पना करते रहते हैं। पर परिणामतः होता इससे ठीक विपरीत ही है। कारण कि जिस वस्तु का समुदाय बन जाता है वह चाहे कितनी ही मूल्यवान होने पर भी विपरीत परिणाम ही उत्पन्न करती है। सम्पदा भी। उसके अनावश्यक मात्रा में होने पर अपव्यय सृजता है। उसके बदले व्यसन और दुर्गुणों का पिटारा पल्ले पड़ता है। जिस कमाई को अपने निज के कठोर परिश्रम से अर्जित नहीं किया गया है, उसका कोई मूल्यांकन नहीं कर सकता और न उसके सुदपयोग द्वारा

कारगर लाभ उठाने का सुयोग हस्तगत होता है। सम्पदा के बदले खरीदे गये दुर्गुण जीवन के साथ-जोंक की तरह चिपक जाते हैं और खून पीते रहते हैं। उनके रहते न किसी की सभ्य समाज में गणना होती है, न प्रामाणिकता और विश्वसनीयता हाथ लगती है। इस अभाव में किसी का सच्चा सहयोग एवं सद्भाव भी उसके हाथ नहीं लग पाता। प्रगति के अवसर सामने तो आते हैं पर उन्हें उत्साहपूर्वक अपनाये न जाने पर वापस लौट जाते हैं। सम्पन्नता विलासिता सिखाती है, आलसी, प्रमादी और अहंकारी बनाती है। इस यथार्थता को न समझ पाने वाले ही यह सोचते रहते हैं कि धन-वैभव ही सब कुछ है। उसकी बड़ी मात्रा हाथ लगने पर उसके बदले सुख-सुविधा के प्रचुर साधन कमाये जा सकते हैं। मग्नता अपनी जगह बनी रहने पर भी वह फलित नहीं होती। अनुभव की कसौटी पर वह छोटे सिक्के की तरह निरर्थक सिद्ध होती है।

होना यह चाहिए कि परिवार को सुसम्पन्न बनाने के लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उसकी अपेक्षा उसे सुसंस्कृत, सद्गुणी बनाने का प्रयत्न किया जाय, क्योंकि यही सम्पदा है, जो जीवन भर साथ देती है। कठिनाइयों का बोझ उतारती और प्रगति का पथ प्रशस्त करती है। सद्गुणी अपनों के बीच ही नहीं परायों के बीच भी सम्मान और सहयोग प्राप्त करता है। उसके कारण व्यक्तित्व का वजन बढ़ता है। किसी भी क्षेत्र में उसका बढ़ा-चढ़ा मूल्यांकन होता है। यही वह आधार है, जिसके कारण जनसाधारण का स्नेह, सहयोग और सद्भाव पाया जाता है। जिसके पास यह उच्चस्तरीय पूँजी है उसे निर्वाह के स्वल्प साधन रहते हुए भी आत्मसंतोष एवं लोक सम्मान की कमी नहीं रहती। जो इतना अर्जित कर सका उसे सामान्य सुविधाओं के रहते भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि वह दरिद्र है। दूसरे सुसम्पन्नों की तुलना में उन्हें कम प्रसन्नता मिल रही है।

परिवार को सुसम्पन्न बनाने के व्यापक प्रचलन में हेर-फेर होना चाहिए। सोंचा जाना चाहिए कि इस ललक को अतिशय मात्रा में पालने का दुष्परिणाम ही सामने आकर रहेगा। अस्तु, हितैषी होने का दावा करते हुए भी वस्तुतः परिजनों के अनहित का संरजाम नहीं जुटाना चाहिए। जितना निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक है उतना ही कमाया जाय। ताकि किसी को पूर्वजों की कमाई पर गुलछरें उड़ाने, बैठे-ठाले दिन काटने की ललक न उठे। परिवार के हर सदस्य को यह सोचने देना चाहिए कि उसे अपने पैरों पर खड़ा होना है, स्वावलम्बी बनना है। सही बात भी यही है। संसार के हर प्रगतिशील को सद्गुणी की पूँजी ही आरम्भ से अन्त तक कास देती रही है। उसी के सहारे अपने को समर्थ, सुयोग्य और प्रामाणिक, सम्मानित बनने का अवसर मिलता रहा है। यही है वह अवलम्बन जिसने मनुष्य को आगे बढ़ाया, ऊँचा उठाया है। इस सम्पदा की महत्ता से परिवार का

ध्यान होता है तो उन्हें भी भ्रमजाल में फँसा देने के बराबर है। वैभव का अतिशय महत्व समझने-समझाने से किसी का भी हित साधन नहीं होता। दूरदर्शिता की तनिक भी कमी रही तो उसका सदुपयोग नहीं बन पड़ता। ऐसी दशा में जिन अवलम्बन को सब कुछ समझा या समझाया गया था वह धोखे की टट्टी भर साबित होता है। वैभव की सनक में आमतौर से लोग व्यक्तित्व में उत्कृष्टता का समावेश करने की आवश्यकता को समझ नहीं पाते और वैभव के साथ-साथ दुर्गुणों का जखीरा जमा करते जाते हैं।

विलासिता मनुष्य को स्वप्नदर्शी बनाती है। वह वर्तमान की तरह भविष्य को भी सदा सुख-सुविधाओं से भरा-पूरा रहने की आशा करता रहता है। जबकि सही बात यह है कि प्रतिकूलता की हवा बहने लगने पर वह ताश का बना काल्पनिक महल देखते-देखते धराशायी हो जाता है। तब तक समय बिकल चुका होता है और नये सिरे से सद्गुणों की सम्पदा अर्जित कर सकना कठिन हो जाता है।

शिल्प, संगीत, साहित्य, कला-कौशल अर्जित करने के लिए जिस प्रकार दीर्घकालीन और अनवरत अभ्यास करना पड़ता है। उसी प्रकार सद्गुणों को स्वभाव का अंग बनाने के लिए, उन्हें दैनिक जीवन में भरपूर स्थान देने के लिए प्रयत्नरत रहना पड़ता है। आदतें देर में पकती हैं। वे इथेली पर सरसों जमाने की तरह न तो तुरंत-फुर्त उपलब्ध होते हैं और न जमी हुई आदतों से पीछा छुड़ाना जल्दी से सम्भव हो पाता है। उन्हें योजनाबद्ध रूप से अपनापन और क्रमबद्ध रूप से व्यवहार में उतारना पड़ता है। परिवार के वरिष्ठों का ध्यान इसी केन्द्र पर केन्द्रित रहना चाहिए और उन्हें अपने परिजनों को सुसंस्कारी बनाने के लिए परिपूर्ण सतर्कता के साथ अनवरत प्रयत्न करना चाहिए। इस कार्य में अपना समय और परिश्रम लगाने में कुपणता नहीं बरतनी चाहिए।

पारिवारिक वातावरण उत्कृष्ट और प्रगतिशील बने

परिवार एक ऐसी संस्था है, जहाँ से व्यक्तित्व निर्माण की अति आवश्यक शिक्षा प्रारम्भ होती है। पारिवारिकता के वातावरण में ही व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वाले उत्कृष्ट विचार-संस्कार उपलब्ध हो सकते हैं, क्योंकि यह कार्य उसी वातावरण में सम्पन्न हो सकता है जिसमें मनुष्य शिक्षासक्त होता है। परिवार का वातावरण ही वह माध्यम है जिससे उसमें पलने वाले सभी छोटे-बड़े प्रभावित होते और बनते चलते हैं। शिक्षण बाहरी लोग भी दे सकते हैं पर संस्कार घनिष्ठों द्वारा ही मिलता है। छोटी आयु में यह प्रभाव अत्यधिक मात्रा में ग्रहण किया जाता है किन्तु आयु बढ़ने के बाद भी पारिवारिक वातावरण की प्रतिक्रिया निरन्तर होती है और सुख-दुःख की, उत्थान

पतन की मनःस्थिति एवं परिस्थिति बनाने में असाधारण भूमिका सम्पन्न करती है।

परिवार का, पारिवारिक वातावरण का प्रभाव व्यक्तित्व को उठाने गिराने में जितना पड़ता है उतने अन्य समस्त साधनों एवं माध्यमों के संयुक्त साधनों का भी नहीं पड़ता। सुसंस्कृत परिजनों के बीच मनुष्य रुग्ण और दरिद्र रहकर भी जीवनयापन कर सकता है। किन्तु गृहकलह के बीच सम्पन्नता भी नीरस और कई बार तो असह्य भी बन जाती है। सर्वविदित है कि हत्याओं और आत्महत्याओं में अधिकांश का कारण पारिवारिक विद्रूपता होती है। विधियों और सनकियों की मानसिक दुर्दशा के कारण भी प्रायः पारिवारिक असन्तोष ही रहते हैं। रुग्णता में आहार-विहार को दोष दिया जाता है कि यह विकृतियाँ, विसंगतियाँ प्रायः पारिवारिक ढर्रे में घुली रहती हैं और उस के सदस्यों पर अनायास ही लदती रहती हैं। घर की रसोई व्यवस्था में यदि दूरदर्शिता का और विनोद पद्धति का शालीनता का तथा कार्य निर्धारण में सुव्यवस्था का समावेश हो तो उसमें रहने वालों को आहार-विहार के व्यतिक्रम का कदाचित् ही दोषी बनना पड़े।

सामाजिक कुरीतियाँ लगती तो ऐसी हैं मानो वे बाहर से आ टपकी हैं और उन्हें विवशतापूर्वक वहन करना पड़ रहा है। पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं। घर परिवार के लोग ही कुछ मूढ़मान्यताओं से जकड़े होते हैं और दुराग्रहपूर्वक उन रूढ़ियों को छाती से चिपकाये रहते हैं, जिन्हें विज्ञ समाज में उपहास माना जाता है। कहने को तो हर बात में समाज का दबाव कहकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की जा सकती है। किन्तु सच्चाई यह है कि समाज के किसी सभ्य सदस्य को घरेलू मामलों में दखल देने का न तो समय है और न उत्साह। कोई चाहे इस प्रथा को माने या न माने, बाहरी व्यक्तियों को उसमें कोई खास दिलचस्पी नहीं हो सकती। उथली चर्चा तो सड़क पर होने वाले बन्दर के तमाशे की भी होती रहती है। कुप्रथाओं को अपनाने या छोड़ने के लिए हर परिवार पूर्णतया स्वतन्त्र है। दुराग्रही अपनी ही मूढ़मान्यताओं को सामाजिक कुप्रथा कहते हैं और उन्हें करते हुए परम्पराओं को दोष देते रहते हैं यह आत्मप्रवचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। घर का वातावरण दूरदर्शिता अपनाने और विवेक का आश्रय लेने का हो तो आज के विसंगठित समाज में इतनी सामर्थ्य है ही नहीं जो किसी को इस या उस प्रकार का प्रचलन अपनाने के लिए विवश कर सके।

अनैतिकताओं के लिए मनुष्य की निजी लिप्साएँ और कुत्साएँ भी बहुत हद तक जिम्मेदार होती हैं और प्रचलित प्रवाहों का भी असर पड़ता है। किन्तु यदि परिजन उनका समर्थन न करें अहयोग एवं विरोध का रुख रखें तो निश्चय ही वह आवेश हलका पड़ता जायगा। एक महिला यदि अपने पति की अनुपयुक्त कमाई से खरीदे बहुमूल्य जेवर, कपड़े पहनने से इन्कार कर दे, मिष्ठान्न पकवान न खाये

२.२४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

और अपने परिश्रम के बदले रूखा-सूखा खाये और फटा-टूटा पहनकर काम चलाने लगे तो इतने भर से अनीति की कमाई और घर में प्रवेश बहुत हद तक रुक सकता है। छोटे बच्चे यदि ऐसी दशा में जेब खर्च लेना बन्द कर दें और मेहनत मजदूरी करके न्याय अन्न खाने की आकांक्षा व्यक्त करें तो उपार्जनकर्त्ता को अपनी रीति-नीति के सम्बन्ध में परिवर्तन करने के लिए अपने आप विवश होना पड़ सकता है।

अनगढ़, अशिष्ट, आलसी, दुर्व्यसनी, भीरु, दुराग्रही, दुर्गुणी प्रकृति के मनुष्य ही हर क्षेत्र में असफल रहते हैं। अपंग, असमर्थ रहते हुए भी सदगुणी सम्मान पाते और स्नेहभाजन बनकर रहते हैं। वफादारी, स्वामिभक्ति जैसे सदगुणों से मन मोह लेने वाले कुत्ते तक प्राणप्रिय हो कर रहते हैं फिर कोई कारण नहीं कि मन्दबुद्धि, दुर्बलकाय या कुरूपता जैसे कारणों से मनुष्य को उपेक्षित, तिरस्कृत एवं पिछड़ी हेय स्थिति में समय गुजारना पड़े। कुसंस्कारिता ही मनुष्य का सबसे बड़ा अभिशाप है जिसके कारण पग-पग पर ठोकर खानी और हर दिशा में निराशा, असफलता देखनी पड़ती है। यह अभिशाप विशुद्ध रूप से पारिवारिक अनुदान है। अनगढ़ व्यक्तियों के कुकरमुत्ते कुसंस्कारी परिवारों के कूड़े-कचरे में ही पैदा होते देखे गये हैं। अपवाद तो हर क्षेत्र में जब तब उत्पन्न होते रहते हैं।

अनीति, दुष्टता और कुमार्गगामिता की प्रवृत्तियाँ असंस्कृत परिवार में ही उत्पन्न होती और प्रोत्साहन पाती हैं। यदि परिवार के वातावरण को सुधारा और परिष्कृत किया जा सके तो उसमें एक-से-एक श्रेष्ठ नर रत्न उत्पन्न हो सकते हैं। सुसंस्कृत व्यक्तित्व ऐसे ही परिवारों में उत्पन्न होते हैं, जहाँ का वातावरण सुसंस्कारिता से भरा हुआ हो। कोई एक अपवाद भले ही निकल आए। परन्तु अपवादों को नियम मानकर नहीं चला जा सकता। सामान्यतया होता यही है कि सुसंस्कृत परिवारों में ही सुसंस्कारी व्यक्तित्व जन्मते हैं, उसी प्रकार असंस्कृत या कुसंस्कारी वातावरण जहाँ व्याप्त हो, उन परिवारों में उसी स्तर के व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। इसलिए परिवारों में यदि उत्कृष्टता का वातावरण बनाया जा सके, ऐसी परम्पराएँ डाली जाएँ जिनमें श्रेष्ठ आचरण की प्रेरणा मिले तो समाज का अभिनव कायाकल्प होते देर न लगेगी।

परिवार में स्वर्गीय वातावरण कैसे बने ?

परिवार एक ऐसी संस्था है जिसके सदस्यों को सब प्रकार की सुरक्षा और प्रगति के निमित्त भरपूर सहायता मिलती है। इसके सूत्र संचालकों को यह अनुभव हस्तगत होता है कि किसी संगठन का सुसंचालन किस प्रकार किया जाय और विभिन्न स्तर वालों के बीच तालमेल किस प्रकार बनाकर रखा जाय ?

समाज और व्यक्ति के बीच की एक कड़ी है-परिवार। समाज क्या है ? अनेक परिवारों का संगठन। उसे व्यक्तियों का उपयुक्त स्तर का संगठन भी कहा जा सकता है। व्यक्ति और समाज जिस केन्द्रबिन्दु पर एकत्रित होते हैं उसे परिवार कहा जा सकता है। यदि इस संगठन की सुव्यवस्था चल पड़े तो उसे नर-रत्नों की खदान भी कह सकते हैं।

परिवार अनायास ही बन जाता है। माता-पिता, भाई-बहिन, अंश-वंश के लोग तो उसमें होते ही हैं। सन्तान के अतिरिक्त पिता के सगे सम्बन्धियों का समुदाय भी परम्परा एवं स्नेह-सहकार के आधार पर उसी के अन्तर्गत निर्वाह करता है। इस प्रकार चाचा, ताऊ, चाची, ताई, भतीजी आदि का एक अच्छा खासा समूह एक साथ रहता और मिल-जुलकर निर्वाह करता है। फलतः संयुक्त परिवार बन जाता है।

इसमें स्नेह सहयोग तो प्रधान हैं ही। भारतीय जनता के कृषि प्रधान होने के कारण भी इसकी उपयोगिता है। वह कार्य ऐसा है जिसके साथ अनेक छोटे-बड़े बिखरे हुए कार्य जुड़े रहते हैं। उन्हें पूरा करने के लिए कितनों का ही सहयोग चाहिए। वयस्क सदस्य मिल-जुलकर कृषि कार्य करते हैं। उन्हें मिलता तो भोजन-वस्त्र ही है पर काम एक वेतनभोगी श्रमिक से कहीं अधिक करते हैं। फलतः सब का सामूहिक श्रम एकत्रित होकर पारिवारिक वैभव या सम्पदा बन जाता है। जिस पर सभी का अधिकार होता है सभी गौरवान्वित होते और उसकी सुविधा से लाभ उठाते हैं। साथ रहने से एक घर, एक चूल्हा, एक बूहारी, एक दीपक आदि से काम चल जाता है। खर्च की बचत होती है। एक दूसरे का सहयोग करते, हाथ बँटाते और आड़े समय में काम आते हैं। ऐसी ही और अनेक सुविधाएँ, संयुक्त परिवार में मिलती हैं। जिनका सामूहिक सहयोग से चलने वाला गृहउद्योग है वे भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत अधिक सुविधा अनुभव करते हैं। जुलाहे का काम ऐसा है जिसमें कई तरह के काम गुंथे होते हैं, उनमें महिलाएँ और बच्चे भी कुछ न कुछ सहायता करते हैं। बालकों को परम्परागत अनुभव का लाभ मिलता है और वे आरम्भ से ही उसके अभ्यस्त होने के कारण बड़े होने पर नया व्यवसाय ढूँढ़ने के लिए मारे-मारे नहीं फिरते। भारतीय समाज का गठन ही ऐसा है जिसमें संयुक्त परिवार हर दृष्टि से सुविधाजनक रहते हैं। इसके प्रत्यक्ष लाभ भी हैं और परोक्ष भी। दैनिक कार्य-विधि आसानी से निपट जाती है और किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी तथा बच्चों को अनाथ की तरह नहीं भटकना पड़ता। संयुक्त परिवार के सहयोग से उनकी नाव भी पार लग जाती है।

पाश्चात्य देशों की बात अलग है। उनमें पृथक् प्रकार की परम्परा अपनाई है। वयस्क होते ही बच्चे अपना स्वतंत्र घर बसा लेते हैं। अलग से आजीविका कमाने और रहने लगते हैं। इससे पति-पत्नी अपनी कमाई पर गुलछरे

उड़कर आरम्भ में तो बहुत प्रसन्न रहते हैं पर यह प्रसन्नता अधिक दिन नहीं टिकती। प्रसव होने पर जननी एक प्रकार से असहाय हो जाती है। उसे अपना शरीर और बच्चा सँभालना कठिन पड़ता है। फिर घर के अन्य काम, रसोई, सफाई व्यवस्था आदि कौन करे? वे सब पति को दफ्तर जाने से पहले या लौटने के बाद करने पड़ते हैं। बच्चे की हारी-बीमारी में उन्हीं को रात-रात भर जागना पड़ता है। स्वयं बीमार हो जायें तो तीमारदारी के लिए किसी दूसरे की सहायता की आशा नहीं की जा सकती। बुढ़ापा तो और भी कष्टमय होता है। वह आयु ऐसी होती है जिसमें शरीर अपनी पूरी व्यवस्था स्वयं नहीं सँभाल पाता, दूसरों की सहायता अभीष्ट होती है। घर का सुनापना भी खलता है। बुढ़े बुढ़िया जब तक दो हैं तब तक एक-दूसरे की कुछ देखभाल करते रहते हैं। एक के मर जाने पर सर्वथा एकाकी, असहाय रह जाता है। कमाऊ बच्चे तो पहले ही अपना घर बसा चुके होते हैं। वे अपने छोटे बच्चों को सँभाल लें सो बहुत। वयोवृद्ध माता-पिता न उन्हें सुहाते हैं और न किसी प्रकार की सहायता ही करते हैं। वे सम्पन्न देश हैं इसलिए अनाथ बुढ़ों और बालकों की साज सँभाल किसी प्रकार किसी हद तक हो जाती है। यदि वहाँ भारत जैसी निर्धनता और बेरोजगारी रही होती तो एक कमाए सब खायें वाली उक्ति कैसे चरितार्थ होती?

भारत जैसे देशों की स्थिति को देखते हुए संयुक्त परिवार प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि उसमें मनमानी उच्छृंखलता बरतने की, दूसरों की परवाह न करने की छूट नहीं है, तो भी सब मिलाकर सीमित स्वतंत्रता और अनुशासनबद्धता का बन्धन रहते हुए भी लाभ अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। आर्थिक दृष्टि से भी और सहकार की दृष्टि से भी। यह लाभ कम महत्व के नहीं हैं। यदि इनसे लाभान्वित होना है तो कुछ अनुशासन तो आरम्भ से ही निभाना पड़ता है, जो आदत में सम्मिलित हो जाने पर जीवन भर उपयोगी सिद्ध होता है।

मानवी प्रगति के आरम्भिक दिनों में ज्ञान और स्वभाव को उपयोगी बनाने की दृष्टि से अध्यापक और अभिभावक दोनों की ही समान आवश्यकता पड़ती है। अध्यापक प्रशिक्षण के सहारे ज्ञानवृद्धि करते हैं। खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि की सुविधा भी बनाते हैं, पर बच्चों का स्वभाव बनाना प्रधानतया पारिवारिक वातावरण का ही काम है। बच्चे स्कूल में तो कुछ घंटे ही रहते हैं। शेष सारा समय तो घर या पड़ोस में ही बीतता है। यही वह उपयुक्त समय है जिसमें गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्तित्व को विकसित परिष्कृत करने के बीजांकुर बोये जाते हैं। जहाँ पारिवारिक व्यवस्था नहीं होती माँ-बाप अकेले ही रहते हैं। सो भी दिन भर रोटी कमाने के लिए निकल जाते हैं। उनके छोटे बच्चों का समय किराये के बच्चेछाने में कट तो जाता है पर प्यार किराये पर नहीं लिखा जाता और न आत्मीयता के दबाव बिना वह सीखा

सिखाया जा सकता है। जिसे व्यक्तित्व या स्वभाव की विशिष्टता कहते हैं। भारतवासी उस दृष्टि से भाग्यवान हैं कि उनमें से अधिकांश को संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत रहना पड़ता है। बँधी बुहारी की तरह वे एक होकर रहते हैं। सभी जानते हैं कि तिनकों के सम्मिश्रण से मजबूत रस्सा बटा जाता है और कच्चे धागे मिलकर उपयोगी कपड़ा बुनते हैं।

संयुक्त व्यवस्था के जहाँ अनेक लाभ हैं वहाँ कुछ दायित्व भी हैं। गृह संचालकों का, प्रतिभाशाली सदस्यों का काम है कि वे दूरदर्शिता अपनायें और घर का वातावरण ऐसा बनायें, जिनमें छोटे-बड़े सभी को सद्गुणों के अभ्यास का अवसर मिले और गुण गरिमा के आधार पर सभी समुन्नत बनें। इस दृष्टि से पंचशीलों का अत्यधिक महत्व है।

श्रमशीलता, मितव्ययिता, सुव्यवस्था, शिष्टता, सहकारिता की पाँच विशिष्टतायें ऐसी हैं जो परिवार में रहकर ही ठीक प्रकार अभ्यास में उतारी जा सकती हैं। इन सद्गुणों की व्याख्या-विवेचना तो कोई भी कर सकता है। इनके लाभ भी बता सकता है पर काम इतने भर से नहीं चलता। इन गुणों को छोटे-बड़े सभी के स्वभाव में उतारने की बात बन पड़े तो समझना चाहिए कि संयुक्त परिवार को वह श्रेय सौभाग्य मिला, जिसके लिए हर सदस्य को अनुशासन पालन का अंकुश स्वेच्छापूर्वक सहन और वहन करना पड़ता है।

उपरोक्त पंचशीलों को परिवार के सदस्यों को मात्र समझाया सुनाया ही न जाय वरन् ऐसा प्रयत्न किया जाय जिससे इन सब बातों का बार-बार उपयोग करने का अवसर मिले और वे उसके स्वभाव के अंग बनकर रहें।

इसके लिए यह तरीका सबसे अच्छा है कि घर के सब काम मिल-जुलकर किये जायें। एक पंक्ति में बैठकर खाया जाय। इससे परस्पर सद्भावना बढ़ती है और उस अनावश्यक संकोच की दीवार टूटती है, जिसके कारण एक दूसरे के साथ खुले मन से बात करने में संकुचाते हैं।

इन सद्गुणों के प्रशिक्षण का सीधा और सरल तरीका यह है कि घर के सब कामों को मिल-जुलकर करने की आदत डाली जाय। आमतौर से घर के दैनिक कामों में सफाई, रसोई, कपड़ों की साज-सँभाल, वस्तुओं को यथा स्थान लगाने जैसे काम प्रमुख होते हैं। इन्हें एकाध महिला के ऊपर न छोड़कर घर के सभी स्त्री-पुरुष करने में जुट पड़ें और हिल-मिलकर उन्हें निपटायें तो एक अत्यन्त मनोरंजक माहौल बन जाता है और सभी काम प्रायः एक दो घंटे में ही निपट जाते हैं। बाकी सारा समय गृह उद्योगों में, पढ़ने-लिखने में या समाज सेवा में, घर की महिलायें भी लगा सकती हैं। उन्हें चौबीस घंटे घिरे रहने, दिन रात पिसते रहने जैसी शिकायत नहीं करनी पड़ती।

घर की पूरी सफाई एक महिला करे, इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि घर का एक-एक भाग सब लोग बाँट लें

२.२६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

या मिलकर एक साथ पूरी सफाई कर डालने की व्यवस्था करें। रसोई में एक शाक काटे, एक चूल्हा जलाये, एक आटा गूँथे, एक रोटी बेले, दूसरी सेके। यदि गरम-गरम खाने की आदत हो तो एक-एक दो-दो खाते चलें और अपने-अपने जूटे बर्तन माँजकर यथास्थान रखते चलें।

घर के कपड़े एक साथ बड़े बर्तन में वाशिंग पाउडर डालकर उसमें भिगो दिये जायें। थोड़ी देर बाद उन्हें धोने का सिलसिला चलाया जाय। एक धोता जाय, दूसरा सुखाता जाय तो एक घण्टे में सारे घर के कपड़े साफ किये जा सकते हैं। सूखने पर लोहा करने की बात भी कुछ कठिन नहीं है। घर में कई इस्त्री हों तो उससे कई व्यक्ति लोहा करने में लग सकते हैं। इस प्रकार सबेरे का शाम का काम मिल-जुलकर करने से एक खेल मनोरंजन की तरह वह काम आसानी से निपट सकता है। किसी को भी भार अनुभव नहीं हो सकता।

जो खाता है उसे पकाना आना चाहिए। जो पकाता है उसे बर्तन साफ करना भी सीखना चाहिए। जो कपड़े मैले करता है उसे धोना क्यों नहीं आना चाहिए? कोई किसी का परावलम्बी क्यों रहे? स्वावलम्बन क्यों न अपनाया जाय? अपनी-अपनी वस्तु को साफ सुथरी और यथास्थान क्यों न रखें? हर व्यक्ति अपना अलग-अलग काम करे-पृथक्ता की नीति अपनाये, इसकी अपेक्षा यह क्या बुरा है कि सहकारिता की नीति अपनाई जाय और सब काम सब लोग मिलजुलकर करें। सहकारिता का सिद्धान्त इसी प्रकार अपनाया जा सकता है।

दो घरेलू उद्योग अनिवार्यतः हर घर में चलें एक शाक वाटिका, दूसरा टूट-फूट की मरम्मत। आँगनवाड़ी हर घर में लगनी चाहिए। जगह कम पड़ने पर छप्परवाड़ी, छतवाड़ी भी लगाई जा सकती है। मकान पक्का हो तो पुरानी टोकरी, पेटी, बक्से, नाँद, गमले आदि इस काम के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। मुफ्त की ताजी सब्जियाँ प्राप्त करते रहना एक अच्छा घरेलू उद्योग है। यह बारहों महीनों, मौसम के अनुरूप सब्जियाँ बोते रहकर सदा घर उगाई सब्जियों से काम चलाया जा सकता है। इससे उपार्जन पोषण की कला, रचनात्मक कला आती है और काफी पैसा बचता है। चटनी के लायक धनिया, पौदीना, मिर्च, अदरक जैसी वस्तुयें तो आसानी से लग सकती हैं। जगह हो तो एक दो नीबू के पेड़ भी लग सकते हैं। इस आधार पर चटनी के लायक सामग्री गमलों में लगाई जा सकती है।

दूसरा घरेलू उद्योग है टूट-फूट की मरम्मत। घर के स्टोव, लालटेन, बक्से, चारपाइयाँ आदि की मरम्मत घर पर ही हो सकती है। फटे जूते, चप्पलों की मरम्मत और पॉलिश हो सकती है। इसके लिए छोटे-मोटे औजार आसानी से खरीदे जा सकते हैं और थोड़ी अकल लड़ाकर या किसी जानकार को बुलाकर यह कार्य आसानी से सीखे जा सकते हैं। चूहों के बिल, छत की दरारें, टूटे फर्श आसानी से सुधारे जा सकते हैं। यहाँ तक कि हर तीन

महीने में पूरे घर की पुताई नीला थोथा डालकर हो सकती है। घर दमकता भी रहेगा और कीड़े-मकौड़े के नुकसान होने जैसा खतरा भी न रहेगा। इसी प्रकार घर की फर्नीचर, किवाड़, खिड़कियाँ भी घर पर ही रंगी, पोली जा सकती हैं। चारपाइयाँ अक्सर टूटती और पीली होती रहती हैं। उन्हें सुधारना और नये सिर से बुनना कुछ भी कठिन नहीं है। थोड़े से अभ्यास घर की आवश्यकता है। इस आधार पर पुरानी फेंककर नई खरीदने में जो पैसा लगता है उसकी बचत हो सकती है।

कपड़े सीने से लेकर धोने तक का काम आसानी से किया जा सकता है। धोबी आजकल तेजकाब डालकर परिश्रम बचाने लगे हैं। ऐसी धुलाई बाहर कराने पर कपड़ों की जिन्दगी आधी रह जाती है। यदि घर पर ही कपड़े सीना, रफू करना, बड़े कपड़ों में से छोटे विकालने जैसा कला-कौशल सीख लिया जाय तो उससे काफी बचाव हो सकती है। स्वेटर घर पर बुनने से मजबूत रहते हैं और बहुत दिन चलते हैं। ऊन भी असली लगाने से वे गरम भी पर्याप्त होते हैं। इन्हीं चीजों को बाजार में खरीदा जाना तो वे महँगी भी पड़ेंगी और क्वालिटी की दृष्टि से चर्चियाँ भी होंगी।

पुस्तकों की जिल्दें बनाकर यथास्थान सुसज्जित ढंग से रखी जायें। मेजपोशों, तकियों को धोते बदलते रहा पाय तो यह काम भी ऐसा है जो देखने से सुहावना, स्वच्छ एवं सुरक्षित लगते हैं। छोटी-मोटी वस्तुयें फेंक देने की अपेक्षा उनसे दूसरे काम लिए जा सकते हैं। कपड़े के खरबूजे के बीज छीलकर उन्हें ठंडाई के काम लाया जा सकता है। वे पीसने पर दूध का काम देते हैं।

बच्चे क्लास पास करने पर पुस्तकें सँभालकर रखें करें तो उन्हें पुरानी पुस्तकें खरीदने वालों के हाथों बेच या किसी जरूरतमन्द को मुफ्त में दिया जा सकता है। लापरवाही से उन्हें गन्दा कर देना या फाड़ देने की उच्छृंखलता बच्चों को भी नहीं करने देना चाहिए।

परस्पर संभाषण में कोई किसी का अधूरा या असम्मानसूचक नाम न लें। या तो रिश्ता बताते हुए-पिताजी, माताजी, बुआजी, दीदीजी आदि सम्बन्धसूचक नामों से संबोधन किया जाय, छोटों को पुकारना हो तो भी उनका नाम लेने के अतिरिक्त 'जी' शब्द और जोड़ा जाय। इसका यह प्रभाव होता है कि बच्चे भी वैसे ही अनुकरण करने लगते हैं। ऐसे संबोधन से घर वालों को या बाहर वालों को सुनने में बहुत प्रिय लगता है। चाहे छोटे ही बच्चे क्यों न हों पर उन्हें तुम या आप कहकर बुलाना चाहिए। नाम भी पूरा लेना चाहिए। आधा-अधूरा अपमानसूचक संबोधन के साथ बुलाने से उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचती है और हीनता के भाव जागते हैं। अक्सर छोटी आयु में लाड़-प्यार से अपना बड़खल या अधिकार जताने के लिए इस प्रकार संबोधन किए जाते हैं पर पीछे उन्हें पड़ोसी और स्कूली साथी भी अपना लेते हैं और वह परस्पर बड़ी आयु तक चलती रहती है। होना

यह चाहिए कि गुणपरक नाम रखे जायें ताकि बच्चा उसका अर्थ समझते हुए अपने को उसी प्रकृति का बनाने का प्रयास करे।

छोटे-छोटे कामों का दायित्व बच्चों को आरम्भ से ही सिखाना चाहिए। नियत स्थान पर, नियत समय पर मल-मूत्र का त्याग करना, अपने कपड़े, जूते, पुस्तकें आदि नियत स्थान पर रखना। सवें उठकर सबको नमस्कार करना आदि। इस प्रकार के अभ्यास से नियमितता की, अनुशासन की आदत पड़ती है। बाजार से हानिकारक वस्तुएँ खरीदकर खाने के लिए पैसे देने की अपेक्षा यह कहना अच्छा है कि बीच में भूख लगने पर घर की वस्तुएँ ही खाया करें। उन्हें थोड़ी मात्रा में स्कूल जाते समय साथ रख दी जा सकती हैं। उन्हें खेलने-कूदने का, प्रकृति का सान्निध्य का, घूमने का भी अवसर देना चाहिए। अनुशासन में इतना अधिक नहीं कस देना चाहिए कि वे भविष्य में मिलने-जुलने की प्रकृति ही गँवा दें और संकोच बन बैठे।

परिवार के सभी लोगों के बीच इतना खुलापन होना चाहिए कि अपनी या दूसरे साथी के मन की बात स्पष्ट कही जा सके। मन की बात मन में दबाये रहने से घंटन अनुभव होती है। कहते-सुनते रहने से पक्ष या विपक्ष स्तर का कोई न कोई समाधान निकलता है और संकोच-संकोच में जो गलत धारणाएँ बनती हैं, वे पनपने नहीं पातीं। खुले मन वाले परिवार एक दूसरे से अपनी इच्छा या दूसरों की गलती के सम्बन्ध में जो धारणायें बना लेते हैं उससे मनो में खाई बनती है और अवसर आने पर बुरी तरह फूटती है। यह बात मात्र बच्चों के सम्बन्ध में नहीं, बड़ों के बारे में भी है। ऐसी परम्परा पढ़नी ही नहीं देनी चाहिए। मिल-जुलकर घर का काम करने, बाजार से कोई वस्तु खरीदनी हो तो घर के अन्य समझदार लोगों को भी साथ ले जाना चाहिए। ताकि सस्ते मोल में घटिया या कम नाप-तोल की चालाकी से वे परिचित हो सकें। वस्तुएँ ठीक कीमत पर, ठीक स्तर की तोल-नाप में पूरी लेने का अनुभव उन्हें होता रहे। अविश्वास वातावरण में अदल-बदल कर विभिन्न स्थानों से वस्तुएँ खरीदनी चाहिए, ताकि बाजार के व्यापारियों के उतार-चढ़ावों का अनुभव होता रहे और जब न कटे।

घरेलू सत्संग का कोई समय निकालना आवश्यक है। रात का समय इसके लिए ठीक पड़ता है। समाचार पत्रों में छपी घटनाओं में से जो सीखने लायक हों उनकी टीका-टिप्पणी, आलोचना, समीक्षा करने का अवसर उन्हें देना चाहिए जो विचार व्यक्त कर सकने जितनी बुद्धि अर्जित कर सके हैं। इस अवसर पर गाँव, पड़ोस या समीपवर्ती क्षेत्रों में घटित हुई घटनाओं की समीक्षा भी की जा सकती है। एक तरीका प्रेरणाप्रद कथा-कहानियाँ कहने का भी है। रूढ़िवाद और अन्धविश्वास फैलाने वाले साहित्य का तो इस निमित्त चयन नहीं करना चाहिए। महापुरुषों के जीवन चरित्र, संस्मरण, भले बुरे

कार्यों के परिणाम भी साथ ही बताते चलने चाहिए। इस निमित्त प्रज्ञा पुराण की कथायें उद्देश्यपूर्ण हैं। उन्हें क्रमशः कहते और निष्कर्षों पर प्रकाश डालते हुए कहने-सुनने की व्यवस्था बनाई जाय तो व्यावहारिक ज्ञान के अतिरिक्त कहने-बोलने का अभ्यास भी बढ़ता है। बोलने की कला इस आधार पर सभी वयस्कों को सिखाई जा सकती है। अनावश्यक वाचालता के स्तर तक न पहुँचे तो वार्तालाप करने या वक्तृता देने की कला का जीवन में बहुत महत्व है। इसका अभ्यास रहने पर मनुष्य को चुप्पी साधने की दुर्बलता के कारण जो अन्याय सहने पड़ते हैं, उनके अवसर कम ही आते हैं उनके हल निकल आते हैं। ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि सौजन्य बना रहे। कटुता या तिरस्कार का भाव न आने पाये। वार्तालाप का आनन्द तभी है जब उसमें उत्तेजना न आने पाये, सन्तुलन बना रहे और आगे वार्ता की भी गुंजाइश बनी रहे। वार्ता होती रहे और सौजन्य बना रहे। गलतफहमियाँ दूर होती रहें। इसी में उसकी शोभा है। यह अभ्यास आरम्भ से ही डालना चाहिए।

कुसंग से घरवालों को बचाना घर के समझदारों का काम है। आवारा लड़के अपने साथ अनेकों दुर्गुण लादे फिरते हैं और जिसके भी सम्पर्क में आते हैं उसे फुसलाकर अपनी दुरिभसंधियों का शिकार बना लेते हैं। ऐसी ही बुरी आदतें कुछ स्त्रियों में भी होती हैं। वे झूठी, सहानुभूति दिखाती और घर में विग्रह खड़े करती हैं। घर के लोगों को उनकी कुचालों से समय रहते ही सावधान कर देना चाहिए, ताकि उनकी मैत्री केवल सज्जनता की प्रकृति वालों से ही हो। खेल के मैदान में, स्कूल में, सत्संगों, समारोहों में मिलने-जुलने की बात ठीक है। घरों पर आवागमन कम से कम ही रहे। इसका ध्यान रखा जाय।

समय का मूल्य समझने वाले, काम-काजी लोग यारबाजी बहुत नहीं बढ़ाते और गप्प लड़ाने के लिए न किसी के घर जाते हैं, न बुलाते हैं। इससे व्यर्थ की बकवास में, निन्दा, चुगली में रस आने लगता है। इधर की बात उधर पहुँचती है और विग्रह विरोध का सामना करना पड़ता है। अतिथि सत्कार का खर्च भी कई बार तो इतना बढ़ जाता है कि घर के लोगों को आवश्यक खर्च में भी उससे कटौती करनी पड़ती है। घनिष्टता में अपने यहाँ की कमजोरियाँ उजागर होती हैं और वे बाहर फैलती हैं। मित्र बनकर ही लोग उधार माँगते, सब्जबाग दिखाते और दुर्व्यसनों की आदत डालते हैं। आजकल के समय में जिसके जितने कम घनिष्ट मित्र हैं वह उतना ही सुखी है। कोई समय था जब अधिक लोगों से मित्रता होना अच्छी बात समझी जाती थी। अब स्थिति उलट गई है। नाकारा लोग मित्रता का जाल फैलाते और भोले लोगों को फँसाकर उनका अनर्थ करते रहते हैं।

घर में शिक्षा, साहित्य और संगीत का मनोरंजन क्रम बना रहे, इसका प्रयत्न करना चाहिए। घर में चुनी हुई उपयोगी पुस्तकों का पुस्तकालय रहे। इसके निमित्त कुछ

राशि नियमित रूप से निकालते रहनी चाहिए ताकि जीवन में उत्कृष्टता और व्यावहारिकता बढ़ाने वाले ज्ञान का एक भण्डार घर में जमा होता रहे। शिक्षित उन्हें पढ़ा करें और अशिक्षित उन्हें सुना करें। इसी प्रकार प्रेरणाप्रद गीतों का संगीत रूप में ज्ञान रहना चाहिए। छोटे-छोटे बाजों पर तालबद्धता का अभ्यास तो बहुत जल्दी ही हो जाता है। बड़ी आयु वाले छोटी आयु वालों को इस प्रकार पढ़ाया करें जिस प्रकार के लोग द्यूशन वाले मास्टर पढ़ाते हैं। हर बड़ी आयु वाले अपने से कम आयु वालों को पढ़ाया करें तो घर में शिक्षा अभिरुचि की परम्परा ही चल पड़ेगी और अशिक्षा का अभिशाप घर से निरन्तर दूर होता रहेगा। सेवा सहकारिता का, आत्मीयजनों के प्रति कर्तव्य भावना का परिचय भी इस उपाय से मिलता है। इसी प्रकार सांस्कृतिक पूजा कक्ष में सामूहिक भजन कीर्तन का चलन चलता रहे। इस आरती कृत्य को एक धर्म परम्परा के रूप में अपना लिया जाय तो धार्मिकता का वातावरण भी बनता है और संगीत का अभ्यास भी होता है। घर में संगीत के उपकरण भी रहें और किसी एक दो को यह दायित्व सौंपा जाय कि वे घर में संगीत का शौक छोटे बड़े रूप में सभी को लगाने का प्रयत्न करें। इससे सरसता उभरती है और भावुकता को प्रश्रय मिलता है। सुरुचि और कलाकारिता की अभिवृद्धि होती है।

नया गृहस्थ नये विवाह से बनता है। संयुक्त परिवार प्रायः तभी तक रहता है जब तक बच्चे कमाऊ नहीं हो जाते और बड़े-बूढ़ों की साज-सँभाल का संयुक्त दायित्व भी बना रहता है। बड़े बूढ़े नहीं चाहते कि उनका ऐसा उद्यान उन्हीं के सामने बिखर जाय। इसी प्रकार व्यवसाय का आर्थिक पक्ष भी इसी से सधता है। शर्त एक ही है कि स्त्रियाँ आपस में लड़ें-झगड़ें नहीं और घर के कामों में रस लेती एवं उत्साह दिखाती रहें। सद्भाव, सहयोग बनाये रहें। इसमें कमी पड़ने या विग्रह चल पड़ने की स्थिति में पृथक् रहना ही एकमात्र उपाय रह जाता है। बात बढ़ जाती है तो व्यवसाय भी अलग-अलग करने पड़ते हैं। युवाओं की महत्वाकांक्षाएँ प्रायः अपना स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने और अपनी कमाई का लाभ स्वयं ही होती है। देर सबेर में प्रकट और कार्यान्वित होकर भी रहती है।

ऐसी स्थिति आने से पूर्व ही बँटवारा कर लेना चाहिए। अच्छा हो कि घर के समझदार लोग इस व्यवस्था को अपने सामने ही बना दें ताकि पीछे मनोमालिन्य और विग्रह खड़ा न होने पाये। मोटे कानूनी हिसाब से सबको समान बँटवारे का प्रचलन है पर नैतिक तकाजा दूसरा है। जो नाबालिग है, जिन कन्याओं का विवाह होना है, जो स्त्रियाँ बिना कमाऊ हैं, उनकी व्यवस्था के लिए आवश्यक अंश पहले निकाल लिया जाय और जो कमाऊ हैं या जिनके पीछे जिम्मेदारियाँ नहीं हैं, उन्हें आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कम दिया जाय। जो सम्मिलित परिवार की कमाई से अधिक पढ़-लिखकर पहले ही कमाऊ हो चुके हैं उनका हिस्सा नाम

मात्र का रह जाता है, क्योंकि वे समय से पहले ही अपन शेर ले चुके। जिन्हें कृषि आदि से कम पढ़े होने के कारण जिन्दगी काटनी है। उनका आधार उनसे न छीना जाय। कानूनी बँटवारा गलत है। न्यायोचित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विशेषतया असमर्थ पक्ष के लिए विशेष सुविधाओं का ध्यान रखते हुए जो निर्णय किया जाता है वही न्यायोचित है।

विवाह को नये गृहस्थ का आधार मानकर चलना चाहिए। उन्हें आगे चलकर स्वतंत्र गृहस्थ बनना ही पड़ता है। इसलिए पति-पत्नी के बीच असाधारण घनिष्टता होनी चाहिए। दोनों में से प्रत्येक को अपने स्वार्थ गौण और साथी की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देना चाहिए। मनोमालिन्य, विग्रह, असहयोग इसी कारण उपजता है कि पुरुष प्रधान समाज की मध्यकालीन परम्परा का अनुगमन करते हुये पुरुष अपना विशेषाधिकार मानते हैं और पत्नी को बिना उचित-अनुचित का विचार किये आज्ञा पालने के लिए बाधित करते हैं। उसे जितना स्नेह, सम्मान और सहयोग मिलना चाहिए उतना नहीं देते उपेक्षा बरतते हैं। फलस्वरूप लोकलाज या बच्चों सम्बन्धी विवशता के कारण वे किसी तरह जिन्दगी के दिन तो गुज़ार लेती हैं पर दोनों के बीच वह सद्भाव नहीं बन पाता जो दाम्पत्य जीवन का मूलभूत आधार है।

रंग रूप में कमी अथवा झूहेज कम मिलने जैसी बातों को लेकर उपेक्षा, अपमान जैसी बात को तो जुबान पर आने ही नहीं देना चाहिए। आजीवन कृतज्ञ रहना चाहिए कि वह अपने माता-पिता का घर छोड़कर उनकी, उनके परिवार की सेवा करने आई और मात्र अन्न-वस्त्र लेकर प्रसन्न रह रही है। उसके श्रम-सहयोग का मूल्यांकन किया जाय तो भी वह उतना भारी बैठता है कि बदले में ससुराल के समस्त परिवार का विशेषतया पति को उसका कृतज्ञ होना चाहिए और उस कृतज्ञता की समय-समय पर चर्चा भी होती रहनी चाहिए।

बधू अपने पिता के घर से जिस स्थिति में आई थी उसकी तुलना में उसके स्वास्थ्य, शिक्षा, अनुभव एवं प्रसन्नता व सुविधा में अभिवृद्धि ही होती रहे, कमी न पड़े। इसका ध्यान उस समूचे परिवार को रखना आवश्यक है।

यह कल्पना मूर्खतापूर्ण है कि यौनाचार में अतिवाद बरतने से पुरुष का पौरुष्य प्रकट होता है या नारी को संतोष मिलता है। इस दिशा में अधिकाधिक खंयम बरता जाना चाहिए और बार्ता विनोद के आधार पर आत्मीयता बढ़ानी चाहिए। स्मरण रखने योग्य बात यह है कि यौनाचार में अतिवाद अपनाने से नर की अपेक्षा नारी के कोमल अंगों पर अधिक दबाव पड़ता है और जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रदर आदि कई बीमारियाँ आरम्भ से ही लग जाती हैं।

बच्चों की संख्या अधिक या जल्दी-जल्दी बढ़ने देना स्त्री के ऊपर प्रत्यक्ष अत्याचार है। इससे उसके स्वास्थ्य

का सर्वनाश होता है और सोने भर को पूरा समय न मिल पाने पर उसका कचूमर निकल जाता है। उठती जवानी में ही बुढ़ापा घेर लेता है। गर्भावस्था के नौ महीने अपच, अशक्तता, दबाव, तनाव से भरे रहते हैं। प्रसव कष्ट एक प्रकार से मृत्यु तुल्य ही होता है। अनेकों स्त्रियाँ तो उसी व्यथा में अपने प्राण गँवा बैठती हैं। बच्चे को दूध पिलाने में उन्हीं का रक्त सफेद दूध बनकर खर्च होता है। इसलिए विवाह के जितने अधिक समय पश्चात् बच्चों की बात सोची जाय उतना ही अच्छा है। कुछ दिन उसे दाम्पत्य जीवन की सरसता अनुभव करने का अवसर मिलना चाहिए। विवाह के उपरान्त जल्दी ही बच्चा पेट में आ जाने पर तो उनकी व्यथा बढ़ ही जाती है। विवाह की दाम्पत्य घनिष्टता का तो अवसर मिल ही नहीं पाता।

इस अत्याचार की, भार लादने की प्रत्यक्ष शिकायत वे भले ही न करें पर उनका अचेतन मन पति की इस मूर्खता पर खीजता ही रहता है और उदासी, उपेक्षा, खीज का सिलसिला चल पड़ता है। सच तो यह है कि इस बढ़ती आबादी के दिनों में जो बिना बच्चे उत्पन्न किये रह सकते हैं वे सच्चे अर्थों में देशभक्त और विचारशील हैं। इतना न बन पड़े तो भी एक या दो बच्चों के उपरान्त प्रजनन प्रक्रिया से छुट्टी पा लेनी चाहिए। इसमें स्त्री की अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति का अवसर मिलता है और बच्चों की समुचित देखभाल होने तथा उन्हें सुयोग्य बनाने का भी अवसर मिलता है।

अधिक बच्चे उत्पन्न करना इस जमाने में एक अनाचार है। इससे जननी का स्वास्थ्य चौपट होता है, पिता के ऊपर आर्थिक दबाव पड़ता है। परिवार के अन्य लोगों के मुँह का ग्रास छिनता है। समुचित देखभाल न हो पाने के कारण बच्चों का भविष्य बिगड़ता है और साथ ही समूचे देश की अर्थव्यवस्था बिगाड़ने का देशद्रोह जैसा पाप बढ़ता है।

बढ़ती जनसंख्या समूचे समाज के लिए एक अभिशाप है सरकार उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सुविधाएँ बढ़ाने के लिए भारी टैक्स लगाती है। फलतः गरीबी बढ़ती है। इतने पर भी जितना प्रबन्ध हो पाता है, उसकी तुलना में जनसंख्या आगे निकल जाती है। फलतः बढ़े-चढ़े प्रबन्ध करने पर भी पिछड़ापन बढ़ता ही जाता है। सुविधाओं की वृद्धि और आवश्यकताओं की पूर्ति हो ही नहीं पाती। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उस मूढ़मान्यता को भूल ही जाना चाहिए कि पुत्र होने पर वंश चलता है। पिण्डदान मिलता है, आदि-आदि। कोई समय रहा होगा जब जनसंख्या बहुत कम थी और जंगल अन्धाधुन्ध थे, तब सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं। कृषि कार्य के लिए घर के अधिक सदस्यों की आवश्यकता थी। पर अब तो स्थिति बिल्कुल उलटी हो गई है। इन दिनों किसी को भी बच्चे उत्पन्न होने की खुशी नहीं मनानी चाहिए कि कुछ लाभ या श्रेय मिला। वरन् गम्भीर होना चाहिए कि इसके वयस्क, विवाह, स्वावलम्बी होने का इतना खर्च सिर पर

लद गया कि जिसे जुटाने के लिए कितनी चिन्ताएँ करनी पड़ेंगी और उसके लिए कितने भले-बुरे उपाय अपनाने पड़ेंगे। यदि बच्चों का दबाव न हो तो अपनी कमाई को परमार्थ कार्यों में लगाकर कोई भी व्यक्ति प्रचुर मात्रा में आत्म-संतोष और परमार्थ होने का यश अर्जित कर सकता है।

जिन लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है अतिवाद अपनाकर छोटी ही आयु में कितने ही बच्चे पैदा कर लेते हैं। ऐसे व्यक्ति यदि भारी जवानी में मर जायें तो उनके स्त्री, बच्चों की कितनी दुर्दशा होती है इसे भुक्त-भोगी ही जानते हैं। उन सबका बिलखना उस मृतक को जलते नरक में भूनता होगा जिसने व्यवस्था किये बिना इतने बच्चे पैदा कर डाले। अच्छा हो हर बच्चे के पीछे दस-दस हजार का बीमा कराया जाता रहे, उससे कम से कम प्रगति न सही उनकी उदर पूर्ति तो होती रहेगी। इतनी कठिनाई पर विचार न करते हुए जो प्रजनन कर्म में लगे रहते हैं उन्हें कुत्ते जैसे पशुओं की उपमा दी जानी चाहिए जो हर साल कई-कई बच्चे जनते हैं और वे सभी भूखे प्यासे मरते रहते हैं।

परिवार की सुव्यवस्था बनाकर परिवार के सदस्यों को स्वावलम्बी और सुसंस्कारी बनाना चाहिए। उत्तराधिकार में बड़ी-सी दौलत छोड़कर उन्हें आलसी, प्रमादी, दुर्व्यसनी और परस्पर कलह करने वाली नहीं बनाना चाहिए। उठती उम्र में ही यदि एक दो बच्चे पैदा करके संतोष कर लिया जाय तो पचास-पचपन वर्ष की आयु आने से पूर्व ही बच्चों को स्वावलम्बी बनाकर निश्चिन्त हुआ जा सकता है। ढलती आयु में भारतीय संस्कृति के अनुरूप वानप्रस्थ लेकर जीवन के उत्तरार्द्ध को परमार्थ प्रयोजन के लिए उत्सर्ग किया जा सकता है। लोक और परलोक को सुख-शान्तिमय बनाने का यही तरीका है।

हिन्दू धर्म वर्णाश्रम धर्म है। इसमें वानप्रस्थ को मेरुदण्ड कहा गया है। सुयोग्य लोकसेवी समाज को अवैतनिक रूप से मिलते रहें तो उसका सर्वतोमुखी प्रगतिशील होना स्वाभाविक है। पूर्ण समाज के गुजारे का प्रबन्ध न हो पाये तो किसी संस्था के अनुशासन में रहकर लोक-कल्याण के कामों में निरत रहा जा सकता है। इस प्रकार ढलती आयु का श्रेष्ठतम सदुपयोग हो सकता है और परलोक सुधर सकता है। जब तक अपने देश में वानप्रस्थ परम्परा जीवित रही तब तक यह देश सेवा-साधना में निरत लोगों के अनुग्रह से तैतीस कोटि नागरिकों को तैतीस कोटि देवताओं के समतुल्य बनाये रहा और यह भारत भूमि स्वर्गादिपि गरीयसी बनी रही। अब तो लोकसेवा की बात मूर्खता मानी जाती है। हर व्यक्ति वेतन चाहता है और उस वेतन के साथ जुड़े हुए उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं करता इसलिए सरकारी कर्मचारियों की भारी संख्या होते हुए भी आध्यात्मिक तो क्या भौतिक प्रगति का वैसा तारतम्य नहीं बैठता जैसा कि बैठना चाहिए।

२.३० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

कर्तव्यनिष्ठा की बात हमें जीवन के आरम्भिक दिनों से ही सीखनी, सिखानी और अनुभव में उतारनी चाहिए ताकि बड़े होने पर वे विशेषताएँ स्वभाव में सम्मिलित हो जायें। स्मरण रहे कि किन्हीं तथ्यों को स्वभाव में सम्मिलित कर लेना या करा देना बहुत बड़ी बात है। वह छोटी आयु में जितनी अच्छी तरह हो सकता है उतनी बड़ी उम्र पर नहीं हो सकता। गीली लकड़ी मोड़ी जा सकती है। गीली मिट्टी से बर्तन बन सकते हैं पर उनके सूख जाने पर तो टूटने की बात हाथ रह जाती है। इस दृष्टि से १२ से १८ वर्ष तक की आयु ऐसी है जिसे जीवन निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी कहा जा सकता है। उस अवधि में विचारशीलता उगे तो समूचे जीवन को सही तरीके से व्यतीत करने की योजनाएँ बन सकती हैं और निभ सकती हैं। तब सामयिक कठिनाइयों का सामना भी कम ही करना पड़ता है। अन्यथा जिन्होंने योजनाबद्ध जीवन नहीं जिया है उनके लिए यह अति कठिन है कि अप्रत्याशित घटनाओं का सामना और समस्याओं का समाधान करते रहें।

बड़े-बूढ़ों का सम्मान करना, उनकी आवश्यकताओं, समस्याओं का प्रबन्ध करना, समय-समय पर सम्मान प्रदर्शित करना दो कारणों से आवश्यक है। एक तो यह कि उनके द्वारा पिछले दिनों की गई सेवा सहायता का ऋण उतारना है। दूसरे यह कि नई पीढ़ी को दृश्यमान प्रशिक्षण मिलता है कि बड़ों के साथ कैसा व्यवहार करना है। आज का जवान कल बूढ़ा बनने वाला है। तब उसे अपनों से छोटों की सहायता आवश्यक होगी। वह समय पर उपलब्ध होती रहे। इसके लिए छोटों के सामने वे आदर्श उपस्थित करने चाहिए, जिसे देखकर वह यह सीखे कि बड़ों के साथ किस प्रकार का बर्ताव एवं शिष्टाचार का निर्वाह करना चाहिए। जो अपने बड़ों की उपेक्षा करते हैं उन्हें अपना समय आने पर उसी प्रकार का तिरस्कार सहना पड़ता है।

समूचे परिवार से उपयुक्त विचार-विनिमय के लिए समय निकालना चाहिए। उन्हें भूतकाल की परिस्थितियों और भावी योजनाओं से अवगत करना चाहिए ताकि वे लोग घर की तरह स्थिति से परिचित रहें और अपनी महत्वाकांक्षाओं के सम्बन्ध में सोच सकें कि वर्तमान परिस्थितियों में क्या सोचना और क्या करना उचित है? जहाँ तक किसी के दोष-दुर्गुणों की बात कहने का प्रश्न है वहाँ यह उचित है कि उस बात को एकान्त में उस प्रकार कहा जाय जिसमें उसे अपमान नहीं सत्परामर्श प्रतीत हो और अपनी भूल सुधार लें। सबके सामने निन्दापरक शब्दों में कहना-सुनना करने से बात बिगड़ती है। सुधार होने की अपेक्षा बात प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाती है और प्रतिशोध एवं विग्रह का वातावरण बनाती है। परामर्श देने की परोक्ष शैली उत्तम है। किन्हीं अन्यो के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बात इस प्रकार कहनी चाहिए कि सबके लिए भी उपयोगी हो और साथ ही जो भूल

करता है उसे सुधारने के लिए संकेत मिल जाय। इसके उपयुक्त आदर्शवादी उदाहरणों महामानवों के जीवन वृत्तान्तों में मिल सकते हैं। उस प्रकार की पुस्तकें घर में रहनी चाहिए और जिस प्रसंग को उभारना हो उस पर विशेष रूप से निशान लगाकर पढ़ने के लिए दुबारा देनी चाहिए। यह तरीका अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक है। प्रज्ञा पुराणों में तो वर्तमान समय के अनुरूप उदाहरणों की भरमार है। उनमें हर स्तर के उत्तम उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं।

शिक्षण का सबसे अच्छा तरीका अपना उदाहरण प्रस्तुत करना है। परिवार के वरिष्ठ एवं प्रतिभाशाली लोगों के लिए यह गुंजाइश नहीं है कि वे कोई अनैतिक स्वेच्छाचार करते। इससे उनकी दूसरों को अच्छी शिक्षा देने की क्षमता समाप्त हो जाती है।

परिवार के प्रभावशाली सदस्य यदि अपना उदाहरण प्रस्तुत न करें तो घर के छोटे सदस्यों पर मात्र शिक्षा देने भर से काम न चलेगा। उपदेशों को लोग मनोरंजन समझते हैं, उनसे प्रेरणा ग्रहण करने लायक उनकी मनःस्थिति नहीं होती। मनुष्य अनुकरणीय स्वभाव का है। बन्दर की तरह वह भी नकल उतारना जानता है। क्या कहा गया? इसे सुनने की अपेक्षा यह देखा जाता है कि क्या-क्या किया जा रहा है? जो किया जा रहा है वही मर्म-स्थल होता है। बाप दिन भर हुक्का गुड़गुड़ाता रहे और बेटे को छिपकर बीड़ी पीने के लिए मना करे तो वह उपदेश गले न उतरेगा। सोचा जाता है कि यदि तम्बाकू पीना वस्तुतः बुरा होता तो बाप स्वयं क्यों पीता? वह दुनिया का दुरंगापन देखता है और सोचता है कि हाथी के दाँत दिखाने के अलग और खाने के अलग होते हैं। दुनिया की कथनी और करनी में अन्तर रहता है। इस मान्यता के उपरान्त बच्चे झूठ बोलने लगते हैं। पूछने पर अपराध स्वीकार नहीं करते। उसे छिपाते हैं और दुर्बृत्तियों के लिए पैसा या तो चुराते हैं या झूठ बोलकर किसी बहाने माँगकर ले जाते हैं। इस प्रकार चुपके-चुपके उनमें कुसंग, जुआ, सिनेमा, आवारागर्दी आदि दोष पनपते रहते हैं जब तक प्रकट होते हैं जब बुरी आदतें परिपक्व हो जाती हैं और प्रकट होकर चर्चा का विषय बन जाती हैं।

इन सबको परिवार को बचाना है तो परिवार संचालकों पर यह दायित्व आता है कि वे अपना चरित्र व्यवहार शालीनतायुक्त रखें। क्रोध में आपे से बाहर होकर दूसरों को विद्रोही न बनायें। प्रतिकूलता दृष्टिगोचर होने पर भी अपने को संयत रख और सुधारने, समझाने का ऐसा तरीका अपनायें जिसमें आत्मीयता और शुभचिन्तकता का गहरा पुट लगा हुआ हो। सुधारने का यही तरीका कारगर होता है। सभी में जन्मजात रूप से स्वाभिमान की आकांक्षा होती है। उस पर चोट लगने से मनुष्य तिलमिला उठता है और फिर अपने व्यवहार को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर अपने पक्ष या परोक्ष रूप से अड़ जाता है। ऐसी स्थिति नहीं ही आनी चाहिए कि सौंप मरे न लाठी टूटे की

कहावत चरितार्थ हो। सुधार का उद्देश्य भी पूरा हो जाय और झगड़े का अवसर भी न आवे।

परिवार में अक्सर नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच खींच-तान चलती है। नई पीढ़ी अपने ढंग से रहना चाहती है। उसे पश्चिम के तौर तरीके पसंद हैं। उठती आयु के लड़कों में ही नहीं लड़कियों में भी अपना रहन सहन, स्वतंत्र, स्वच्छंद रखना चाहती हैं। उन्हें सादगी से रहने और पुरानी परिपाटी अपनाने के लिए एक सीमा तक ही झुकाया समझाया जा सकता है। इसलिए प्रयत्न यह होना चाहिए कि अड़ने की स्थिति न आने पावे। मध्यवर्ती समझौता करके इस प्रकार काम चलाया जाय कि बात टकराने की स्थिति तक पहुँचने से पहले ही सँभल जाय।

उच्चतर संस्कारों का सृजन करें

परिवार-निर्माण के कुछ सूत्रों की संक्षिप्त जानकारी दी जा चुकी है। इससे आगे की असामान्य जानकारी यह है कि घर में आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता का वातावरण बनना चाहिए। नास्तिकता मनुष्य को उच्छृंखल व मर्यादाहीन बना देती है। कर्मफल, परलोक, ईश्वरीय नियन्त्रण आदि को स्वीकार न करने के कारण यह मनोवृत्ति अवसर आने पर कुछ भी क्रूर कर्म करने के लिए तैयार हो सकती है। मनुष्य को पशु और पिशाच बनने से रोकने में सच्चे ईश्वर विश्वास से बढ़कर और कोई आत्मानुशासन नहीं हो सकता।

आध्यात्मिकता का अर्थ है आत्मनिर्भरता, आत्मबोध-जीवन का महत्व, स्वरूप और लक्ष्य समझकर तदनुसार रीति-नीति निर्धारित करना। परावलम्बी-बहिर्मुखी व्यक्ति अपनी भीतरी कमजोरियों के कारण बाहरी जीवन में भी डरा-मरा, हारा-थका, दीन-हीन ही बना रहता है। आत्मगौरव, आत्मसंतोष जैसे दिव्य उपहार उसे कभी मिल ही नहीं पाते। आत्मबल संसार का सबसे बड़ा बल है और वह केवल अपनी गरिमा समझने वालों को ही मिलता है। बाहर से कुछ पाने के लिए सभी उत्सुक रहते हैं, पर यदि भी भीतर से कुछ पाने के लिए उतना ही प्रयास किया जाय तो चमत्कारी प्रभाव पैदा हो सकता है। अपने अन्दर की सोयी हुई शक्तियाँ जाग्रत होकर साधारण मनुष्य को भी देवताओं जैसी विभूतियों से सजा सकती हैं। वे उपलब्धियाँ प्रगति का प्रत्येक द्वार खोल सकती हैं। जिनमें आत्मविश्वास है, जिन्होंने आत्मनिर्माण किया है ऐसे व्यक्ति ही महामानवों की कतार में खड़े हो सकने योग्य बने हैं। इतिहास उन्हीं के गीत गाता है। जाग्रत नारी का कर्तव्य है कि वह व्यक्तिगत मान्यताओं में भी आस्तिकता और आध्यात्मिकता को गहराई तक उतारे और उन्हें परिवार के अन्य लोगों की आस्थाओं में भी बिठाने के लिए लगातार प्रयत्न करें।

धार्मिकता का अर्थ है-कर्तव्य पालन-कर्मयोग। आज अधिकारों की ही माँग है, कर्तव्य को हर क्षेत्र में उपेक्षित रखा जा रहा है। नवयुग में कर्तव्य पालन को पहला स्थान मिलेगा-अधिकारों को नहीं। धर्म का विशालकाय ढाँचा केवल इसी एक आदर्श की जड़ें जन मानस में गहराई तक जमाने के उद्देश्य से खड़ा किया गया है। यों आज आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता को भ्रम और पाखण्डों ने घेर लिया है। इन क्षेत्रों में दुःखदायी विकृतियाँ घुस पड़ी हैं, तो भी मूल रूप में ये तीनों ही धारारें इतनी पवित्र और इतनी उपयोगी हैं, कि उन्हें अपनाये बिना मनुष्यता का असली स्वरूप स्थिर नहीं रखा जा सकता। हमारे घरों में आदर्शवादी तत्वज्ञान की त्रिवेणी बहनी चाहिए और उसमें स्नान करके परिवार के हर सदस्य को देवमानव बनने का अवसर मिलना चाहिये।

हमारे घरों में पूजा-उपासना का वातावरण रहना चाहिये। अच्छा तो यह है कि परिवार के सभी लोग प्रातः काल नित्यकार्य से निपट कर कुछ समय ईश्वर की गोद में बैठने की भावना के साथ उपासना के लिए शान्तचित्त से एकान्त में बैठें। गायत्री मंत्र का जप और उगते हुए सूर्य की दिव्य किरणें अपने शरीर, मन और अन्तःकरण में प्रविष्ट होने का ध्यान करें। समय का अभाव हो तो पन्द्रह मिनट भी इसके लिए लगाते रहने से काम चलता रहता है। उपासना भी नित्य के दैनिक कार्यों में सम्मिलित रहनी चाहिए। यदि अधिक व्यस्तता या अरुचि का वातावरण हो तो भी इतना तो होना ही चाहिये कि पूजा-स्थल पर गायत्री माता का-भगवान का चित्र स्थापित हो और काम-काज में लगने से पहले वहाँ जाकर, घर का प्रत्येक सदस्य दो मिनट मौन खड़ा होकर गायत्री मन्त्र का पाँच बार जप मन ही मन कर लिया करे और प्रणाम करके इस छोटे से उपासना क्रम को पूरा कर लिया करे। इसमें बाधा केवल अरुचि और उपेक्षा के कारण ही हो सकती है, परन्तु आस्तिकता के अनेक प्रकार के लाभों को समझा देने पर श्रद्धा के बीजाकुर उगाये जा सकते हैं। उसके लिए बहुत-सा साहित्य युग निर्माण योजना द्वारा तैयार किया जा चुका है। भोजनशाला में प्रवेश करने से पूर्व हर महिला को कुछ समय गायत्री मन्त्र का विधिवत् अथवा मानसिक जप करना चाहिये। भोजन बन जाने पर चूल्हे में से अग्नि निकालकर रोटी के नन्हें-नन्हें टुकड़े घी और शक्कर में मिलाकर गायत्री मन्त्र के अन्त में स्वाहा शब्द लगाकर होम देने चाहिये। इसके बाद एक चम्मच से उसके चारों ओर जल की धार घुमा देनी चाहिये। यह अति संक्षिप्त गायत्री हवन हो गया। भारतीय संस्कृति की जननी गायत्री और भारतीय धर्म का पिता यज्ञ है। यह दिव्य माता-पिता नित्य ही हमारी श्रद्धा द्वारा पूजे जाने चाहिये, इसमें उपेक्षा न बरती जाय तो ही ठीक है। इस तत्परता से घर में दिव्य वातावरण बनता है और उसका प्रभाव किसी न किसी के लिए कल्याणकारी होता है।

२.३२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

घर में एक स्थान पर पूजा की सुसज्जित चौकी होनी ही चाहिये। घर में भगवान का निवास है इस आस्तिक मान्यता की छाप घर भर पर बनी रहे इसके लिये भगवान का सिंहासन सजाने में घिरने वाली जगह और थोड़ी-सी सामग्री लगा देना उचित है। यह क्रम अपने भौतिक मूल्य की तुलना में असंख्य गुने सत्परिणाम उपस्थित करता है। दोनों समय सामूहिक आरती, दोनों समय चौके में बनी रसोई की थाली का भोग यह दोनों क्रिया चल पड़ें तो समझना चाहिये कि अपना घर देवमन्दिर बन गया और उसमें उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनायें झाँकने लगेंगी।

आध्यात्मिकता और धार्मिकता की आस्थायें परिवार के लोगों में जमाने और विकसित करने के लिये हमें कई प्रकार के प्रयास करने पड़ेंगे और उन्हें धैर्य के साथ लम्बे समय तक चलाते रहना पड़ेगा। इसके लिए कथा बौचने जैसा सत्संग प्रयोग नित्य ही चलना चाहिए। रामायण कथा-गीता कथा आदि धर्म ग्रन्थों की यदि प्रगतिशील युग की समस्याओं को सुलझा सकने वाले स्तर की व्याख्या हो सके, तो वे धर्मग्रन्थ भी भावनात्मक नवनिर्माण के आधार बन सकते हैं। रूढ़िवादी लकीर पीटने से तो वे ग्रन्थ भी प्रतिगामी कूड़ा-करकट ही गले बाँध देते हैं। घर में रात्रि के समय कथा-प्रसंग होते रहें और उसमें न केवल घर के वरन् पड़ोस के नर-नारी भी भाग लेते रहें तो वह दीखने में छोटी किन्तु वास्तव में बहुत बड़ी बात होगी। इस बीजारोपण का कुछ दिनों में ही आश्चर्यजनक सत्परिणाम देखा जा सकता है। धार्मिकता के संस्कारों को फलने-फूलने का अवसर मिल सके तो वे किसी सामान्य मनुष्य को भी महामानव बनने की सम्भावना पैदा कर सकते हैं।

आवश्यक नहीं कि कथा में धर्मग्रन्थ ही पढ़े, सुने जायें और उनका समय रात्रि का ही हो। सुविधा और रुचि के अनुसार इसमें परिवर्तन किये जा सकते हैं। रात्रि की अपेक्षा तीसरे प्रहर भी इसका समय हो सकता है। व्यक्ति, परिवार और समाज की समस्याओं के स्वरूप समझाने वाली और उनके समाधान बताने वाली पुस्तकें भी एक प्रकार से धर्मग्रन्थ ही हैं। संस्कृत में बात कही गई हो या देशी भाषा में-इसमें कुछ अन्तर नहीं आता।

प्राचीनकाल के ऋषियों ने अपने समय की समस्याओं पर उसी समय की परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए प्रकाश डाला था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज वे समस्यायें नहीं जो प्राचीनकाल में थीं। अब नई समस्यायें सामने हैं और उनके समाधान आज के हिसाब से ही ढूँढ़ने होंगे। यह काम युग दृष्टाओं और काल पुरुषों का है। विवेकानन्द, दयानन्द, गाँधी, विनोबा आदि को हम युगदृष्टाओं में गिन सकते हैं और उनके द्वारा दिए गये सुझावों के अनुसार अपनी विचारधारा परिष्कृत करने का लाभ उठा सकते हैं। कथा का उद्देश्य युग दृष्टाओं के साहित्य से भली प्रकार पूरा हो सकता है।

सामूहिक भजन-कीर्तन, गायन-वादन की परम्परा भी घरों में चल पड़े तो उससे मनोरंजन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी हो सकती है। भगवान के गुणगान से लेकर जीवन के भीतरी और बहरी क्षेत्र में आदर्शवादी उमंगें उत्पन्न करने और प्रगति की दिशा में चरण बढ़ाने तक के विभिन्न विषय इन संहगानों में हो सकते हैं।

परिवार का भावनात्मक निर्माण करने के लिए साप्ताहिक, परिवार गोष्ठियों में घर की समस्याओं पर परस्पर विचार-विनिमय करने, बजट बनाने तथा भारी रीति-नीति निश्चित करने का सिलसिला चलाया जा सकता है। समस्याओं का समाधान ढूँढ़ा जा सकता है और प्रगति के नये चरणों का निर्धारण किया जा सकता है। हर नारी को इसके लिये सुनिश्चित रूपरेखा बनानी होगी और अपने निज के व्यक्तित्व को विकसित करने के साथ समूचे परिवार का नवनिर्माण करने के लिए साहस समेटता पड़ेगा। इसी में उसके सच्चे अर्थों में निर्माणकर्त्री कहलाने की सार्थकता है।

यह परिवार निर्माण की योजना इस प्रकार चल सकती है जिस प्रकार हमने अन्य सारे नित्य तथा ज़ीविका सम्बन्धी कार्यों के लिए समय निर्धारित कर रखा है, उसी प्रकार कुछ समय ऐसा भी निश्चित कर लें, जिसमें परिवार निर्माण का ही काम किया जाये। सायंकाल इसके लिए सबसे उपयुक्त समय रहेगा। यह समय ऐसा होता है कि घर-बाहर का सब काम हो चुका होता है। सब लोग खा-पीकर निश्चित हो चुके होते हैं और इकट्ठे भी रहते हैं। वह समय ऐसा होता है जिसमें दिन भर की तमाम बातें याद और प्रकट की जा सकती हैं। दिन की सारी गतिविधियाँ समाप्त हो चुकी होती हैं और केवल आराम करना शेष रह जाता है। ऐसे समय यदि उन्हें जीवन निर्माण की शिक्षा दी जाय तो उनका मन-मस्तिष्क सुविधापूर्वक समझ, सीख तथा ग्रहण कर सकता है।

इस गोष्ठी में परिवार की दैनिक समस्याओं पर विचार किया जाना चाहिये। किसको क्या असुविधा हुई अथवा किसने किसको क्या असुविधा पहुँचाई? इस सबका लेखा-जोखा इस गोष्ठी में लिया जाना चाहिये। असुविधाग्रस्त परिजन की समस्या पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाना चाहिये और यदि उसकी असुविधा वास्तविक है तो उसे दूर करने का प्रबन्ध किया जाना जरूरी है। शिकायतों तथा अभियोगों पर विचार होना चाहिये। इसके दो उद्देश्य होने चाहिये एक तो यह कि अभियुक्त यदि वास्तव में दोषी है तो उसकी भद्र-भर्त्सना की जानी चाहिये और आगे के सुधार के लिए निर्देश दिये जाने चाहिये। साथ ही अभियुक्त को इस बात की शिक्षा दी जाये कि वह अपने में इतनी सहिष्णुता तथा क्षमाशीलता विकसित करे जिससे उसे कोई साधारण-सी बात इतनी बुरी न लगे कि उसे परिवार-परिषद में रखने की आवश्यकता पड़े। सबके लिए शोभनीय तथा उपयोग यही है कि किसी को शिकायत ही न हो। इससे आपस में प्रेम-भाव तथा

समझदारी बढ़ती है। साथ ही क्षमाशीलता तथा सहिष्णुता का अभ्यास होता है जो कि जीवन-प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण गुण माने गये हैं।

दूसरी बात परिवार-गोष्ठी के विचार-विवेचन में यह होनी चाहिए कि हर व्यक्ति यह बतलाये कि दिन भर किस-किस प्रकार के विचार अथवा भाव उसके मन-मस्तिष्क में उठते रहे। सबके विचार सुनकर उनकी विवेचना की जानी चाहिए कि उनका अमुक विचार उचित, उपयुक्त तथा उपयोगी है और अमुक विचार अनुचित तथा अहितकर है। अनुपयुक्त विचारों के त्याग और उपयुक्त विचारों के विकसित करने की प्रेरणा दी जानी चाहिए।

इस परिवार गोष्ठी में परिवार की समस्याओं पर विचार किया जाना चाहिए। परिवार में किस-किस चीज की कमी है? वह कमी क्यों है और कैसे पूरी की जा सकती है। इस पर सम्मिलित विचार किया जाना चाहिए और सभी के परामर्श तथा सुझाव लिए जाने चाहिए। इन समस्याओं में आय-व्यय के असन्तुलन की समस्या हो सकती है। आय कम है और व्यय ज्यादा है। सभी सदस्य इस बात पर सुझाव दें कि वे कौन-कौन-सी विधियाँ हो सकती हैं जिनसे आय-व्यय का सन्तुलन ठीक रखा जा सकता है। नियम के अनुसार सबसे पहले खर्च की मदों अथवा मात्रा की कमी पर विचार किया जाना चाहिए। तदुपरान्त उन विधियों पर विचार किया जाना चाहिए जिनसे परिवार की आय में वृद्धि की जा सकती है। सभी का परामर्श होने से यदि किन्हीं सदस्यों को अनावश्यक खर्च तथा सुविधाओं में कटौती की जायेगी तो वे अन्यथा अनुभव न करेंगे। आय बढ़ाने के लिए यदि परिवार के योग्य कुछ उद्योग बढ़ाना पड़ा तो सभी उसमें सहर्ष सहयोग करेंगे।

इसी परिवार गोष्ठी में समाचार-पत्रों का पठन-पाठन होना चाहिए और विशेष-विशेष समाचारों की व्याख्या की जानी चाहिए। समाचारों के माध्यम से परिजनों को देश-देशान्तर की गतिविधियों का ज्ञान कराना चाहिए। इससे जब उनमें ज्ञान का विकास होगा तो उत्तरदायित्व का भाव भी बढ़ेगा। ज्ञानोपरान्त उत्तरदायी व्यक्ति छोटी-छोटी तथा तुच्छ बातों पर कलह नहीं करता, उसका दृष्टिकोण विशाल और हृदय उदार हो जाता है। समाचारों के माध्यम से उन्हें संसार की दुष्टताओं और कुटिलताओं से सावधान कराया जा सकता है और उनकी हानियों पर प्रकाश डाला जा सकता है। इससे उनमें व्यावहारिक योग्यता का विकास होगा।

इसी परिवार-गोष्ठी में सत्साहित्य के अध्ययन की योजना रखी जा सकती है। चरित्र नायकों की जीवनियाँ सुनाकर उन्हें प्रेरणा दी जा सकती है। त्याग, बलिदान, निस्वार्थ सहायता, सहयोग, पारस्परिकता की कथाएँ सुनाकर उनमें गुणों का अभिवर्द्धन किया जा सकता है।

इसी परिवार-गोष्ठी में उन्हें दैनिक तथा पारिवारिक कर्तव्यों का निर्देश दिया जा सकता है और किस के साथ

क्या व्यवहार किया जाना चाहिए इसकी शिक्षा दी जा सकती है। साथ ही नित्य-प्रति उनकी दैनिकी सुनकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसका कितना विकास होता चल रहा है।

परिवार-गोष्ठियों के प्रचलन को भी एक ऐसी ही मनोवैज्ञानिक प्रणाली माननी चाहिए, जिससे वर्तमान पारिवारिक बुराइयों को बदलकर सुनागरिक देने की स्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

प्राचीनकाल में स्वजनों के निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण अपने आप मिल जाता था। किन्तु अब, जब घरों में सदाचरण, आदर्शजीवन और चरित्र-निष्ठा का अभाव हो गया है, तब परिवार के कुछ विचारवान् व्यक्तियों को वातावरण बदलने के लिए यह पग उठाना आवश्यक है। कुछ बुद्धिमान और पढ़े-लिखे लोग गृह-संचालकों में निष्ठापूर्वक परिवार-गोष्ठियों का आयोजन करने लगे और गृहस्थ-जीवन को महान बनाने के लिये कटिबद्ध हो जायें तो दूसरे लोग भी उससे प्रेरित हुए बिना न रहेंगे। अच्छाइयों के प्रति आग्रह का भाव अभी भी लोगों में कम नहीं, केवल मार्गदर्शन की आवश्यकता बाकी है।

कई बार कोई बात होती है, जिसे घर के आदमी संकोच, लज्जा, भय आदि कारणों से अभिभावकों के सम्मुख प्रकट नहीं करते और भीतर ही भीतर घुला करते हैं। किन्हीं को कोई शिकायत करनी होती है, पर उनकी बात सुनी नहीं जाती, इसलिये वे औरों से बुराई करते घूमते हैं। इन सब कारणों को दूर करने का माध्यम इसी परिवार-गोष्ठी को बनाया जा सकता है? जिस किसी को कठिनाई या कष्ट हो, उसे दूर करने के लिये उदारतापूर्वक प्रयत्न किया जाय, किसी को मनोमालिन्य हो तो उनको प्रेमपूर्वक समझाना, सिखाना चाहिए।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि आदर्श और सिद्धान्त कितने ही अच्छे क्यों न हों, उन्हें यदि किसी को बन्धनपूर्वक अपनाने के लिये कहा जायेगा तो उससे स्वभावतया कष्ट होगा और लोग किसी अच्छी बात को भी स्वीकार न करना चाहेंगे। परिवार में कोई समस्या आती है और उसका निर्णय किया जाता है तो वह निर्णय एक व्यक्ति के हित में होता है, दूसरे के विरोध में। प्रतिपक्षी ने भले ही गलती की हो, पर वह बुरा मान जायेगा। इसलिये अपनी बात को नम्र और मधुर शब्दों में दलीलों के द्वारा समझाया जाये। अच्छी बातों को भी समझाने में बहुत अधिक दबाव नहीं डालना चाहिए। झिड़कना या कटुशब्द कहना भी बुरा है। ऐसे अवसरों पर समझाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि किसी बुराई की सीधी टीका करने की अपेक्षा उसे अप्रत्यक्ष रूप में कहा जाय। किसी में आलस्य का अवगुण हो तो निरालस्यता और श्रमशीलता के लाभ बताकर उसको रचनात्मक सुझाव दिये जायें। तम्बाकू पीना हानिकारक है, यह तो पीने वाला भी जानता है। आप तो उसे यह बताइये कि तम्बाकू

न पीने से क्या लाभ है ? व्यक्तिगत आक्षेप की बात हो तो भी जो उसका विरोधी गुण हो, उसकी व्याख्या करने से लोग को अपने निर्णय के पक्ष में किया जा सकता है, इससे अपनी बुराइयों को समझने का अवसर भी उन्हें अपने-आप मिल जाता है ।

इन गोष्ठियों में परिवार के आर्थिक सन्तुलन की चर्चा की जाय । आर्थिक संतुलन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि घर के प्रत्येक सदस्य को आर्थिक स्थिति की पर्याप्त जानकारी रहे । पूरी जानकारी न होने से कभी-कभी लोग आय से अधिक खर्च के लिए पैसे माँगते हैं और खर्च का संतुलन ठीक नहीं रखते, इसलिए प्रतिदिन के आय-व्यय से लोगों को अवगत कराया जाता रहे । मासिक, त्रैमासिक या वार्षिक बजट बनाकर लोगों के सामने रखा जा सकता है । आवश्यक लेन-देन, खरीद-फरोख्त पर परस्पर चर्चा भी हो सकती है, राय ली जा सकती है ताकि किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि अमुक कार्य हमारी इच्छा के विपरीत हुआ है ।

मनोरंजन-

परिजनों के सात्विक मनोरंजन की भी व्यवस्था होनी चाहिए । संगीत, गायन-वादन का कार्यक्रम रखा जा सकता है । मेले-ठेले घूमने लीवा ले जायें । कोई धार्मिक या सामाजिक चलचित्र दिखाये जायें तो उनसे कोई हानि नहीं होती । दर्शनीय स्थलों की ओर ले जाया जा सकता है । तीर्थ स्थानों का भ्रमण, अच्छे लोगों के सम्पर्क में कुछ दिन का समय बिताने का भी कार्यक्रम होना चाहिए ।

इन सब कार्यक्रमों का परिवार के सदस्य भावना और ईमानदारी के साथ पालन करें तो परिवार के पालन-पोषण के साथ उनकी बौद्धिक और चारित्रिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है । परिजनों के निर्माण के लिए आवश्यक ज्ञान बढ़ाना, समय निकालना और कार्यक्रम बनाना हर गृहस्थ का परम धर्म-कर्तव्य है । सभ्य समाज की रचना का आधार यही है । सुख-समृद्धि तथा भौतिक समृद्धि और आत्म-कल्याण के मानवीय लक्ष्य को भी इसी तरह सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है ।

कथा माध्यम से परामर्श दे

परिवार-शिक्षण की दृष्टि से घर के बड़े यह परम्परा आरम्भ कर सकते हैं कि दिन भर की काम-काजी, बात-चीत के समय-समय पर हलके-फुलके ढंग से यह परामर्श देते रहें कि इस कार्य को किस तरह अच्छी तरह किया जा सकता है । इसमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का जिक्र किया जाय । लड़की यदि आँगन में बुहारी लगा रही है और वह उस कार्य को ठीक तरह कर नहीं पा रही है तो उसे अच्छी तरह सफाई करके दिखानी चाहिए और बताया जाना चाहिए कि भूल कहाँ होती है और उसे दूर करके अच्छी सफाई करने का सिद्धान्त और तरीका

क्या है ? इसी प्रकार बच्चों द्वारा किये जाने वाले कामों को किस प्रकार अधिक सुन्दर ढंग से किया जा सकता है, बड़ों को इसका मार्गदर्शन व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही रीति से करते रहना चाहिए । कार्यों की तरह ही विचार भी प्रकट होते रहते हैं । इस ओर भी ध्यान जाना चाहिए कि कौन किस सम्बन्ध में क्या सोचता है और उसके सोचने में कितना औचित्य तथा कितना अनौचित्य मिला हुआ है ? परामर्श इस सम्बन्ध में भी दिया जाना चाहिए ।

इस सन्दर्भ में एक विशेष बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सुधार का परामर्श देना बहुत ही टेढ़ी खीर है । इसमें दूसरे को अपना अपमान अनुभव हो सकता है, उसके स्वाभिमान को ठेस लग सकती है । आमतौर से यह सहन नहीं होता । गलती बताने वाले को निन्दक, विद्वेषी, सनकी आदि कहा जाता है और किसी को उलटे-सीधे तर्क का सहारा लेकर उस परामर्श की काट की जाती है । अशिष्ट लोग मुँहजोरी करने लगते हैं और शिष्ट मुख से तो कुछ नहीं कहते, पर व्यवहार में उपेक्षा एवं अवज्ञा बरतकर अपना विरोध प्रकट करते हैं । दोनों ही परिस्थितियों में बात एक ही सिद्ध होती है कि परामर्शदाता के मार्गदर्शन को अस्वीकार कर दिया गया ।

ऐसे प्रसंगों में खीजने और बुरा मानने की अपेक्षा यह देखना चाहिए कि सत्परामर्श और उपयोगी शिक्षण की भी अवज्ञा क्यों हो रही है ? होता यह है कि परामर्श के साथ-साथ भर्त्सना, कटुता, तिरस्कार एवं मूर्ख, अनाड़ी सिद्ध करने वाले भावभंगिमा तथा शब्दावली का पुट लग जाता है और सुनने वाले को उतना अंश ही तिलमिला देता है । एक गिलास दूध में एक मक्खी पड़ जाने से सारा दूध अपेय बन जाता है । ठीक इसी प्रकार सत्परामर्श के साथ तिरस्कार, अपमान, कटु शब्दों का समावेश कर दिया जाय, अपना अहंकार और दूसरे को मूर्ख ठहराया जाय तो इतने भर से भारी बात बिगड़ जाती है और गुड़ को गोबर में बदलते देर नहीं लगती ।

परामर्शदाता की भूमिका निभाने से पूर्व वाणी की यह कलाकारिता सीखी जानी चाहिए कि जिस तरह दूसरे के सम्मान, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए-उसे खिजाने नहीं, प्रोत्साहित करने के ढंग से अभीष्ट शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है । जो किया जा रहा है, उसमें जितना भ्रम हुआ है, जितना उत्साह दिखाया गया है उतने अंश की पहले प्रशंसा की जानी चाहिए; इसके बाद जो कमी रही है उसकी भूल का उल्लेख न करते हुये यह बताया जाना चाहिए कि उस कार्य को और भी अधिक कुशलता, सुन्दरता एवं सफलता के साथ किस प्रकार किया जा सकता है । खण्डनपरक चर्चा हर प्रसंग में हानिकारक होती है । समीक्षा करनी टेढ़ी खीर है । उसे कोई बिरले ही गले उतार पाते हैं और बिरले ही सन्तुलित ढंग से उसे कर पाते हैं । आमतौर से समीक्षा कटुता एवं मनोमालिन्य का रूप धारण कर लेती है । इससे दुःखी होकर यह सोचा

जाने लगता है कि "बुरा जमाना आ गया, लोग ढीठ हो गये, सत्परामर्श सुनने को कोई तैयार नहीं-ऐसी दशा में आँखों पर पट्टी और मुख पर ताला लगाये रहना ही उचित है।"

यहाँ समझने की बात इतनी है कि कड़वी कुनैन खाने के लिए प्रौढ़ और दूरदर्शी व्यक्ति ही तैयार हो सकते हैं, बच्चे उसे खाने को रजामंद नहीं होंगे। खाने के लिए जोर दिया जाय तो वे उसे फेंक-फाँक देंगे और खाने का बहाना बना देंगे। उन्हें खिलाना हो तो चीनी की परत चढ़ाकर गले उतारने की व्यवस्था बना सकते हैं। हमें यही मानकर चलना चाहिए कि भर्त्सना भरा पमरार्श किसी को भी स्वीकार नहीं हो सकता। ऐसी समीक्षा से किसी को सहमत करना कठिन है; जिसमें उसकी मूर्खता सिद्ध की गई हो।

समीक्षा किए बिना, परामर्श दिए बिना सुधार सम्भव नहीं। अपने आप अपनी गलती ढूँढ़ लेने और सुधार लेने वाले तो सन्त होते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं, उन्हें सँभालने, सुधारने और दिशा देने की आवश्यकता रहेगी ही। इसलिए मध्यवर्ती सन्तुलित मार्ग निकालना चाहिए और प्रशंसायुक्त निन्दा करने की कला सीखनी चाहिए। जिसे परामर्श दिया जा रहा है उसे अपने और उसके बीच घनिष्ठ आत्मीयता और गहरी सद्भावना का विश्वास भी दिलाते रहना चाहिये। समीक्षक के प्रति निन्दक और द्वेषी होने की आशंका जगती है। अस्तु, उसे निरस्त करने के लिए परामर्श देने से पूर्व अपनी सद्भाव सम्पन्न घनिष्टता का विश्वास किसी न किसी रूप में अवश्य ही स्मरण करा देना चाहिए। हर काम में कुछ न कुछ श्रम और मनोयोग लगा ही होता है, उतने की प्रशंसा किये बिना समीक्षा की शुरुआत कभी नहीं करनी चाहिए। जो गलती रही है, उससे होने वाली हानि को प्रधानता न देकर उस कल्पना चित्र में रंग भरना चाहिए जो सुधार होने पर सुखद सम्भावना सामने आने की आशा जगाता है। वर्तमान भूल से होने वाले चर्चा परामर्श के अन्त में और हलके ढंग से करनी चाहिए ताकि उसे अभीष्ट जानकारी मिलने और सँभलने की सतर्कता तो जग जाय, पर यह अनुभव न हो कि उसे तिरस्कृत किया जा रहा है। जिन परिस्थितियों में भूल होती है, दोषी तो उन परिस्थितियों को बता देने से भी काम बन जाता है।

परामर्शदाता का उद्देश्य निन्दा करना या जी दुःखाना तो होता नहीं; वह सुधार ही तो चाहता है। इस प्रयोजन के लिए व्यक्ति की निन्दा करने की अपेक्षा परिस्थितियों का दोष कह देने से भी काम चल सकता है। इसमें मानापमान का झंझट भी नहीं रहता, साथ ही परोक्ष रूप से असावधानी की भर्त्सना भी हो जाती है। मंतव्य इतने भर से हल हो सकता है।

जिन्हें अपना घर-परिवार सँभालना हो उन्हें सभी सदस्यों को पग-पग पर तो नहीं, पर अवसर देखकर भूलों के लिए टोकने और अधिक अच्छा करने का उपाय बताने

की प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी रखनी चाहिए। व्यक्ति एवं परिवार की तरह यही रीति-नीति समाज सुधार के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होनी चाहिए और प्रत्येक शुभाकांक्षी को सत्परामर्श देने का प्रयास निरन्तर जारी रखना चाहिए। यह प्रयत्न किस चट्टान से टकराकर टूटते हैं? जो इसे जान लेगा वह सामने वाले के सम्मान, अपमान का, सम्बेदनाओं का समुचित ध्यान रखे रहेगा। फलतः उसका तीर ठीक निशाने पर बैठता रहेगा और यह शिकायत करने का कोई कारण न रहेगा कि लोग सत्परामर्श भी सुनने-मानने को तैयार नहीं हैं।

इसके लिए परिवार गोष्ठी में कथा, कहानियाँ सुनाने की प्रक्रिया चलाई जाय। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी नर-नारी कथा प्रसंगों को बड़े चाव के साथ सुनते हैं। परिवार कथा माध्यम से श्रेष्ठतम सिद्धान्तों को सुगमतम ढंग से परिजनों के गले उतारा जा सकता है। विवेकपूर्वक कार्य किया जाय तो पौराणिक कथाएँ भी इसके लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

किन्तु ध्यान रखने योग्य तथ्य यह भी है कि यदि पुराणों को महत्त्व देना हो तो एक सिरे से उनका वाचन अन्धाधुन्ध नहीं होना चाहिए। उनमें से उपयोगी अंश ढूँढ़े और उभारे जाने चाहिए। इन ग्रन्थों में ऐसी चर्चाएँ भी कम नहीं जो आज की स्थिति में न केवल निरर्थक हैं वरन् ऐसे कई बार तो अनर्थ का भी समर्थन करती हैं। अस्तु, यह नितान्त आवश्यक है कि पुराण, ग्रन्थों को पहले स्वयं पढ़ लिया जाय और उनमें से केवल उपयुक्त शिक्षा देने वाले प्रसंगों को छाँटकर ही सुनाया जाय।

इतिहास में ऐसे प्रेरक घटनाचक्र असंख्य हैं जो मानव जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं और अवांछनीयताओं की हानि तथा सन्मार्ग पर चलने के लाभ सिद्ध करते हैं। ऐसे कथा-प्रसंगों पर अनेक प्रेरणाप्रद पुस्तकें बाजार में, पुस्तकालयों में मिल जाती हैं। कल्पित कहानियों एवं उपन्यासों की तो कमी नहीं है। अपने 'युग-निर्माण' मासिक पत्रिका इसी प्रकार की पाठ्य सामग्री से भरी रहती है।

ज्ञान-चर्चा गोष्ठी में इसी प्रकार का कथा साहित्य सुनाया जाया करे। इसमें सम्मिलित होने के लिए न आग्रह करना पड़ेगा और न समझाने, दबाव डालने की आवश्यकता पड़ेगी। बाल-वृद्ध, नर-नारी सभी उसमें उपस्थित होने के लिए स्वयं ही उत्सुक रहेंगे और कोई यह अनुभव न करेगा कि यह उपदेश प्रवचन का रूखा विषय है और उसे सुधारने, सँभालने के लिए ही सारा संरजाम खड़ा किया गया है। परोक्ष शिक्षा जितनी सफल होती है उतनी प्रत्यक्ष निर्देश की शैली नहीं। कथा-प्रसंगों का यह उपक्रम वस्तुतः परिवार के लोगों की मनोभूमि एवं चिन्तन दिशा परिष्कृत करने के लिये बहुत सरल, सरस और सफल माध्यम है। इसे हर परिवार में आरम्भ किया जाना चाहिए।

'नानी की कहानी' वाली बात अभी भी मुहावरों में आती है। दादी या नानी के जिम्मे एक काम यह भी होता

था कि वे बच्चों को कहानियाँ सुनायें। बच्चे उन्हें घेरकर बैठ जाते थे और वे बड़ी हैसी-खुशी के वातावरण में शिक्षा और मनोरंजन का समन्वय करते हुए कहानियाँ कहती थीं। न केवल बालक वरन् पूरा परिवार उन्हें चावपूर्वक सुनता था। चौपालों पर भी बड़े-बूढ़े सिंहासन बत्तीसी, वेताल पच्चीसी, बीरबल विनोद, आल्ह-खण्ड एवं कथा-पुराणों के प्रसंग सुनाते थे और उन्हें सुनने के लिए बड़ी संख्या में छोटे-बड़े उपस्थित होते थे। अब मनोरंजन के दूसरे साधन बन गये-व्यस्तता बढ़ गई और आलस्य छा गया-ऐसी दशा में वह कहानियों वाला प्रचलन भी बन्द हो गया। रामायण की कथा रात्रि को मुहल्ले-मुहल्ले में होती थी और सुनने के लिए उस क्षेत्र के बहुत लोग इकट्ठे होते थे, इस प्रचलन से ज्ञानवृद्धि और मनोरंजन का दुहरा लाभ है। यह दोनों ही ऐसे हैं जिन्हें निरर्थक नहीं कहा जा सकता। सामूहिकता की प्रवृत्ति घटने और वैयक्तिकता बढ़ने से इस दिशा में शिथिलता बढ़ती जाती है। यह चिन्ता की बात है।

इसी प्रचलन को अब नये सिरे से हमारे घरों में आरम्भ किया जाना चाहिए। पुराने लोग पुस्तकों के तथा शिक्षा के अभाव में कहानियाँ जबानी याद रखते थे। अब वैसी आवश्यकता नहीं रही। इस उद्देश्य को पूरा कर सकने वाली ढेरों पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। मुहल्ले का पुस्तकालय इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। हर घर में नई-नई पुस्तकें खरीदते रहना तो कठिन पड़ेगा, पर एक मुहल्ले में एक छोटा पुस्तकालय इस प्रयोजन के लिए लाभदायक हो सकता है और उससे अदल-बदलकर प्रत्येक परिवार पुस्तकें प्राप्त करने, सुनने, वापस करने का सिलसिला चल सकता है। एक ही जगह खरीदी हुई पुस्तकों से पूरे मुहल्ले का काम चल सकता है।

घर का कोई उत्साही सदस्य इस कार्य को अपने कन्धे पर ले सकता है। बदल-बदल कर कई व्यक्ति भी इसे पूरा करते रह सकते हैं। कहने वाले की वक्तृत्व कला का अभ्यास होगा और मनोरंजन की एक उत्साहवर्द्धक परिपाटी चल पड़ेगी। अपने कहानी कहने वाली की एक विशेष पद्धति यह होनी चाहिए कि कहानी के हर मोड़ पर एक छोटी समीक्षात्मक-विवेचनात्मक टिप्पणी अपनी ओर से लगाते चलें। जिससे उसी में से कितनी ही प्रकार के निष्कर्ष निकालते रहें और नई-नई दिशाओं, प्रेरणाओं तथा भाव सम्बेदनाओं का लाभ मिलता रहे। यह शैली मासिक 'युग निर्माण योजना' द्वारा भली प्रकार सीखी जा सकती है। कितने ही छोटे-छोटे जीवन चरित्र तथा कुछ और भी पुस्तकें इस प्रयोजन के लिए छपी हैं। उनकी लेखन शैली यही है कि ऐतिहासिक प्रसंगों एवं जीवन वृत्तान्तों को टिप्पणी समेत प्रस्तुत किया जाय। हर व्यक्ति निष्कर्ष नहीं निकाल सकता। कथाओं में हर मोड़ पर कुछ समझने योग्य तथ्य दिए होते हैं इन्हें उभारा जा सके तो उससे सुनने वालों की अन्तःचेतना नई-नई अनुभूतियों

से लाभान्वित होती रह सकती हैं। परिवार शिक्षण का यह बहुत ही अच्छा तरीका है।

जिन सत्प्रवृत्तियों को घर के लोगों में उगाया, जगाया जाना आवश्यक है उनके लिए सीधा उपदेश देने की अपेक्षा कथा माध्यम से परोक्ष रूप में गले उतारना अधिक श्रेयस्कर है। सीधी शिक्षाएँ रोज-रोज नहीं दी जा सकती। इससे ऊबने और खीजने लगने का खतरा है, पर कथा माध्यम से तो हर दिन उसी तथ्य को पुष्ट किया जाता रहे तो भी हर्ज नहीं। उन्हें हर दिन उसी उत्साह और चाव के साथ सुना जा सकता है।

अपने परिवार में जिन वृत्तियों की कमी दिखाई पड़ती है-जिन्हें बढ़ाया जाना आवश्यक है। उसी स्तर की कहानियों का चुनाव करते रहने से, कहने की शैली निखारते रहने से परिवार शिक्षण का काम भली प्रकार चलता रह सकता है।

आवश्यक नहीं कि हर दिन कहानियाँ ही सुनाई जायें। समाचार-पत्रों की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, भजन-कीर्तन, रामायण-कथा, पहेलियाँ, प्रश्नोत्तर जैसे कई आधार समय-समय पर बदले जाते रह सकते हैं। जिस घर में इन माध्यमों से जो अधिक पसन्द किया जाय वहाँ उसकी प्रधानता रखी जा सकती है।

विचार परिष्कार की, दृष्टिकोण विकसित करने की, आदर्शवादी उमंगें उत्पन्न करने की दृष्टि से रात्रि को कहानियाँ कहने का प्रचलन देखने में छोटा किन्तु परिणाम में बहुत ही बड़ा सिद्ध हो सकता है। इस अति प्राचीन किन्तु अति नवीन परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए हमें नये सिरे से प्रयत्न आरम्भ करना चाहिए। परिवार-निर्माण में जहाँ भी रुचि हो वहाँ यह नया प्रयोग-परीक्षण आरम्भ किया जाना चाहिए और निज के अनुभव से यह देखना चाहिए कि यह छोटा-सा शुभारम्भ कितना बढ़ा-चढ़ा सत्परिणाम प्रस्तुत करता है।

परिवार निर्माण में कथा पुराणों का योगदान

परिवार में अनेक सम्बन्ध होते हैं-पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-भाई, भाई-बहिन, देवर-भाभी, देवरानी-जिठानी, नन्द-भाभी आदि के इन सम्बन्धों में मधुरता बरसती रहे तो परिवार में सुख-शान्ति स्थिर रहती है और सभी स्वर्गीय जीवन का उपभोग करते हैं। यदि किसी कारणवश आपस में कटुता आ जाये तो आए दिन लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं और वह परिवार एक नरक की तरह दृष्टिगोचर होने लगता है।

पारिवारिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने वाले और सुख-शान्ति को बनाये रखने वाले अमूल्य-सूत्र यह हैं कि माता-पिता और परिवार के अन्य बड़ों के प्रति पुत्र-पुत्री व बहू आदर की दृष्टि से देखें, उनका यथोचित सम्मान करें, उन्हें

देवरूप मानें, नित्य उनके चरण-स्पर्श करें, उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करें, उनकी सेवा करें और आशीर्वाद लें, सभी सदस्य 'आप पहले' की उत्तम नीति को अपना आदर्श बनायें, अपने से पहले परिवार के अन्य सदस्यों के सम्बन्ध में सोचें, भोजन, वस्त्र व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में दूसरों को प्राथमिकता देने का प्रस्ताव रखें, अपनी स्वार्थपरता के लिए दूसरों के अधिकारों का हनन न करें, बड़ा भाई छोटे भाई-बहनों को पिता के अभाव में अपने ही पुत्र, पुत्री के समान समझे, उनकी पत्नी भी सबसे ऐसा व्यवहार करे। पत्नी अपने पति को देवरूप मानकर उसकी पूजा करे, आज्ञा का पालन करे, पति की किसी बात का विरोध न करे, वह कभी कोई कटु बात कह भी दे, तो उसे सहन कर ले, भाई-भाई अपने को परिवार का एक अभिन्न अंग मानें और दूसरों से अपने स्वार्थों को अलग न समझें। साथ-साथ रहें, साथ-साथ कार्य करें। बहू सेवाभावी हो, आज्ञाकारी हो, सहनशील हो, सास-ससुर, देवर-देवरानी, जेठानी आदि के सम्बन्ध में अपने पति के कान न भरती रहें, सबको अपने मधुर व प्रिय व्यवहार से आकर्षित करे, माता-पिता अपनी सन्तान के प्रति जागरूक रहें, उनकी भौतिक प्रगति के साधन उपलब्ध करना ही उनके जीवन का उद्देश्य नहीं है। उन्हें एक अच्छा नागरिक और मनुष्य बनाना ही वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए।

परिवार के प्रत्येक सदस्य में यदि दूसरों के प्रति तप, त्याग और बलिदान की पवित्र भावना विद्यमान रहती है तो कोई कारण नहीं कि उस परिवार में स्वर्गीय जीवन की अनुभूति न होती हो। पुराणों ने इस कार्य को बड़ी तत्परता से किया है। पग-पग पर इन्होंने परिवार के हर सदस्य के दूसरों के प्रति आवश्यक कर्तव्यों का सुन्दरता से प्रतिपादन किया है। ऐसे आदर्श उदाहरण कथाओं के माध्यम से दिए गये हैं जो इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखने योग्य हैं और भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य किसी देश के इतिहास में ऐसे आदर्श उदाहरण देखने-सुनने को नहीं मिलते तभी तो उन उच्च सिद्धान्तों के आदर्शों का प्रतिपादन करने वाले इन ग्रन्थों को विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त है। विदेशियों ने इन पर खोजें की हैं, विदेशी भाषाओं में इनका अनुवाद हुआ है। टिप्पणिग्रंथ लिखी गई हैं, विस्तृत लेख लिखे गये हैं। कारण स्पष्ट है, पारिवारिक जीवन की जटिल समस्याओं को सुलभ रूप से सुलझा देना ही इनकी विशेषता है। पुराण की कथाओं को अपना आदर्श मानने वाले परिवार में कभी कलह, क्लेश होना सम्भव नहीं है।

आज्ञाकारी पुत्र के रूप में राम, श्रवणकुमार, भीष्म, नचिकेता आदि के उज्ज्वल उदाहरण हमारे सामने हैं। राम ने पिता की आज्ञा को मानकर राज्य का त्याग किया और १४ वर्षों तक वनों की भीषण कठिनाइयों को सहन किया, श्रवणकुमार ने अपने अन्धे माता-पिता को काँवर में बिठाकर तीर्थयात्रा कराई, भीष्म ने पिता की प्रसन्नता और अपने राज्याधिकार को तिलांजलि दी, पिता के दान

करने पर नचिकेता प्रसन्नता से यमपुर गये। आज ऐसे पुत्र ढूँढ़े नहीं मिलते और माता-पिता के प्रति घोर उपेक्षा हो रही है।

भाई-भाई के आदर्श सम्बन्धों के लिए राम, लक्ष्मण और भरत के नाम सर्वप्रथम हमारे सामने आते हैं। एक-दूसरे के प्रति त्याग की भावना से भ्रातृ-प्रेम जग पाया है। कौरव सदैव से पाण्डवों के विरोधी रहे थे परन्तु जब यक्षों ने कौरवों को बन्दी बनाया तो युधिष्ठिर ने उन्हें छुड़वाया था। पुष्कर के दुर्व्यवहार को भुलाकर राजा नल ने अपने भाई को क्षमा कर दिया था। आज घर-घर में, भाई-भाई में कटुता दिखाई देती है, बैटवारे होते हैं। संघर्ष होते हैं, आपसी सम्बन्धों का विच्छेद होता है, साथ-साथ रहने की भावना धूमिल हो गई है।

पुराणों में वर्णित दाम्पत्य जीवन की कथाओं की पुनरावृत्ति सारे विश्व में सम्भव नहीं है। राजमहलों में भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने वाली सीता अपने पति की कठिनाइयों को सरल करने के लिए घोर दुःखों को स्वयं निम्न्त्रण देती है और उसी में अपना सौभाग्य मानती है। गान्धारी को जब पता चला कि उसके भावी पति प्रज्ञाचक्षु हैं तो उसने भी अपने नेत्रों पर पट्टी बाँध ली। उसने सोचा जब मेरे पतिदेव खुले नेत्रों से इस जड़ जगत को निहार नहीं सकते तो मुझे तो इसे देखने का कोई अधिकार नहीं है। सावित्री जानती थी कि वह एक वर्ष के बाद विधवा हो जायेगी। परन्तु एक बार उसने अपना पति वरण कर लिया तो वह जन्म-जन्मान्तरों के लिए उसका आराध्य हो गया। यमराज भी उसकी धारणा को बदलने में असफल रहे।

द्रौपदी का जीवन सुख और सौभाग्य से ओत-प्रोत था, क्योंकि वह अपने पतियों को अपने कुशल व्यवहार से सन्तुष्ट रखना जानती थी। महासती अनुसूया, शैब्या, दमयन्ती, सुकन्या आदि के जीवन आज भी हमारे लिए आदर्श बने हुए हैं। वैज्ञानिक युग की पत्नी समानधिकार माँगती है और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती है, वह किसी प्रकार के भी अंकुश के विरोध में है तभी ऐसी घिनौनी घटनाएँ सामने आ रही हैं, जिन पर मानवता रोती है और असुरता खिल-खिलाकर उपहास करती है।

पुराणों में मदालसा जैसी आदर्श माताओं के जीवन चरित्र विस्तार से दिए हैं जिन्होंने अपने बच्चों को लोरियाँ देते हुए आत्मज्ञान का उपदेश दिया है। ऐसी जागरूक माताएँ ही अपने सन्तान का सच्च पथ प्रदर्शन कर सकती हैं। आज की माताएँ तो अपने बच्चों को सुखी, भौतिक जीवन की तो शिक्षा दे सकती हैं। धर्म, सदाचार, संयम, आत्मज्ञान की शिक्षायें तो उनके लिए अनावश्यक मानी जाती हैं।

सीता एक आदर्श बहू थी जिसने सास को अपनी माता समझकर उनकी हर आज्ञा का पालन किया। कौशल्या ने सीता को अपनी पुत्री समझकर उसे मातृत्व स्नेह प्रदान किया। व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को

२.३८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

आत्मज्ञानी बनाया । बड़े होने पर जब स्वयं शिक्षा देना उचित नहीं समझा तो ब्रह्मज्ञानी राजा जनक के पास भेज दिया ।

पुराणकारों ने परिवार निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया है । परिवार निर्माण के अमूल्य सूत्रों को उन्होंने माला की तरह पिरो दिया है और तत्सम्बन्धी चरित्रों का चित्रण इस ढंग से किया है कि पाठक व श्रोता के मन में भाव तरंगें उछलने लगती हैं कि काश ! मैं भी ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत कर सकता । पारिवारिक जीवन के आदर्शों को प्रेरित और प्रोत्साहित करने में पुराणकार बहुत अंशों में सफल हुए हैं ।

परिवार निर्माण की सुखद सम्भावनाएँ

मनुष्य को इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है । यह है भी इस विश्व-वसुधा का राजकुमार, परमात्मा का ज्येष्ठ पुत्र । वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जिनके कारण मनुष्य को यह गौरव मिला है ? भाषा, जिसके माध्यम से वह अपने आप अन्य लोगों के सामने व्यक्त कर लेता है । परन्तु अन्य प्राणी भी अपनी भाषा में एक-दूसरे से भाव व्यक्त कर अपना काम चला लेते हैं । भले ही उनकी अभिव्यक्ति की सीमा सीमित हो, परन्तु उसके बिना उनका कोई काम नहीं हो सकता तो फिर क्या बुद्धि की विलक्षणता वह विशेषता है जिसके कारण उसे अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ होने का गौरव मिला है । अन्य प्राणियों में बौद्धिक विलक्षणता के ऐसे-ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उन्हें देखकर दाँतों तले अँगुली दबा लेनी पड़ती है । मनुष्यों की बौद्धिक क्षमता तो फिर भी अन्य लोगों से सीखी गई, विरासत से प्राप्त हुई होती है, पशु-पक्षियों और मानवेतर प्राणियों को कहाँ वैसी सुविधा प्राप्त होती है । फिर भी कई बार उनमें मनुष्यों को भी हतप्रभ कर देने वाली विलक्षण बुद्धि देखी जाती है । मनुष्य के पास वैसा शरीर भी नहीं है कि वह दूसरे सभी प्राणियों से इक्कीस सिद्ध हो ।

शारीरिक बल की दृष्टि से तो मनुष्य दूसरे अन्य कई प्राणियों से कमजोर है ही । शरीर की मूल प्रवृत्तियाँ भी कोई भिन्न नहीं हैं कि उनके कारण वह श्रेष्ठ कहा जा सके । भूख, प्यास, नींद, प्रजनन आदि की मूल प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य और अन्य प्राणियों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता । मनुष्य को अन्य प्राणियों के समान भूख लगती है, उसे भी प्यास सताती है, वह भी अन्य प्राणियों के समान सन्तानोत्पादन करता है, ये सब प्रवृत्तियाँ मनुष्यों और अन्य प्राणियों में समान होती हैं । अन्तर होता है तो केवल इतना कि मनुष्य के क्रियाकलापों में सुघड़ता होती है । अन्य प्राणियों के क्रियाकलापों में अनगढ़ता, ज्यों-त्यों कर लेने की हड़बड़ाहट होती है ।

यह सुघड़ता तब से आरम्भ हुई, मनुष्य ने अपने क्रियाकलापों, आचरणों और व्यवहारों को जब से संस्कारित करना आरम्भ किया, तभी से वह अन्य प्राणियों की पंक्ति में उठकर आगे बढ़ सका । उस संस्कारित करने की प्रक्रिया के साथ ही मानव-सभ्यता का आरम्भ हुआ और उसने संस्कृति की यात्रा पर पग बढ़ाए । इस जाग्रति ने मनुष्य जाति को समग्र रूप से सभ्य और सुसंस्कृत बनाया । आज भी कई क्षेत्रों में आदिवासी पिछड़े लोग सभ्यता की दृष्टि से काफी पीछे हैं । इसका कारण यही है कि वे सभ्यता के विकास में अन्य समुदायों के साथ कदम से कदम मिलाकर न चल सके ।

इस सभ्यता के विकास से जहाँ मनुष्य समाज ऊँचा उठा, वहीं एक दूसरा पक्ष भी है जिसके कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से ही नहीं अन्य लोगों से भिन्न होता है । शरीर का आकार-प्रकार, दुबला-पतला, मोटा-छोटा, लम्बा-नाटा होना नहीं, मनुष्यों में ही भिन्नता होने का कारण उनका अपना व्यक्तित्व है और इस व्यक्तित्व के आधार पर ही वह अन्य प्राणियों और मनुष्यों से श्रेष्ठ या निकृष्ट बनता है ।

यह व्यक्तित्व ही मनुष्य की मूल सम्पदा है । इसकी श्रेष्ठता और निष्कृष्टता के आधार पर ही किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ या निकृष्ट होना निर्भर है । प्रश्न उठता है कि यह व्यक्तित्व क्या है ? मनुष्य जो दिखाई देता है, आचरण, रहन-सहन व बोल-चाल और व्यवहार का जैसा जो कुछ प्रभाव छोड़ता है क्या वही व्यक्तित्व है ? इसका उत्तर निश्चित ही 'नहीं' में है । व्यक्तित्व में ये सब बातें समाहित तो हैं पर वह इन सबके जोड़ से भी ऊपर बहुत कुछ भिन्न है । आँख से देखने पर तो व्यक्तित्व शरीर की बनावट, आकर्षक साज-सज्जा, आकर्षक चाल-ढाल और शिष्टाचार का अवलम्बित दीखता है, पर परख की दृष्टि जब गहराई में प्रवेश करती है तो गुण, कर्म, स्वभाव का दृष्टिकोण एवं चरित्र का समुच्चय ही व्यक्तित्व की कसौटी बन जाता है । सम्मानित और तिरस्कृत, समुन्नत और पतित, प्रखर और पिछड़े लोगों के बीच पाया जाने वाला अन्तर तो परिस्थितिजन्य दीखता है, पर वस्तुतः यह विभेद अन्तस्थिति का होता है । वह अन्तःस्थिति जो मान्यता, अभिरुचि और आदत के रूप में समूचे अन्तराल पर कब्जा जमाये बैठी है । अन्तःक्षेत्र से उठने वाली सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध ही समीपवर्ती वातावरण को उल्लसित एवं कलुषित बनाती है । अन्तराल ही बाह्य जगत में प्रतिबिम्बित होता है और स्वर्गीय एवं नारकीय प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है । अपना ही स्वभाव समीपवर्ती लोगों के साथ सहयोग एवं विग्रह के अवसर रचना और इन्हें चित्र-विचित्र घटनाक्रमों के रूप में सामने ला खड़ा करता है ।

जीवन का सबसे बड़ा उपार्जन एवं वैभव परिष्कृत व्यक्तित्व ही है । पग-पग पर मानवी अनुदानों और दैवी वरदानों के उपहार बरसाने वाला सौभाग्य और कुछ नहीं मनुष्य का स्वउपार्जित व्यक्तित्व ही है । कोई किसी को

यदि वस्तुतः कोई ठोस अनुदान दे सकता है तो वह एक ही अनुग्रह है कि व्यक्तित्व को परिष्कृत करने में सहायता की जाय। अन्य सम्पदाएँ ऐसी हैं जिन्हें कोई किसी को कितने ही बड़े परिमाण में देकर भी वास्तविक हित साधन नहीं कर सकता। उत्तराधिकार में मिले धन का कितने लोग सदुपयोग कर पाते हैं? कितने उसे देर तक सुरक्षित रखते हैं और कितने हैं जो बिना परिश्रम के मिली हुई कमाई से उत्पन्न होने वाली दुष्प्रवृत्तियों से अपने को बचा पाते हैं। उपकार वही सार्थक है जो व्यक्तित्व को विकसित करने की सहायता के रूप में लिया या दिया जा सके। अनुग्रह वही धन्य है जो प्रखरता और प्रतिभा निखारने में सहयोग प्रदान करे। सौभाग्यशाली वे हैं जिन्होंने सुसंस्कृत लोगों का सान्निध्य पाया अन्यथा आदान-प्रदान तो इस दुनिया में चलते ही रहते हैं। कई बार तो साथियों द्वारा छूत की बीमारियों की तरह ऐसी बुरी आदतें भी लाद दी जाती हैं जो सर्वनाशी पतन-पराभव का दुःख-दारिद्र्य का कारण बनी हुई मरणपर्यन्त त्रास देती रहती हैं। कई बार अनावश्यक अनुग्रह भी अभिशाप की तरह भारभूत और कष्टकारक सिद्ध होते हैं। बाजार में आदान-प्रदान ही तो होता है। यह एक विनिमय व्यवस्था भर है। लेन-देन की सौदागरी उपयोगी तो है पर इसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसके लिए अनुग्रह अनुभव किया जाय या कृतज्ञ हुआ जाय।

सुसंस्कारिता जिसे मिली उसने वह सब कुछ पा लिया जिसे पाकर मनुष्य जीवन का अमृतोपम रसास्वादन करने का अवसर मिलता है। आध्यात्मिकता, दृष्टिकोण की उत्कृष्टता और धार्मिकता व्यवहार की शालीनता को ही कहते हैं। शब्दों की ऊँचाई से किसी रहस्यवादी कल्पना में भटकने की आवश्यकता नहीं है। जिन भौतिक सिद्धियों का और आध्यात्मिक ऋद्धियों का वर्णन चमत्कारी एवं अलंकारिक भाषा में किया गया है वे समस्त विभूतियाँ मात्र सुसंस्कारिता की ही देन हैं। समुन्नत, सम्मानित और समृद्ध जीवन वस्तुतः सुसंस्कारों के कल्पवृक्ष का ही फलता-फूलता स्वरूप है।

अपने युग की सबसे बड़ी आवश्यकता भी सुसंस्कृत व्यक्तियों की है, कहना चाहिए सुसंस्कारिता के अभिवर्द्धन की है। इन दिनों व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में जितनी भी समस्याएँ व्याप्त हैं, उनका एकमात्र कारण अभिवर्द्धन के उपयुक्त वातावरण न मिल पाना है। इसके अभाव में ही व्यक्तिगत जीवन में दोष-दुर्गुण, अनीति, अवांछनीयता और उनके कारण कई प्रकार के कष्ट-क्लेश तथा समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा सामाजिक जीवन में अव्यवस्था, भ्रष्टता, आतंक और असुरक्षा व्यापती है।

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में व्याप्त कष्ट-कठिनाइयों और समस्याओं के समाधान का एक ही उपाय है कि समाज में सुसंस्कारिता का वातावरण उत्पन्न किया जाय ताकि लोगों को सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले। इसे यों भी कहा जा सकता है

सुसंस्कृत व्यक्तियों का निर्माण, सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन अपने युग की महती आवश्यकता है। यह कार्य एक सीमा तक तो प्रचार माध्यमों से भी पूरा हो सकता है। पर स्थायित्व लाने की अपेक्षा हो तो इतने मात्र से यह आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती। इसके लिए अन्तःचेतना के मर्मस्थल तक सुसंस्कारिता को पहुँचाना होगा।

प्रश्न उठता है कि संस्कारों की यह सम्पदा कहाँ से प्राप्त की जाय? इसका एक ही उत्तर है कि वातावरण में सदाशयता उत्पन्न हो। ऐसा वातावरण जहाँ संव्याप्त हो, वहीं उस स्तर के संस्कार उत्पन्न होंगे। सुसंस्कारिता का वातावरण जहाँ संव्याप्त हो, इस स्तर के लोग जहाँ आत्मीयता की भावसम्बेदना और सहकारिता की रीति-नीति अपनाकर चल रहे हों, वहाँ रहने वाला व्यक्ति सुसंस्कारी बन सकता है। इस सन्दर्भ में स्वाध्याय, सत्संग एवं मनन-चिन्तन से भी उपयोगी प्रकाश मिल सकता है। निजी प्रयत्नों से भी उपयोगी प्रकाश मिल सकता है। निजी प्रयत्नों से भी आत्मनिर्माण में बहुत कुछ प्रगति हो सकती है, किन्तु जहाँ तक बाह्य अनुदानों का सवाल है, वहाँ उपयुक्त वातावरण वाला समर्थ शिक्षा संस्थान एक ही हो सकता है और वह है परिवार। परिवार में, व्यक्तित्व की ढलाई अनायास ही होती रहती है। न प्रशिक्षण करना पड़ता है और न प्रयत्न। योजना बनाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती और न प्रेरणा देने अथवा दबाव डालने की। सब कुछ स्वचालित क्रम से होता रहता है और उस परिवार में रहने वाले उसी प्रकार ढलते चले जाते हैं, जिस प्रकार कि छोटे बच्चे बड़ों का अनुकरण करके बोलना, चलना या अन्य व्यवहार करना सीख लेते हैं। यह तथ्य जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है कि सुसंस्कारिता उपलब्ध करने के लिए उस विशिष्टता के वातावरण से सुसम्पन्न परिवार की नितान्त आवश्यकता है। सुसंस्कार और दुर्गुण तो रास्ते चलते भी सीखे जा सकते हैं। मन का पतनोन्मुख प्रवाह अपने भीतर से संचित दुष्प्रवृत्तियों को उगा लेता है, पर श्रेष्ठता तो प्रयत्नसाध्य एवं साधनसाध्य है। यदि सुसंस्कारिता की, व्यक्तित्व की गरिमा समझी जाय और उस गरिमा पर वर्तमान की सुख-शान्ति एवं भविष्य की सुखद सम्भावना को निर्भर माना जाय तो यह तथ्य भी स्वीकार करना होगा कि परिवार का परिष्कृत वातावरण ही स्वर्ग है, जिसमें रहकर देवताओं जैसी समर्थता एवं वरिष्ठता प्राप्त की जा सकती है। कुटुम्बियों के लिए दैवी वरदान और स्वर्गीय ऐश्वर्य जैसी विभूतियाँ यदि किसी को उपलब्ध करानी हों तो उनके लिए कुबेर जैसी दौलत छोड़ने या इन्द्र जैसी सुविधा देने की आवश्यकता नहीं है। सुसंस्कारों का वैभव उपलब्ध कर सकने की सम्भावनाओं से परिपूर्ण वातावरण में रहने का अवसर उन्हें प्रदान करना चाहिए। यह ऊँचे से ऊँच स्तर का अनुदान है जिसे कोई विवेकशील दूरदर्शी अपने प्रिय परिजनों के लिए दे सकता है। कहना न होगा कि यह उपलब्धियाँ कहीं अन्यत्र भेजकर प्राप्त नहीं कराई जा

सकती। बाहर का रंग उड़ जाता है, टिकाऊ तो भीतर का ही होता है। सदगुणों की सम्पदा परिष्कृत परिवारों में ही उपलब्ध की जा सकती है। अस्तु, अपने लिए, अपने प्रियजनों के लिए सबसे अधिक सौभाग्य सम्पादन एक ही प्रकार हो सकता है, कि परिवार की परम्परा में शालीनता का उच्चस्तरीय समावेश करने के लिए सच्चे मन से प्रबल पुरुषार्थ किया जाय।

घर की परिधि पारिवारिकता की सत्प्रवृत्ति सीखने और परिपक्व करने की पाठशाला-प्रयोगशाला है। यहाँ जो उपलब्ध किया गया है उसे किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त करके सफलता के लक्ष्य तक सरलतापूर्वक पहुँचा जा सकता है। यह प्रवृत्ति जहाँ भी पहुँचेगी सुखद परिणाम उत्पन्न करेगी। उद्योग उपार्जन के लिए चल रहे कारखानों में जहाँ मालिक मजदूरों के मध्य पारिवारिकता रहती है वहाँ धन और यश मिलने में कोई कमी नहीं रहती। जिन सार्वजनिक संगठनों में सदस्यों के बीच पारिवारिकता सद्भाव सुदृढ़ होगा वहाँ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सुखद अवसर पग-पग पर मिलेंगे। समाज हो या शासन-मठ हो या जमात-आन्दोलन हो या अभियान-सम्बद्ध लोगों के बीच जितनी पारिवारिकता, आत्मीयता होगी उसी अनुपात से अपना वर्चस्व सिद्ध करते और गौरवान्वित होते दृष्टिगोचर होंगे।

आत्मविकास की चर्चा बहुत होती रहती है। उसकी साधना के लिए अनेकानेक उपचारों का प्रयोग होता रहता है, पर लक्ष्य तक मात्र वे ही पहुँचते हैं, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को जानते ही नहीं, मानते भी हैं। लोभ और मोह के भव-बन्धन बड़े कठिन और दुःखद माने जाते हैं। इनसे छूटने को ही परम पुरुषार्थ, मोक्ष माना जाता है। इस नागपाश को काटने का एक ही सीधा सच्चा उपाय है व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता का निराकरण कुछ तोड़ने या छोड़ने से नहीं हो सकता पारिवारिक उदारता दृष्टिकोण में जिस क्रम से घुसती जाती है उसी अनुपात से लोकसाधना में अभिरुचि बढ़ती जाती है और आदर्शों के लिए अधिक करने के लिए मन मचलता है। यही है वह मनःस्थिति जिसमें आत्मसन्तोष, लोकसम्मान एवं दैवी अनुग्रह प्राप्त करने की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

परिवार निर्माण के लिए मानसिक पोषण भी आवश्यक है

हम केवल शरीर नहीं हैं। स्थूल शरीर तो कलेवर मात्र है। इसे भीतर मन, मस्तिष्क तथा अन्तःचेतना जैसे सूक्ष्म उपादान भी हैं। शरीर को चलाने के लिये जिस प्रकार संतुलित और पोषक आहार की आवश्यकता पड़ती है। उस भोजन से शरीर की वृद्धि व पोषण हो उसके

लिए पाचन होना आवश्यक है। समुचित पाचन के लिए व्यायाम, श्रम भी आवश्यक है। ठीक उसी प्रकार हमारे मन, मस्तिष्क तथा आत्मा को भी भोजन तथा व्यायाम की पूरी-पूरी आवश्यकता होती है।

शारीरिक बल से दिमागी ताकत और मनोबल अधिक महत्वपूर्ण है। उनसे भी अधिक शक्ति आत्मबल में निहित होती है। आत्मबल पर कुछ विचार करना हमारे इस प्रकरण का विषय नहीं है। हम अभी मस्तिष्क व मनोबल के अभिवर्द्धन की ही बात पर विचार कर रहे हैं। अतः व्यक्ति जब अपने स्वार्थों से कुछ ऊपर उठकर अपने परिवार के संचालन का भार अपने कन्धों पर लेता है तो उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने परिवार के सदस्यों की शारीरिक अभिवृद्धि व पोषण के लिए खाद्य-सामग्री ही नहीं जुटाए वरन् उसके मन मस्तिष्क को विकास देने के लिये भी मानसिक खाद्य की व्यवस्था करे।

शरीर को जब आहार की आवश्यकता होती है तो हमें भूख लग जाती है। तब हम खाने के लिये आतुर हो उठते हैं। उसी प्रकार हमारे मन, मस्तिष्क को भी भूख लगती है। उन्हें भी उस भूख को मिटाने के लिये खाना चाहिए। यह भूख हर मनुष्य को लगती है। यह बात दूसरी है कि वह उस भूख का अनुभव करता हो या नहीं कर पाता हो।

शारीरिक भूख को मिटाने के लिये दूध, फल, रोटी, शाक, भात आदि आहार लिया जाता है। उसी प्रकार मन, मस्तिष्क का आहार स्वाध्याय तथा सत्संग से पूरा होता है। स्वाध्याय से तात्पर्य किसी पुस्तक को स्वयं पढ़ना या दूसरे से पढ़वा कर स्वयं सुनना। सत्संग से तात्पर्य है किसी विद्वान तथा चरित्रवान व्यक्ति के अर्जित तथा अनुभवों का लाभ उनकी वाणी तथा आचार व्यवहार से प्राप्त करना।

जिन लोगों को इस बात का ज्ञान होता है कि हमारे शरीर को पोषण देने के लिये किस प्रकार का भोजन करना चाहिए। शरीर के लिये सभी आवश्यक तत्वों की पूर्ति करने वाला स्वच्छ तथा पवित्र और ईमानदारी से उपार्जित आहार ही हमारे शरीर को समुचित पोषण प्रदान करता है। यह जानने वाले व्यक्ति भोजन में इन सब बातों का ध्यान रखते हैं, किन्तु इनसे अनभिज्ञ व्यक्ति उनका ध्यान नहीं रखते, उन्हें तो पेट भरने से मतलब रहता है, किन्तु शरीर तो अपनी माँग को पूरी कराके ही छोड़ता है।

अकाल की स्थिति में लोग अन्न के अभाव में जीवित रहने के लिये व भूख शांत करने के लिये वृक्षों के पत्ते, छाल तथा अन्य कई पदार्थ भी खा जाते हैं। इसी प्रकार यदि हम अपने मन, मस्तिष्क की भूख को अच्छे मानसिक खाद्य-उत्तम पुस्तकों व सत्संग के द्वारा पूरी नहीं करते तो वह इधर-उधर मुँह मारकर जो कुछ हाथ लगता है, उसे ही उदरस्थ कर लेता है और उसी के अनुरूप हमारे विचार व आदतें, व्यवहार आदि बन जाते हैं।

आहार कैसा हो ? इस सम्बन्ध में तो हम कुछ जानते भी हैं, सावधानी भी रखते हैं किन्तु मन और मस्तिष्क को कैसा आहार दिया जाय उसके सम्बन्ध में अभी तक अधिकांश लोग अनजान ही हैं। उन्हें तो यह पता भी नहीं है कि इन्हें भी भूख लगती है। जबकि ये तो शरीर से भी अधिक समर्थ व क्रियाशील रहने वाले हैं। इसलिये ये जो भी सामने आता है उसे खा लेने में पीछे नहीं रहते और उसका परिणाम यह होता है कि खराब व जहरीले खाने को खाते हुए हमारा शरीर रोगी हो जाता है ठीक उसी प्रकार हमारा मन, मस्तिष्क भी विकारग्रस्त हो जाता है।

परिवार के मुखिया तथा समझदार सदस्यों पर यह दायित्व आ जाता है कि वे अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों की मानसिक भूख को शांत करने का भी समुचित प्रबन्ध करें। भक्ष्याभक्ष्य का जो विवेक भोजन के सम्बन्ध में बरता जाता है वैसा ही स्वाध्याय तथा सत्संग के सम्बन्ध में बरता जाय। इसके लिये एक घण्टा या दो घण्टे का समय निश्चित कर देना चाहिए। इस समय भोजन की तरह अनिवार्य रूप से सभी को स्वाध्याय व सत्संग में आना ही चाहिए, ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए।

इस प्रकार की व्यवस्था नहीं बनती है तो परिवार के वे सदस्य जिन्हें यह पता नहीं लगता है कि मन, मस्तिष्क को भी भूख लगती है और उसे भी शुद्ध, पवित्र व पोषक आहार की आवश्यकता होती है तो वे अपनी अनजानी भूख को इधर-उधर तृप्त कर आते हैं।

हम अपने रोजमर्रा के जीवन में देखते हैं कि महिलाएँ अत्यधिक बातूनी होती हैं। इनकी बातों के विषय प्रायः एक दूसरे की निन्दा व टीका-टिप्पणी होती है। इसका मूल कारण यही मानसिक भूख तथा उसे गलत खाद्य मिलता रहना है। पहले महिलाओं की पढ़ाई पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। वे प्रायः अशिक्षित होती थीं। उन्हें पुरुष से नीचा माना जाता था। अतः पुरुषों की अपेक्षा उनके मानसिक पोषण पर कम ध्यान दिया जाता था। फिर भी भूख तो भूख ही है वह इधर-उधर की बातों में ही तृप्त होती रही। यह भूख कितनी प्रबल होती है उसका उदाहरण गाँवों के पुराने पनघटों पर देखने को मिल जाता है। ग्रामीण महिलाएँ सिर पर सेरों पानी का बोझ उठाये देर तक बातें करती रहती हैं। उन्हें उसका पता ही नहीं चलता।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय कई स्वाध्यायशील नेताओं को जेल में पढ़ने के लिये पुस्तकें नहीं दी जाती थीं। इसके पीछे उनकी मानसिक भूख को अतृप्त रखने का ही उद्देश्य है। डॉ० राममनोहर लोहिया जब लाहौर की जेल में थे तो उन्हें महीनों तक पुस्तकों के दर्शन ही नहीं होते थे। यह उन जैसे अध्ययनशील व्यक्ति के लिये भोजन न देने से भी बड़ी सजा थी। परिवार के वे मुखिया जो परिवार वालों के भोजन, वस्त्र, मकान आदि शारीरिक आवश्यकताओं को पूरी करके ही अपने दायित्व की इतिश्री समझ लेते हैं वे अपने परिवार वालों

को अनजाने में वैसी ही सजा देते हैं जैसी डॉ० लोहिया को साम्राज्यवादी विदेशी सरकार ने दी थी।

बच्चों के बढ़ते हुए शरीर को जिस प्रकार अधिक पोषक आहार वयस्कों से अधिक बार चाहिए जिससे कि उनके वृद्धिशील शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती रहें वे कुपोषण के शिकार न हों। इसी भूख के कारण वे दिन भर 'भूख-भूख' करते रहते हैं। इसी प्रकार उनके मन मस्तिष्क को भूख लगती है। उसी के कारण वे अपने से बड़े सदस्यों से हरदम कोई न कोई प्रश्न पूछते रहते हैं। यह जिज्ञासा और कुछ नहीं उनके मन, मस्तिष्क की भूख ही होती है।

जिस प्रकार कड़ी भूख लगने पर पौष्टिक आहार लेकर शरीर का बल व आकार-प्रकार, सौष्ठव जा सकता है उसी प्रकार बालकों को शारीरिक व मानसिक खाद्य मिलता रहे तो उनके भावी जीवन के प्रासाद की नींव सुदृढ़ हो जाती है। बालकों के मन में जो संस्कार इस काल में भरे जा सकते हैं वे बड़े हो जाने पर सम्भव नहीं हो सकते। वे अपनी जिज्ञासा की तृप्ति के लिये अपने माता-पिता से जो प्रश्न पूछते हैं उनका उत्तर यदि सावधानी व बुद्धिमत्ता पूर्वक दिया जा सके तो उनकी बहुत कुछ मानसिक क्षुधा तृप्त की जा सकती है। यही नहीं उनका बहुत कुछ शिक्षण भी इसके साथ किया जा सकता है।

इतने महत्त्वपूर्ण मानसिक पोषण की ओर आज तक अधिकांश परिवार के कर्ता ध्यान नहीं दे पाये। किन्तु इस ओर अब उन्हें ध्यान देना ही चाहिए। कुछ घण्टे पूरी तरह इसी प्रयोजन के लिये रखे जायें। यों तो जब भी समय मिले बातचीत के दौरान इस बात का ध्यान रखा जाय कि परिवार के सदस्यों के मन, मस्तिष्क को खुराक मिलती रहे।

परिवार में सभी सदस्यों के मानसिक विकास के लक्ष्य को पूरा करने वाली सुरुचिपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं व साहित्य को बजट में स्थान मिलना चाहिए। शरीर की पुष्टि के लिये आहार की मद में जितनी राशि रखी जाती है उसका दशमांश तो इस मद में रखना ही चाहिए।

शाम के समय जब भोजनादि से सब लोग निवृत्त हो जाते हैं तब मनोरंजन व स्वाध्याय दोनों उद्देश्यों को पूरा करने की गरज से शिक्षाप्रद कहानी कहने या कोई अच्छी शिक्षाप्रद पुस्तक पढ़ने का क्रम चलाना चाहिए। इसमें परिवार के सब सदस्यों का सहयोग रहे तो ज्ञान वृद्धि व जीवन निर्माण की दिशा में बहुत उपयोगी कदम हो सकता है।

बच्चों को तो कहानी सुनने में बड़ा ही रस आता है। उन्हें भूत-प्रेत व परियों की कहानियाँ न सुनाकर शिक्षाप्रद कहानियाँ तथा महापुरुषों के जीवन वृत्तान्त सुनाये जायें तो उनसे वे बहुत कुछ सीख सकते हैं। भय, रहस्य व कपोल कल्पना पर आधारित कहानियाँ बच्चों के विकास में बाधक बनती हैं। महापुरुषों के जीवनवृत्त इसके लिए बहुत ही उपयुक्त हैं।

२.४२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

जिन परिवारों में सब लोग पढ़े-लिखे हैं और उनकी वय तथा रुचियाँ भिन्न हैं तो वे अपनी पढ़ी हुई पुस्तक या पत्रिका की महत्त्वपूर्ण बातें इस समय सुना सकते हैं। इससे सभी का सभी विषयों में सामान्य ज्ञान बढ़ेगा। देश-विदेश के समाचारों तथा समाज में पनप रही विकृतियाँ व चल रही गतिविधियों पर चर्चा भी यहाँ हो सकती है।

जिन परिवारों में पढ़े-लिखे व्यक्ति कम हैं तो वे पढ़े-लिखे व्यक्ति चाहे किसी वय के हों अपने परिवार के अन्य सदस्यों से वे सब बातें बताएँ जो दूसरों के लिए उपयोगी हैं और उसकी ज्ञान-वृद्धि के लिये आवश्यक हैं। माता-पिता को यदि पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं मिला और वे अपने पुत्र, पुत्रियों को पढ़ाने में रुचि रखते हैं तो उनके अक्षर ज्ञान व पढ़ाई से लाभ उठाएँ, उनसे काम की पुस्तकें पढ़वाएँ या स्वयं पढ़ना सीख लें। जिनके पास जीवन का अनुभव है भले ही वे पढ़े-लिखे न हों तो उस अनुभव को पढ़े-लिखे लोग भी उनकी बातों के द्वारा पा सकते हैं। इस प्रकार यह पारस्परिक सहयोग का क्रम परिवार के समग्र विकास में बहुत सहायक होगा।

बिना रसोईघर के घर की कल्पना जिस प्रकार नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना स्वाध्याय का क्रम चलाये परिवार की कल्पना भी आधी-अधूरी ही रहेगी। इस सत्य को जितना शीघ्र स्वीकार कर लिया जाय व वैसी व्यवस्था बनायी जाय, परिवार निर्माण की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

परिवार निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण

परिवार-निर्माण का अर्थ सन्तान संख्या का विस्तार करना नहीं और न यह है कि किसी तरह मन से सर्वथा पृथक् लोगों को एक बाड़े में बन्द किये रहने का आग्रह करते रहा जाय। कुटुम्ब बड़ा हो या छोटा, उसकी शोभा सफलता इस बात में है कि सुव्यवस्था एवं सुसंस्कारिता को उसमें कितना प्रश्रय मिल रहा है और गुण, कर्म, स्वभाव की विभूति सम्पदा यहाँ किस कदर बढ़ रही है। इस प्रयोजन में गरीबी या व्यस्तता बाधक नहीं है। कठिनाई एक ही रहती है कि घर के लोगों को शरीर सुख ही ध्यान में रहता है, उनके दृष्टिकोण एवं भावनास्तर को ऊँचा उठाने की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती और न उसके लिए कुछ प्रयत्न ही किया जाता है।

बात तब बनेगी जब यह समझा जाय कि शारीरिक सुख या आर्थिक सुविधा का महत्त्व अति स्वल्प है, उतने भर से आलसियों, विलासियों और अहंकारियों जैसी विडम्बनाएँ ही हाथ लगती हैं। व्यक्तित्व का विकास, चिन्तन एवं दृष्टिकोण की प्रखरता पर निर्भर रहता है। आध्यात्मिक न सही, भौतिक ही सही किसी भी क्षेत्र में दूसरों को प्रभावित कर सकने वाला व्यक्ति ही सफल हो

पाता है। यह आकर्षण वेश विन्यास का नहीं गुण-सम्पदा का ही होता है। दुर्गुणी व्यक्ति अपने निकटतम व्यक्तियों को ही रुष्ट रखता है और उनके सहज सहयोग तक से वंचित बना रहता है। इसके विपरीत सद्गुणी अपनी सुगन्ध से रास्ता चलने वालों तक को आकर्षित करता है और उन्हें अपना प्रशंसक, मित्र और सहयोगी बना लेता है।

बाप-दादों की कमाई बैठे-बैठे खाना अथवा चोरी, चालाकी से वैभव खड़ा कर लेना दूसरी बात है, पर यदि किसी को किसी भी क्षेत्र में वास्तविक सफलता प्राप्त करनी हो तो उसके लिए सद्गुणों की सम्पदा अनिवार्य रूप से आवश्यक है। मानवी प्रगति के प्रत्येक पक्ष में दूसरों का सहयोग आवश्यक होता है। यह सहयोग किसी को अनायास ही नहीं मिल जाता; वरन् प्रामाणिकता की परख पर सही सिद्ध होने वालों को ही यह अनुदान उपलब्ध होता है। चोर-चोर मौसेरे भाई तो हो सकते हैं, पर वह रिश्ता तभी तक चलता है जब तक वे एक-दूसरे के अनैतिक स्वार्थों को सिद्ध करते रहते हैं। जैसे ही उसमें शिथिलता आई वैसे ही वह मैत्री बालू की दीवार की तरह विस्मार होती दिखाई देती है। प्रगति के ठोस आधारों में दूसरों का विश्वास और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मिलने वाला सद्भाव भरा सहयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है। जिसने यह उपार्जन कर लिया, समझना चाहिए कि उसकी प्रगति का द्वार खुल गया, वह भौतिक या आत्मिक किसी भी क्षेत्र में अपने स्नेही सहयोगियों की सहायता से आगे बढ़ सकने में समर्थ हो सकता है।

दूरदर्शी गृहपति अपने परिवार के लिए आर्थिक साधन जुटाते रहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर देते, वरन् पूरी सतर्कता और गम्भीरता के साथ यह अनुभव करते हैं कि इन आत्मीयजनों को चिन्तन एवं स्वभाव की दृष्टि से भी सुसम्पन्न बनाया जाय। जहाँ यह मान्यता काम कर रही होगी और इसके लिए प्रयत्न चल रहे होंगे वहाँ सुसंस्कारिता बढ़ेगी और उसकी बहुमूल्य फसल से घर के लोग यथासमय लाभान्वित होंगे। परिवार के प्रति मोह, ममता तो सभी रखते हैं, पर जहाँ दूरदर्शी आकांक्षा जग रही हो, समझना चाहिए कि परिवार के प्रति उत्तरदायित्व निबाहने की बात यहीं बन पड़ रही है।

स्पष्ट है कि किसी को भी हर घड़ी आदर्शवादित्वापनाने की शिक्षा नहीं दी जा सकती। इस दिशा में अति करने से उलटी प्रतिक्रिया होती है। समयानुसार परोक्ष रूप से ही इस प्रकार का प्रशिक्षण किया जा सकता है। किसी दिशा में अधिक सोचना, उसकी उपयोगिता समझना और जो उपयुक्त जँचे उसे अपनाना मनुष्य का काम है। इस सन्दर्भ में सहायता भर की जा सकती है। आग्रह थोपा नहीं जा सकता। यदि थोपा जा सका होता तो गाँधीजी जैसे महापुरुष के बड़े पुत्र हीरालाल गाँधी को जहाँ-तहाँ भर्त्सना क्यों सहनी पड़ती? तब हिरण्यकश्यपु जैसे प्रभावशाली का पुत्र क्यों न अपने पिता का अनुसरण

करता ? थोपने से मनुष्य की जीवन्त चेतना को किसी दिशा में ढाला नहीं जा सकता, बाध्य तो शरीर ही किया जा सकता है । अन्तःचेतना को दिशा देने वाले साधन ही जुटाये जा सकते हैं । उस प्रकार का रुझान उत्पन्न करने वाला वातावरण ही बनाया जा सकता है । उसी के लिए शक्तिभर प्रयत्न करना गृहस्वामी का कर्तव्य है । इस दिशा में सतर्क और प्रयत्नशील रहा जाय तो उतने भर से बहुत काम चल सकता है ।

इस सन्दर्भ में जो साधन-सामग्री जुटाई जानी चाहिए उसमें प्राथमिकता घरेलू पुस्तकालय को, ज्ञान-मन्दिर को दी जानी चाहिए । यह हर विचारशील परिवार की अनिवार्य आवश्यकता है । पेट की भूख बुझाने के लिए हर परिवार का एक रसोईघर, अन्नभंडार अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है । ठीक उसी प्रकार मस्तिष्क की अन्तःकरण की भूख बुझाने के लिए ज्ञान भंडार भी होना ही चाहिए । पेट का महत्त्व समझा जाय और अन्तःकरण की उपेक्षा की जाय तो ही ज्ञान-भंडार को निरर्थक कहा जा सकता है । जो चेतना का, चिन्तन का, दृष्टिकोण का, अन्तःकरण का, भाव सम्वेदनाओं का कोई मूल्य नहीं समझते जिनके लिए धन और विलास ही सब कुछ है, उन्हें ज्ञान सम्पदा का महत्त्व बताया, समझाया जा सकता कठिन है । पर जिन्होंने यह समझ लिया है कि मानवी सत्ता, चिन्तन और चेतना के स्तर पर ही समुन्नत और पतित होती है, सम्पन्न और दरिद्र बनती है उन्हें यह स्मरण भर दिलाना पर्याप्त होगा कि शरीर की तरह आत्मिक चेतना की भी कुछ भूख होती है और उसका साधन जुटाना पेट भरने की सामग्री जुटाने से कम नहीं वरन् कुछ अधिक ही आवश्यक है । घरेलू पुस्तकालय की स्थापना इसी अभाव की पूर्ति करती है ।

कूड़े-कचरे की तरह किस्सा, कहानियों की, धर्म ढकोसलों की बेकार पुस्तकें हर घर में पाई जा सकती हैं; पर ऐसे विचारशील परिवार विरले ही मिलेंगे जिन्होंने घर के हर सदस्य को भावनात्मक परिष्कार कर सकने वाले साहित्य को प्रयत्न करके तलाश किया हो । अच्छी पुस्तकें खरीद ली जायें और उन्हें उपेक्षापूर्वक किसी मेज, अलमारी में पटक दिया जाय तो उतने भर से भी कुछ काम नहीं चलता । उन्हें आवश्यक महत्त्व देने के लिए सुसज्जित स्थान पर सुसज्जित रूप में रखना, उनका महत्त्व समझाना और स्नेह, दुलार के साथ पढ़ने या सुनने के लिए सहमत करना भी एक बड़ा काम है ।

निम्नगामी मानसिक हलचलें उत्पन्न करने वाले ओछे, उथले साहित्य में तो हर किसी की सहज रुचि होती है । पानी नीचे की ओर तो अपने आप बहता है, पर यदि उसे ऊपर लाना हो तो कई तरह के साधन जुटाने और श्रम करने की आवश्यकता पड़ेगी । ठीक यही बात कुरुचि को सुरुचि की ओर मोड़ने के सम्बन्ध में भी है । विवेकशीलता उत्पन्न करने वाला साहित्य आमतौर से नीरस समझा जाता है और उसे पढ़ने में अरुचि रहती है;

इस ओर रुचि उत्पन्न करना उपयोगी पुस्तकें खरीदकर घर में रख देने से भी अधिक कठिन काम है । पैसा तो किसी प्रकार खर्च किया भी जा सकता है, पर यदि खरीदी पुस्तकों को किसी ने पढ़ा ही नहीं तो घर में बेकार का कूड़ा-करकट बढ़ा और उद्देश्य कुछ भी पूरा न हुआ । अस्तु, जहाँ ज्ञान मन्दिर की उपयोगिता समझी जाय, वहाँ यह जिम्मेदारी भी मानी जाय कि सारी व्यवहारकुशलता का प्रयोग करके उन्हें पढ़ने के लिए प्रोत्साहन भी दिया जायगा और इसकी देखभाल भी रखी जायगी कि वैसा हो भी रहा है या नहीं ।

जो बिना पढ़े हैं, उन्हें पढ़कर सुनाया जाना चाहिए । एक तरीका यह भी है कि इस प्रकार का साहित्य पढ़े जाने और सुने जाने का क्रम बनाया जाय और उसके लिए नियत समय निर्धारित किया जाय । यदि गृहपति स्वयं पुस्तकें सुनाने लगे और जो पढ़ाया सुना गया है उसे गहराई से समझने, न समझने की परीक्षा रूप से पूछताछ करने लगे तो उस पाठन का महत्त्व और भी बढ़ सकता है और कुछ दिन में सारे परिवार की सहज रुचि उस ओर ढल सकती है ।

अब गुरुकुल रहे नहीं-धर्मोपदेश के नाम पर निरर्थक बिडम्बनाएँ चलती और भ्रम फैलाती रहती हैं । जीवनोपयोगी शिक्षा के लिए घर के लोगों को किसी विद्यालय में पढ़ने भेजा जाय यह तो सम्भव नहीं । ऐसे सुयोग्य शिक्षक अपने घर में आकर रहने लगे, यह भी असम्भव है । फिर ऐसे सूक्ष्मदर्शी, प्रभावशाली लोग हैं भी कहाँ जो व्यक्ति की, समाज की वर्तमान समस्याओं का सही और सामयिक समाधान प्रस्तुत कर सकें । इन सब कठिनाइयों का समाधान घरेलू पुस्तकालय की स्थापना से ही सम्भव हो सकता है । जीवित या स्वर्गीय महामानवों की अति महत्त्वपूर्ण शिक्षा किसी भी समय कितने ही देर प्राप्त करते रहने, उनके साथ सत्संग करते रहने का उपाय एक ही है कि इनके ग्रन्थों को ध्यानपूर्वक, श्रद्धापूर्वक पढ़ा जाय और यह मनन किया जाय कि उस कसौटी पर अपनी स्थिति कितनी खरी उतरती है ? साथ ही यह भी मनन किया जाय कि उत्कृष्टता अपनाने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है ।

बड़े-बड़े धर्म-ग्रन्थों से घर की शोभा बढ़ती है । आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ विशिष्ट लोगों के लिए विशिष्ट प्रयोजनों के लिए लिखे हैं । परिवार के लोगों को उनके स्तर के अनुरूप उनकी समस्याओं का समाधान करने वाली सरल पुस्तकें ही उपयोगी हो सकती हैं । बड़छड़े की पीठ पर हाथी का हौदा नहीं लादा जा सकता । बच्चों, किशोरों, महिलाओं, छात्रों तथा काम-काजी तरुणों को उनकी वर्तमान स्थिति में जो समस्याएँ सामने हैं उनका व्यावहारिक हल बताने वाली पुस्तकें ही घरेलू पुस्तकालय के काम की हो सकती हैं । बड़े धर्म-ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा तो रखी जाय, पर साथ ही यह समझा जाय कि वे परिवार के सदस्यों का सामयिक एवं व्यावहारिक मार्गदर्शन नहीं

कर सकते। ऐसी दशा में उन्हें पढ़ने का आग्रह किया जाय और वह कार्यान्वित होने भी लगे तब भी अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध न होगा। अस्तु, घरेलू पुस्तकालय की स्थापना पढ़ने के लिए प्रोत्साहन का क्रम बनाने के साथ उपयोगी पुस्तकों के चुनाव का भी अति सतर्कतापूर्वक ध्यान रखा जाना चाहिए।

इस प्रयोजन के लिए कुछ तो पैसा खर्च होना ही है। उसे अन्न, शाक, दूध, दवा, कपड़ा, साबुन स्तर का अनिवार्य रूप से आवश्यक दैनिक खर्च मानकर ही चलना चाहिए। कभी उत्साह, कभी उपेक्षा का उतार-चढ़ाव उसमें नहीं चलना चाहिए। यह दैनिक और अनिवार्य खर्च है? इसको स्मरण रखने और आदत का अंग बनाने के लिए यह विधि अपनाई जानी चाहिए कि घर के किसी पवित्र स्थान पर, पूजा स्थल पर ज्ञानघट स्थापित किया जाय और इस मद को जितना महत्त्व दिया गया हो उतना पैसा उस पेटी में नियमित रूप से डाला जाय। खुले पैसे की वैसे भी अब किल्लत नहीं रही, पर यदि उसमें झंझट लगता हो तो उतने पैसे की एक छोटी पर्ची उसमें डाली जा सकती है और उन्हें हर महीने नोट रुपयों में बदला जा सकता है। इस राशि से हर महीने या कई महीने का पैसा इकट्ठा करके एक साथ कई नई पुस्तकें खरीदी जा सकती हैं।

आरम्भिक स्थापना के अवसर पर कुछ अधिक खर्च हो सकता है। इसके लिए अलग से एक सुन्दर कपाट बन सकता हो और उस पर ज्ञान मन्दिर का अलग से एक सुन्दर छोटा बोर्ड लग सकता हो तो घर में आने वाले अन्य लोगों को भी इसकी उपयोगिता समझने का अवसर एवं प्रोत्साहन मिल सकता है। आरम्भ में कुछ अधिक पुस्तकें खरीदने से ही तो यह स्थापना सम्भव होगी, इसलिए उसे रेडियो, टेलीविजन, जेवर, सिलाई की मशीन, बिजली का पंखा जैसी उपयोगी वस्तुएँ खरीदने की तरह ही आवश्यक कार्य मानकर साहसपूर्वक कुछ राशि खर्च कर देनी चाहिए। मुहल्ले का, गाँव का पुस्तकालय स्थापित करना भी इस प्रयोजन की पूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, उसके लिए भी उतना ही उत्साह, त्याग एवं प्रयत्न करना आवश्यक है जितना कि घरेलू पुस्तकालय के लिए। इस सामूहिक पुस्तकालय से तो माँगकर भी अपने परिवार की आवश्यकता पूरी की जा सकती है।

परिवार-निर्माण की पुण्य प्रक्रिया

मनुष्य अपने जीवन के लिए ही सब कुछ नहीं करता देह की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं। वह तो थोड़े प्रयत्न से ही पूरी हो सकती हैं। दिन-रात काम में लगे रहने की आवश्यकता तो परिवार के सुख-सुविधा के साधन जुटाने के लिए है। भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा-साधन,

दवादारू, मनोरंजन, विवाह-शादी, सुख-सुविधा की जिम्मेदारी इतनी बड़ी हो जाती है कि उसे जुटाने में ही मनुष्यों को दिन रात शारीरिक तथा मानसिक श्रम करना पड़ता है। कई बार तो वह श्रम इतना अधिक और इतना आवश्यक होता है कि निज के स्वास्थ्य, विश्राम, विकास और विनोद तक को उठाकर ताक पर रख देना पड़ता है। आत्मकल्याण एवं परमार्थ जैसे आध्यात्मिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अवकाश नहीं रह जाता।

परिवार भी एक प्रकार से अपना ही शरीर है। जिस प्रकार हाथ अपने लिए नहीं, समस्त शरीर के लिए कामते हैं उसी प्रकार परिवार के समर्थ व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, अपितु सारे कुटुम्ब के लिए श्रम संलग्न रहते हैं। वह स्वाभाविक क्रम है और उसमें सब कोई अपने-अपने ढंग से लगा रहता है। फिर भी देखा जाता है कि परिवार न तो सुखी रह पाते हैं और न सुविकसित होते हैं। जिन कुटुम्बियों के लिये इतना प्रयत्न किया गया था वे तो अपनी गतिविधियाँ ऐसी नहीं रख पाते, जिनसे अपने को सन्तोष एवं प्रसन्नता मिले। सच तो यह है कि अधिकांश परिवारों के लोग अपने आचरण, व्यवहार से एक-दूसरे को दुःख ही पहुँचाते हैं। लोक-लज्जावश घर में इकट्ठे रहते तो हैं पर इच्छा यही बनी रहती है कि यदि एक-दूसरे से अलग या दूर रहें तो ही अच्छा।

इन असन्तोषजनक पारिवारिक परिस्थितियों की जिम्मेदारी उक्त भूल पर है, जिससे उत्तरदायी व्यक्तियों द्वारा घर के लोगों की शारीरिक, आर्थिक, सुख-सुविधाओं का तो ध्यान रखा जाता है, पर उनके भावनात्मक एवं चारित्रिक निर्माण की ओर से उपेक्षा बरती जाती है। कर्तव्य की उपेक्षा, इतना बड़ा और इतना वास्तविक पाप है कि उसका दंड अनिवार्य रूप से मिलता है। शरीर निर्माण की ओर से उपेक्षा बरती गई तो शरीर जर्जर हुए, मन का निर्माण भुलाया गया तो मस्तिष्क कुसंस्कारी एवं अशान्त बन गया। परिवार का ही ख्याल रख निर्माण का कर्तव्य भुला दिया तो इसके परिणामस्वरूप परिवार नारकीय दोष-दुर्गुणों से भर गये और जहाँ गृह-उद्यान का हर पौधा प्रमुदित-सुरभित रहना चाहिए था, वहाँ कुढ़न और क्लेश से भरे हुई अशान्ति एवं उद्विग्नता ही हाथ रह गई।

इसमें भाग्य को या किसी दूसरे को दोष देना व्यर्थ है। अपनी हर भली-बुरी परिस्थिति की जिम्मेदारी हमें ही स्वीकार करनी चाहिए। घर वालों के जिस पहलू पर हमने ध्यान दिया, वह विकसित हुआ। शिक्षा पर ध्यान दिया तो पढ़ाई-लिखाई में उन्नति हुई। रहन-सहन का स्तर बढ़ाना चाहा तो वह बढ़ गया। सौन्दर्य-सजावट को पसन्द किया तो घर वाले उसे भी सीख गये, पर यह ध्यान ही न रहा कि भावनात्मक और चारित्रिक विकास इन सभी बातों से ऊपर है। शिक्षा, स्वास्थ्य, धन खोकर तो मनुष्य अपने व्यक्तित्व, व्यवहार एवं सन्तोष को बनाये रख सकता है पर यदि आन्तरिक विकास न हुआ तो समस्त सुख-सुविधा के साधन होते हुए भी अशान्ति एवं

और भी अधिक दुर्गुणी बना देती है तब उसकी वह बुद्धि या सम्पत्ति उलटी विपत्ति का कारण बनती है। इसलिए जिनमें थोड़ी भी दूरदर्शिता हो, उन्हें यह भी अनुभव करना चाहिए कि परिवार का भावनात्मक निर्माण उनकी भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने से भी अधिक आवश्यक है।

देखा गया है कि पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्रचुर सम्पत्ति मिलने पर भी सन्तान उसका लाभ न उठा सकी। आलस्य, प्रमाद, व्यसन, दीर्घसूत्रता, अहंकार, लापरवाही जैसे छोटे-छोटे दुर्गुणों के कारण वह सारी सम्पदा कुछ ही दिनों में स्वाहा हो गई। जहाँ घाव होता है, वहीं कीड़े पड़ते हैं। जहाँ असावधानी, आलस्य सरीखे दुर्गुण रहते हैं वहाँ उन्हें ठगने-लूटने वाले अनेक पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार अभिभावक अच्छा खिला-पिलाकर बच्चों को हठ-पुष्ट बना दें तो भी इस बात का क्या भरोसा कि वे अन्त तक स्वस्थ एवं नीरोग बने रहेंगे। नशेबाजी, व्यभिचार, चटोरेपन आदि थोड़े से दोष ही उस हठ-पुष्ट शरीर को कुछ ही दिनों में रोगग्रस्त, अल्पायु एवं जीर्ण-जर्जर बना सकते हैं। विवाह के लिये अच्छा जोड़ा ढूँढ़ दिया जाय, तो भी कोई भरोसा नहीं कि उनका दाम्पत्य जीवन सुखी ही बना रहेगा। असहिष्णुता, अविश्वास, अहंकार, असहयोग जैसे थोड़े से दुर्गुण उस दृष्टि से एक-दूसरे के लिए उपयुक्त जोड़े को परस्पर द्वेष दुर्गतिग्रस्त कर सकते हैं और उनका गृहस्थ जीवन नरक जीवन बन सकता है। एक-दूसरे से अलग हो सकते हैं। आग की छोटी-सी चिंगारी बड़े से बड़े वन या नगर को भस्मसात कर सकती है। छोटे-छोटे दुर्गुण जो देखने में मामूली और महत्वहीन मालूम पड़ते हैं, मनुष्य को दुःख-दरिद्र के गर्त में धकेल सकते हैं और उनके सम्पर्क में रहने वालों का सुख-सन्ताप नष्ट हो सकता है।

ऐसे अगणित उदाहरणों से इतिहास के पन्ने भरे हैं जिनमें अत्यन्त छोटी, गई-गुजरी एवं अभावग्रस्त परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों ने इतना उत्कर्ष किया, जिसे देखकर दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती है। उन्होंने इतनी सहायता-सुविधा कहाँ से प्राप्त कर ली जिससे वे अन्धकार को चीरते हुए प्रकाश की ओर बढ़ सके? इसका एक ही उत्तर है 'उनके भावनात्मक एवं चारित्रिक स्तर का परिष्कृत होना।' सदगुणों के आधार पर मनुष्य क्या नहीं कर सकता? जिसमें आन्तरिक महानता होगी, वह बाहरी क्षेत्र में हर साधन-सुविधा किसी न किसी प्रकार कहाँ न कहाँ से प्राप्त कर ही लेगा।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक अभिभावक को-परिवार के समर्थ संचालक-को यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि उसके कुटुम्ब का हर व्यक्ति बाहरी दृष्टि से ही नहीं, आन्तरिक दृष्टि से भी समुन्नत बने। सदगुणों की पूँजी ही वह पूँजी है, जिसके बल पर कोई व्यक्ति अपनी एवं अपने साथियों की सुख-सुविधा बढ़ा सकता है, आनन्द

एवं संतोष की जिन्दगी जी सकता है। यह सम्पत्ति जिसने अपने परिजनों को दी; समझना चाहिए कि वह परिवार के ऋण से उन्मूलन हो गया और जिसने उपेक्षा बरती, समझना चाहिए कि उसने अपने एक अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य का पालन करने में चूक कर दी।

युग निर्माण योजना का मध्य बिन्दु परिवार-निर्माण है। व्यक्ति-निर्माण और समाज-निर्माण इसके ओर-छोर के दो सिरे हैं। परिवार-निर्माण का कार्य हाथ में लेने वाले को अनिवार्य रूप से अपना सुधार करना पड़ेगा। गीली मिट्टी से वैसा ही खिलौना बन सकता है जैसा कि साँचा हो। कुलपति को अपने गुण, कार्य, स्वभाव का ऐसा परिष्कार करना होता है जिसे घर के दूसरे सदस्य अपने अनुसरण में ला सकें। इस प्रकार परिवार-निर्माण का कार्य आत्मनिर्माण का सबसे सरल तरीका है। इसी प्रकार परिवारों को सुधार समाज-सुधार एवं विश्व-कल्याण का उद्देश्य भी सहज ही हुआ करता है। लोग अपने-अपने परिवारों को सुधार लें तो फिर समस्त विश्व के सुधर जाने में और क्या कठिनाई रह जायेगी?

हम अपने विचार परिवार को परिष्कृत बना लें तो यह एक सर्वोत्कृष्ट समाज-सेवा मानी जायेगी। इस प्रकार की पुण्य परम्परायें चलती रहने से ही इस देश को स्वर्गीय सुख लूटने का अवसर मिला है। आगे भी हमारी स्वर्गीय सुख-समृद्धि का यही आधार होगा। परिवार ही देश, समाज तथा वैयक्तिक उन्नति के आधार होते हैं। उनके निर्माण की पुण्य-प्रक्रिया फिर से प्रारम्भ होनी चाहिए।

परिवार निर्माण की सर्वतोमुखी सुखद सम्भावनाएँ

परिवार का अर्थ दाम्पत्य जीवन नहीं है। वह तो नये परिवार की शुरुआत है। सृजन और परिष्कार के लिए यह आवश्यक नहीं कि विवाह करके नया परिवार ही बनाया जाय और सृजन प्रयास वहीं से आरम्भ किया जाय। हर मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य होता है। इसके बिना किसी की गुजर नहीं। छोटे बालक अविवाहित होते हैं तो भी वे परिवार के महत्वपूर्ण सदस्य हैं और उस क्षेत्र में आदान-प्रदान से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कुँवारियाँ, विधवाएँ, परित्यक्ताएँ, कुमार, विधुर और विरक्त व्यक्ति भी किसी न किसी परिवार की छाया में रहकर ही सामान्य निर्वाह की सुविधा प्राप्त कर रहे हैं। साधु जमातों में, मठों में रहते हैं, बीमार अस्पतालों में और सैनिक छावनियों में। ऐसा निर्वाह संस्थान जिसमें एक दूसरे के साथ किसी न किसी प्रकार कर्तव्य, उत्तरदायित्व, अधिकार एवं सुविधाओं के सूत्र में बँधे हुए हैं परिवार कहे जा सकते हैं। गायत्री

२.४६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

परिवार या महिला परिवार एक स्थान पर नहीं रहता तो भी आदान-प्रदान के अति महत्वपूर्ण सूत्रों में बँधे होने पर कई प्रयोजनों में परस्पर गुंथे रहने के कारण यह भी परिवार कहे जाने की परिधि में आ गया। हमें परिवार निर्माण इसी व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। अंश-वंश के कुछ लोगों का एक घर में रहना छोटा परिवार है और समाज तथा विश्व बड़ा। पारिवारिकता एक दर्शन है जिसे अपनाये बिना अन्य प्राणियों का काम तो किसी प्रकार चल भी सकता है पर मनुष्य के लिए इसके बिना कोई गति ही नहीं। अस्तु, प्रकारान्तर से हर स्थिति के व्यक्ति को परिवार के साथ गुंथा रहना पड़ता है। ऐसी दशा में हर किसी के लिए आवश्यक है कि ऐसे महत्वपूर्ण संस्थान को परिष्कृत करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करे।

महिलाएँ प्रमुख भूमिका निभायें सो ठीक है। पर सब कुछ उन्हीं पर छोड़कर पुरुष वर्ग दूर से तमाशा देखे और उन्हीं से सब कुछ कर गुजरने की अपेक्षा रखे ऐसा नहीं हो सकता। मोर्चे पर लड़ना तो सैनिक को ही पड़ता है किन्तु उसे ठीक तरह लड़ सकने और विजयी बनकर लौटने के लिए दूसरों को भी कम प्रयत्न नहीं करने पड़ते। सैनिकों को भोजन, वस्त्र, आयुध, वाहन, प्रशिक्षण, मार्ग-दर्शन आदि अनेकानेक साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हें जुटाने में असंख्य मनुष्यों का अनवरत श्रम और नागरिकों का कर रूप में दिया गया अनुदान प्रचुर परिमाण में नियोजित होता है तब कहीं वह स्थिति बनती है जिसमें सैनिकों को सफलतापूर्वक मोर्चा सँभाल सकना संभव हो सके। जाग्रत नारी की भूमिका अग्रिम होगी यह निश्चित है पर परिवार निर्माण अभियान इतना बड़ा है जिसके लिए जाग्रत पुरुष की भी इससे कम कहीं अधिक ही प्रयास करने होंगे। सैनिक लड़ें तो पर उनका पथ प्रशस्त करने के लिए इंजीनियर, डॉक्टर, डाइवर, रसोइया, कारीगर आदि का अता-पता भी न हो तो विजय श्री प्राप्त करना तो दूर, मोर्चे तक पहुँचना एवं लड़ने के सार्थक बनने तक सम्भव न हो सकेंगे। जाग्रत महिलाएँ परिवार निर्माण की अग्रिम भूमिकाएँ निभायें और दूसरे लोग उसको भरपूर सहयोग करने तथा साधन जुटाने में किसी प्रकार कमी न रखें तभी बात बनेगी। महिला जागरण से अभिप्राय उस पुरुष वर्ग को भी सम्मिलित रखने का है जो इस महान प्रयोजन की उपयोगिता समझते हैं और उसमें सहयोग देने के लिए उत्सुक हैं।

जाग्रत नारी संगठित रूप से अपने निजी परिवार को तथा सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करे। इसके लिए समय निकाले और संघबद्ध होकर काम करे। उसे घर परिवार का कार्य भार वहन करते हुए भी इतना समय बच सकता है, जिसमें अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत कुछ किया जा सके। घर में भी संगठित प्रयास करने होंगे और बाहर सम्पर्क क्षेत्र में भी वही नीति अपनायी होगी। मिल-जुलकर काम करने की व्यवस्था न बन सकी तो न किसी

घर को, कुटुम्ब को सुसंस्कृत बनाया जा सकेगा और न सामूहिक प्रयत्नों से इस सृजन प्रवाह को अग्रगामी बनाया जा सकेगा। अतएव जाग्रत नारी को गृह-व्यवस्था की ही तरह परिवार परिष्कार का काम दैनिक कृत्यों में सम्मिलित करना है। वहाँ पुरुष वर्ग को भी अपने घरों की नारियों को इसके लिए समझाना, उत्साह भरना, सहयोग देना तथा अवसर प्रदान करने में पीछे नहीं रहना चाहिये। कैदी और जेलर की स्थिति बदली जानी चाहिए। जनसम्पर्क में आने पर पुरुष यदि कुमार्गगामी नहीं होता तो नारी के ऊपर यह अविश्वास करने की आवश्यकता नहीं है कि यदि वह नारी जाग्रति के लिए पड़ौस में जाना या पड़ौसियों को बुलाना आरम्भ करेगी तो दुराचारिणी हो जायेगी अथवा उनके काबू में न रहेगी। महिला जाग्रति के सदस्य भी यदि इसी क्षुद्रता से घिरे रहें और सामन्तवादी आतंक को छोड़ सकने में सहमत न हो सकें तो समझना चाहिए कि इतने दिन तक उनके घर में महिला जागरण अभियान का आलोक पहुँचना निरर्थक चला गया। प्रगति के लिए अवसर तो मिलना ही चाहिए। समय और सुविधा न मिले तो कोई भी, कुछ भी नहीं कर सकता। प्रत्येक भावनाशील पुरुष का इस युग-सन्ध्या में परम पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने घरों की, प्रभाव क्षेत्र की महिलाओं को अवसर देने और दिलाने का प्रयत्न करे कि वह अभियान की गतिविधियों को क्रियान्वित करते-करते लिए घर में तथा घर के बाहर उपयुक्त अवसर प्राप्त कर सके। इसके लिए समय सम्बन्धी सुविधा देने के लिए वर्तमान ढर्रे में आवश्यक हेर-फेर करना होगा अन्यथा बेतुकी अस्त-व्यस्तता में ही वह जकड़ी रहेगी और कुछ कहने लायक काम न होने पर भी घरे में घिरी बन्धनों में जकड़े कैदी की तरह समय गँवाती रहेगी। नर का प्रथम सहयोग यही हो सकता है कि वह महिला जागरण की गतिविधियों से अपने घर की तथा पड़ौस की महिलाओं को अधिक संख्या में सम्मिलित होते रहने का उपाय सोचे और निरन्तर प्रयत्न करके इस प्रकार परिस्थिति पैदा करे।

परिवार निर्माण मिशन की गरिमा को समझने वाले प्रत्येक नर-नारी को अपना समय, श्रम और मनोयोग जितना सम्भव हो उतना उसमें लगाने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। इस अनुदान के लिए समर्पित किए गये अनुदान नकद रुपये की तरह हैं, जिनका प्रतिफल हाथों-हाथ मिलता है। अन्य पुण्य परमात्मा का फल प्राप्त करने के लिये देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है किन्तु यह शुभ कार्य ऐसा है जिनका प्रतिफल दूसरों को, समाज को जितना मिलना है उससे अनेक गुना उन्हें मिलेगा जो उसमें संलग्न होंगे, समय देंगे और श्रम करेंगे।

सुख-साधनों में शरीर के उपरान्त दूसरा नम्बर परिवार का ही आता है। धन का तीसरा, शिक्षा का चौथा और सम्मान का पाँचवा नम्बर है। शरीर कुछ अर्जित करने के लिए स्वास्थ्य रक्षा एवं विनोद विश्राम के अनेकानेक उपाय किये जाते हैं, किन्तु संयम के अभाव में दुर्बलता और

रुग्णता ही घेरे रहती है। परिवार के लिए आदमी बहुत कुछ करते और मरते खपते हैं किन्तु सुसंस्कारिता का वातावरण न बन पाने में उसमें भी सराय की तरह रहना और कैदखाने की तरह पिसना पड़ता है। घर परिवार में यदि सुसंस्कारिता बढ़ सके तो निश्चय ही संतोष, आनन्द और विकास विस्तार का एक द्वार खुला है। परिवार-निर्माण अभियान के लिए जो सोचा और किया जायगा उसका प्रभाव अपने कुटुम्बियों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इस क्षेत्र में जो सुधार, परिष्कार होगा उनका लाभ प्रियजनों को तो मिलेगा ही मिलेगा अपने निज के संतोष में भी असाधारण वृद्धि होगी। परिवार कल्याण के लिए किये गये प्रयत्न परिजनों के वर्तमान को सुखद और भविष्य को उज्ज्वल बनाते हैं। समाज को उसका आशातीत लाभ मिलता है। साथ ही स्वयं भी नरक से निकल कर स्वर्ग में पहुँचने जैसी अनुभूति होती है। उस प्रयत्न को अपनी कार्य-पद्धति में सम्मिलित करने के प्रस्तुत सुअवसर को छोड़ा न जाय इसी में दूरदर्शिता है।

हमारे परिवार स्वस्थ परम्पराओं के केन्द्र बनें

परिवार एक प्रयोगशाला है। उसमें सम्मिलित सदस्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने का प्रयोग एवं प्रयत्न करते हैं। एकाकी मनुष्य अधिक स्वार्थी और अधिक उच्छृंखल हो सकता है, पर जिन्हें मिल-जुलकर साथ रहना और एक दूसरे की सुख-सुविधा का कठिनाई एवं आवश्यकता का ध्यान रखना है-उन्हें स्वभावतः अपने ऊपर अंकुश रखना होगा, संयमशीलता का, आत्मानुशासन का पाठ पढ़ना होगा।

इस प्रयास में सबसे पहले परिवार तथा उसके सदस्यों को व्यवस्थित बनाया जाय। अनेकानेक सद्गुणों में व्यवस्था का अपना स्थान है। इसे जागरूकता, सतर्कता, कुशलता एवं सुरुचि सम्पन्नता की चार सत्प्रवृत्तियों का समन्वय कहा जा सकता है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि अपने घर-परिवार के प्रत्येक कार्य में व्यवस्था-बुद्धि का समुचित समावेश दृष्टिगोचर होता रहे। हर वस्तु यथास्थान रखी हो। हर काम समय पर और सही रीति से सम्पन्न हो।

पुरुष का काम है परिवार में सुसंस्कृत वातावरण बनाने और श्रेष्ठ परम्पराएँ स्थापित करने में पूरा-पूरा योगदान दे और अपने प्रभाव से पिछली अस्त-व्यस्तताओं का निराकरण करे। नारी का कर्तव्य है कि परिवर्तित प्रचलनों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए पूरी सतर्कता बरते और सुधार क्रम में शिथिलता न आने दे।

अस्त-व्यस्तता, आदतों के अभ्यास को बदलने में धैर्य और अध्यवसाय की जरूरत होती है। उतावली, उत्तेजना

भर्त्सना और प्रताड़ना जैसे भौंडे उपायों से सुधार कार्य में उल्टे और अवरोध खड़ा हो जाता है। जिन्हें सुधारा जाता है वे कटु विरोध से रुष्ट होकर दुराग्रह अपनाने लगते हैं। इसलिए अच्छा यही है कि धीरे-धीरे ध्यानपूर्वक किन्तु बराबर टोकते रहने पर, यह न करके यह करना चाहिए, जैसे परामर्श देकर देर-सबेर में न्यूनाधिक मात्रा में सभी को सुधारा जा सकता है। परिवर्तन क्रम सफल होने में देर लगे तो भी धैर्यपूर्वक उसे जारी ही रखा जाना चाहिए।

यह भूल नहीं जाना चाहिए कि प्रगति का घोंसला छोटी-छोटी आदतों के तिनकों से ही बुना जाता है। व्यवस्था, बुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास यदि घर की परम्पराओं में सम्मिलित करके नहीं रखा गया है तो यह असावधानी आगे चलकर महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व निबाहते समय भी आड़े आवेगी और उपेक्षावृत्ति के कारण रहने वाली छोटी-छोटी असावधानियाँ इकट्ठी हो होकर व्यक्ति को फूहड़, निकम्मा, गन्दा और असफल बनाती चली जायेंगी। अस्तु, नौकरों के रहते हुए भी स्त्रियों के सब कुछ कर लेने में समर्थ होते हुए भी इस व्यवस्था एवं स्वच्छता प्रयोजन में घर के प्रत्येक सदस्य को योगदान देना चाहिए।

सामूहिक रूप में करने से स्वच्छता व्यवस्था एक रचनात्मक मनोरंजन बन जाती है। दीवारों की पुताई, किवाड़ों तथा फर्नीचरों पर रंग-रोगन अपने हाथों मिल-जुलकर थोड़े से समय में और थोड़े से खर्च में आसानी से किया जा सकता है। फलतः घर सदा, सर्वदा, नित-नवीन दीखता रह सकता है। टूटी-फूटी वस्तुओं की मरम्मत करना एक कला है। एक गृह उद्योग है। इससे टूटी-फूटी बेकार प्रतीत होने वाली वस्तुएँ फिर नई हो जाती हैं, पैसा बचता है और हर वस्तु का पूरा और सही उपयोग करने की आदत बनती है। बर्तन, कपड़े, जूते, फर्नीचर, फर्श, पुस्तकों आदि की जिल्दें आदि वस्तुओं की मरम्मत करना सीखने की इच्छा हो तो कहीं से भी सीखा जा सकता है। उतना कोई भी जानकार सिखा सकता है। साप्ताहिक छुट्टी के दिन यदि टूट-फूट मरम्मत करना एक अच्छा मनोरंजन तथा शिल्प कौशल मान लिया जाय और उसमें भाग लेने के लिए घर के सब लोगों को आमन्त्रित कर लिया जाय तो वे सब सीख भी सकते हैं और एक नया दृष्टिकोण, नया स्वभाव विकसित कर सकते हैं। कहावत है कि जिसे टूटे को बनाना और रूटे को मनाना आता है उसे बहुत कुछ आता है।

बच्चों के पास काम कुछ नहीं रहता। स्वस्थ खेल खेलने की परिस्थितियाँ भी उनके सामने नहीं होती, ऐसी दशा में वे तोड़-फोड़ या लड़-झगड़ करने लगते हैं। उनकी दृष्टि में यह भी एक काम होता है। क्रियाशीलता कुछ करना-कराना चाहती है। बच्चों को और कुछ नहीं

२.४८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सूझता तो शैतानी करने लगते हैं। इससे उन्हें झिड़कने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त है कि किसी उपयोगी काम में लगाये रखा जाय। उससे वे अपनी क्रियाशीलता को रचनात्मक दिशा में मोड़कर भावी जीवन के लिए उपयोगी स्वभाव विनिर्मित कर सकते हैं। माताएँ उन्हें खेल का अनुभव कराते हुए घरेलू कामों में कुछ सहायता करते रहने में लगाये रह सकती हैं। इसमें कई लाभ हैं। श्रमशीलता, सहयोग की भावना, रचनात्मक क्रियाकलाप, परिवार निर्माण में योगदान का अभ्यास उस छोटे प्रयास से भी होता रह सकता है। शैतानी से उत्पन्न सिरदर्द से तो सहज ही बचत हो जायगी।

समय का विभाजन, निर्धारण और उसकी मुस्तैदी के साथ पालन यह ऐसा सदगुण है जो महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के निर्वाह में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है। घर के हर सदस्य को इस दिशा में उपेक्षा न बरतने के लिए कहा, समझाया जाना चाहिए। हर किसी की दिनचर्या नियम निर्धारित होनी चाहिए और जब तक कि और असाधारण अड़चन ही न आ जाय तब तक उसका पूरी मुस्तैदी के साथ पालन करने की आदत डालनी चाहिए। रात को जल्दी सोने और प्रातः जल्दी उठने की आदत इतनी ठीक है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही अच्छी है। अक्सर लोग रात को दस बारह बजे तक गपशप करते रहते हैं और सबेरे बहुत देर से धूप चढ़े उठते हैं। ऐसे लोग उस बहुमूल्य अवसर को गँवा देते हैं जो प्रातः जल्दी उठकर काम करने पर दूनी, चौगुनी सफलता के रूप में मिलता है। घर के प्रमुख सदस्य यदि अपने नियम इस प्रकार के बना लें तो ऐसा वातावरण बनने लगे जिसके प्रभाव से सारे सदस्य उसी क्रम में सहज ही ढल जावें।

प्रारम्भ में यह बातें छोटी-छोटी लगती हैं किन्तु सदगुणों के यह बीज विकसित होने पर जब अपना चमत्कार दिखाने लगते हैं तब पता पड़ता है कि इन उपेक्षित समझे जाने वाले नियमों का कितना महत्व है।

पुरुषों को चाहिए कि घर से बाहर जाने और वापस आने के समय में नियमितता बरतें, अनावश्यक प्रतीक्षा के कारण खीज उत्पन्न न होने दें। देर से आना हो या आकस्मिक अनिश्चित स्थिति आ जाय तो इसकी सूचना यथा सम्भव घर भिजवा दें। पुरुषों की अस्त-व्यस्तता में स्त्रियों का समय निर्धारण क्रम भी बिगड़ जाता है और उसके खाने, सोने, पढ़ने आदि में व्यतिक्रम पड़ने से जो गड़बड़ी पड़ती है उससे विक्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पूरे परिवार को समय की दृष्टि से नियमित होने की आदत डाली जा सके तो यह एक बहुत बड़ी बात है। इसके लिए नर और नारी के बीच पूरा-पूरा सहयोग होना चाहिए।

प्रातः से लेकर रात को सोने तक हर किसी का समय पूरी तरह व्यस्त होना चाहिए। उठते ही मल-मूत्र त्याग करने में किसी को भी आलस्य नहीं करने देना चाहिए। हाजत न होने पर भी आदत डालने की दृष्टि से भी नित्य-

नियत समय पर जाते रहना चाहिए। इससे देर-सवेर में वैसी ही आदत बन जायगी। जब हाजत होगी तब जायेंगे की मान्यता वाले निश्चित रूप से अपनी मल-विसर्जन प्रक्रिया को गड़बड़ा देते हैं और पीछे जन्म भर दुःख पाते हैं। शौच, स्नान, मंजन, कपड़े धोना आदि हर कार्य में नियमितता बरती जानी चाहिए और निर्धारित दिनचर्या के अनुसार एक क्षण भी व्यर्थ गँवाये बिना अपने-अपने कामों में हर किसी को जुटा रहना चाहिए। जिसके पास काम न हो उसे अध्ययन का काम देना चाहिए। खाली दिमाग में शैतान की दुकान खुली रहती है और खाली समय काटना जीवन लाभ लेने से वंचित कर देने वाली कुल्हाड़ी अपने पैरों आप मारने की बराबर है।

कुसंग में, अवारागर्दी में, मटरगश्ती में, गपशप में समय की बर्बादी अनेकानेक दोष-दुर्गुण पैदा करती है। समय को व्यस्त रखना और उपयोगी कर्मों में जुटे रहना प्रगति का पथ प्रशस्त करना ही उच्चकोटि का उत्पादक मनोरंजन भी है। जब अपने निर्धारित कर्मों में रस आने लगता है तो फिर अन्य मनोरंजक साधन ढूँढ़ने की आवश्यकता कभी-कभी ही पड़ती है। बच्चे से लेकर बूढ़े तक हर किसी को उपयोगी कार्यों में अपनी-अपनी स्थिति और सामर्थ्य के अनुसार व्यस्त रहने की आदत डालनी चाहिए। इससे श्रम का सत्परिणाम तो प्रत्यक्ष सामने आता है, सबसे बड़ा लाभ है कि समुच्च का मूल्य समझने और उसका सहयोग करने में सतर्क रहने की उस सत्प्रवृत्ति का विकास होता है जो समयानुसार कल्पवृक्ष का काम करती है और प्रगति की दिशा में एक बड़े उपहार लाकर प्रस्तुत करती है।

सादगी अपनाने की सज्जनोचित शालीनता घर के हर सदस्य के स्वभाव का अंग बने। सुन्दरता और सुसज्जा की अभिरुचि को तो प्रोत्साहन देना चाहिए पर इसके लिए भौंडे, फूहड़, ओछे, बचकाने तरीके नहीं अपनाने चाहिए। हिप्पियों जैसा, सिनेमा के नट नर्तकों जैसा वेश विन्यास बनाना, तड़क-भड़क की रंग-बिरंगी आकर्षक पोशाकें पहनकर तथा शृंगार सामग्री से सज-धज कर अपनी बाल-वृत्ति दिखाना नितान्त बेहूदगी दिखाने का चिह्न है।

बच्चों को स्वच्छ तो रखा जाय पर 'फैशनेबिल' न बनाया जाय। बहुमूल्य वस्त्र आभूषणों से सजाना पैसे का अपव्यय तो है ही उनकी आदतों को भी बिगाड़ना है। सजधज उनके स्वभाव में सम्मिलित हो जाती है। बड़प्पन का अहंकार उनके सिर पर भूत की तरह चढ़ता है। साथियों से अधिक सम्पन्नता प्रकट करना अकारण ही ईर्ष्या, द्वेष का कारण बनता है और एक दूसरे का अनुसरण, करके उस उद्धत परम्परा को अपनाते हैं। अस्तु, फैशनपरस्ती की बीमारी उन्हें नहीं ही लगनी चाहिए। उन्हें समझदार और जिम्मेदार लोगों की तरह सादगी और सज्जनता का गौरव समझने देना चाहिए, इससे वे सादगी में हीनता न देखेंगे अपनी प्रामाणिकता पर स्वयं सन्तुष्ट होंगे और दूसरों की दृष्टि में वजनदार सिद्ध होंगे।

कहना न होगा कि मितव्ययता को प्रामाणिकता का सर्व स्वीकार चिह्न माना गया है। अपव्ययी लोग सदा पैसे की तंगी भुगतते हैं, कर्जदार रहते हैं और समझदार लोगों की दृष्टि में अविश्वसनीय ठहरते हैं। उनकी ईमानदारी सदा संदिग्ध रहती है। फिजूलखर्ची की पूर्ति अन्ततः बेईमानी से ही करनी पड़ती है। इसलिए व्यवहार बुद्धि के लिए फिजूलखर्ची लोगों को अपने यहाँ नौकर नहीं रखते न उनके साथ मित्रता अथवा किसी किस्म की रिश्तेदारी जोड़ते हैं। फिजूलखर्च लड़कों से साथ ब्याही हुई लड़कियों को आजीवन दुःख भुगतना पड़ता है। आर्थिक तंगी, आवारागर्दी और दुर्व्यसनों की पतनोन्मुख प्रवृत्ति की मार से अपव्ययी लोग सदा पिटते हैं और अपने आश्रितों को भी अपार कष्ट देते हैं। अस्तु, आरम्भ से ही यह सतर्कता बरतनी चाहिए कि घर का कोई सदस्य अनेक दुर्गुणों की खदान फिजूलखर्ची का शिकार न होने पाये।

गृह प्रबन्ध में परिवार के सदस्यों को कुछ न कुछ जिम्मेदारी सौंपी जानी चाहिए। समय-समय पर उन्हें इकट्ठा करके घर की स्थिति, आवश्यकता, कठिनाई एवं भविष्य की रूपरेखा से परिचित कराते रहना चाहिए तथा उनसे परामर्श लेते रहना चाहिए। यह रीति-नीति जिन घरों में अपनाई जाती है उनके सदस्य यह समझते रहते हैं कि पारिवारिक प्रगति एवं वर्तमान स्थिति में वे उसे किस हद तक निभा सकते हैं। घर का मालिक खुद ही मरता-खपता रहे, कुड़कुड़ाता, चिड़चिड़ाता रहे, इसकी अपेक्षा यह उत्तम है कि सभी सदस्य मन्त्रिमण्डल जैसे मिले-जुले उत्तरदायित्व को समझने और तदनुरूप अपनी गतिविधियाँ सही करने का विचार कर सकें। अच्छी आदतें सीखने का अवसर जहाँ मिल सके वस्तुतः वही सफल परिवार कहा जा सकता है।

दिशा बिगड़ने न दी जाय

परिवार संस्था लौकिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अतीव उपयोगी है, किन्तु तभी जब उसकी दिशा सही रहे। उसके साथ जुड़ी हुई आदर्श मान्यताएँ सृढ़ रहें। आज उन मान्यताओं में विकृति आने के कारण परिवारों की उपयोगिता प्रायः समाप्त होती जा रही है।

पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध ने परिवार-व्यवस्था को आज हिलाकर रख दिया है। आज जिधर भी दृष्टि डालें, एक ही दृश्य दिखाई पड़ेगा। लोग पारिवारिक जीवन से ऊबे, शोक-सन्ताप में डूबे, अपने भाग्य को कोसते नजर आते हैं। जहाँ किसी ने थोड़ी-सी सहानुभूति दिखाई, वहाँ अपने परिवार की बखिया स्वयं ही उधेड़ी जाने लगती है। बहुत ही कम परिवार ऐसे होंगे, जिनमें स्नेह-सौभाग्य की सुधा बहती दिखाई पड़े। अन्यथा घर-घर में कलह-क्लेश, कहा-सुनी, झगड़े-टंटे, मार-पीट, रोयाधोई, टूट-फूट, बाँट-बाँटवारा और रार-जिद फैली दीखती है। सास-पतोहू, पिता-पुत्री, भाई-भाई, ननद-

भाभी, देवर-भौजाई में ही नहीं पति-पत्नी में और बच्चों में लड़ाई-झगड़ा, द्वेष-वैमनस्य तथा मनोमालिन्य उठता-फैलता दिखाई देता है। आज का पारिवारिक जीवन कलुषित, कुटिल और कलहपूर्ण ही हो रहा है।

अपने पैरों पर खड़े होते ही पुत्र असमर्थ हो चुके वृद्ध रुग्ण माता-पिता को छोड़कर अलग घर बसा लेता है। भाई-भाई की उन्नति और समृद्धि को शत्रु की आँखों से देखता है। पति-पत्नी को चूस डालने को सचेष्ट है। पत्नी पति को चैन नहीं लेने देती। बहू-बेटियों को फैशन का सन्निपात ग्रसे है। छोटी सन्तानें जिद्दी, अनुशासनहीन तथा मूढ़ बनती जा रही हैं। परिवार के सभी सदस्यों के व्यसन बढ़ते जा रहे हैं और आय की व्यवस्था की चिन्ता किये बिना व्यय की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। कौटुम्बिक प्रतिष्ठा की कल्पना भी ध्यान में नहीं आती। जहाँ आत्मगौरव ही नहीं रहा, वहाँ पारिवारिक प्रतिष्ठा की किसे चिन्ता? परिवार के संवेदनशील सदस्य चिन्ता से चूर रहते और शरीर मन की थकान से भरे रहते हैं। परिवार की असहनीय परिस्थितियों के कारण लोग अपने जीवन-लक्ष्य की ओर, परोपकार एवं लोकसेवी जैसी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ नहीं पाते और अपने दुर्भाग्य को धिक्कारते हैं। ऐसे नारकीय पारिवारिक जीवन में सुख-शान्ति, सन्तोष-सौहार्द और सौभाग्य की उपलब्धि कर सकना सम्भव नहीं दीखता।

अनेक लोगों का कहना है कि आज पारिवारिक जीवन में फैली फूट, बिखराव तथा गृह-कलह का कारण आर्थिक अभाव है। यदि आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो जाएँ, आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति होती रहे, तो फिर मन में माधुर्य और स्वभाव में सरसता बने रहने में बाधा ही क्या है? आखिर क्रोध, चिड़चिड़ापन तथा असहिष्णुता इसीलिए तो होती है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परेशान है और आमदनी न बढ़ पाने के कारण बढ़ी हुई आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रही हैं? जहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त आमदनी हो वहाँ फिर असन्तोष की गुंजाइश कहाँ? वहाँ सभी शान्त, सन्तुष्ट, सुखी जीवन बिताते हुए मिल-जुलकर अवश्य रहेंगे।

पर यह धारणा पूरी तरह सही नहीं है। यदि पूरी तरह सही होती तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न परिवारों में गृह-कलह एवं बिखराव दिखाई नहीं देता। संसार में जहाँ गरीब परिवार भरे पड़े हैं, वहीं एक से एक पैसे वाले परिवार भी मौजूद हैं। यदि पारिवारिक सुख-शान्ति का आधार आर्थिक समृद्धि ही है तो हर धनवान परिवार को सुखी, सन्तुष्ट तथा संगठित रहना ही चाहिए, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। कई गरीब परिवारों में शान्ति एवं संगठन पाया जाता है। जबकि अधिकांश अमीर परिवारों में आये-दिन झगड़े और बैटवारे होते रहते हैं। धन के कारण घरों में न केवल कहा-सुनी हो जाती है, बल्कि खून-खराबी तक की नौबत आ जाती है। अमीर

२.५० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

घरों की महिलाएँ गहने-कपड़ों की कमी-ज्यादती को लेकर रार ठानती हैं और पुरुष आमद-खर्च को लेकर मल्लयुद्ध की मुद्रा अपनाये रहते हैं। ऊपर से लकड़क, मुस्कान भरी, मधुर दिखाई देने वाली धानियों की जिन्दगी में भीतर कटुता, क्लेश एवं खोखलापन ही अधिकतर पाया जाता है, सुख शान्ति कहीं-कहीं ही होती है। स्पष्ट है कि पारिवारिक सुख-शान्ति का प्रधान आधार धन नहीं हो सकता।

एक धारणा यह भी है कि औद्योगीकरण के दबाव से परिवार का ढाँचा बदलता है। औद्योगीकरण से व्यस्तता बढ़ती है और सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन आता है। शहरी व्यस्तता पारिवारिक जीवन की एकता को खा जाती है, किन्तु यह मान्यता भी सही नहीं है। विश्व के प्रतिष्ठित समाजशास्त्री अब इस धारणा से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि औद्योगीकरण तथा नगरों से पारिवारिक विघटन का सम्बन्ध नहीं है। प्रभावक नियम संयुक्त राष्ट्र अमरीका और ब्रिटेन में औद्योगीकरण की गति में कोई खास फर्क नहीं है। किन्तु अमरीका में तलाकों का औसत अनुपात ब्रिटेन की तुलना में बहुत अधिक है। अमेरिका में ही कई छोटे-छोटे नगरों में सम्बन्ध विच्छेदों के मामलों का अनुपात न्यूयार्क और वाशिंगटन के समकक्ष है। यदि सघन औद्योगीकरण ही पारिवारिक विघटन का आधार होता तो इन छोटे शहरों में, जहाँ उतनी औद्योगिक समृद्धि नहीं है सम्बन्ध विच्छेद न्यूयार्क वाशिंगटन से बहुत कम होने चाहिए थे।

पश्चात्य समाजशास्त्री यह मानने लगे हैं कि सांस्कृतिक मानदंडों का प्रचलन ही पारिवारिक व्यवस्था का आधार है। अमरीका में जो सांस्कृतिक वातावरण बना, तलाकों को आधुनिकता का पर्याय मानने की प्रवृत्ति फैली, उसका असर छोटे शहरों में भी उतना ही हुआ, जितना बड़े महानगरों में।

अमरीका की तुलना में ब्रिटेन में प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति आदर का भाव शेष है। अतः अमरीका की ही गति से औद्योगीकरण के बावजूद, पारिवारिक विघटन की गति अमरीका से बहुत मन्द है। अतः न तो धन, न ही औद्योगीकरण, अपितु सांस्कृतिक मूल्य ही पारिवारिक सुव्यवस्था के आधार हैं। जिस समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का हास होता है, वहीं पर इस तरह की विघटनकारी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं।

स्पष्ट है कि परिवार से सम्बन्धित उच्च मूल्यों को जहाँ भुला दिया जायेगा, वहाँ पारिवारिकता का लाभ उठाना तो दूर उसे सूत्रवत बनाये रखना भी असम्भवतः सा हो जायेगा। बाड़े में बन्द भेड़ों की तरह एक घर में रहने वाले मनुष्यों के समूह को परिवार कह भले ही लिया जाय, पर उनसे उस प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो सकती, जो

परिवार संस्था के साथ जुड़ा हुआ है। एक दूसरे को स्नेह, सहकार प्रदान करते हुए, उदारता एवं कृतज्ञता का रसास्वादन करते हुए संयुक्त समाज की संरचना में अपनी-अपनी जिम्मेदारी निबाहें, तभी परिवार राष्ट्र के एक छोटे किन्तु सुव्यवस्थित महत्वपूर्ण घटक सिद्ध हो सकते हैं। परिवार भीड़ को नहीं उच्च उद्देश्यों के आधार पर सुदृढ़ आत्मीयता के पवित्र बन्धनों में बँधे व्यक्तित्वों की संयुक्त इकाई को ही कहा जा सकता है।

सुदृढ़ आत्मीय सम्बन्धों का आधार संकीर्ण स्वार्थ नहीं हो सकते। परिवार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गृहस्थ योग की साधना करनी होती है। योग का अर्थ है जोड़ना, मिलना। सामान्यतः मनुष्य की जो स्थिति होती है, वह अपूर्णता की स्थिति होती है। इस अपूर्णता को मिटाने के लिए वह किसी दूसरी शक्ति के साथ अपने को जोड़कर शक्ति-संचय करता है, अपनी सामर्थ्य बढ़ाता है। यही योग है।

गृहस्थ-साधना को गृहस्थ-योग भी कह सकते हैं। इससे प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ अन्य किसी भी योग से कुछ कम नहीं हैं। गृहस्थ धर्म का पालन धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है। प्राचीन समय में अधिकांश ऋषि परिवार-संस्था में रहकर ही कार्य करते थे। सप्त ऋषियों में श्रेष्ठ माने जाने वाले महर्षि वशिष्ठ एवं अरुंधती, अत्रि जी और उनकी पत्नी अनुसूया जी दोनों सद्गृहस्थ थे। याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी पारिवारिक जीवन ही तो बिताते थे। योगीराज कृष्ण और योगेश्वर शंकर दोनों ने पारिवारिक जीवन जिया। इसी के माध्यम से वे उत्कर्ष के चरम लक्ष्य तक जा पहुँचे।

किन्तु ऐसा परिवार बनाने के लिए उसके प्रति बहुत स्पष्ट उत्कृष्ट दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। उसी के अनुरूप व्यवस्थित प्रयास और क्रिया-कलाप अपनाने होते हैं।

परिवार एक प्रकार से छोटा राष्ट्र है। सुविस्तृत समाज का छोटा संस्करण है। उसकी आवश्यकताएँ भी बहुपक्षीय होती हैं। भोजन-वस्त्र की, शौक-मौज की, शिक्षा सुविधा की व्यवस्था बनाये रखने से ही परिवार की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो जाती, वरन् उस छोटे क्षेत्र में ऐसा वातावरण बनाना पड़ता है, जिसमें पलने वाले प्राणी हर दृष्टि से समुन्नत, सुसंस्कृत बन सकें। अधिक खर्च करने अधिक सुविधा साधन रहने से नौकर-चाकरों की व्यवस्था रहने से घर साफ-सुथरा और सुसज्जित रह सकता है। सम्पन्नता के आधार पर बढ़िया भोजन-वस्त्र, ऐश-आराम, विनोद, मनोरंजन के साधन मिल सकते हैं। किन्तु व्यक्तित्व को समग्र रूप से विकसित कर सकने वाले सुसंस्कार केवल उपयुक्त वातावरण में ही सम्भव हो सकते हैं। ऐसा वातावरण कहीं बना बनाया नहीं मिलता-न कहीं खरीदा जा सकता है, उसे तो स्वयं ही बनाना है।

प्राचीनकाल में गुरुकुलों की बात दूसरी थी। वहाँ उत्कृष्टता का वातावरण बना हुआ रहता था, घर-परिवार में जो कमी रहती थी, उसकी पूर्ति वहाँ हो जाती थी, ऋषि तपस्वी अपने ज्ञान, कर्म और प्रभाव से विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण की आवश्यकता पूरी किया करते थे। पर अब वैसे गुरुकुल, विद्यालय भी कहाँ हैं? अब तो वह आवश्यकता प्रत्येक सदगृहस्थ को स्वयं ही पूरी करनी पड़ेगी। इसे यदि पूरा न किया गया, घर में सुसंस्कृत वातावरण न बनाया जा सका, परिष्कृत परम्पराओं का प्रचलन न किया जा सका तो उस घर में रहने, पलने वाले लोग भूत-वेताल बनकर ही रहेंगे।

स्वास्थ्य, शिक्षा, चतुरता की दृष्टि से वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, मानवी सदगुणों से वंचित ही रहेंगे। कोई कितना कमाता है—कितना बड़ा कहलाता है यह बात अलग है और किसका व्यक्तित्व कितना समुन्नत है, यह प्रश्न बिल्कुल अलग है। बड़ा आदमी बनना सरल है—श्रेष्ठ, सज्जन बनना कठिन है। सुख-शांतिपूर्वक रहने और अपने साथियों को प्रसन्न संतुष्ट रखने के लिए बड़प्पन की नहीं—महानता की आवश्यकता पड़ती है उसी का उपार्जन मानव-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। कोई परिवार इस दिशा में जितना सफल होता है उसकी उतनी ही सार्थकता मानी जा सकती है।

घर के वातावरण में यदि अवांछनीयताएँ, विकृतियाँ फैली पड़ी हैं तो इसका एकमात्र कारण सदप्रवृत्तियाँ, सद्भावनाएँ उत्पन्न कर सकने वाले वातावरण का अभाव है। उसे पैदा करने पर ही उलझनें सुलझेंगी। अन्धकार का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। ठीक यही बात पारिवारिक वातावरण पर लागू होती है जहाँ सद्भावनाओं को आरोपित पल्लवित न किया गया होगा, वहाँ दुर्भावनाओं की दुष्प्रवृत्तियों की कँटीली झाड़ियाँ उगेंगी ही और उनके काँटे चुभे बिना रहेंगे ही नहीं। यही है पारिवारिक क्लेश-कलह का दार्शनिक कारण। बाहरी दृष्टि से लड़-झगड़ या मनोमालिन्य के दूसरे स्थूल कारण भी हो सकते हैं। उनका निवारण भी किया जा सकता है फिर भी आन्तरिक दुर्बुद्धि जहाँ बनी हुई है वहाँ द्वेष और क्लेश के लिए कुछ न कुछ बहाने आमने सामने आते ही रहेंगे और दुर्गन्ध भरी नारकीय सड़न उत्पन्न करते ही रहेंगे, ऐसे घर परिवार में रहकर कोई व्यक्ति न तो सुखी-सन्तुष्ट रह सकता है और न जीवन में महत्वपूर्ण प्रगति कर सकने योग्य गुण, कर्म, स्वभाव का अभ्यस्त हो सकता है।

अवांछनीय वातावरण में पलने वाले प्राणी हेय और गई-गुजरी स्थिति में ही जिन्दगी गुजारते हैं। अधिक पैसा, अधिक ठाठ-बाट और अधिक वैभव पाकर आदमी दूसरों को आकर्षित, आतंकित कर सकता है पर उसकी सुख-शान्ति में तनिक भी वृद्धि नहीं होती। आनन्द और उल्लास तो केवल सुसंस्कारी व्यक्तियों के हिस्से में ही आता है। वे ही स्वयं सन्तुष्ट रहते हैं और साथियों को

आनन्द देते हैं। प्रसन्न रहने और प्रसन्न रखने की विशेषता ही देव-प्रकृति कहलाती है वस्तुतः यही सबसे बड़ी दौलत है। अभागे लोग पैसे को ही सब कुछ मानते और उसी के लिए मरते-खपते हैं। विवेकवान जानते हैं कि परिष्कृत दृष्टिकोण से सद्भावनाओं से बढ़कर और कोई आनन्ददायक वस्तु इस संसार में नहीं है, इसलिए वे इसके उपार्जन, अभिवर्द्धन पर ध्यान देते हैं। भले ही दृष्टि से उन्हें गरीबी की श्रेणी में ही क्यों न रहना पड़े?

परिवार निर्माण का अपना प्रयोजन इतना भर नहीं है जितना कि गृह-विज्ञान की प्रचलित पुस्तकों में पढ़ाया जाता है। उसे गृहसज्जा भर कहा जा सकता है। परिवार निर्माण की दृष्टि से भी यह आरम्भिक और उचित कदम है। आवश्यकता उसकी भी है पर उतना भर कर लेने पर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अमीर लोग गृहसज्जा के लिये नौकर रखते भी हैं। सफाई, सुव्यवस्था और सजावट के लिए यदि नौकर चाकर मौजूद हैं तो वह कार्य हो ही जायगा। कुशल गृहणियाँ भी यदि निरालस्य, स्फूर्तिवान और सुरुचिपूर्ण प्रकृति की हों तो वे जागरूक रहकर चलते-फिरते गन्दगी एवं अव्यवस्था को हटाती समेटती रहती हैं। बात की बात में सबसे कुछ सुन्दर, सुव्यवस्थित बन जाता है।

परिवार निर्माण वस्तुतः एक दर्शन है। क्रियाकलाप तक उसे सीमित नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार की व्यवस्था अभीष्ट हो उसके लिए परिवार के लोगों की मनःस्थिति का निर्माण किया जाना चाहिये। यह प्रयोजन तभी सफल हो सकता है, जब अपना मनोयोग समय और श्रम उसके लिए नियमित रूप से लगाया जाय। यह अभिरुचि, तत्परता एवं संलग्नता तब उत्पन्न हो सकती है, जब परिवार निर्माण की आवश्यकता को गम्भीरतापूर्वक समझा जाय और यह सोचा जाय कि इस महान उत्तरदायित्व का निर्वाह करना कितना अधिक महत्वपूर्ण है। यह काम नौकरों से, बाहर के आदमियों से कराने का नहीं है। अन्यान्य लोग बता-सिखा सकते हैं, परिवार के लोगों में घुल-मिल नहीं सकते, घनिष्ट आत्मीयता भरा अपनापन ही आन्तरिक आदान-प्रदान का माध्यम होता है। मनःस्थिति पर प्रभाव डालने की क्षमता केवल उन्हीं में होती है, जो अन्तःक्षेत्र का स्पर्श करें। विशेषतया स्वभाव एवं दृष्टिकोण में परिष्कृत परिवर्तन करने के लिए तो ऐसे ही शिक्षक की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा शिक्षक बाहर से ढूँढ़ना बेकार है, यह कार्य हमें स्वयं ही करना पड़ेगा। भोजन, स्नान, निद्रा, विनोद आदि की आवश्यकतायें पूरी करने के लिए श्रम हमें स्वयं ही करना होता है, यह प्रयोजन दूसरों के द्वारा पूरे नहीं कराये जा सकते। परिवार निर्माण का कार्य अपने अतिरिक्त बाहर के लोगों से कराया नहीं जा सकता। आज की स्थिति में इस तथ्य को हमें पूरी तरह ध्यान में रखना चाहिये। दूसरे कुछ सामयिक परामर्श दे सकते हैं

२.५२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

या क्षणिक प्रभाव डाल सकते हैं। सुसंस्कारों की जड़ जमाने के लिए जिस अध्यवसाय की दीर्घकालीन और अनवरत आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति कोई बाहर का व्यक्ति कब तक और कहाँ तक करेगा ?

प्रश्न इतना भर नहीं है कि परिवार का वातावरण अच्छा बनाया जाय और परिजनों को सुसंस्कृत स्तर तक पहुँचाया जाय। यह केवल एक पक्ष है। परिवार निर्माण का दूसरा पक्ष और भी अधिक महत्वपूर्ण है। वह है अपनी निज की आदतों, आस्थाओं और गतिविधियों का निर्माण, नियन्त्रण करना। यह कार्य परिवार की प्रयोगशाला में ही सम्भव हो सकता है। जलाशय में घुसे बिना तैरना कहाँ आता है ? व्यायामशाला में प्रवेश किये बिना पहलवान कौन बनता है ? पाठशाला में भर्ती हुए बिना सुशिक्षित कौन बनता है ? व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर ही अपने गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता का अभ्यास किया जाता है। एकाकी चिन्तन, मनन, अध्ययन, प्रवचन करते रहने से केवल बौद्धिक समाधान मिलता है। सत्प्रवृत्तियाँ परिपक्व तो अभ्यास से होती हैं। अभ्यास के लिए उपकरण चाहिये। इस प्रयोजन के लिये परिवार से बढ़कर और कोई उपयुक्त माध्यम ही नहीं सकता। जिन लोगों के बीच हमें रहना पड़ रहा है, उन्हें परिष्कृत बनाने के लिये प्रयास करना वस्तुतः अपनी प्रकृति को ही सुधारना है। बकझक करनी हो तो बात दूसरी है—यदि सचमुच किन्हीं को बदलने योग्य प्रभाव उत्पन्न करना है तो उसका एकमात्र उपाय अपनी स्थिति का प्रभाव डालने योग्य बनना ही हो सकता है। जो इस दिशा में वस्तुतः बढ़ना चाहता होगा, उसे अपनी प्रभावोत्पादक क्षमता बढ़ानी पड़ेगी। अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना पड़ेगा। अपने व्यक्तित्व को उतना प्रामाणिक बनाना पड़ेगा कि जिसके सम्पर्क में आया जाय—उस पर छाप पड़े। परिवार निर्माण के लिये प्रयास करना वस्तुतः अपनी श्रेष्ठ मान्यताओं को मूर्तरूप देने के लिये प्रयोगशाला में प्रवेश करना है। परिजनों के माध्यम से अपनी शालीनता एवं क्रियाकुशलता को विकासोन्मुख बनाना है। इस प्रकार पारिवार निर्माण की दिशा में किये गये प्रयास—केवल कुटुम्बियों की सार्थक सेवा ही सम्पन्न नहीं करते, वरन् अपने व्यक्तित्व को भी निखारते हैं। अपनी आदतों में भी उत्कृष्टता का समुचित समावेश करते हैं। यह दुहरे लाभ की प्रक्रिया सर्वथा अपनाये जाने योग्य है। परिवार निर्माण दुहरी सफलता प्रस्तुत करता है। सुसंस्कृत परिजन न केवल अपने लिये, वरन् निर्माणकर्ता के लिये भी आनन्द भरे अनुदान प्रस्तुत करते हैं। मेंहदी पीसने वाले के हाथ रंग जाते हैं, वाली उक्ति के अनुसार उस कार्य में संलग्न व्यक्ति को आत्मनिर्माण का लाभ भी मिलता ही है।

आजीविका उपार्जन के अतिरिक्त कुछ समय हमें परिवार-निर्माण के लिये भी नियमित रूप से देना चाहिये। यह एक उच्चकोटि का मनोरंजन है। ताश, शतरंज, गपशप, सिनेमा, मटरगश्ती, यारबासी, आलस्य अनुत्साह—

पूर्वक काम करने की मन्दगति आदि व्यसनों और प्रमादों में हमारा बहुत-सा समय नष्ट होता है। हिसाब लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि समय की यह बर्बादी बहुत बड़ी है। इतनी अधिक है कि उसे बचाकर ही परिवार निर्माण के अनेक महत्वपूर्ण कार्य करने का अवसर प्राप्त किया जा सकता है और फुरसत न मिलने का बहाना सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो सकता है। मनोरंजन में सबसे बढ़िया, सबसे सार्थक, सबसे हलका और सबसे सरल परिवार-निर्माण ही है। इसमें न केवल अपना ही वरन् साथ-साथ सारे घर परिवार का मनोरंजन होता है। उसकी आड़ में प्रशिक्षण इतना अधिक हो जाता है कि कोई विद्वान अध्यापक भी उतना नहीं कर सकता।

परिवार-निर्माण के दो पक्ष हैं—एक व्यावहारिकता क्रियापरक और दूसरा दार्शनिक-दृष्टिकोण परक। हमें दोनों ही तथ्यों का अपनी क्रिया-प्रक्रिया में समुचित समावेश करके चलना होगा।

परिवार की प्रारम्भिक आवश्यकता तो रोटी, कपड़ा और मकान की होती है। इसके बाद शिक्षा, चिकित्सा, आतिथ्य, रीति-रिवाजों के निर्वाह और आपत्तिकालीन स्थिति का सामना कर सकने वाली सामर्थ्य भी रखनी होती है। यह कार्य उपार्जन और खर्च का संतुलन बनाये रहने पर सम्भव हो सकता है। यदि जीवनयापन के लिये आवश्यक सामान्य ज्ञान और लोकव्यवहार का अनुभव हो तो मनुष्य पैसे की तंगी में न रहेगा और खर्च की सुविधा से सम्बन्धित घर-परिवार की मोटी आवश्यकता बिना बहुत बड़ी अड़चनों का सामना किये पूरी होती रहेंगी। कम आमदनी हो तो खर्च घटाया जा सकता है। एक उपार्जनकर्ता पर निर्भर न रहकर घर के दूसरे लोग भी थोड़ी-थोड़ी आमदनी के छोटे-मोटे गृह उद्योग अपनाकर अर्थ संतुलन में सहायक हो सकते हैं। मनुष्य को जितनी बुद्धि मिली है और कलाइयों में जो क्षमता है वह इसके लिये पर्याप्त है कि किसी सामान्य परिवार का गुजारा किसी प्रकार हँसी-खुशी के साथ होता चला जाय।

कठिनाई तब आती है जब परिवार के सदस्यों में स्नेह-सौजन्य का, सद्भाव-सहयोग का अभाव रहता है। एक दूसरे में रुचि नहीं लेते, अपने-अपने मतलब में चौकस रहते हैं, अनुशासन नहीं मानते और परस्पर मनोमालिन्य रखकर समय-कुसमय लड़ते-झगड़ते रहते हैं। जहाँ यह स्थिति होगी वहाँ अर्थ साधन रहते हुये भी परिवार एक ऐसे कैदखाने की स्थिति में होगा जहाँ विवशतापूर्वक समय काटना पड़ता है। ऐसी स्थिति में परिवारों में न घनिष्टता रहती है न आत्मीयता। ऐसी निरापद स्थिति में दिन तो कटते रहते हैं, पर वह उपलब्धियाँ जो इस पवित्र संस्था के सदस्यों को मिल सकती थीं, प्रायः नहीं ही मिल पातीं। आज के अधिकांश परिवारों की स्थिति ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण बनी हुई है।

परिवार के हर सदस्य को समझना-समझाया जाना चाहिये कि कुटुम्ब एक पूरा शरीर है। जिसमें सभी को एक आत्मा की तरह रहना होता है और अपनी स्थिति वही माननी होती है, जो शरीर में विभिन्न अंग-अवयवों की है। हाथ-पाँव आदि का अस्तित्व देखने में तो अलग है पर वे पूरी तरह शरीर के साथ जुड़े हुए हैं और उनके परिश्रम का लाभ पूरे शरीर को मिलता है। यों प्रकारान्तर से अन्य अवयवों के उपार्जन का लाभ उन्हें भी मिलता है। इस प्रकार कोई घाटे में नहीं रहता वरन् दूसरे की विशेषताओं का लाभ पाकर वह उपलब्धि प्राप्त करता है, जो एकाकी रहने पर किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती थी।

परिवार संस्था की सफलता उसकी भावनात्मक स्थिति और आदर्शवादी आचार संहिता पर टिकी हुई है। जब तक ये आधार बने रहेंगे तब तक अभावग्रस्त घर परिवारों की भी स्थिति ऐसी सुखद बनी रहेगी जिस पर स्वर्ग निछावर किया जा सके। शरीर की भूख रोटी, कपड़ा और मकान, अन्न, जल एवं हवा तक ही सीमित है, पर आत्मा की भूख स्नेह, सम्मान और सहयोग की परिस्थितियाँ मिलने पर ही बुझती है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि यह तीनों ही अपने परिवार में समुचित मात्रा में विद्यमान बनी रहें। परिवार के छोटे, बड़े और बराबर वालों के बीच ऐसा सघन सम्बन्ध जुड़ा रहे जिससे प्रत्येक-प्रत्येक का सम्मान करे, महत्व समझे, एक दूसरे के दुःख-सुख को सफलता-असफलता को अपना समझे।

उत्कर्ष की दिशा में बढ़ चले

जिस प्रकार घर की वस्तुओं को स्वच्छ, सुव्यवस्थित और सुसज्जित रखने में उनकी शोभा और सुरक्षा बनी रहती है उसी प्रकार के लोगों में सदभावनायें और सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ती रहने से ही वे सुगठित रहते हैं और एक दूसरे के प्रति सहयोग रखते हुए सुविकसित होते हैं। यदि परस्पर उदासीनता, उपेक्षा का भाव रहे तो फिर समझना चाहिये कि कई जानवरों को एक बाड़े में बन्द कर देने पर जो स्थिति होती है वही बन गई। ऐसे परिवार कभी फलते-फूलते नहीं। स्नेह-सौजन्य के अभाव में, धर्मशाला या होटल में साथ-साथ रहने वालों की तरह किसी प्रकार दिन ही काटते हैं, वह लाभ नहीं मिलता जो परिवार संस्था के हर सदस्य को स्वाभाविक रूप से मिलना चाहिये।

अधिकारों को आगे रखने और कर्तव्यों के भूल जाने से मनुष्य का व्यक्तित्व ओछा हो जाता है। इससे परस्पर खींचतान बढ़ जाती है और समाज में नये विग्रह खड़े होते हैं। परिवारों के जहाज इसी दुर्बुद्धि की चट्टान से टकराकर चूर-चूर होते और उठते हैं। छोटे-छोटे स्वार्थों को ही सब कुछ समझ लेने की आदतें हर नर-पशु में

पाई जाती हैं। वे दाँत, सींग और पंजे फैलाये एक दूसरे पर घात लगाते रहते हैं। मनुष्य देखने में ही भोला-भाला लगता है, उसके भीतर भी अहंकार, द्वेष, छीना-झपटी और अहसान भुला देने जैसी बुराइयों की मात्रा कुछ कम नहीं होती। यदि उन्हें काबू में न किया जाय तो जिस घर में ऐसे लोग रहेंगे वहाँ नरक का वातावरण बनाये रखेंगे।

भौतिक कठिनाइयों को सुलझाने में भी एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है, फिर विचारों और भावनाओं की गुत्थियों को सुलझाना तो और भी कठिन होता है। इस भारी जिम्मेदारी को सुसंस्कृत नारी यदि चाहे तो सहज ही उठा सकती है। उसके भीतर प्रकृति ने सदभावनाओं का कभी न सूखने वाला झरना बना रखा है। इस अमृत के भंडार में से वह एक-एक चुल्लू उस घर के लोगों को पिला सकती है और टेढ़े स्वभाव के व्यक्तियों को भी शिवजी की सेना कहलाने का सौभाग्य प्रदान करा सकती है। सरकस वाले तरह-तरह के जानवरों को साधकर, उनकी सहज शत्रुता भुलाकर उन्हें मित्र जैसा व्यवहार करने का आदी बना देते हैं। यह बाजीगरी नारी की मूल प्रकृति में मौजूद है। वह चाहे तो इस कौशल का उपयोग करके किसी भी स्तर के लोगों में स्नेह-सौजन्य भरा सहयोग पैदा कर सकती है।

आमतौर से परिवार-भर के दोष-दुर्गुणों का दुःखदायी प्रभाव नारी अपने ऊपर सहती है। यह सहनशीलता तारीफ करने योग्य तो है। किन्तु इतना भर काफी नहीं। दुर्गुण और दुर्भाग्य जहाँ के तहाँ बने रहेंगे तो आपस का सहयोग बन ही नहीं पड़ेगा। स्नेहजन्य का खाद, पानी पाये बिना उस छोटे बगीचे का कोई भी पौधा पूरी तरह विकास पा ही नहीं सकता।

साधारण मनुष्य के स्वभाव में पशुओं जैसे कुसंस्कारों की मात्रा कम नहीं होती। मनुष्य बनने के पहले जीव तमाम पशु-पक्षियों के जन्मों में रहता है। उस समय की आदतों की जड़ें उसमें काफी गहरी जमी रहती हैं। इन्हें उखाड़ देना मात्र धर्मोपदेशों से नहीं हो सकता। यदि वैसा संभव रहा होता तो अब तक उपदेशकों और साहित्यकारों ने कंब का यह कार्य कर लिया होता। भावनाओं को शुद्ध बनाने में बड़ी सावधानी से संघर्ष करना पड़ता है। ध्यान यह रखना पड़ता है, कि दोषों को उखाड़ भी दिया जाय और किसी के स्वाभिमान को चोट भी न लगे। इसके लिए परिवार के हर सदस्य के साथ बड़ा गहरा तालमेल बिठाना पड़ता है। ऐसा कर लेना मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ी चतुरता और सफलता कही जा सकती है। नारी को यह कठिन काम भी सरल करके दिखाना चाहिये। वह ऐसा कर भी सकती है। इसी से उसकी भाव गरिमा का प्रमाण मिलेगा।

परिवार के प्रत्येक सदस्य को सुसंस्कारी बनाना गृहिणी का सबसे महत्वपूर्ण और सबसे आवश्यक कर्तव्य है। सदगुणों को स्वभाव का अंग बनाया जा सके-कर्मनिष्ठ

२.५४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

में उत्साह स्थिर रह सके ऐसे अभ्यास आरम्भ से ही कराये जाने चाहिये। परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न करनी चाहिए जिनमें रहकर बालक मानवोचित सद्गुणों की शिक्षा प्राप्त कर सके और जीवन संग्राम में तैयारी के साथ उतर सके। परिजनों में ऐसी कर्मठता और साहसिकता उत्पन्न करने के लिये जिन अभिभावकों ने प्रबल प्रयत्न किये उन्हीं को सच्चे अर्थों में परिवार का पालनकर्ता कह सकते हैं। बुरी आदतों का अभ्यासी बनाकर जिन्दगी भर कैटीली झाड़ियों में भटकने के लिए जिन्होंने अपनी सन्तान को असहाय छोड़ दिया उन्होंने प्रकारान्तर से शत्रुता ही बरती। बालकों को विलासिता, अहंकारिता और उच्छृंखलता बरतने के खुले अवसर देना वस्तुतः गृह संचालक के पवित्र कर्तव्य से सर्वथा विपरीत स्तर की बात है।

परिवार के सदस्यों की सच्ची सेवा उन्हें सद्गुणी और स्वावलम्बी बनाने में है। बाप-दादों की छोड़ी सम्पदा से ब्याज भाड़े पर गुजारा करने वाली सन्तान भले ही आराम के साथ दिन काट ले पर उसकी प्रतिभा का स्तर लुंजपुंज ही रहेगा। जिसने कठोर कर्मक्षेत्र में उतरकर भुजबल और मनोबल को चरितार्थ करने का अवसर नहीं पाया उसे एक प्रकार से अपंग ही कहना चाहिये। पूर्वजों की कमाई पर गुजर करने वाली सन्तान को पराक्रम की कसौटी पर कसते हुए अपंग ही घोषित करना पड़ेगा।

चिड़िया घोंसले में थोड़ा मजबूत होने वाले बच्चे को उड़ना सिखाने के लिए घोंसले से नीचे धकेलती है। बच्चा डरता है, हिचकता है तो भी वह लाड़-प्यार की भावुकता भुलाकर उसे धकेल ही देती है। नीचे गिरते हुए बच्चा पंख खोलता है। अभ्यास न होने से वह लड़खड़ाता है तो चिड़िया सहारा देती है। लगातार साथ रहकर उसे उड़ने का अभ्यस्त बना देती है। वह जानती है कि जन्म देना या पाल देना ही नहीं बच्चे, को स्वावलम्बी बनाना भी आवश्यक है। यह दृष्टिकोण प्रत्येक अभिभावक का रहना चाहिये। ब्याज-भाड़े की कमाई पर, परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता पर, गुजर करने की बात घर के किसी सदस्य के मन पर नहीं बैठने देनी चाहिये। सबको यह सोचने देना कि उन्हें अपनी जिन्दगी का भार स्वयं ही वहन करना है और अभिभावकों की सहायता से इतना भी अवसर प्राप्त करना है कि स्वावलम्बन की समस्या का हल अपने पराक्रम से ही पूरा किया जा सके।

इस प्रकार की समर्थता प्राप्त करने का उत्साह न केवल बालकों, किशोरों तथा युवकों में उत्पन्न किया जाना चाहिये वरन् महिलाओं में भी वैसी ही उमंग पैदा की जानी चाहिये। उन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये ताकि वे आड़े समय स्वावलम्बी जीवन जी सकें। आवश्यक नहीं कि यह उपार्जन मुसीबत के समय ही किया जाय। सुविधा सम्पन्न स्थिति में भी उत्पादक पराक्रम करना बड़े सौभाग्य एवं गौरव की बात है, इससे दबी हुई प्रतिभा की अनेक परतें उभरती हैं और निठल्ले

दिन काटने वालों की तुलना में वह पुरुषार्थी व्यक्ति हर दृष्टि से सुयोग्य एवं समर्थ बनता चला जाता है। इस प्रकार के अवसर देना वस्तुतः सुविधा साधनों से लाद देने की अपेक्षा हजार गुना अधिक श्रेयस्कर है।

कई व्यक्ति अपनी बहू-बेटियों को गुड़िया बनाकर रखते हैं और उन्हें कोमल परमुखापेक्षी बनाये रहते हैं। उनके लिये आरामतलबी के साधन जुटाते हैं और विलासिता के उपकरण इकट्ठे करते हैं। समझा जाता है कि उन्हें यह सुखद सौभाग्य मिल रहा है पर वस्तुतः यह सर्वथा उलटी बात है। परावलम्बी अनुदान पाकर सम्भव है किसी को शारीरिक सुविधा या मानसिक प्रसन्नता मिलती भी रहे पर आत्मा का पतन ही होता रहेगा। जब तक किसी को यह अनुभव न हो कि वह आत्मनिर्भर है, समर्थ एवं सुविकसित है, तब तक उस गौरव की अनुभूति नहीं हो सकती जो मानवी अन्तःकरण को संतोष देने की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है।

न केवल आर्थिक क्षेत्र में वरन् अनुभव के क्षेत्र में भी परिवार के हर सदस्य को इस योग्य बनाया जाना चाहिये कि वह सामने आने वाली प्रत्येक समस्या का सही स्वरूप समझने और उन्हें हल करने में अपनी बुद्धिमत्ता के सहारे ही समर्थ हो सके। विद्या-अध्ययन, विचार-विनिमय, अनुभव एवं विविध विषयों की विस्तृत जानकारी के अभाव में मनुष्य की समझ कूपमण्डूक जैसी बनी रहती है। स्वतन्त्र चिन्तन की नीर-क्षीर विवेक की उसमें क्षमता ही नहीं होती। जो पक्ष सुझा दिया जाता है उसी की तोता रटन्त चलती रहती है। गुण-अवगुण के औचित्य की उभयपक्षीय चेतना जिसके मस्तिष्क में रहती है वही यथार्थवादी निर्माण पर पहुँच सकता है और उलझनें सुलझा सकता है। अस्तु, यह आवश्यक है कि परिवार के हर सदस्य को इतना विचारशील बनाने के लिये अध्ययन, विचार-विनिमय एवं तर्क-वितर्क कर सकने योग्य मस्तिष्क का निर्णय करने में सहायता दी जाय। जीवन के विस्तृत क्षेत्र में आत्मरक्षा और प्रगति की दृष्टि से ऐसी विचारकर्ता नितान्त आवश्यक हैं। परिवार के सदस्यों को यदि ऐसी विचारशीलता उत्पन्न करने के अवसर दिये गये हैं तो समझना चाहिये कि गृहपति ने अपने उत्तरदायित्वों में से एक अति महत्वपूर्ण पक्ष का ठीक तरह निर्वहण कर दिया।

प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ही मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है। धन दौलत जैसे साधनों में स्थिरता तनिक भी नहीं। यदि हो भी तो भी उतने भर से पेट पालना ही सम्भव है। मनुष्य पेट तक सीमित नहीं। उससे आगे भी उसमें बहुत कुछ है। इस 'बहुत कुछ' को विकसित करने के लिये प्रतिभा को विकासोन्मुख किया जाना चाहिये। कहना न होगा कि प्रतिभा सद्गुणों के समन्वय का ही नाम है। आत्मविश्वास को ही प्रतिभा के रूप में प्रकाशवान देखा जा सकता है। आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के चार पायों पर

आत्म-विश्वास अथवा आत्मबल का मचान खड़ा होता है। ऐंठ, अकड़, धूर्तता या उच्छृंखल दुस्साहस के ओछे तरीके अपनाने वाले उदण्ड व्यक्ति भी कई बार अपने को प्रतिभाशाली मानने लगते हैं पर बात वैसी है नहीं। धैर्य, साहस, संयम, सदाचार, व्यवस्था, कर्तव्यनिष्ठा जैसे सद्गुणों की मिली-जुली धारा ही प्रतिभा बनती है और उसी से मनुष्य प्रभावशाली बनता है। यही प्रभाव दूसरों पर अपनी छाप छोड़ता है और उसी के आधार पर प्रगति के पथ पर बढ़ चलने का पराक्रम उत्पन्न होता है।

उत्तराधिकारियों को सम्पत्तिवान छोड़कर मरना, वस्तुतः उनके लिए स्नेही नहीं वरन् द्वेष भरा आचरण है। उससे उनकी उपार्जन प्रतिभा घटती है और उस प्रयास से सूझबूझ में तीक्ष्णता आने का अवसर नष्ट होता है। स्पष्ट है कि बिना परिश्रम के उपलब्ध हराम की कमाई का उपभोग करने वालों के पीछे आलस्य, प्रमाद जैसी जड़ता से लेकर व्यसन और अपव्यय जैसी अनेकों दुष्प्रवृत्तियाँ पीछे पड़ती हैं। व्यक्तित्व जंग लगे निकम्मे लोहे की तरह दिन-दिन गलता चला जाता है। आराम के दिन काटना यों सौभाग्य समझा जाता है पर है, वह परले सिरे का दुर्भाग्य। जिसमें संघर्ष न हो, जिसमें पराक्रम और पुरुषार्थ को प्रखर बनाने वाले अवरोध न हों, भला उस जीवन में भी कोई रस हो सकता है?

हमें अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य को जीवन संग्राम में बढ़चढ़ कर हाथ दिखा सकने योग्य पराक्रमी योद्धा बनाना चाहिये। इस प्रकार की क्षमता कठिनाइयों से जूझने और स्वावलम्बी रीति-नीति अपनाने से ही विकसित हो सकती है। वस्तुतः यह प्रतिभा ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसी के सहारे गई-गुजरी परिस्थितियों में उत्पन्न हुए व्यक्ति क्रमशः ऊँचे उठे और आगे बढ़े हैं। महामानवों के, प्रगतिशील लोगों के जीवन क्रम में यह तथ्य सर्वत्र उभरा पाया जायगा कि उन्हें संघर्ष में भारी रुचि रही है और परिस्थितियों से जमकर जूझने में उन्होंने प्रबल पुरुषार्थ का परिचय दिया है। दुस्साहस का ही दूसरा नाम उत्कर्ष है। जमीन का पेट चीरकर जब बीज अपनी हस्ती से खिलवाड़ करता हुआ अंकुर बनकर ऊपर उभरता है; तभी उसके वृक्ष बन सकने की सम्भावना मूर्तिमान होती है। विकासोन्मुख जीवन प्रक्रिया भी इसी प्रकार अंकुरित एवं विकसित होती रही है।

सदाचरण की ही तरह प्रबल पुरुषार्थ में और करीने की सुन्दर सुव्यवस्थित जिन्दगी में भी समुचित निष्ठा होनी चाहिये, तभी कोई व्यक्तित्व समर्थ और सुविकसित हो सकेगा। परिवार के प्रत्येक सदस्य की मनःस्थिति में इन्हीं सद्गुणों के बीज बोये जाने चाहिये। इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि उन गुणों से अपने को अभ्यस्त करें और आये दिन ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते रहें जिनका अनुकरण करके घर के सभी सदस्यों को उसी मार्ग का अनुगमन, उसी क्रिया का अनुकरण करने की इच्छा उत्पन्न होती रहे। हर सदस्य को अपनी स्थिति के अनुरूप कर्तव्य और

उत्तरदायित्व सोचने चाहिये। उनके निर्वाह में जहाँ वे चूकते हों, लड़खड़ाते हों वहीं आगे बढ़कर उन्हें सहायता देनी चाहिये। यह कार्य बिना झिड़के, बिना खीजे, शान्त चित्त और स्नेहासिक्त मनःस्थिति से किया जाय तभी सफल हो सकता है।

विलासिता, आरामतलबी और फिजूलखर्ची की आदत घर में किसी को भी नहीं पड़ने देनी चाहिये। चुस्ती और स्फूर्ति स्वभाव का अंग बनती चली जाय। कठिनाइयों से जूझने की हिम्मत बढ़ती जाय तो समझना चाहिये कि उत्तराधिकारियों को ऐसी सम्पदा मिल गई जिसके आधार पर वे प्रगतिशील जीवन जी सकेंगे।

इस स्तर तक लाने के लिए परिवार के हर सदस्य को मानसिक रूप से तैयार करना होगा। वे परिवार को आरामगाह नहीं सद्गुण बढ़ाने की पाठशाला-प्रयोगशाला मानने लगे और उसी के अनुसार अपना आचरण बनाते चलें, तो काम बन जाय। उनमें से हर एक सदस्य ऐसा कुछ करने को तैयार रहे जिससे परिवार का स्तर ऊँचा उठता हो, सद्गुणों का अभ्यास बढ़ता हो और एक दूसरे के सहयोग का वातावरण बनता हो घर की पाठशाला में, (१) श्रमशीलता, (२) स्वच्छता, (३) नियमितता, (४) मितव्ययता, (५) सुव्यवस्था, (६) मधुरता, (७) सहकारिता, (८) उदारता, (९) धर्मभावना आदि नौ पाठ पढ़े जा सकते हैं। यदि सद्गुणों को स्वभाव का अंग बनाने में सफलता प्राप्त की जा सके तो समझना चाहिये कि घरों में देवताओं जैसा जीवन जी सकने की संभावना बन गयी। घर के छोटे सदस्यों को भी बड़े होने पर किसी कुटुम्ब का नेतृत्व करना होगा, बड़ों को आगे-आकर घर-परिवार की अधिक वजनदार और अधिक बड़ी जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ेंगी। इसलिये क्या छोटे, क्या बड़े सभी के लिए यह उचित है कि वे अपने में घुस पड़ी दुष्प्रवृत्तियों को हटाने और सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने का अभ्यास करें। कहना न होगा कि इस कुशलता के निर्वाह में सुयोग्य नारी की भूमिका सदा सफल होकर ही रहती है।

ध्यान रखने योग्य एक बात यह है कि घर का कोई भी व्यक्ति निठल्ला न बैठा रहे। उसे कुछ न कुछ रचनात्मक प्रयत्न करते रहने में लगाये ही रखा जाना चाहिये। विश्राम निठल्लेपन को नहीं कहते। रात को गहरी नींद सोना और आवश्यकतानुसार सुस्ता लेना उचित है, पर विश्राम के नाम पर बेकार पड़े नहीं रहना चाहिये 'खाली दिमाग शैतान की दुकान' वाली कहावत सब जानते हैं। अपने परिवारों में यह कुप्रथा बेतरह धँस पड़ी है कि कुछ लोग कोल्हू के बैल की तरह पिसें और बाकी लोग निठल्ले रहकर समय बर्बाद न करें। प्रश्न केवल यह नहीं कि क्रियाशील ही निठल्ले ही बन जायें? समस्या यह है कि हर सदस्य का खाली समय रचनात्मक काम में लगाया जाय। इससे परिवार का स्तर तथा परिजनों की आदतों को श्रेष्ठ बनाना सम्भव होगा। इसके लिए

२.५६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

आवश्यक है कि हर सदस्य को पहले से पड़ी हुई आदतों को बदला जाय। लेकिन यह काम बड़ी समझदारी से करने का है। इसके लिये किसी को सीधा हुक्म देने से उसके अहंकार को चोट लग सकती है। इसलिये नम्रता के साथ अपने कार्यों में थोड़ा सहयोग देने की बात ही दबी जवान से कहनी चाहिये। हो सकता है आनाकानी, बहानेबाजी या इन्कार का उत्तर मिले, पर उससे निराश नहीं होना चाहिये और रुक-रुककर समय-समय पर काम की जरूरत समझाते हुए थोड़ी-बहुत टोक-टाक का क्रम चलाते ही रहना चाहिये। धीरे-धीरे वे लोग अपनी इच्छा से ही उत्साह प्रकट करने लगेंगे। यहाँ अपने अपमान को आड़े नहीं आने देना चाहिये, बल्कि परिवार का हित, साधन, भविष्य निर्माण ध्यान में रखकर प्रयास चालू रखना चाहिये। इसके लिए यदि उपेक्षा और अपमान के कड़ुए घूट पीने पड़ें तो भी प्रसन्नतापूर्वक पी लेने चाहिये।

घर में नित्य ही ढेरों काम होते हैं, उनमें बराबरी वालों तथा छोटों को साथ लेकर चलने से सबका मनोरंजन भी होता है और सबको सब कामों में रुचि लेने की आदत पड़ती जाती है। सबमें स्वच्छता, व्यवस्था और श्रमशीलता का अभ्यास बढ़ता है। घर की सफाई, वस्तुओं को यथास्थान सजाना, पाखाने, नाली आदि को अच्छी तरह धोना, कपड़े धोना, सुखाना जैसे ढेरों काम हर दिन करने होते हैं। इन्हें एक ही व्यक्ति करता रहे, इसके उपेक्षा कहीं अच्छा यह है, कि उन्हें खेल-खेल की तरह हँसते-हँसाते, मिल-जुलकर निपटाया जाय। साप्ताहिक अवकाश के दिन बर्तन, कपड़े, जूते, फर्नीचर, पुस्तकें, मकान आदि की टूट-फूट को सुधारने का काम करना पहले से निश्चित करके रखा जा सकता है। सबका श्रम, घर की स्वच्छता एवं सुसज्जिता में लगे तो गरीबों के झोंपड़े भी अमीरों के महल से बढ़कर सुरुचिपूर्ण लग सकते हैं।

परस्पर सहयोग के कितने ही आधार हो सकते हैं। बड़ी आयु के शिक्षित छोटी आयु वालों को पढ़ाया करें। ऊँची कक्षा में पढ़ने वाले निचली कक्षा वालों को पढ़ाया करें। रात को इकट्ठे बैठने, कहानियाँ कहने या उपयोगी पुस्तकें सुनाने का सामूहिक क्रम चलाया जाय। इससे उपयोगी ज्ञान सम्बर्द्धन का सिलसिला चल पड़ता है और बोलने का अभ्यास बढ़ता है। बड़े बच्चे छोटों को पढ़ाएँ तो द्यूशन फीस बचती है—अच्छे नम्बरों से पास होने की सम्भावना तो बढ़ती ही है, परस्पर सहयोग के साथ जुड़ी हुई सद्भावना का विस्तार भी होता है। समय की पाबन्दी के लिए हर किसी को कहा जाना चाहिये। जल्दी सोने और जल्दी उठने की परम्परा चलनी चाहिये। दिनचर्या का पालन करने, अनियमित न होने और समय की बर्बादी बचाने के लाभ घुमा-फिराकर समझने-समझाने की बात चलती ही रहनी चाहिये। अनियमितता के कारण मनुष्य का स्वभाव, समय और प्रगति में, सृजन-अभिवर्द्धन में बेहिसाब नुकसान होता है। शरीर को आलस्य और

मस्तिष्क को प्रमाद से बचाना बहुत जरूरी है। संसार के हर महान्पुरुष ने इनसे बचकर, पुरुषार्थ, समय और मनोयोग के सहारे ही सफलतायें पाई हैं। समय को श्रम में उत्साहपूर्वक लगाये रहने वाली मनःस्थिति को ही दूसरे शब्दों में सिद्धियाँ कहते हैं।

घर के वातावरण में शिष्टाचार का-श्रद्धा-सम्मान, ममत्व और वात्सल्य का गहरा पुट रहना चाहिये। बड़ों के प्रति छोटों में कृतज्ञता, श्रद्धा और सम्मान के भाव रहने चाहिये। प्रातःकाल उठकर बड़ों के चरणस्पर्श करके प्रणाम करने की अपनी सांस्कृतिक परम्परा को फिर से जीवित किया जाना चाहिये। पिता, चाचा-ताऊ, माता, चाची-ताई, बुआ, बड़ी बहिन, बड़ा भाई, बड़ी भावज, सास, ससुर, जेठ-जिठानी आदि को सभी छोटी आयु के स्त्री-पुरुष प्रातः उठते ही चरण छूकर प्रणाम किया करें। बराबर वाले परस्पर अभिवादन करें। छोटों के सिर पर हाथ फेर कर स्नेह, दुलार देने, वात्सल्य भरी मुस्कान से आशीर्वचन बोलने में बड़ों को भी कंजूसी नहीं करनी चाहिये। मात्र झूठा संकोच ही इसमें आड़े आता है। यदि एक बार उसे साहसपूर्वक तोड़कर इसका शुभारम्भ कर दिया जाय तो समझना चाहिये कि पीढ़ियों तक यह चक्र घूमता रहेगा और बड़ों तथा छोटों के बीच मुरझाते हुए स्नेह-सम्बन्ध फिर हरे-भरे हो जायेंगे। गाली-गलौज, तू-तड़ाक, मारपीट जैसे असभ्य प्रचलन हममें से किसी के भी घर में सहन नहीं किये जाने चाहिये। जहाँ वे चल रहे हैं, वहाँ से कड़ाई के साथ उनका उन्मूलन कर दिया जाना चाहिये।

छोटों द्वारा बड़ों के अनुचित, अनैतिक और असामयिक निर्देशों को मानने में असमर्थता व्यक्त की जा सकती है, या टालटूल की नीति अपनाई जा सकती है। पर जहाँ तक सम्मान का, शिष्टाचार का तथा सेवा-सहायता का प्रश्न है, उसमें कहीं भी शिथिलता नहीं रहनी चाहिये। बड़ों के लिये भी उचित यही है कि आयु भले ही अधिक हो जाय पर घर के छोटों को बालक मानकर उन्हें वैसा ही स्नेह-दुलार देते रहें। एक आँख प्यार की एक सुधार की रखी जानी चाहिये। केवल दुलार से भी मनुष्य बिगड़ता चला जाता है। गलतियों के लिये आड़े हाथों लिया जाना चाहिये पर वह सब होना चाहिये आत्मीयता और शिष्टता की मर्यादाओं की रक्षा करते हुए ही। छोटी आयु के सदस्य भी आखिर मनुष्य ही तो हैं और आत्म-सम्मान की भूख तो उन्हें भी रहती है। सास-बहू के बीच माता और पुत्री जैसा स्नेह, जेठानी-देवरानी में सगी बहनों जैसी ममता होनी चाहिये। जो पक्ष जितना विवेकशील होगा वह दूसरे पक्ष की गलतियों को दर-गुजर करते हुए स्नेह-सूत्रों को बनाये रह सकता है। अपने लिए अधिक दूसरे के लिए कम की नीति ही सारे झंझटों की जड़ है। स्वयं कम पाने और अधिक करने की नीति अपना ली जाय तो फिर ओछी प्रकृति वालों के साथ भी निर्वाह हो सकता है। मैत्री इसी उदारता पर स्थिर और सुदृढ़ रह

सकती है। ससुर, जेठ आदि बड़ों को पिता जैसा सम्मान और देवर, भतीजे, ननद आदि को उनकी आयु के अनुसार समानता का अथवा बच्चों जैसा दुलार दिया जा सकता है। ऐसा व्यवहार स्वयं करते रहना भर पर्याप्त नहीं। प्रयत्न यह होना चाहिये कि वैसी दूरदृष्टि, उदारता एवं आत्मीयता, परिवार के हर सदस्य में बढ़ती चले। सुख-दुःख के एक दूसरे के साथ जुड़े रहने कष्ट को हलका करने तथा उचित बात में प्रोत्साहन एवं सहयोग देने में कुछ उठा न रखें। एक दूसरे के चरित्र पर पूरा ध्यान रखें। सदगुणों के बढ़ाने में परामर्श दें और साथ लेकर वैसा करने का अनुभव-अभ्यास भी करावें। दुर्गुणों के प्रति तीखी नजर रखें और जब भी-जिनमें भी-जो भी दुष्प्रवृत्ति पनप रही हों उसे उखाड़ने के लिए सभी अपने-अपने ढंग से प्रयास करें। शरीर में रोग उठने पर जैसे पूरे घर परिवार को चिन्ता होती है, उसी प्रकार दुर्गुणों को दुर्बुद्धि को मनःक्षेत्र में उत्पन्न होने को भी एक भयंकर स्थिति विपत्ति समझा जाना चाहिये। दूरदर्शिता पूर्ण संतुलित नीति अपनाकर शारीरिक अस्वस्थता की तरह मानसिक तथा चरित्र सम्बन्धी रोगों से भी छुटकारा पाया जा सकता है। घर में सबको स्वास्थ्यप्रद भोजन मिल सके इसके लिए भी कुछ परिवर्तन लाने जरूरी हैं।

चटोरापन छोड़कर सुपाच्य और प्राणवान आहार की तरफ सबकी रुचि मोड़े बिना परिवार भर की स्वास्थ्य समस्या उलझी ही पड़ी रहेगी। भाप से भोजन पकाने में कुछ कठिनाई तो होती है। पर आहार के जीवन-तत्वों को पोषण दे सकने योग्य बनाये रहने का और कोई रास्ता भी तो नहीं है, हाथ की चक्की का आरम्भ करना दकियानूसीपन, कंजूसी, काम के दबाव की ओर अधिक बढ़ाना तो समझा जा सकता है पर उपयोगी व्यायाम तथा अन्न को जीवनदाता बनाये रहने के लिये यह कदम उठाया जाना भी आवश्यक है।

थाली में जूठन न छोड़ने की आदत घर के हर सदस्य में डाली जानी चाहिये। वर्तमान परिस्थितियों में अन्न का एक दाना भी बर्बाद नहीं किया जाना चाहिये। खाते समय देख लिया जाय कि कहीं थाली में किसी वस्तु की अनावश्यक मात्रा तो नहीं आ गई है। दुबारा माँगने में हर्ज नहीं, अधिक प्रतीत होता हो उसे पहले से ही निकाल दिया जाना चाहिये। इसमें परोसने वाले को भी अनावश्यक शिष्टाचार बरतने की अपेक्षा समझदारी से काम लेना चाहिये। सप्ताह में एक दिन या एक जून उपवास करने की, शाकाहार पर रहने की परम्परा चल पड़े तो इससे पेट को विश्राम मिलने से स्वास्थ्य भी सुधरेगा और अन्न की देशव्यापी कमी को सहज ही पूरा कर लेने का एक बहुत उपयोगी मार्ग बन जायेगा।

यह सब छोटी-छोटी बातें भी परिवार और समाज की व्यवस्था पर बहुत प्रभाव डालती हैं। यह जितनी आसान लगती हैं उतनी ही कठिन भी हैं। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान पर इन्हें बढ़ी आसानी से लागू कर सकता है,

लेकिन घर-घर, जन-जन के स्तर पर इन्हें लागू करना बहुत कठिन है। इन्हें इस विशाल स्तर पर लागू करने का एक ही रास्ता है और वह है कुशल गृहणियों को इसके लिये तैयार करना।

यदि उन्हें इसका महत्व समझाया जा सके तथा परिवारों में नई परम्परायें चालू करने योग्य सूझबूझ उनमें पैदा की जा सके, तो फिर यह कठिन दिखने वाले काम खेल की तरह पूरे हो सकते हैं। पारिवारिक स्तर पर अनेकों ऐसे कार्यक्रम चालू करने की श्रेष्ठ परम्परायें बनाने की आवश्यकता है, जिनके बिना प्रगति के मार्ग रुके पड़े हैं। यह जितनी जल्दी सम्भव हो सके उतना ही अच्छा है।

परिवार में इस प्रकार के कल्याणकारी परिवर्तन लाने के लिये सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि नारी अपने आपको शारीरिक, मानसिक और नैतिक दृष्टि से सुयोग्य बनाने के लिये भरसक प्रयत्न करें। अनुभव तथा विचारों की पूँजी बढ़ायें और वह कुशलता विकसित करें जिसके आधार पर उन्हें अपने महान उत्तरदायित्वों को पूरा करने में सफलता मिल सकती है। असल में यह कार्य पुरुषों का है कि वे नारी को रसोईदारिन, चौकीदारिन एवं धाय के अलावा अन्य जिम्मेदारियाँ उठाने की क्षमतायें विकसित करने के लिए समुचित अवसर तथा सहयोग दें। पर यदि वे उतनी उदारता तथा दूरदर्शिता न दिखा सकें, तो भी नारी का कर्तव्य है कि वह आत्म-विकास के लिए स्वयं आगे बढ़ें और जो भी साधन मिल सकें, उन्हीं के सहारे ऊँचे उठने और आगे बढ़ने के लिये जी तोड़ प्रयत्न चालू कर दें। इसके लिये नारी को अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ेगा। लेकिन यह सब जिस उच्च भावना से और उत्साह के साथ किया जाना है, उसके कारण इस श्रम से किसी प्रकार की थकान या परेशानी अनुभव नहीं होगी।

परिवार निर्माण का महान प्रयोजन पूरा करने में जितनी सफलता प्राप्त की जा सके उसे समूची मानव जाति की सेवा मानना चाहिए। अपना परिवार भी तो राष्ट्र की ही एक महत्वपूर्ण इकाई है। मिशन के सभी सदस्यों और सदस्याओं को मिल-जुलकर अपने को, अपने परिवार को परिष्कृत करने के महान प्रयोजन में संलग्न होना चाहिये।

परिवार को सुसंस्कृत बनाया जाय

जो परिवार निर्माण के महान प्रतिफल को समझते हैं। वे उस उपलब्धि के लिए कारगर प्रयत्न करने की तैयारी करें। बात यदि साधन-सुविधा बढ़ाने भर की होती तो जिस-तिस प्रकार अधिक सम्पत्ति अर्जित कर लेने भर से वह प्रयोजन पूरा हो सकता था पर बात इतनी छोटी है नहीं। सुसम्पन्न परिवारों में कुसंस्कारिता का दौर निर्धन लोगों से भी अधिक रहता है। ऐसी दशा में सम्पदा के आधार पर अधिक साधन जुटाने और अधिक सत्परिणाम

२.५८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

पाने की आशा को छोड़ ही देना चाहिए। सम्पदा की उपयोगिता हो सकती है, पर सब कुछ इसी के सहारे उपलब्ध नहीं हो सकता। परिवार में सुसंस्कारिता का वातावरण उत्पन्न करना एक ऐसा लक्ष्य है। जिसे धनी और निर्धन समान रूप से उपलब्ध कर सकते हैं इसके लिए ऐसे उपाय बरतने होते हैं जिससे परिवारियों के चिन्तन, चरित्र एवं रुझान में अव्यवस्था के प्रति तिरस्कार और शालीनता के प्रति उत्साह उत्पन्न होता है। गुण, कर्म, स्वभाव का समन्वय ही व्यक्तित्व है। परिवार के हर सदस्य का व्यक्तित्व स्तर ऊँचा उठे इसके लिए उपयुक्त कार्य-पद्धति अपनाने और उसके लिए कुछ सिद्धान्तों को निश्चित करने को प्रथम चरण माना जाना चाहिए।

परिवार निर्माण के लिए कदम बढ़ाने वालों को हजार बार समझना चाहिए कि वह प्रक्रिया अनुपयुक्त आदतें बदलने और उपयुक्त प्रचलन को उसके स्थान पर प्रतिष्ठापित करने की है। आदतों के साथ खेलना होगा। उन्हीं को बदलना होगा। इसमें उतावली काम नहीं देती। यह पक्का सर्कस का खेल है। जिसमें विभिन्न स्वभावों के जीव-जन्तुओं को हैरत भरे खेल दिखाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। सर्कस में प्राणियों को साधने में उसके शिक्षक जिस स्तर के धैर्य, साहस एवं कौशल का परिचय देते हैं। लगभग उसी स्तर की दूरदर्शिता एवं प्रतिभा परिवार संस्था का भावनात्मक नवनिर्माण करने के लिए अपनाया जाना चाहिए। उसमें एक आँख प्यार की और दूसरी सुधार की रखी जानी चाहिए। प्यार का अनुपात बढ़ाना होगा किन्तु साथ ही सुधार के लिए अनुशासन को इतना सुनिश्चित रखना होगा जिसे असहयोग मिलने पर भी बदलना न पड़े। देर में सुधारने के लिए धैर्य रखा जा सकता है पर निर्धारित नीति बदलने की गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए। कुसंस्कारिता का प्रतिरोध न किया जाय तो परिस्थितियाँ बेकाबू ही होती चली जायेंगी और सुधार को विद्रोह के आगे सिर झुकाने को विवश होना पड़ेगा। ऐसा दुर्भाग्य उपस्थित होने का अवसर नहीं आने देना चाहिए। सुधार क्रम अपनाने का वृत्त निश्चय होना चाहिए, पर उसे दूसरों के गले उतारने में अधीर या आतुर नहीं होना चाहिए। सर्कस के रिंग मास्टर को जानवर साधने में कितना समय लग जाता है, उसका दुलार और सुधार क्रम किस प्रकार बढ़ा-चढ़ा रहता है, निराशा किस प्रकार उसके पास तक नहीं फटकती? यह विशिष्टता परिवार सुधार की प्रक्रिया हाथ में लेते समय अपनाई जानी चाहिए।

परिवार के सदस्यों को सुसंस्कृत बना देना ही उन की सबसे बड़ी सेवा है। इस तथ्य को भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए। अधिक सुविधाओं को रिश्वत देकर परिजनों को प्रसन्न करने या अनुकूल बनाने की नीति उस स्थिति से तो बहुत ही अवांछनीय बन जाती है, जब उसके लिए अनीति अपनानी पड़ रही हो। अधिक घने सम्बन्धियों के लिए अधिक सम्पदा छोड़ने और अधिक

सुविधा देने की नीति तात्कालिक प्रसन्नता भले ही उत्पन्न कर ले, अन्ततः निश्चित रूप से दुष्परिणाम उत्पन्न करती है। परिजनों के लिए सुसंस्कारिता के अनुदान देकर ही कोई गृहपति सच्चे अर्थों में गौरवान्वित हो सकता है। विलासिता के अनावश्यक साधन देकर प्रियजनों का हित नहीं साधा जाता, उन्हें भावी विपत्ति में धकेला जाता है। गृहपति की उपेक्षा या परोक्ष सहमति से घर में कुसंस्कारिता और अव्यवस्था बढ़ती गई, परिजन संकीर्णता और उद्दण्डता के अभ्यस्त बनते गये तो समझना चाहिए कि अनजाने ही इसका अहित सँजोया गया, जिनके हित की उथली चिन्ता सिर पर सवार रहती है। ऊँचा दृष्टिकोण, उज्ज्वल और सज्जनोचित स्वभाव यदि परिजनों को दिया जा सके, तो समझना चाहिए कि गृहपति ने अपने आश्रितों को लाख करोड़ की सम्पदा उत्तराधिकार में प्रदान की है।

कुशल प्रशिक्षक में मृदुलता और कठोरता का सन्तुलित समावेश होना चाहिए। माता को प्यार से बच्चों को भरपूर दुलार देने के साथ-साथ अनुशासन सिखाने के लिए ऐसा भी, आये दिन करना पड़ता है, जो बच्चों के मनोनुकूल न हो, कहते हैं लाड़ में बच्चे बिगड़ते हैं। यह सही है, अनावश्यक दुलार मिलने से भी, गरिष्ठ भोजन अति मात्रा में देने से पेट बिगड़ने की ही तरह दिमाग बिगड़ता है। दुलार उतना ही देना चाहिए, जितना हजम हो सके, अपच उत्पन्न करना, जितनी मात्रा खिलाते जाना दुलार लगता भले ही है, पर तत्त्वतः वह वैसा है नहीं। मोह को सत्यानासी इसीलिए कहा गया है कि अमुक परिजनों के साथ अत्यधिक उदारता बरतने से उनकी आदतें बिगड़ती हैं। बिगड़ी आदतों को लेकर वे स्वयं दुःख पाते हैं और उन कृपालुओं को शाप देते हैं जिन्होंने अविवेकपूर्वक, अनावश्यक और अनुचित होने की बात का ध्यान न रखते हुए बेहिसाब लाड़-प्यार उलीचा। ठीक इसी प्रकार कठोरता का पक्ष भी है। अति को सर्वत्र वर्जित किया गया है। रूखा, कर्कश, कठोर, उपेक्षापूर्ण व्यवहार करने से भी परिजनों को भी असन्तोष रहता है। वे किसी ऐसे प्रभाव का अनुभव करते हैं जिसमें उनके अन्तःक्षेत्र में अतृप्ति बनी रहती है। कठोरता कारणवश अपनाई जा सकती है। रूखाई यदा-कदा अपनाई जा सकती है, किन्तु वह नीति के रूप में प्रयुक्त की जानी चाहिए और उथली दिखावटी होनी चाहिए। आत्मीयता एवं ममता की वास्तविकता इसमें है कि प्रियजनों का दूरगामी हित साधन होता है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह भी आवश्यक हो सकता है कि प्रियजनों की अनुपयुक्त इच्छा, चेष्टा एवं आदत को सुधारने, बदलने का भी उपभोग किया जाय। इस प्रयास में उत्पन्न हुई असहमति, मनोमालिन्य उत्पन्न करने तक आगे बढ़ सकती है। इस स्थिति से निपटने का उपाय तो ढूँढ़ना चाहिए पर हारने और हथियार डालने के लिए तैयार नहीं होना चाहिए।

प्रशासक का काम अकेली कठोरता से भी चल सकता है, पर प्रशिक्षक का काम बहुत कठिन है। उसे दुलार और सुधार के विरोधी उपकरणों को समान रूप से प्रयुक्त करके काम चलाना पड़ता है। दर्जी को काटने की कैंची और सीने की सुई का उपयोग करना होता है और दोनों को समान महत्व देना पड़ता है। डॉक्टर को घाव करने और उसे भरने का कौशल अपनाना पड़ता है। प्रशिक्षक को माता-पिता का समन्वित प्यार छात्रों को देना पड़ता है, साथ ही गुरु का उत्तरदायित्व निभाते हुए कठोर अनुशासन को भी बनाए रखना पड़ता है। छात्र रीझते भी हैं और खीझते भी। उसका ध्यान रखना असन्तुलन उत्पन्न न होने देना, अध्यापक का कर्तव्य है फिर भी यह प्रभावित मात्र अपने उत्तरदायित्व से ही रहता है। बच्चे उसे नीति बदलने के लिए विवश नहीं कर पाते।

अनुपयुक्त आदतों का परिवर्तन ही व्यक्तित्व का परिष्कार है। परिवार निर्माण की प्रधान प्रक्रिया यही है। इसमें उद्देश्य और अनुशासन को अपने स्थान पर चट्टान की तरह अडिग रहना चाहिए। गतिशीलता के तीव्र न सही मन्द रहने तक का धैर्य रखा जा सकता है। पर निराशा या असफलता को अंगीकार नहीं किया जा सकता है। यह मन्तव्य जिनका होगा वे ही परिवार निर्माण जैसे दीखने में अतिसरल किन्तु व्यवहार में अति कठोर प्रयोजन को पूरा कर सकेंगे, इसमें उस आत्म साधना को इस स्थिति प्रज्ञा स्थिति की आवश्यकता पड़ती है। जैसे गीताकार ने कर्म कौशल का नाम दिया है इसे अपनाने में प्रशिक्षक का भी उतना भी लाभ है जितना शिक्षार्थी का। इस प्रयत्न में सहभागी बनकर दोनों ही कृतकृत्य होते हैं।

परिवार को सुसंस्कारी कैसे बनाएँ ?

वह कौन-सा कारण है जो मनुष्य को सबसे ज्यादा त्रस्त किये दे रहा है ? इस घुटन का उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है कि 'गृह-कलह' कलह क्यों उत्पन्न होती है ? स्पष्ट ही कलह का कारण सुसंस्कारिता का अभाव है, कुसंस्कारिता जहाँ भी होगी वहाँ द्वन्द्व पैदा होगा, विग्रह खड़े होंगे और कलह मचेंगे। जिस परिवार के सदस्य सुशील, सुसंस्कृत सभ्य एवं उदात्त स्वभाव वाले होंगे वहाँ गृह-कलह और विग्रह खड़े होने के कोई कारण ही नहीं हैं। भले ही वह परिवार सम्पन्न हो या विपन्न, निर्धन हो या धनी। कुछ लोग हैं जो आर्थिक स्थिति को पारिवारिक विघटन का कारण मानते हैं। उनका यह सोचना एकांगी ही है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ असन्तोष अवश्य उत्पन्न होता है किन्तु उतना नहीं, जितना कि घर-घर में दिखाई दे रहा है। यदि आर्थिक सुदृढ़ता ही पारिवारिक सुख-शान्ति का कारण रही होती तो उन सभी परिवारों में सुख-सम्पन्नता दिखाई

देती जो समृद्ध हैं। परन्तु ऐसा अनिवार्य रूप से कहीं दिखाई नहीं देता कि जो परिवार सम्पन्न हैं, वहाँ का वातावरण भी सुख-शान्ति से भरा हुआ है।

वस्तुतः पारिवारिक सुख-शान्ति का कारण आर्थिक या भौतिक नहीं है वरन् परिवार में रहने वाले सदस्यों की संस्कारशीलता है। जो कुटुम्ब भावनात्मक रूप से संगठित, एक, सुदृढ़ और सुसंस्कृत होते हैं वहाँ गृह-कलह के कोई कारण ही नहीं दिखाई देते। इसके विपरीत संस्कारशीलता के अभाव में सुशिक्षित होने पर परिवारों के सयाने-लड़के दुर्व्यसनी एवं दुर्गुणी बन जाते हैं। चारित्रिक गुणों से रहित उच्छृंखल, निरकुश और अनुशासनहीन हो जाते हैं। यह संस्कारशीलता का अभाव ही है जो घरों में बड़े-बूढ़ों के अधिकार एवं कर्तव्यों में सन्तुलन नहीं रखने देती और क्लेश-कलह के कारण उपस्थित करते हैं। स्त्रियाँ घर की सुख-समृद्धि में शान्ति, सन्तोष, स्नेह, सौहार्द एवं हँसी-खुशी के योगदान का महत्व न जानने के कारण गाल फुलाये, मुँह लटकाये, रूठी और ऐंटी रहती हैं तथा कुटुम्ब के वातावरण को विषाक्त किये रहती हैं। संस्कारों का ही अभाव है जो घर के सदस्यों को असहिष्णु और अहंवादी बना देता है। घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अधिकार लिप्सा से पीड़ित होकर दूसरे लोगों का उठना-बैठना दूभर कर देती हैं। क्या कारण है ? इन सब विकारों, विकृतियों एवं त्रुटियों का एक ही कारण है और वह है परिवारों का असंस्कृत होना।

सुसंस्कृत परिवार का इतना महत्व तो बताया जाता है, उसका गुणगान भी खूब किया जाता है। परन्तु उसका अर्थ क्या है ? परिवार में सुसंस्कृत होने का एक ही अर्थ है उसके सदस्यों में गुण, कर्म स्वभाव का सुन्दर विकास होना। दूसरों को उनकी दुःखदायी क्रियाओं, कुमार्ग पर ले जाने वाले उनके दुर्गुणों और क्रोध, द्वेष, दुर्भाव, ईर्ष्या, स्वार्थ, अनुदारता, असहिष्णुता आदि दोषों का परिमार्जन कर उनके स्थान पर सदाचार, सुशीलता, प्रेम, पारस्परिक एकता, उदारता, मधुरता और प्रसन्नता के बीजारोपण करना ही उनको सुसंस्कृत बनाना है।

परिजनों को इस प्रकार सुसंस्कारिता के मार्ग पर अग्रसर करने का उत्तरदायित्व गृहपति को अपने ऊपर लेना चाहिए, क्योंकि परिवार का मुखिया और संचालक होने से उसी का प्रभाव सबसे ज्यादा होता है। अपने देश में पितृसत्तात्मक परिवारों का ही प्रचलन है। प्रत्यक्ष रूप में परिवार पर उसी का नियन्त्रण रहता और माता उस नियंत्रण को प्रभावी बनाती है। इसलिए परिवार के संचालन शासन में माता-पिता दोनों को ही भूमिका होती है। किसकी भूमिका प्रधान है और किसकी गौण ? यह विभाजन नहीं किया जा सकता पर इतना निश्चित है कि परिवार को दोनों ही समान रूप से प्रभावित करते हैं। उनकी बात को घर का कोई सदस्य कदाचित् ही टाल पाता है। उपेक्षा की स्थिति तब आ सकती है जब गृहपति स्वयं ही सुसंस्कृत न हो स्वयं ही उन गुणों का अनुसरण

२.६० समाज का स्फुरदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

करता हो अथवा सुधार में सीख के स्थान पर अधिकार का प्रयोग करता हो और दण्ड अथवा भय के आधार पर वंचित संस्कारों को आरोपित करने का प्रयास करे। इस तरह की भूल के कारण परिवार में पहले से ही ज्यादा गृहकलह का वातावरण और सघन ही जायेगा तथा सुधार के लिए किये गये प्रयास अभिशाप सिद्ध होंगे।

परिवार के सदस्यों को सदगुणी, सदाचारी, सुशील और सुसंस्कृत बनाने के लिए सर्वप्रथम स्वयं को सदगुणी, सदाचारी और सुशील बनना चाहिए अन्यथा इस प्रयोजन के लिए किये गये मौखिक उपदेश व्यर्थ तो जायेंगे ही अपनी प्रतिक्रिया उत्पन्न किये बिना भी न रहेंगे। स्वयं अपना आचरण और रहन-सहन ऐसा रखना चाहिए जिससे परिजनों को स्वयमेव ही उसका अनुकरण करने की प्रेरणा मिले। उदाहरण के लिए, यदि परिवार के सदस्यों को सभी प्रकार के दुर्व्यसनों से दूर रखना है तो सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि अपने में तो कहीं कोई ऐसा व्यसन नहीं है। परिजनों को सादगी और मितव्ययता सिखाना है तो स्वयं अपनी आवश्यकताओं को कम से कम किया जाए और वाणी से नहीं आचरण से सादगी अपनाने की प्रेरणा दी जाय। घर के लोगों को समय का पाबन्द और नियमित दिनचर्या का पालन करने वाला बनाना है तो स्वयं अपना जीवनक्रम एक निश्चित निर्धारित दिनचर्या में बाँध लेना चाहिए। इसी प्रकार क्रोध, कटुता और उत्तेजना के दुर्गुणों को अपने स्वभाव से निकाल कर प्रसन्नता, मधुरता तथा स्थिरता विकसित कीजिए ताकि घर के लोगों को ही वैसी ही प्रेरणाएँ मिलें। अधिकारों का कम से कम प्रयोग किया जाय और कर्तव्यपालन पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाए ताकि परिजनों में कर्तव्यपालन के प्रति निष्ठा भाव जाग्रत हो।

परिजनों को सुसंस्कारित बनाने के अतिरिक्त उन्हें हर दृष्टि से सुविकसित और सुयोग्य बनाना भी उतना ही आवश्यक है। इस क्रम में परिवार के प्रत्येक सदस्य को शिक्षित एवं साक्षर बनाने के लिए हर सम्भव प्रयास करने चाहिए। उसमें, से विकासोन्मुख सदस्यों को शिक्षित और विकसित बनाये तथा प्रौढ़ निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए भी आवश्यक तथा हर सम्भव प्रयत्न करने चाहिए। बिना शिक्षा या साक्षरता के संस्कार-शोधन में कठिनाई ही उत्पन्न होगी। स्मरण रखा जाना चाहिए कि शिक्षा जीवन निर्माण की आधारशिला है और इस तथ्य को समुचित महत्व देते हुए उन सदस्यों को जिन्होंने विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की है, चाहिए कि वे उन सदस्यों को घर पर ही शिक्षित या साक्षर बनाने का प्रबन्ध करें जिन्हें विद्यालय में जाने का समय नहीं मिला या वैसी सुविधा उपलब्ध नहीं हो सके। कम से कम इतनी शैक्षणिक योग्यता तो हर किसी में होनी चाहिए कि वह प्रेरणाप्रद जीवन साहित्य का स्वाध्याय कर सके और उससे लाभ उठा सके। जिस परिवार में इतना कर लिया गया, परिवार के सभी सदस्यों में शिक्षा के प्रति रुचि जाग्रत कर ली गई, उस परिवार के सम्बन्ध में

आश्वासत हुआ जा सकता है कि वहाँ सुसंस्कारिता के अभिवर्द्धन की सम्भावनाएँ पुष्ट होने लगी हैं।

सुसंस्कारिता संबर्द्धन के लिए और भी उपाय किये जाने चाहिए तथा ऐसा माध्यम अपनाना चाहिए जिससे कि परिजनों को सहज ही इस दिशा में गति मिलती रहे। इसके लिए परिवार में आस्तिकता का वातावरण बनाना अतीत व उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसमें कोई दोराय नहीं है कि आस्तिकता शुभ संस्कारों की जननी है। अतः घर के प्रत्येक सदस्य को आस्तिक, ईश्वर विश्वासी और धर्म श्रद्धालु बनाने के लिए परिवार का वातावरण धार्मिक बनाये रखना चाहिये। इसके लिए प्रतिदिन प्रातः सायं सामूहिक प्रार्थना का कार्यक्रम चलाया जा सकता है। संध्या समय, रात के सोते समय पारिवारिक गोष्ठी का उपक्रम भी काफी उपादेय सिद्ध हो सकता है जिसमें कथा-प्रसंगों के माध्यम से धर्म प्रेरणा और नैतिक शिक्षण की आवश्यकता पूरी होती रहे। धर्मोत्सवों और संस्कार आयोजनों के द्वारा भी घर के लोगों का धर्म के प्रगतिशील स्वरूप का परिचय-प्रशिक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार घर का वातावरण धार्मिक बनाये रहने से सदस्यों के मन में दुर्गुणों के प्रति सहज ही वितृष्णा उत्पन्न होगी तथा उनके अन्तरंग में अनायास ही सुसंस्कारिता के बीज पड़ेंगे।

मानसिक और भावनात्मक परिष्कार के अतिरिक्त शरीर स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना भी परिजनों को सुसंस्कारी बनाने की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण कदम है। शरीर स्वास्थ्य के लिए व्यायाम और श्रम के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके लिए वृद्ध व्यक्ति प्रातः भ्रमण का कार्यक्रम बना सकते हैं। तरुण सदस्य परिश्रमपूर्ण व्यायाम कर सकते हैं। किशोर घर में अपने साथियों के साथ हाकी, फुटबाल, बालीबाल कबड्डी आदि खेल खेलने जा सकते हैं। स्त्रियाँ शरीर श्रम की आवश्यकता पूरी करने के लिए अनाज और मसाले कुट-पीस सकती हैं। घरों में बागवानी, घर की सफाई आदि शौक पैदा कर व्यायाम का लाभ उठाया जा सकता है। कहने का आशय यह है कि प्रत्येक परिजन को ऐसे श्रम के लिए प्रेरित करना चाहिए जिससे शारीरिक व्यायाम होता रहे और उसके माध्यम से स्वास्थ्य संरक्षण की आवश्यकता पूरी होती रहे।

स्वास्थ्य संरक्षण के लिए व्यायाम के बाद भोजन का क्रम आता है। बल्कि कहा जाना चाहिए कि दोनों का समान महत्व है। इस सन्दर्भ में परिवार के सभी सदस्यों की रुचि एक समान बनाने का प्रयास करना चाहिए अर्थात् स्वाद को नहीं आहार की सात्विकता या पौष्टिकता को महत्व देने का अभ्यास डालना चाहिए। कहना नहीं होगा कि सात्विक भोजन शारीरिक पोषण की ही आवश्यकता पूरी नहीं करता बल्कि मन की वृत्तियों का भी संशोधन करता है। सात्विक प्रकृति वाले व्यक्ति की साधारण से साधारण और सादे से सादे भोजन में स्वाद आता है। अतः घर की रसोई को पराकाष्ठा तक सरल

सात्विक तथा सादा रखना चाहिए। भोजन का स्तर इतना माध्यमिक होना चाहिए जो तीनों दिन समान रूप से चलता रहे। दो दिन पूरी-पकवान, दो दिन मेवा-मिष्ठान और दो दिन खीर-हलुवा तथा बाकी दाल शाक का क्रम चलाया जाए तो उससे परिवार के लोगों की रुचि तो बिगड़ती ही है घर की आर्थिक स्थिति पर भी अनावश्यक दबाव पड़ता है। साधारण एवं सामान्य भोजन स्वास्थ्य को तो सन्तुलित रखता ही है, खर्च की दृष्टि से भी सस्ता पड़ता है, शाक-सब्जियाँ और मौसमी फल-मक्खन, मलाई, से किसी भी रूप में कम लाभदायक नहीं है।

सभी सदस्यों में एकरस और परस्पर स्नेह बनाये रखने के लिये यह भी आवश्यक है कि सबके साथ समान व्यवहार किया जाये। घर के सभी सदस्य समान मूल्य के वस्त्र पहनें, किसी के कपड़े कम ज्यादा मूल्य के न हों। इसके साथ ही सभी सदस्यों को सुविधाएँ भी एक जैसी प्राप्त होनी चाहिए। यह नहीं कि पिता घर का मुखिया है तो उसके लिए विशेष सुविधाएँ और छोटे बच्चे या अन्य सदस्य कुछ नहीं कमाते तो उन्हें कम सुविधाएँ। यह विषमता अथवा भेदभाव परिवार के लोगों में द्वेष और वैमनस्य उत्पन्न करता है। इसी प्रकार घर के सम्बन्ध में प्रत्येक जानकारी परिवार के सभी सदस्यों को रहनी चाहिए। कम से कम आय व्यय का ज्ञान तो हर सदस्य को रहे ही। इसके लिए घर के सदस्यों को इकट्ठा करके सब की राय से घर का बजट बनाना चाहिए परिवार के आय व्यय की जानकारी परिजनों की अपनी-अपनी आवश्यकताएँ आर्थिक परिधि से बाहर जाने से बचाएँगी और उनमें मितव्ययता का विकास तो होगा ही।

इस तरह के और भी कई उपाय ढूँढ़े जा सकते हैं तथा उन्हें क्रियान्वित किया जा सकता है जिनके प्रभावस्वरूप परिवार का प्रत्येक सदस्य घर के प्रति प्रगाढ़ अपनत्व अनुभव करने लगे। स्वयं को उस परिवार शरीर का ही एक अंग समझने लगे और पारिवारिक सुख-शान्ति को किसी भी मूल्य पर नष्ट न होने दे। परिजनों में इस प्रकार सुसंस्कारिता का विकास कर ही घर का वातावरण सुख-शान्तिपूर्ण बनाया जा सकता है। जहाँ सुसंस्कारिता होगी वहाँ के सदस्य जानेंगे भी नहीं कि गृह-कलह क्या होता है? क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक एक दूसरे से आत्मीयता के प्रगाढ़ बन्धनों में बँधा रहेगा। किसी के व्यक्तित्व से किसी के अहं को टकराहट का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है? जब किसी को अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व या अहं ही नहीं है।

परिवार निर्माण की धुरी-नारी

स्त्री को परिवार का हृदय और प्राण कहा जा सकता है। परिवार का सम्पूर्ण अस्तित्व तथा वातावरण गृहणी पर निर्भर करता है। यदि स्त्री न होती तो पुरुष को परिवार बनाने की आवश्यकता न रहती और न इतना क्रियाशील तथा उत्तरदायी बनने की। स्त्री का पुरुष से

युग्म बनते ही परिवार की आधारशिला रख दी जाती है और उसे अच्छा या बुरा बनाने की प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है।

परिवार बसाने के लिए अकेला पुरुष भी असमर्थ है और अकेली स्त्री भी। पर मुख्य भूमिका किसकी है, यह तय करना हो तो स्त्री पर ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है। क्योंकि अन्दरूनी व्यवस्था से लेकर परिवार में सुख-शान्ति और सौमनस्य के वातावरण का दायित्व प्रायः स्त्री को ही निभाना पड़ता है। इसलिए स्त्री के साथ गृहणी, सुगृहणी गृह-लक्ष्मी जैसे सम्बोधन जोड़े गये हैं। पुरुष के लिए ऐसा कोई विशेषण नहीं मिलता।

यहाँ गृहणी से तात्पर्य केवल पत्नी से ही नहीं है। स्त्री चाहे जिस रूप में हो, वह जिस परिवार में रहती है वहाँ के वातावरण को अवश्य प्रभावित करती है। माता, पत्नी, बहिन, बुआ, चाची, ताई, दादी, ननद, देवरानी, जेठानी, भाभी आदि सभी परिवार के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं और वहाँ के वातावरण को, उस घर के सदस्यों को प्रभावित करती हैं। कारण कि पुरुष तो अधिकांशतः बाहर रहते हैं, वृद्ध या असमर्थ पुरुष घर में रहते भी हों तो वे स्त्री की तरह वहाँ के वातावरण को प्रभावित नहीं करते। क्योंकि स्त्री की कोमलता, संवेदना, करुणा, स्नेह और ममता की जो हार्दिक विशेषताएँ होती हैं, वे पुरुषों में नहीं होती। इन विशेषताओं के कारण ही महिलाएँ घर के सदस्यों के अधिक निकट रहतीं और उन्हें प्रभावित करती हैं।

पुरुष या पिता में एक बारगी कोई दुर्गुण भी हो, तो भी माँ अपनी सन्तान को उससे बचा सकती है। शिवाजी के पिता-मुसलमान राजा के दरबार में नौकरी करते थे और उनकी अधीनता को मानते थे। पर जीजाबाई अपने पुत्र को स्वातन्त्र्य योद्धा के रूप में ही विकसित करना चाहती थीं। इसके लिए उन्होंने आवश्यक सभी सतर्कताएँ बरतीं। अपने पति के प्रभाव से बचाया और शिवाजी को उसी ढाँचे में ढाला। यह आश्चर्यजनक हो सकता है, कि पिता जिसके प्रति कृतज्ञ हो, जिसकी रोटी खाते हों और यह भी चाहते हों कि पुत्र भी उन्हीं की तरह निकले तथा पुत्र विपरीत दिशा में ही विकसित हो, अलग ही मनोभूमि रखने वाला बन जाय। लेकिन माँ के महत्व को देखते हुए यह अस्वाभाविक नहीं है। सामान्य जनजीवन में भी अयोग्य और दुर्व्यसनी पिता की सन्तानें योग्य तथा सच्चरित्र बन जाती हैं। इसका कारण यही है कि वहाँ मातायें दोष-दुर्गुणों से होते रहने वाले कटु-अनुभवों की पुनरावृत्ति सन्तान में न आने देने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहती हैं। यह भी देखा जाता है कि ईमानदार, विश्वासपात्र और सच्चरित्र व्यक्तियों की सन्तानें कभी बेईमान, धोखेबाज और चरित्रहीन निकल जाती हैं। यह भी इसलिए कि माताएँ तथा परिवार में रहने वाली स्त्रियाँ बच्चों के प्रति विशेष रूप से सावधानियाँ नहीं रखतीं तथा कई भूलें और त्रुटियाँ कर डालती हैं, जिनका प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है।

२.६३ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सन्तान के निर्माण में ही नहीं, परिवार के समूचे निर्माण में भी पुरुष की अपेक्षा नारी की भूमिका हजार गुनी अधिक महत्वपूर्ण और अधिक प्रभावशाली है। इसलिए स्वामी दयानन्द ने कहा है- “एक पुरुष के शिक्षित और सुसंस्कारी होने का अर्थ है, अकेले उसी का उपयोग बनना और एक माँ यदि शिक्षित, समझदार तथा सुयोग्य हो तो समझना चाहिए पूरा परिवार आदर्श-रत्न बन गया, नर-रत्नों की खदान निकल आयी।” लेकिन हमारे देश में अभी वह सौभाग्यसूचक स्थिति नहीं आ पायी है, जिसमें कि सभी नर-रत्न हो सकें। किसी समय में भारत में ३३ करोड़ नर-रत्न रहे होंगे, जिन्हें तैतीस कोटि देवताओं के नाम से पुकारा जाता था, पर अब वह बात पुराण कल्पना ही लगती है। ऐसा लगना स्वाभाविक भी है, क्योंकि भारतीय समाज का अध्ययन करते समय नारी का जो रूप उभरकर सामने आता है, उसे देखकर विश्वास नहीं होता कि कभी वह नर-नारायण की जननी रही होगी।

इसलिए परिवार-निर्माण में महान उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए नारी को अपनी योग्यता, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता विकसित करनी चाहिए। शारीरिक दृष्टि से रुग्ण, कमजोर तथा मानसिक दृष्टि से अविकसित स्त्रियाँ अपना तो निर्माण कर ही नहीं सकतीं, परिवार का निर्माण कहाँ से करेंगी? शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं नीरोग बनने के लिए प्रकृति के नियमों का पालन नितांत आवश्यक है। प्रकृति बड़ी कठोर है और वह किसी के द्वारा भी नियम का उल्लंघन सहन नहीं करती। जो भी उपेक्षा करेगा, उसे रोग और दुर्बलता का दण्ड भुगतना ही पड़ेगा। स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली आदतों से सभी परिचित हैं, उन्हें छोड़ दिया जाय और संयमित, नियमित तथा व्यवस्थित जीवन जिया जाय तो प्रकृति के उपहार, स्वास्थ्य और शक्ति आसानी से प्राप्त किये जा सकते हैं।

माताएँ स्वयं प्राकृतिक नियमों का पालन करने लगे तो स्वयं उनका स्वास्थ्य तो ठीक रहेगा ही, घर के अन्य सदस्यों को भी इससे प्रेरणा मिलती रहेगी और वे भी उन नियमों का पालन करने लगेंगे अन्यथा स्वयं नियमों का उल्लंघन करते रहा जाय और घर के अन्य सदस्यों, बच्चों को नियम पालन के लिए कहा जाय तो यह कभी भी नहीं हो सकता। स्वयं के लिए हो या दूसरों के लिए, घर में खाने के लिए चटपटी, मिर्च-मसाले की, तली-गली-सड़ी चीजें बनाई जायें तो न स्वयं की स्वास्थ्य रक्षा हो सकती है और न घर के अन्य सदस्यों पर समझाने-बुझाने का प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक-विकास के लिए जहाँ प्रकृति के नियमों का पालन आवश्यक है, वहीं मानसिक विकास के लिए शिक्षा की भी आवश्यकता है। अच्छा तो यही है कि लड़कियों को आरम्भ से ही पढ़ाया जाय, पर जिन महिलाओं को बचपन में ऐसी सुविधा नहीं मिली है, उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से, शिक्षित स्वजनों से पढ़ना-लिखना सीखना

चाहिए। घर के जिम्मेदार सदस्यों को भी चाहिए कि वे वस्त्र, भोजन और आवास की तरह ही शिक्षा को भी प्राथमिक आवश्यकता मानें और घर की अशिक्षित महिलाओं के लिए ऐसी व्यवस्था करें। आभूषण, सौन्दर्य प्रसाधन, शृंगार, फैशन, टीपटाप और मनोरंजन से भी अधिक महत्व शिक्षा को दें। विद्या से बढ़कर कोई संपत्ति नहीं है और अज्ञान से बढ़कर कोई दारिद्र्य नहीं।

शिक्षित महिलाएँ अपने परिवार की अशिक्षित महिलाओं को पढ़ा सकती हैं। आजकल कई ऐसी समाज-सेवी संस्थाएँ भी काम कर रही हैं, जो प्रौढ़ महिला-शिक्षा की व्यवस्था करती हैं। पास में वैसी कोई सुविधा हो तो उसका लाभ भी उठाया जाना चाहिए और शिक्षा की आवश्यकता को अविलम्ब पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

शिक्षित महिलाएँ अपने अर्जित ज्ञान और विकसित क्षमता का लाभ पूरे परिवार को देती रह सकती हैं। अशिक्षित और निरक्षर स्त्रियों में ज्ञान और क्षमता जैसी चीज मिलना असम्भव-सा ही है। उनका ज्ञान अपने आस-पास तक ही सीमित रहता है और योग्यता केवल चौके-चूल्हे में ही प्रयुक्त होती है। इसके विपरीत शिक्षित स्त्रियाँ अपनी नयी-नयी जानकारीयों का लाभ पूरे परिवार को देती रहती हैं। उन्हें बच्चों का पालन-पोषण ही नहीं, उनके विकास और निर्माण की कला भी आती है।

महिला-शिक्षा के लिए शिक्षित महिलाएँ सेवा-भावना से भी प्रयास कर सकती हैं। प्रतिभा का उपयोग लाभ उठाने में नहीं, लाभ देने में करना अधिक गौरवपूर्ण है। महिला-शिक्षा के लिए कुछ परिवारों में सामूहिक रूप से, मुहल्ले या गाँव में ऐसी शिक्षित महिलाओं को प्रयत्न करना चाहिए। फुरसत के समय जब पास-पड़ोस की महिलाएँ मिलकर बैठती हैं तो घण्टों समय व्यर्थ की गप्प-बाजियों और निन्दा-चुगलियों में बीत जाता है। उस समय का उपयोग यदि ज्ञान-चर्चा, शिक्षा-अभ्यास और प्रेरक कथा-प्रसंग कहने-सुनने में किया जाय तो न कोई अतिरिक्त समय लगता है और न व्यर्थ की गप-शप से बैर-वैमनस्य पैदा होने की सम्भावना रहती है।

स्वास्थ्य और शिक्षावृद्धि के लिए स्वयं तथा परिवार को लक्ष्य रखकर किये जाने वाले प्रयत्नों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रयास और भी महत्वपूर्ण है, वह है घर की सुव्यवस्था तथा परिवार को सुसंस्कृत बनाने की चेष्टा। कहा जा चुका है कि ठोस प्रभाव कह-सुनकर नहीं, स्वयं के माध्यम से आदर्श प्रस्तुत कर ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि घरों में स्वच्छता और सुरुचि पूर्ण सुसज्जा का बड़ा अभाव रहता है। स्वयं गृहणी का इस ओर कोई ध्यान नहीं तो परिवार के अन्य सदस्य भी इस विषय में कोई ध्यान नहीं देते। घर में गन्दगी देखकर बच्चे भी वहाँ और गन्दगी बढ़ाने लगते हैं। घर की यह अस्त-व्यस्तता बताती है कि यहाँ आलस्य और प्रमाद का

राज्य है। आलस्य और प्रमाद से मानव-जीवन का बहुत बड़ा दोष समझा गया है और उसका पहला परिचय गन्दगी के रूप में मिलता है। इसलिए गृहिणी को स्वयं साफ-स्वच्छ रहने के साथ-साथ घरों में भी सुरुचि और सुसज्जा का वातावरण बनाना चाहिए एवं घर के अन्य लोगों में भी स्वच्छता के संस्कार डालने चाहिए।

गृहिणी को 'गृह-लक्ष्मी' के सम्मानजनक विशेषण से सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है-वह नैतिक दृष्टि से सुदृढ़ और स्वभाव की दृष्टि से देवी है। मधुरता तथा सद्भाव का अमृत उसमें बहता रहता है, जिसके द्वारा वह घर के अशान्त सदस्यों को धैर्य बँधाती, दिशा बताती और प्रेरणा देती है तथा परिवार-संस्था की नींव भी मजबूत बनाती है।

परिवार में सुख-शान्ति का आधार उसके सदस्यों में रहने वाला स्नेह, सहयोग और सद्भाव है। घर में इसी से स्वर्गीय वातावरण का सृजन होता है। इसलिए गृहिणी को इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिए। परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रखें, परस्पर आदर-सम्मान करें, एक दूसरे का सहयोग करें और स्नेह, सद्भाव तथा आत्मीयता, उदारता भरे। इसके लिए प्रेरणायें भरने का काम भी स्त्री ही अधिक कुशलतापूर्वक कर सकती है।

स्वयं अपना व्यवहार भी उसी स्तर का रखना चाहिए तथा छोटी-छोटी प्रति असीम दुलार, स्नेह, ममता तथा बड़ों के प्रति श्रद्धा और सम्मान बरतना चाहिए। इस तरह की प्रेरणाएँ भरने के लिए रात्रि में सोते समय पारिवारिक गोष्ठियाँ करने, बच्चों को प्रेरणाप्रद कथा-गाथाएँ सुनाने का काम भी बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

कई बार ऐसे प्रसंग आते हैं, जब घर के लोगों में आपस में ही एक दूसरे के प्रति गुत्थियाँ और ग्रन्थियाँ बन जाती हैं तथा मन-मुटाव रहने लगता है। इन समस्याओं का समाधान और गुत्थियों का सुलझाव भी विवेक और समझदारी के साथ किया जा सकता है, पुरुष जिस तरह परिवार की भौतिक कठिनाइयाँ हल करता है तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करता है, उसी तरह गृहिणी को भी परिजनों की भावात्मक तथा विचारात्मक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पूरे परिवार के दोष, दुर्गुणों और बुराइयों के दुःखदायी प्रभाव नारी अपने ऊपर सहन करती है। यह सहनशीलता स्तुत्य है पर इतना भर पर्याप्त नहीं है। उन्हें सहन करते रहना और उनके समाधान की कोई चेष्टा न करना प्रच्छन्न रूप से दोष-दुर्गुणों को बढ़ावा देने जैसा है। यह तो ठीक है कि मनुष्य के स्वभाव में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही भरी पड़ी हैं। उसमें देवोपम गुण है तो पशु तुल्य कुसंस्कारों की कमी भी नहीं। गौरवास्पद तो यही है कि अच्छाइयों को उभारा जाय और बुराइयों को दबाया या नष्ट किया जाय। पिछले कई जन्मों से पशु-योनियों में भटकते

हुए उनके संस्कार लेकर जन्मा मनुष्य वह प्रभाव शीघ्र छोड़ देगा-यह सरल नहीं है। पर नारी के लिए सरल हो सकता है, क्योंकि मनुष्य की नकेल उसके हाथ में तभी आ जाती है, जबकि वह जन्म लेता है और वह उसी समय से आवश्यक सावधानी तथा सूझबूझ बरते तो मनुष्य को परिवार की स्वामिनी होने के नाते घर के सदस्य को मनचाही शिक्षा दे सकती है। मनोवैज्ञानिकों के लिए स्वभाव परिष्कार भले ही कठिन हो, पर नारी के लिए, माँ के लिए वह नितान्त सरल है। वह यह काम आसानी से कर सकती है और मनुष्य की निर्मात्री होने के कारण इसे करने में ही उसकी शान है।

परिवार संस्था का पुनर्गठन हो

परिवार संस्था को, व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती संस्था कहा जा सकता है। परिवार का कलेवर छोटा होता है-चर्म-चक्षुओं की आदत यह है कि वस्तु के आकार के अनुरूप उसका महत्व माना जाय। परिवार छोटी संस्था है, इसलिये उसे उपेक्षणीय समझा जाता है। पर यदि गम्भीरतापूर्वक सोचा जाय तो प्रतीत होगा कि व्यक्ति और समाज की व्यवस्था एवं प्रगति की आधार भूमिका निभाने की पूरी जिम्मेदारी परिवार के स्तर पर ही निर्भर रहती है। अस्त-व्यस्त परिवारों में पले हुए लोगों का व्यक्तित्व कभी उच्चस्तर का नहीं हो सकता और न पिछड़े स्तर के लोग कभी प्रगतिशील, सुविकसित समाज की रचना कर सकते हैं। गरीबी एक बात है और संस्कृति दूसरी। गरीबी परिस्थितियों पर निर्भर है, पर संस्कृति को हर परिस्थिति में सुस्थिर रखा जा सकता है। पारिवारिक परम्पराएँ यदि सद्भाव सम्पन्न हों, उनमें उच्चस्तरीय प्रचलन विद्यमान हो तो समूची मानवी जाति का, समस्त संसार का वातावरण सुख-शान्ति से भरा-पूरा रह सकता है और स्वल्प साधन रहते हुए भी स्वर्गीय परिस्थितियों का आनन्द उपलब्ध हो सकता है।

दुर्भाग्य यह रहा है कि व्यक्ति-निर्माण के लिये, धर्म और समाज निर्माण के लिए शासन जैसा समर्थ तन्त्र परिवार संस्था को सुविकसित बनाये रखने के लिए खड़ा नहीं किया गया है। उसकी समस्याओं को सुलझाने के लिए उसका परिष्कृत ढाँचा खड़ा करने के लिए सर्वांग पूर्ण आचार-संहिता और विश्वव्यवस्था की आवश्यकता थी, पर वह व्यवस्था लोगों के ध्यान में नहीं आई। होम साइन्स 'गृहविज्ञान' के नाम से लड़कियों को स्कूलों में पुस्तकें तो कितनी ही पढ़ाई जाती हैं, पर उनमें काम-काजी, साज-सँभाल की ऊपरी जानकारीयों भर होती हैं। परिवार के सदस्यों का भावना-स्तर, चिन्तन, दृष्टिकोण, किस प्रकार परिष्कृत किया जाय, उनमें गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता का विकास कैसे किया जाय ऐसे

२.६४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

तथ्य नहीं ही दिखाई पड़ते हैं। सुसज्जित घर में रहने का आनन्द तो अच्छे होटलों में रहकर भी उठाया जा सकता है। अमीर लोग वैसी सुविधा उपयुक्त सामग्री खरीद कर, प्रशिक्षित नौकर रखकर भी उपलब्ध कर सकते हैं। परिवार का बाह्य अंग ही उस सुव्यवस्था और सुसज्जा को माना जा सकता है, जो गृहविज्ञान की पुस्तकों में लिखी मिलती हैं और स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं। यहाँ अभाव उस तन्त्र का बताया जा रहा है जो परिवार के वातावरण को सुसंस्कृत बनाता और जिसमें पले हुए लोग संस्कारवान बनकर निकलते हैं। परस्पर सद्भाव बरतने और समाज में सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन करने वाले कुशल माली सिद्ध होते।

आवश्यकता इस बात की है कि उपेक्षित परिवार संस्था को नये सिरे से गठित किया जाय और उसे अपनी द्विपक्षीय भूमिका का निर्वाह कर सकने की क्षमता से सम्पन्न बनाया जाय। इसलिये कितने ही नये आधार खड़े करने होंगे और अवांछनीय प्रचलनों से पीछा छुड़ाना पड़ेगा। मजबूत आधार वे ही हो सकते हैं जिनमें न्याय, नीति, औचित्य और विवेक को समुचित प्रश्रय दिया गया हो। परम्पराओं का महत्व इसलिये है कि वे स्वभाव का अंग बन जाती हैं। रुचि उसी ढाँचे में ढल जाती है और ढर्रा उसी पटरी पर लुढ़कने लगता है। मनःक्षेत्र में इन परम्पराओं की जड़ें इतनी गहरी जमी रहती हैं कि निष्पक्ष दृष्टि से अवांछनीय सिद्ध होने पर भी पूर्वाग्रहों के पक्ष में प्रायः हठवादिता बनी रहती है और उसके पक्ष में विचित्र प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये जाते रहते हैं। परिवर्तन के लिये रजामन्द करना तो और भी कठिन पड़ता है।

जो हो, अवांछनीयताओं को निरस्त करके औचित्य का प्रतिष्ठापन नितान्त आवश्यक है। यदि आत्महत्या के लिए कटिबद्ध मानव जाति को उज्ज्वल भविष्य के राजमार्ग पर घसीटना है तो कई महत्वपूर्ण कदम उठाने पड़ेंगे। व्यक्ति का नैतिक, बौद्धिक, चारित्रिक स्तर ऊँचा उठाना पड़ेगा और मानवी आदर्श एवं कर्तव्यों को अपनाने के लिये उसे राजी-राजी से रजामन्द करना पड़ेगा। सामाजिक प्रचलनों में ऐसी मर्यादाएँ, प्रथाएँ तथा धाराएँ जोड़नी पड़ेंगी जो समूहगत अवांछनीयताओं को निरस्त करके निष्पक्ष न्याय को व्यवहार में ला सकने की परिस्थितियाँ बना सकें।

व्यक्ति और समाज की स्थिति उच्चस्तरीय बनाने का व्यावहारिक उपाय एक ही है कि परिवारों का पुनर्गठन किया जाय। इस गठन में भारी उथल-पुथल करने की जरूरत नहीं है और न प्रचलित परम्पराओं को नष्ट करना ही अभीष्ट है। प्राचीन और नवीन को, प्रचलन और औचित्य को परस्पर मिला देने की सुधार प्रक्रिया अपनाकर ही अभीष्ट प्रयोजन पूरा किया जा सकता है। हमारे प्रयास इसी दिशा में हैं। परिवार संस्था की ओर लोकचेतना को आकर्षित करके जन-जन को यह समझाया जाना है कि परिवार छोटे होने पर भी वे

उपेक्षणीय नहीं हैं। वे बहुत ही शक्तिशाली होते हैं और दूरगामी परिणाम उत्पन्न करते हैं। इसलिये उन्हें सुविकसित बनाने की दिशा में समुचित ध्यान दिया जाना चाहिये अन्यथा व्यक्ति और समाज की दुर्दशा दूर न हो सकेगी और आज जो समस्याएँ सर्वभक्षी विभीषिका बनकर रह रही हैं उनका समाधान नहीं हो सकेगा।

युद्धों में रक्तपात का क्रूर-कर्म कठोर प्रकृति के बने पुरुष से ही सफलतापूर्वक सम्भव हो सकता है। नारी की करुणा इस दिशा में उसे बहुत आगे तक नहीं बढ़ने देती। यों प्रकारान्तर अथवा आपत्ति धर्म के अनुरूप वे भी युद्ध में प्रवृत्त होती देखी गई हैं। परिवार का भावनात्मक क्षेत्र पूरी तरह नारी के अधिकार क्षेत्र में आता है। यों उसकी आर्थिक तथा नियामक प्रखरता का भार प्रायः पुरुष को ही सँभालना पड़ता है, पर जहाँ तक भावनात्मक बीजारोपण तथा उस फसल को उगाने, बढ़ाने और फली-फूली बनाने में नारी जो कर सकती है वह नर के लिए किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। घर-परिवार नारी का प्रधान कार्यक्षेत्र है। नौकरी, व्यवसाय आदि करना पड़े तो भी घर सँभालना उसी के जिम्मे रहता है। परिवार के छोटे-बड़े सदस्य बाहर कम और घर में अधिक समय तक रहते हैं। इस अवसर पर उन्हें तरह-तरह की सुविधा एवं व्यवस्था का लाभ महिलायें ही प्रदान करती हैं और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रभाव डालती हैं। धर्मोपदेशक की तरह तो नहीं, पर प्रकारान्तर से वे समूचे परिवार को प्रभावित करती हैं। यदि उनका स्तर ऊँचा हो तो वे निर्धनता जैसी कठिनाइयों के रहते हुए भी घर को देव मन्दिर जैसा सुरुचिपूर्ण बना सकती हैं और अपने आन्तरिक सौन्दर्य से घर के हर सदस्य को मुग्ध करके कठपुतली की तरह नचा सकती हैं। आदतें सुधारना, बदलना और आरम्भ करना वस्तुतः घर की ढलाई-भट्टी की सहायता से ही सम्भव हो सकता है। परिवार वह प्रयोगशाला है जिसमें किये गये अनुसन्धानों का लाभ समूचे समाज को मिलता है। यह वह नर्सरी है जिसमें उगाये हुए पौधे जहाँ-तहाँ सुरम्य उद्यान बनकर विकसित होते हैं और अपनी हरियाली तथा सुषमा से मनोरम वातावरण उत्पन्न करते हैं।

परिवार संस्था का आरम्भ नारी के गृह प्रवेश के साथ होता है। एकाकी पुरुष दफ्तर में काम करके और सराय में सोकर भी गुजर कर सकता है, पर घोंसला बनाने और अण्डे बच्चों को सँभालने की बात नव-वधू के साथ ही जुड़ी आती है। सुक्तिकार की वह उक्ति अक्षरशः सही है जिसमें कहा गया है कि 'न गृहं गृह मित्याहु गृहिणी गृह मुच्यते' अर्थात् इमारत घर नहीं कहलाती वस्तुतः गृहिणी, घरवाली ही घर है। गृहलक्ष्मी के प्रवेश से ही टूटे पुराने घर झोंपड़े हास-उल्लास से भर जाते हैं और सृजन के बहुमुखी प्रयत्न एक निश्चित दिशा में चल पड़ते हैं। घर का आरम्भ ही नारी नहीं करती वरन् उसका विस्तार, पोषण, विकास भी वही करती है, अब उसमें इतना और जोड़ना है कि परिवार को सुसंस्कृत, परिष्कृत और समुन्नत

बनाने का ईश्वर प्रदत्त उत्तरदायित्व भी वही सँभाले । उसका भावनात्मक ढाँचा इस प्रयोजन को भली प्रकार पूरा कर सकने के लिये सर्वथा उपयुक्त बनाया गया है ।

इस दिशा में पहले कदम यह होना चाहिये कि गृहलक्ष्मी, गृहसंचालिका इस योग्य बने कि वह इतनी प्रतिभा को उपयुक्त उत्तरदायित्व निबाहने में सक्षम सिद्ध कर सके । महिला जागरण का उद्देश्य ऐसे इंजीनियर तैयार करना है जो नये समाज का नया भवन बनाने में अपनी कुशलता सिद्ध कर सकें । नारी जागरण के अन्य प्रयोजन भी हैं, प्रतिफल भी, पर सबसे बड़ी उपलब्धि वही मिलनी है कि उस परिवार संस्था में नवजीवन भरा जा सकेगा और उस क्षेत्र में उगे हुए नर-रत्न व्यक्ति और समाज-निर्माण की समस्त समस्याओं का सहज समाधान कर सकेंगे ।

अपने परिवारों का पुनर्निर्माण आरम्भ करें

नारी की गर्भधारण क्षमता, कोमलता, स्नेह-सौजन्य भरी सहृदयता जैसी प्रकृति प्रदत्त देवी प्रवृत्तियों ने उसे इस योग्य बनाया है कि परिवार के चित्र-विचित्र घटकों को अपनी भाव रज्जु में ठीक प्रकार बाँधे रह सके । उसकी सहज प्रकृति और प्रवृत्ति इसके लिए पूर्णतया उपयुक्त एवं सक्षम है कि व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती, परिवार संस्था की सूत्र संचालिका बनने का श्रेय प्राप्त कर सके । आज की नारी अपनी उस जिम्मेदारी को ठीक तरह निभा सकने की क्षमता खोती चली जा रही है, उसके लिए जिस कुशलता, दूरदर्शिता, धैर्य और अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है, उसका क्रमशः हास ही होता चला जा रहा है । यों कहने को तो अभी भी प्रजनन कर्म उसी को करना पड़ता है और घर, परिवार का भार वहन वही करती है, पर वह खदान अब हीरे नहीं उगाती । वे परिवार अब कहाँ हैं, जो नर-रत्न महामानव, देव पुरुष उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त करते थे ।

आज परिवार संस्था बुरी तरह टूट रही है । फिर उसके दिव्य आश्रम में रहने वाले स्वर्गीय सुख-शान्ति का रसास्वादन कैसे करें ? उस कल्पवृक्ष की छाया से, पलकर निकलने वाले देवमानवों के दर्शन कैसे हों ?

महिला जागरण अभियान को इस दिशा में पूरी सतर्कता बरतनी होगी कि जब वहाँ जितनी सुविधा नारी को मिलती जाय, वहाँ वह अपनी इस सुखद स्थिति का उपयोग परिवार संस्था के पुनर्निर्माण में करने लग जाय । जाग्रत महिलाएँ अपना सामाजिक उत्तरदायित्व निभायें । नारी जागरण की सामूहिक गतिविधियों को अग्रगामी बनायें । साथ ही अपने निज के परिवारों का नव-निर्माण करने में भी कुछ उठा न रखें । अन्य लोगों को आकर्षित करने का यह सबसे अच्छा तरीका है । जाग्रत महिलाएँ

अपने घर परिवार को कितना सुन्दर, कितना सुव्यवस्थित एवं कितना समुन्नत बना सकती हैं । इस अनुकरणीय उदाहरण को प्रस्तुत करने के लिए अपने परिवार के हर सदस्य को पूरी तत्परता के साथ प्रयत्न करना चाहिए ।

हमारी पारिवारिक परम्पराओं का पुनर्गठन होना चाहिए । अपने घर लिपे-पुते, साफ-सुथरे, स्वच्छ, सुव्यवस्थित रह सकते हैं । यदि नव-जाग्रति को स्वच्छता और सुव्यवस्था के साथ जोड़ दिया जाय तो सहज ही उस दिशा में उत्साह जगेगा और श्रम करने, समय लगाने को जी करेगा । हर दिन घर के सब लोग मिलकर घर की वस्तुओं का यथाक्रम सुव्यवस्थित ढंग से रखने, जहाँ-कहाँ तनिक भी गन्दगी हो उसे बुहार फेंकने के लिए लगा दिया करें तो पूरा घर एक सुसज्जित प्रदर्शनी जैसा लगेगा । साप्ताहिक छुट्टी के दिन दीवारों पोतने, किवाड़े रंगने, फर्नीचर पर पालिश, टूट-फूट की मरम्मत करने के लिए लगा दें । किताबों की जिल्दें बाँधना, फटे-टूटे कपड़ों की जोड़-गाँठ, दचके-पिचके बर्तनों को ठोक-पीट, बिखरी वस्तुओं को यथाक्रम लगाना, रद्दी चीजों को कबाड़ियों को, दूसरे जरूरतमन्दों के हवाले करना जैसे अनेक छुट-पुट काम घर में मिल सकते हैं जिन्हें करने से पुरानी वस्तुएँ नई बन जाती हैं और घर किसी सुसज्जित देव-मन्दिर जैसा दीखने लगता है । ऐसे घर में प्रवेश करते ही कोई बाहर का आदमी यह अनुभव करता है कि यहाँ कोई सुरुचियुक्त, कलात्मक दृष्टि वाले सुसंस्कृत मनुष्य रहते हैं । ऐसा सम्मान प्राप्त करना एक बड़े गौरव की बात है ।

हर घर में फूल पौधे उगाना, शाक-वाटिका लगाना एक सराहनीय आदत है । इससे छोटे बच्चों में भी सृजनात्मक एवं उत्पादक कार्य करने का अभ्यास बनता है । सबसे बड़ी बात है परिवार के सदस्यों में स्वच्छता, व्यवस्था एवं श्रमशीलता के प्रति उत्साह उत्पन्न होना । मामूली कामों के सहारे विकसित किये गये इस अभ्यास से भविष्य में जो महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व कन्धे पर आते हैं, उन्हें भी तत्परता एवं मनोयोग के साथ पूरे करने की आदत बनती है और उसका प्रतिफल शानदार सफलताओं के रूप में सामने आता रहता है ।

एक दूसरे के प्रति शिष्टता और मधुरता का व्यवहार करें, उसकी परम्परा हमारे घरों में उत्पन्न की जानी चाहिए । यह कार्य मात्र धर्मोपदेश या डाँट-डपट करने से सम्भव न होगा वरन् बड़ों को अपना स्वभाव बदलकर छोटों को उस शालीनता का अनुकरण करने की प्रभावशाली प्रेरणा देनी होगी । जिस आकृति का खिलौना ढालना हो, पहले उसी प्रकार का सौँचा बनाना पड़ता है । मिट्टी को उसी में चिपका-चिपकाकर खिलौने बनाये जाते हैं । यही व्यवस्था घर में श्रेष्ठ परम्पराओं की स्थापना के लिए करनी पड़ती है । बड़े अपने स्वभाव से छोटों के प्रति शिष्टाचार एवं सम्मानयुक्त मधुर व्यवहार करते हैं और समय-समय पर स्नेह-सौजन्य युक्त संकेत करते चलते हैं कि उन्हें भी वैसा ही आचरण करना चाहिए । यही

२.६६ समाज का मेरुदण्ड संशक्त परिवार तंत्र

प्रभावशाली तरीका परिजनों का स्वभाव बदलने में कारगर सिद्ध होता है ।

अक्सर घरों में छोटे बच्चे परस्पर गाली-गलौज, मार-पीट, छीना-झपटी करते देखे जाते हैं । यह शिक्षा के प्रकारान्तर से घर के बड़ों से ही सीखते हैं । असहिष्णुता और अशिष्टता का व्यवहार चलता रहता है तो बालकों की कोमल वृत्ति उसे पकड़ लेती है और अपने ढंग से आचरण में ले आती है । ऐसा अव्यवस्थित परिवारों में ही होता है । सभ्य स्तर के घरों में बच्चे एक दूसरे के साथ शिष्टाचार, सम्मान और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने के आदी होते हैं । ऐसा उन्होंने अपने बड़ों से ही सीखा होता है । नकल करने में बालक और बन्दर बड़े प्रवीण होते हैं । अपने क्षेत्र में जो कुछ आये दिन होता देखते हैं, वे उसी का अनुकरण करने लगते हैं । यदि घर की परम्परा बदलनी हो तो प्रभावशाली सदस्यों को अपनी बुरी आदतें छोड़नी होगी । बोलने में मधुरता, व्यवहार में शिष्टता और दृष्टिकोण में शालीनता का समुचित समावेश करना होगा । इस परिवर्तन का प्रभाव सभी कुटुम्बियों पर पड़ेगा और क्या छोटे, क्या बड़े अपने स्वभाव में वैसा परिवर्तन करते दिखाई देंगे । इसके लिए समय-समय पर उन्हें समझाते-बुझाते रहना भी उचित है । अच्छी बात अच्छे ढंग से कही जाय तो आमतौर से मानवी विवेक उसे बहुत कुछ स्वीकार भी कर लेता है । घर के लोगों के स्वभाव में सज्जनता का समावेश करके हमें उनके उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त करते हैं । दूसरों के साथ सज्जनोचित व्यवहार करके ही उनसे सम्मान और सहयोग प्राप्त किया जा सकता है । स्पष्ट है कि मनुष्य दूसरों की सद्भावना पाकर ही उनका सहयोग ले सकता है और जिसे जितना अधिक सहयोग मिलता रहता है, उन्हें उसी अनुपात में सफलताएँ भी मिलती चली जाती हैं ।

परस्पर सहानुभूति की, स्नेह और सहयोग की प्रकृति घर के सभी लोगों में पैदा की जानी चाहिए । एक दूसरे के दुःख-दर्द में सम्मिलित हो यह पता लगाते रहें कि कोई किसी कठिनाई में तो नहीं है । शारीरिक कष्ट, मानसिक उलझन, उचित आवश्यकताओं का पूरा न होना, अपमान-जनक व्यवहार जैसे कारणों से मनुष्य खीजता और खिन्न रहता है । कोई ऐसी कठिनाई में फँसा हो तो उसे उपयुक्त सहयोग या परामर्श देकर खिन्नता दूर करनी चाहिए । हारी बीमारी सबमें लोग एक दूसरे का ध्यान रखें तो कठिनाई में फँसा व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह अकेला नहीं है । उस पर सहानुभूति की वर्षा होती है । इस अनुभूति के साथ भारी कठिनाइयाँ भी हलकी और सहाय बन जाती हैं । बड़ी कक्षाओं के बच्चे छोटी कक्षा वालों को पढ़ाने की सहायता दे सकते हैं । मिठाई आदि घर में अतिथि तो उसे पहले दूसरों को बाँटकर तब पीछे स्वयं खाने की आदत यदि बचपन से ही पड़ जाय तो बड़े

होने पर स्वार्थपरता और संकीर्णता की दुष्प्रवृत्ति कम ही पनपने पावेगी । उदार मनुष्य दूसरों के मन में अपना स्थान बनाता है और बदले में बढ़ा-चढ़ा प्रतिदान पाता है । उदार व्यवहार घाटे का सौदा नहीं है । स्वार्थी की तुलना में उदार प्रकृति का मनुष्य कहीं अधिक मात्रा में मौलिक और आत्मिक लाभ प्राप्त करता है ।

फिजूलखर्ची की बुरी आदत से स्वयं बचना चाहिए और दूसरों को बचाना चाहिए । धन कमाना सरल है, उसका सही उपयोग कर सकना विवेकशील और दूरदर्शी लोगों के लिए ही सम्भव होता है । आमतौर से लोग अपने समय, चिन्तन एवं धन का अनुपयुक्त कार्यों में अनावश्यक अपव्यय करते हैं । फलतः दोष-दुर्गुण बढ़ते जाते हैं और अभाव के कारण उन साधनों से वंचित रहना पड़ता है जो प्रगतिशील जीवनयापन के लिए नितान्त आवश्यक थे । कृपण बनना तो बुरा है, आवश्यक कामों में खर्च करना ही चाहिए, पर अपव्यय एक पाई का भी सहन न किया जाय । एक क्षण भी आलस्य, प्रमाद में बर्बाद न किया जाय और हर घड़ी उपयोगी कामों में न लगे रह जाय, एक पैसा भी अनुपयुक्त कामों में खर्च न करके अपने समस्त साधनों को उपयोगी सत्प्रयोजनों में लगाये रखा जाय तो दुहरा लाभ होगा । समय और धन की बर्बादी से जो अनेकानेक दोष-दुर्गुण उत्पन्न होते हैं, उनसे बचे रहना सम्भव हो जाय और यों उन दोनों महाशक्तियों के सत्प्रयोजनों में नियोजित रहने पर जो एक से एक बढ़कर लाभ मिलते हैं, उनमें निरन्तर बढ़ोत्तरी होती चली जायगी । इसी दुहरे लाभ का खाई और मीनार जितना अन्तर सद्गुणी और दुर्गुणों के बीच देखा जाता है । परिवार के हर सदस्य को इसी उपयोगी रीति-नीति को अपनाने की प्रेरणा देनी चाहिए ।

परिवार का हर सदस्य अपने शरीर, कपड़े, सामान आदि की पूर्ण सुव्यवस्था रखें । उनका स्तर जागरूक व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त होने जैसा रहना चाहिए । इतना ही नहीं, अन्य परिजनों द्वारा फैलायी जाने वाली व्यवस्था को देखने और सुधारने का स्वभाव भी सबका बनाया जाय । गन्दगी और अव्यवस्था एक ही प्रक्रिया के दो नाम हैं और यह किसी व्यक्ति की बहुत बड़ी निन्दा है कि उसे फूहड़, आलसी और अव्यवस्थित कहा जाय । अर्द्ध-मूर्च्छित चेतना में ही प्रमाद उत्पन्न होता है और आरम्भ किये काम को लोग आधा-अधूरा छोड़कर चल देते हैं । जो भी काम करना है, उसे समेटकर या पूरा करके ही उठना चाहिए । कपड़े उतार कर उन्हें जहाँ-तहाँ नहीं पटकना चाहिए । वरन् ठीक तरह खूँटी पर टाँगने के उपरान्त ही आगे बढ़ना चाहिए । जल्दीबाजी की बन्दर जैसी चंचलता प्रायः हर काम को अधूरा छोड़ कर नया करने की उतावली करती है । उसी में फूहड़पन फैलता है । पीछे इन बिखरे कामों या पदार्थों को समेटने में समय भी बर्बाद

होता है और वस्तुओं के भी खोने, टूटने का डर रहता है। देखने में अस्त-व्यस्तता की आदत मामूली-सी बुराई लगती है पर उसके कारण जब बड़े कामों और बड़े उत्तरदायित्वों को निभाने में असमर्थ रहने के रूप में सामने आती है तो प्रतीत होता है कि एक छोटी-सी चिंगारी सारे गाँव को जलाकर नष्ट करने वाली किस तरह बन जाती है।

हर परिवार को स्नेह, सौजन्य, सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों को अभ्यास करने की प्रयोगशाला के रूप में विकसित होना चाहिए, घर का वातावरण ऐसा बनना चाहिए, जिसमें रहकर हर व्यक्ति क्रमशः अधिक सुसंस्कारी बनता चला जाय। सम्पन्नता के बिना काम चल सकता है पर शालीनता के बिना तो केवल दुर्गति ही हाथ रह जाती है। बहुमूल्य, वस्त्र, आभूषण भले ही न हों, कीमती भोजन भले ही न मिले, पर ईमानदारी, उदारता जैसे मानवोचित सदगुणों की सम्पदा अधिकाधिक मात्रा में सुसज्जित रहने का अवसर मिलना चाहिए। इतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि परिवार को सच्चे अर्थों में सुसम्पन्न बना लिया गया।

संयुक्त परिवार का लाभ तभी है, जब उसका प्रत्येक घटक एक दूसरे के लिए अधिक सद्भावसम्पन्न और अधिक सहयोगी सिद्ध हो सके। महिला जागरण अभियान की सदस्याओं को अपने परिवार का पुनर्निर्माण करने में संलग्न होना चाहिए ताकि उस सफलता से प्रभावित होकर दूसरे लोग भी मिशन में सम्मिलित होने के लिए आकर्षित हो सकें।

परिवार निर्माण में कथा-प्रसंगों का महत्व

अपेक्षित और आवश्यक सुधार के लिए प्रेरणा, परामर्श, सलाह और शिक्षण आधारभूत आवश्यकता है। यह आवश्यकता पूरी कर पाना न तो आसान है और न ही हर किसी के लिए सम्भव। सुधार का परामर्श देना वास्तव में टेढ़ी खीर है क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसे सरलतापूर्वक हजम नहीं कर सकता। परामर्श को पचा पाना तो दूर रहा लेख्य इसे एक सीमा से अधिक सहन भी नहीं कर पाते। इसमें दूसरे अपना अपमान अनुभव कर सकते हैं, उनके स्वाभिमान को इससे ठेस पहुँच सकती है और लोग इसे अस्वीकार कर सकते हैं। अस्वीकार ही नहीं उलट कर प्रतिकार भी कर सकते हैं। कारण कि आमतौर पर सुधार का परामर्श सहन नहीं होता। गलती बताने वाले को निन्दक, विद्वेषी, सनकी आदि कहा जाता है यह तो सर्वविदित है और किसी भी उलटे-सीधे तर्क का सहारा लेकर परामर्श की बात काटने लगते हैं। अशिष्ट लोग मुँहजोरी करने लगते हैं और शिष्ट व्यक्ति सुधार का परामर्श सुनकर मुँह से भले ही कुछ न कहते

हों पर व्यवहार से निश्चित ही उपेक्षा एवं अवज्ञा बरत कर प्रकारान्तर से असहमति तथा विरोध व्यक्त करते हैं, दोनों ही परिस्थितियों में बात एक ही सिद्ध होती है कि परामर्श को अस्वीकार कर दिया गया।

परिवार निर्माण एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए परिवार में प्रचलित परम्पराओं तथा स्वजनों में विद्यमान दोष-दुर्गुणों का परिष्कार करने के लिए परामर्श देना भी आवश्यक है और परामर्श को कोई भी व्यक्ति सीधे-सीधे स्वीकार नहीं करता तो प्रश्न उठता है कि यह आवश्यकता किस प्रकार पूरी की जाए? जब अपने ही निकटवर्ती लोग और विशेषतः घर-परिवार के सदस्य तो आत्मीयता, मैत्री, स्नेह की परिधि में अन्य बाहरी व्यक्तियों की अपेक्षा समीप होते हैं, वही सुधारवादी परामर्शों की उपेक्षा अवज्ञा करते हैं तो समस्या और टेढ़ी हो जाती है। ऐसी स्थिति में खीझने और बुरा मानने की अपेक्षा विचार यह किया जाना चाहिए कि सत्परामर्श एवं उपयोगी शिक्षण की अवज्ञा क्यों हो रही है? इसका विश्लेषण करने पर अलग-अलग परिवारों में अलग-अलग कारण तथा अलग-अलग स्थितियाँ विद्यमान मिलेंगी। यह इतना सत्य है कि भूल में सीधे परामर्श के प्रति जिसे उपदेश भी कहा जा सकता है आमतौर पर उपेक्षा भाव का पाया जाना। यह कारण परामर्श में बाधक न बने अथवा स्वजन सम्बन्धियों का उपदेश कड़वे घूँट की तरह न लगे, इसके लिए एक आसान उपाय अपनाया जा सकता है और यह है अपने परिवार में परिवार गोष्ठियों का प्रचलन। परिवार में सुसंस्कारिता का वातावरण बनाने के लिए यह प्रचलन अति उपयोगी सिद्ध हो सकता है और होता रहा है।

इन परिवार गोष्ठियों में आदर्शवादी प्रेरणाएँ प्रदान करने वाली कथा-कहानियाँ, प्रेरक प्रसंग कहे सुने जाएँ। कहना नहीं होगा कि प्रेरक कहानियों में रोचकता और शिक्षाओं का अद्भुत समन्वय होता है। बच्चों से लेकर बूढ़े तक सभी लोग कथा-प्रसंगों को बड़े चाव के साथ सुनते हैं। बच्चों के लिए तो जो साहित्य छपता है, उसमें नित्यानवें प्रतिशत भाग कथा-कहानियों का ही रहता है। वयस्क-प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए छपने वाली पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में भी कथा साहित्य की ही भरमार होती है। प्रेसों में प्रायः अस्सी प्रतिशत छपाई कथा साहित्य की ही होती है। इस प्रकार कथा-कहानी साहित्य की सशक्त प्रभावशाली और महत्वपूर्ण विद्या है। प्राचीनकाल में इस विद्या का उपयोग धर्मक्षेत्र में भी प्रचुरता से किया जाता रहा है और लोगों को आदर्शवादी प्रेरणाएँ शिक्षाएँ देने के लिए इस विद्या का खूब उपयोग होता आया है। संस्कृत में इतना अधिक कथा साहित्य लिखा गया है कि शेष साहित्य के कुल योग से भी कई गुना अधिक है। पुराण, उपपुराण, महाकाव्य, नाटक आदि ग्रन्थों का विस्तार अन्य विद्याओं में लिखे गए साहित्य की तुलना में कहीं अधिक है। रामायण,

२.६८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र.

महाभारत, भागवत आदि कथा ग्रन्थ, धर्मक्षेत्र में ये भक्ति भावना के साथ पढ़े सुने जाते हैं और इस कथन-श्रवण का पुण्य माहात्म्य बताया जाता है। यह सब कथा-श्रवण के पीछे मनुष्य की सहज रुचि का ही परिचायक है।

कथा प्रसंग कहने सुनने की इस प्रभावशाली और स्थापित पद्धति का उपयोग परिवार में सुसंस्कारिता का वातावरण बनाने के लिए किया जाना चाहिए और जिन गोष्ठियों का आरम्भ किया जाए उनमें धार्मिक, सामाजिक नैतिक एवं आदर्शवादी दिशा देने वाली प्रेरणाप्रद कहानियाँ कही सुनाई जानी चाहिए। यदि पौराणिक कथाओं को इस प्रचलन में महत्व देना हो तो उन्हें अधाधुन्य पढ़ने का क्रम नहीं अपनाना चाहिए बल्कि उनमें से उपयोगी अंश ढूँढ़ने और उन्हें उभारने की रीति-नीति अपनानी चाहिए। इसी प्रकार नैतिक शिक्षण की आवश्यकता है कि पुराण साहित्य प्राचीनकाल की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिये गये हैं। उनमें से कई प्रसंग आज की परिस्थितियों में महत्वहीन हो चुके हैं।

पुराण ग्रन्थों के समान ही इतिहास में से भी ऐसे प्रेरक घटनाक्रम छूटे जा सकते हैं जो मानव जीवन के विविध पक्षों पर तो प्रकाश डालते ही हों, अवांछनीयताओं की हानि तथा सन्मार्ग पर चलने के लाभ भी सिद्ध करते हों। ऐसे कथा प्रसंगों की आपको प्रेरणाप्रद पुस्तकें बाजार में मिल सकती हैं और पुस्तकालयों में से ढूँढ़ी जा सकती हैं।

परिवार का शिक्षण करने के लिए, स्वजनों को सीधे ढंग से परामर्श देने के लिए चलाई जाने वाली पारिवारिक गोष्ठियों में इसी प्रकार की प्रेरणाप्रद कथा-कहानियाँ कही सुनाई जानी चाहिए। इस क्रम का आरम्भ हो जाने के बाद गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए न तो किसी से आग्रह करना पड़ेगा और न ही उन्हें समझने, दबाव डालने की आवश्यकता पड़ेगी। बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, छोटे-बड़े परिवार के सभी सदस्य इस तरह की गोष्ठियों में सम्मिलित होने के लिए उत्सुक रहेंगे और कोई भी यह अनुभव न करेगा कि यह उपदेश प्रवचन का रूखा विषय है जिसका सरंजाम उन्हें सुधारने-सम्भालने लिए ही खड़ा किया गया है।

कहा जा चुका है कि कथा-कहानियाँ सभी को रुचिकर लगती हैं और हर किसी में अच्छी रोचक कहानियाँ सुनने की इच्छा भूख की तरह जागती रहती है। संयुक्त परिवारों में अभी भी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को छोटे बच्चे घेरकर बैठ जाते हैं और उनसे कहानियाँ सुनने का आग्रह करते हैं। यह बात अलग है कि दादी-नानी की कहानियों में शिक्षा भले ही कम मिलती हो, उनमें रोचकता का ही ज्यादा समावेश रहता है। किन्तु यह सच है कि उनकी रोचकता बच्चों को बाँधे रखती है। कहानियाँ बच्चों को ही प्रिय लगती हों ऐसा भी नहीं है। गाँवों में जहाँ मनोरंजन के आधुनिक साधन नहीं पहुँच

पाए हैं लोग चौपालों पर बैठकर सिंहासन बत्तीसी, बेताल पच्चीसी, अकबर बीरबल के मजाक, आल्हा उदल की कहानियाँ और राम-कृष्ण के जीवन प्रसंग बड़े चाव के साथ कहते सुनते हैं। मनोरंजन के आधुनिक साधन इन दिनों उपलब्ध हैं। वे भी एक प्रकार से कहानियाँ ही कहते बताते हैं। उदाहरण के लिए सिनेमा को ही लिया जाए। किसी भी फिल्म का आधार उसकी कहानी ही होती है और नई-नई कहानी देखने के लिए ही लोग नई-नई फिल्में देखने जाते हैं।

निश्चित ही कहानी कहना और कहानी सुनना मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान वृद्धि और नैतिक शिक्षा का भी एक सशक्त सफल माध्यम है। पुराने प्रचलन को, घरों में कहानियाँ कहने की परम्परा को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए। घर का कोई भी उत्साही सदस्य इस कार्य को अपने कन्धों पर ले सकता है। बदल-बदल कर परिवार के समझदार सदस्य भी इस आवश्यकता को पूरी कर सकते हैं। इससे कहने वाले को वक्तव्य कला का अभ्यास होगा और घरों में मनोरंजन की एक उत्साहवर्द्धक परिपाटी चल पड़ेगी।

परिवार शिक्षण में स्वजनों से सुधार और परिष्कार करने का, उनमें आदर्शवादी उमंगें उत्पन्न करने की दृष्टि से कहानी कहने का प्रचलन देखने में भले छोटा प्रतीत होता हो, परन्तु परिणाम में यह अतीव उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

परिवार के साथ आत्मनिर्माण का दुहरा लाभ

परिवारों के प्रभावशाली सदस्य आगे बढ़ें और अपने अपने कुटुम्ब में उत्कृष्ट चिन्तन तथा श्रेष्ठ आचरण के लिए वातावरण बनायें। तभी इस महान सृजन प्रयोजन में सफलता मिलेगी। अपने शरीर को आप सम्भालना पड़ता है। शौच, स्नान, भोजन, शयन आदि कृत्य स्वयं ही करने होते हैं। दूसरे तो एक सीमा तक इनकी व्यवस्था बनाने और सुविधा उत्पन्न करने में ही एक सीमा तक सहायता कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार जो परिवार का उत्तरदायित्व स्वीकार करने की स्थिति में हैं उनके सदस्यों को आगे बढ़ना चाहिए और अन्य दूरदर्शियों के साथ योजनाबद्ध रूप में धैर्यपूर्वक इस दिशा में कदम बढ़ाना चाहिए। यह कार्य धैर्यपूर्वक करने का है। उतावली में हानि होगी। आदतें देर से बनती हैं और देर से छूटती हैं। हर मनुष्य को अपने आप के प्रति असाधारण पक्षपात होता है। न अपने दृष्टिकोण में, न स्वभाव में, न क्रिया-कलाप में कोई दोष दीखता है। अपनी पीठ किसी को नहीं दीखती। इसी प्रकार अपने व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि समझना भी सर्वसाधारण के लिए अति कठिन होता है। न तो कोई आत्मसमीक्षा करता है और न अपने दोष-दुर्गुणों को

स्वीकार करता है। बताने पर अपना अपमान सोचता है और उस कथन को विद्वेषपूर्ण ठहराता है। प्रचलित ढर्रा बदलने के लिए-सुधार परिवर्तन के लिए सहमत करने में निश्चित रूप से असामान्य कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अपने घनिष्ठ तक इसकी उपेक्षा करते असहमत रहते और कई बार तो विरोध करते देखे गए हैं। आमतौर से ऐसे प्रयासों का उपहास होता है। व्यंग्य चलते हैं। प्रयत्नकर्ताओं को सनकी ठहराया जाता है। सामने सहमत पीछे असहमत की आँख मिचौनी चलती है। बाहर का सुधार सरल है, घर का कठिन। वस्तुओं की उलट-पलट करने में कुछ तो अड़चन पड़ती ही है पर व्यक्तियों का स्वभाव, अभ्यास एवं ढर्रा बदलना और भी अधिक कठिन है। ऐसी दशा में सफलता उन्हें ही मिलेगी जो धैर्यपूर्वक, संकल्पपूर्वक, साहसपूर्वक इस प्रयास में सदा-सर्वदा लगे रहने का निश्चय करेंगे। अवज्ञा होने पर उत्तेजना हो, उठने और कलह खड़ा करने या खीज कर हाथ खींच लेने वाले उतावले लोग इस कार्य में हाथ न डालें तो ही अच्छा है। सफलता तो मिलेगी नहीं उलटे मनोमालिन्य का वातावरण बन जायगा।

बच्चों को प्रौढ़ बनने में देर लगती है। कुसंस्कारिता बचकानापन है। बच्चे भी अनगढ़ होते हैं और कुसंस्कारी भी। दोनों को ही समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने में धैर्य-पूर्वक प्रयासरत रहना पड़ता है। अनगढ़ परिवार को एक छोटा बच्चा मानकर चलना चाहिए और परिपक्व परिपुष्ट बनाने के लिए दूरगामी योजना बनानी चाहिए। गिरना सुगम है, उठना कठिन। विग्रह उत्पन्न करने और कुसंस्कारी आदतें सिखाने तथा कुमार्ग पर धकेलने में हर कोई सफल हो सकता है, किन्तु शालीनता को गले उतारना और उसे स्वभाव का अंग बनाने जैसी परिपक्व स्थिति तक पहुँचाना वटवृक्ष लगाने और उसे प्रौढ़ परिपक्व बनाने जितना कठिन है। यह एक उच्चस्तरीय साधना है। सृजन महान है। परिवार में सदस्य भले ही थोड़े हो या छोटे, पर उनमें सुसंस्कारिता उत्पन्न करना और परिपक्व बनाना उतना ही कठिन है जितना अनगढ़ पत्थर को सुगढ़ देव प्रतिमा में बदल देना। व्यक्ति गढ़ने का शिल्प संसार में सबसे बड़ा कला कौशल है। एक व्यक्ति गढ़कर भी कोई शिल्पी धन्य हो सकता है। फिर पूरे परिवार को बनाने का प्रयत्न करना और उसमें सफलता प्राप्त कर लेना भी सामान्य बात नहीं है। कार्य की गरिमा और जटिलता को समझते हुए जो धैर्यपूर्वक उस प्रयास में जुट सकें उन्हें सच्चे अर्थों में कलाकार कहा जायेगा। ऐसे कलाकार, जिन्हें स्वयं को इस तप साधना में तपाने और गलने के लिए व्रतशील तपस्वी की तरह तत्पर होना पड़ता है।

परिवार निर्माण के लिए तत्पर होने में प्रिय परिजनों का सर्वोपरि लाभ है ऐसा लाभ जिसकी तुलना अन्य किसी सौभाग्य से नहीं हो सकती। उत्तराधिकारियों के लिए धन वैभव छोड़ सकना उतना सुखद नहीं हो सकता जितना

उन्हें सुरांस्कारी बना देना। यह सम्पत्ति ऐसी है जो उनको सदा गौरवान्वित रखेगी और पग-पग पर श्रेय, सहयोग से लाभान्वित करेगी। सफलताएँ किसी भी क्षेत्र की क्यों न हों उन्हें व्यक्तित्वसम्पन्न लोग ही प्राप्त करते हैं। शिक्षण तो कहीं भी पाया जा सकता है किन्तु व्यक्तित्वों की ढलाई प्रधानतया परिवारों में ही होती है। गुरुकुल भी छोटे बच्चों को ढालने में तभी सफल होते थे जब उनकी पारिवारिकता का वातावरण बनाने का प्रधान रूप से और प्रशिक्षण का गौण रूप से प्रयत्न किया जाता था। हर परिवार को एक छोटे गुरुकुल के रूप में विकसित होना चाहिए।

इस सृजन में सर्वोपरि लाभांश सृजेता के हिस्से में आता है। मूर्तियाँ गढ़ने से, चित्र बनाने से अभिनय से दर्शकों को लाभ मिलता है और वे कृतियाँ भी सम्मानास्पद होती हैं किन्तु गढ़ने वालों को आर्थिक लाभ भी होता है, संतोष भी मिलता है साथ ही अपनी कलाकारिता को अधिकाधिक समुन्नत बनाने का वह लाभ भी मिलता है जो उस सृजन से सम्बन्धित अन्य किसी को भी नहीं मिलता। उच्चस्तरीय कलाकारिता की उपलब्धि सभी सिद्धियों की तुलना में कहीं अधिक ऊँची है। परिवार सृजन में संलग्न व्यक्तियों को असामान्य कलाकार कह सकते हैं। सामान्य कलाकार वस्तुओं को गढ़ने और हलचलों में सौष्ठव भरने तक सीमित रहते हैं। यह जड़ पदार्थों को पदार्थजन्य हलचलों से आकर्षक बनाने भर की बात हुई। बड़ी बात यह है जिसमें मनुष्य जैसे उद्भूत प्राणी को सुसंस्कारिता से सम्पन्न करते हुए देव स्तर तक पहुँचाया जाय।

दूसरों की आदतें बदलने के लिए अपनी आदतें बदलनी होती हैं। दूसरों का स्वभाव सुधारने के लिए पहले अपना सुधारना होता है। उपदेशों से जानकारी भर दी जा सकती है। व्यक्ति को सुधारना उन्हीं के लिए सम्भव होता है जो अपने आपको आदर्श के रूप में विकसित कर सके हैं। शिक्षा तो सहज ही सुनी जा सकती है पर प्रेरणा तभी मिलती है जब अनुकरण के लिए प्रभावशाली आदर्श सामने हो। ज्योतिवान दीपक ही दूसरे नयों को जलाता है। साँचे के अनुरूप हो खिलौने या पुर्जे ढलते हैं। दूसरे को कुछ सिखाना बताना भर हो तो बात दूसरी है अन्यथा ढालने का लक्ष्य तो सामने हो तो सर्वप्रथम स्वयं ढालने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

परिवार को सुसंस्कारी बनाने के प्रयास में उसके लिए अग्रणी लोगों को सर्वप्रथम अपनी ही गढ़ाई करनी पड़ती है। इस संदर्भ में जो जितनी सफलता प्राप्त कर लेंगे उन्हें परिवार निर्माण में उसी अनुपात में सफलता मिलेगी। जो गुण सहचरों में उत्पन्न करने हैं वे सर्वप्रथम अपने में उत्पन्न करने होंगे। अनुकरण-प्रिय मनुष्य प्राणी जो कुछ समझता है, उसमें तो शिक्षकों के परिश्रम का फल भी कहा जा सकता है पर जो बनता है उसमें प्रायः उन्हीं के

२.७० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

चरित्रों का योगदान होता है जो साथ रहते और प्रभावित करते हैं। कुसंग और सत्संग के परिणामों से सभी परिचित हैं। इनमें शिक्षण परामर्श नहीं वह प्रभाव काम करता है जो साथी की भली बुरी विशिष्टता के कारण उत्पन्न होता है।

परिवार निर्माण का कार्य जो-जो हाथ में लें, वे सर्वप्रथम यह निश्चय करें कि परिजनों के चिन्तन और चरित्र में क्या सुधार परिवर्तन अभीष्ट है जो निर्धारण हो उसे सर्वप्रथम अपने दृष्टिकोण एवं क्रियाकलाप में समाविष्ट किया जाय। इससे अपनी गतिविधियों में इस प्रकार का हेर-फेर होगा। जिसका सहज प्रभाव समस्त परिवार को अनुप्राणित करने लगे।

यह आत्मसाधना ही है जो परिवार निर्माण के बहाने अपने आपको चिन्तन की दृष्टि से सुसंस्कृत और आचरण की दृष्टि से सभ्य बनाती है। सृजन के लिए उत्कृष्ट स्तर की कलाकारिता चाहिए। व्यवहार कौशल का दूरदर्शी विवेक का संतुलन एवं साहस का समन्वय वस्तुतः समग्र व्यक्तित्व का निर्माण है। आत्मनिर्माण और परिवार निर्माण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा करने के लिए जो आगे बढ़ते हैं उन्हें सच्चे अर्थों में जनशिल्पी कहा जा सकता है।

परिवार निर्माण की परोक्ष पृष्ठभूमि

परिवार निर्माण अभियान के बहुमुखी लाभ हैं। इन छोटे से घर-घरों में साधनों की सुव्यवस्था, गतिविधियों की शालीनता और भावनाओं की उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना की जा सके तो उनमें स्वर्ग उतरता, धिरकना दिखाई देगा। साधन तो सुखदायक भर होते हैं। सन्तोष और आनन्द तो सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों पर आधारित रहता है। स्वर्ग में साधना का नहीं सुसंस्कारिता का ही बाहुल्य होता है। सज्जनता ही मनुष्य को देवोपम बनाती है। परिवार निर्माण का उद्देश्य है अपने इसी घोंसला को सुख-शान्ति का प्रत्यक्ष भाण्डागार बनाकर रख देना। भले ही उसमें साधनों का अभाव ही क्यों न बना रहे? हैसता-हैसता सहजीवन कितना उत्साहबद्धक, कितना आनन्ददायक और कितना प्रगतिशील होता है।

परिवार महान उपलब्धियों का केन्द्र है। यदि वातावरण उपयुक्त हो तो उस छोटी-सी प्रयोगशाला में हाइ-मॉस की कायाओं को पारस और कल्पवृक्ष जैसी विशिष्टताओं से सम्पन्न किया जा सकता है। सिद्धिदायक तपोवन और उमंग उल्लास भरा विनोद-निकेतन का उभयपक्षीय उद्देश्य अपने इन्हीं अभावग्रस्त और अशिक्षित कहे जाने वाले परिवारों में सम्भव हो सकता है?

सुसंस्कृत परिवारों को कल्पवृक्षों का उद्यान कह सकते हैं। कल्पवृक्ष स्वयं यशस्वी और सम्मानित होते

हैं। उनके सम्पर्क में आने वाले निहाल होते हैं। सुसंस्कृत परिवार का उद्यान अपनी गरिमा से स्वयं लाभान्वित होता है और अपने प्रभाव क्षेत्र को अभिनव प्रेरणाएँ प्रदान करता है।

परिवार ही समाज के मेरुदण्ड में जुड़े हुए अस्थि खण्ड हैं। जब वे विसंगत होते हैं तो कमर में दर्द ही नहीं होता, शरीर का सारा ढौंचा लड़खड़ा जाता है। समाज का कोई प्रत्यक्ष स्वरूप नहीं है। परिवार की सम्मिलित इकाई ही समाज है। गुलदस्ता और हार दीखता जिस भी रूप में हो, वस्तुतः वह विभिन्न पुरुषों का गठन समुच्चय भर है। समाज-सुधार की चर्चा करना ही यदि अभीष्ट हो, करता-धरता कुछ न हो तो बात दूसरी है अन्यथा पुनरावर्तन के लिए परिवारों के रूप में फैली हुई समाज वृक्ष की जड़ों को सींचने में तत्परता बरतनी होगी। उसमें जमे हुए कृमि-कीटकों को हटाने की चेष्टा करनी होगी ताकि वे चुपके-चुपके कुतरते-कुतरते समूचे वृक्ष के अस्तित्व को ही धराशायी न करने लगे।

परिवार निर्माण छोटा काम दीखता भर है। वस्तुतः वह आज के सृजनात्मक प्रयोजनों में सबसे मूर्धन्य गिना जाने योग्य है। उसके लिए दो कार्यक्षेत्र हैं। एक प्रत्यक्ष दूसरा अप्रत्यक्ष। एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। प्रत्यक्ष एवं स्थूल पक्ष वह है; जिसमें सांसारिक सुव्यवस्था का, प्रसन्नता एवं प्रगति का वातावरण बनता है। असहयोग, मनोमालिन्य एवं विग्रह के कारणों का निराकरण होता है। इसमें उस आश्रम में रहने वालों का भी सुख-सन्तोष है और प्रकारान्तर से समूचे समाज का उत्थान, कल्याण भी। घरों की पाठशाला प्रयोगशाला में ही नर-रत्न ढलते हैं और उन्हीं के पुरुषार्थ से उज्ज्वल भविष्य का सामूहिक आधार खड़ा होता है। समर्थ व्यक्तित्व ही अपने लिए अपने परिवार, समाज और समय के लिए वरदान सिद्ध होते हैं। यह समस्त तथ्य उस परिवार निर्माण की प्रक्रिया के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं जो देखने में तुच्छ और व्यवहार में उपेक्षित बनी रहती हैं किन्तु उसका प्रभाव-परिणाम व्यापक उत्थान पतन का आधारभूत कारण बना होता है।

परिवार निर्माण अभियान पर इन दिनों विशेष जोर दिया जा रहा है। पंचशीलों का प्रचलन घरों में धार्मिक वातावरण, पर्व संस्कार आदि के माध्यम से भाव शिक्षण की रचनात्मक प्रक्रिया को क्रियान्वित करने के लिए महिला संगठन खड़े किये जा रहे हैं और उनकी क्षमता तथा क्रियाशीलता बढ़ाने के लिए साप्ताहिक सत्संगों का प्रचलन किया जा रहा है। परिजनों ने इस छोटे शुभारम्भ को आज के सृजनात्मक प्रयोजनों में मूर्धन्य माना है और वे उसे क्रियान्वित करने में तत्परतापूर्वक लग भी गये हैं। अभी आरम्भ है। जिसने इस दिशा में कदम बढ़ाये हैं, उन्हें तत्काल यह अनुभव होता है कि यह निकट धर्म है। तत्काल परिणाम उत्पन्न करने वाला उसे अपने ढंग का अद्भुत प्रयोग ही कहा जा सकता है। प्रतिफल

हाथों-हाथ मिलते देखकर हर किसी को यह अनुभव हो रहा है कि व्यस्तता कितनी ही क्यों न हो, समस्याएँ एवं आवश्यकताएँ कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हों, उन सबको गौण माना जा सकता है, प्राथमिकता देने योग्य कार्य एक ही परिवार निर्माण है। तथाकथित परिवार नियोजन का जितना ढिंढोरा पीटा गया है, उतना यदि परिवार निर्माण के लिए प्रयास किया गया होता तो दुहरा लाभ होता। लोग जिम्मेदारी अनुभव करते, घरों का वातावरण बनाते और साथ ही सहज बुद्धि से बच्चे कम पैदा करने या न करने का निर्णय भी अनायास ही करते।

परिवार निर्माण के पक्ष में कुछ-कुछ परोक्ष कारण भी हैं। जो सामान्य बुद्धि की समझ में कदाचित् न भी आये, पर वे भी उतने ही तथ्यपूर्ण हैं, जितने प्रत्यक्ष प्रतिफल। यह युग-सन्धि की बेला है। सृष्टा प्रस्तुत असन्तुलन को दूर करने के लिए व्यापक परिवर्तन की बागडोर अपने हाथ में ले रहे हैं। अनौचित्य का उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों का सम्बर्द्धन दोनों ही प्रयोग एक साथ चलेंगे और उनमें चरम गतिशीलता बढ़ती चली जायगी। यह कार्य अनायास ही नहीं होगा। सृष्टा के कार्यों में हाथ बँटाने वाले युग पुरुष ही इसे सम्पन्न करेंगे। यह भूमिका सामान्य स्तर के अनगढ़ लोगों से निभ नहीं सकती। उसे संचित संस्कारी वाले देवात्मा ही सम्पन्न करेंगे। अवतारों के साथ सदा देव मण्डली भी अवतरित होती रही है और वही युग प्रयोजन को पूरा करने में हाथ बँटाने का काम करती रही है। भूतकाल से भी यही होता रहा है और इन दिनों भी उसी की पुनरावृत्ति होनी है। एक ओर जहाँ दूषित वातावरण के कारण कुसंस्कारी सन्तानों का अन्धाधुन्ध प्रजनन चल रहा है, नई पीढ़ी का अनावरण सर्वत्र सिरदर्द बन रहा है। वहाँ साथ ही यह भी दूसरा कार्य देवात्मा के अवतरण का भी चल रहा है। देवता पाण्डवों के रूप में अवतरित होने की तैयारी कर रहे हैं उन्हें कुन्ती जैसी उदरदरी में पलने की सुविधा चाहिए। हनुमान का तेजस् अपने गर्भ में धारण कर सकना अंजनी के लिए ही सम्भव हुआ है। पवन पुत्र कहलाने में ही उनके गौरव की रक्षा भी हो सकी।

युग सृजन के लिए एक से एक भारी कामों का बोझ वहन कर सकना मूलभूत कन्धों के लिए सम्भव हो सकता है। लम्बी मंजिलें पूरी करने में सबल टाँगें ही समर्थ होती हैं। बड़े काम करने की अपेक्षा प्रतिभावानों से ही की जाती है। सामान्यजन तो साहसी अग्रगामियों का अनुकरण मात्र करते हैं। सृष्टा इस तथ्य को भली-भाँति समझते हैं और परिवर्तन का महान कार्य सम्पन्न करने के लिए इन दिनों देवात्माओं को बड़ी संख्या में अवतरित एवं प्रकट होने की व्यवस्था बना रहे हैं।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दिनों असंख्य प्रतिभाएँ उच्चस्तरीय आदर्शों को लेकर कार्यक्षेत्र में उतरी थीं और वे उस उद्देश्य के पूर्ण होने तक प्राण-पण से निष्ठापूर्वक

जुड़ी रहीं। इन दिनों उस आन्दोलन की तुलना में अतीव व्यापक, अतीव गम्भीर एवं उन्मूलन और सृजन का उभय-पक्षीय प्रयोजन पूरा करने वाला अभियान आँधी-तूफान की तरह उठने जा रहा है। स्वतंत्रता आन्दोलन भारत के राजनैतिक क्षतिज पर सीमित था और उसमें अँग्रेजों को उखाड़ना भर उद्देश्य था। उसे एक देश का शासन परिवर्तन भी कह सकते हैं। युग सृजन में ४०० करोड़ मनुष्यों के वर्तमान चिन्तन और चरित्र का एक प्रकार से काया-कल्प ही होना है। इसके वजन और महत्व को देखते हुए किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह जाना पड़ता है। कार्य जल्दी भी होना है और उसकी असंख्य दिशा धाराओं में उत्पन्न होने वाले उभार को सुनियोजित करना है। महामानव ही सदा से ऐसे प्रयोजन पूरे करते रहे हैं। इस समय भी युग-पुरुष ही इतनी बड़ी जिम्मेदारी वहन करने के लिए कटिबद्ध एवं अग्रगामी हो रहे हैं।

इस प्रकटीकरण के दो स्वरूप हैं। एक तो यह कि जिन जाग्रत आत्माओं में दैवी अंश विद्यमान हैं उनके जागरण परिष्कार की प्रक्रिया आरम्भ हो और उनकी प्रसुप्त प्रखरता को जगाकर मोर्चे पर लड़ने के लिए खड़ा कर दिया जाय। दूसरा क्रम है कि नई आत्माएँ जन्म लें और अपने पूर्व संचित पुण्य प्रखरता के कारण बड़े उत्तरदायित्व सम्भालें। सर्वविदित है कि प्रतिभाओं को उभारने-निखारने से लेकर अवतरणों की भूमिका बनाने तक के परोक्ष उत्तरदायित्वों का भार महाकाल ने युग निर्माण योजना के कन्धे पर डाला है। साथ ही विश्वास किया गया है कि उसके प्रामाणिक एवं समर्थ प्रयास इस प्रयोजन को यथासमय सही ढंग से पूरा भी कर लेंगे।

परिवार निर्माण अभियान के अन्तर्गत चल रहे कार्यक्रमों में प्रसुप्त प्रतिभाओं को जगाने की क्षमता विद्यमान है। जो जागे उन्हें प्रशिक्षित, परिष्कृत करने का कार्य शान्तिकुंज की सत्र-शिक्षण योजना में सन्निहित है। उनमें कई प्रकार के प्रशिक्षण सत्र चलाये जा रहे हैं— (१) एक महीने एवं तीन महीने के महिला सत्र, (२) पाँच-पाँच दिन के तीर्थाटन एवं परिवार निर्माण सत्र, (३) एक महीने के ब्रह्मवर्चस् साधना सत्र, (४) एक महीने एवं तीन महीने के परिव्राजक सत्र। जैसे कितने ही सत्र एक साथ इन्हीं दिनों चल पड़े हैं। इनमें अपने-अपने स्तर की शिक्षा प्राप्त करने के लिए युग निर्माण परिवार के नर-नारी बाल-वृद्ध पहुँचेंगे। इन सभी को शिक्षण कम और आलोक अधिक मिलेगा। जिनमें दैवी अंश विद्यमान होंगे वे अनुभव करेंगे कि इन सत्रों में सम्मिलित होने के उपरान्त वे पहले जैसी स्थिति में नहीं रहे। कुछ सीखकर नहीं कुछ साथ लेकर लौटे। यह अनुदान सामयिक सुविधाएँ पथ-प्रशस्त करने एवं कष्ट-कठिनाइयों के समाधान तक ही सीमित नहीं होना, वरन् उसमें यह अद्भुत विशेषता भी होती है कि प्रसुप्त क्षमताओं को जगाने-उभारने और सुनियोजित करने का अतिरिक्त उद्देश्य भी पूरा करे।

२.७२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार नं०

इन दिनों जाग्रत आत्माओं की खोज चल रही है । युद्ध काल में जवानों की भर्ती का आकर्षक प्रचार होता है और उसके लिए आवश्यक प्रबन्ध भी जुटाया जाता है । आज की स्थिति यही है । देवात्माओं को युग सृजन में लगाने के लिए उन्हें ढूँढ़ निकालना, परिष्कृत एवं प्रशिक्षित करना आवश्यक है । यह समग्र प्रक्रिया अपने ढंग से सुनियोजित क्रम से चल रही है । परिवार निर्माण की कार्य-पद्धति घर-परिवारों की छिपी प्रतिभाओं को अपने आकर्षक कार्यक्रम के अनुसार उन पुण्य-प्रयोजन में रुचि लेने तथा सहयोग देते देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ दैवी अंश की विद्यमानता है और खाद पानी मिलने पर उस पौधे के विशाल वृक्ष बनने की महामानवों की भूमिका निभा सकने की क्षमता है ।

ठीक इसी प्रकार दूसरा उपाय यह है कि इन दिनों युग सृजन की अनेकों सुधारात्मक एवं सृजनात्मक गतिविधियाँ शाखा संगठनों के माध्यम से चल रही हैं । वरिष्ठ, कनिष्ठ एवं समयदानी परिव्राजक नवसृजन के पुण्य-प्रयोजनों में अपने आवश्यक कार्यों में हर्ज करके भी तत्पर हो रहे हैं । परिवार निर्माण संगठन तथा उसके साथ जुड़े हुए पंचशील, प्रचलन, धार्मिक वातावरण एवं आयोजन शिक्षण की पन्द्रहसूत्री योजना के माध्यम से अपने ढंग की अनोखी प्रक्रिया सम्पन्न हो रही है । गायत्री महापुरश्चरण एवं यज्ञायोजनों के माध्यम से सूक्ष्म वातावरण के परिशोधन की प्रक्रिया सम्पन्न हो रही है । नवरात्रि की सामूहिक साधना तीन पर्वों के विशेष कार्यक्रम समय-समय पर सम्पन्न होते हैं । झोला पुस्तकालयों और चल पुस्तकालयों के माध्यम से विचारक्रान्ति अभियान का आलोक व्यापक बन रहा है । युग साहित्य का लाभ शिक्षितों को पढ़ने से और अशिक्षितों को उसे सुनने से मिल रहा है । शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलम्बन के उद्देश्य पूरा करने वाले कितने ही कार्यक्रम चल रहे हैं । इनके आकर्षण जिन्हें प्रभावित करते हैं, जो उनमें सम्मिलित होते एवं सहयोग देते हैं उनकी सुरुचि भी यह प्रकट करती है कि इन व्यक्तियों में दैवी अंश की उपयुक्त मात्रा विद्यमान है । वर्षा आते ही सूखी घास हरी हो जाती है । इसी प्रकार यह सम्भावना विद्यमान है कि देवात्माएँ इन गतिविधियों से प्रभावित होंगी और प्रेरणा प्राप्त करेंगी ।

भगवान राम सीता की खोज में भटकते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं, यह संध्या काल है । सीता यदि इस क्षेत्र में होगी तो नदी तट पर संध्या वन्दन करने अवश्य पहुँचेगी, हमें चलकर उधर ही खोज करनी चाहिए । इससे प्रकट है कि संस्कारों की प्रबलता कठिन परिस्थितियों में भी बनी रहती है । परिवार निर्माण और समाज निर्माण के लिए चल रही सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ सर्वसाधारण के गले भूले ही न उतरें पर देवात्माएँ अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति के कारण इनमें सम्मिलित हुए बिना न रहेंगी और उनकी खोज करना सहज सम्भव हो जायगा ।

सघन वनों में यदि वन्य पशुओं को देखना हो तो उस क्षेत्र के जल-शयों के निकट छिपकर बैठ जाने से उन सभी के दर्शन हो सकते हैं । व्यक्ति निर्माण के लिए साधनात्मक, परिवार निर्माण के रचनात्मक और समाज निर्माण के सुधारात्मक कार्यक्रमों की उपयोगिता ऐसी है कि जहाँ कहीं भी देवात्म-सत्ता विद्यमान होगी वहाँ वह उसमें सम्मिलित होने से रुक ही नहीं सकेगी ।

जागरण की इस प्रक्रिया का अगला चरण शान्तिकुंज की प्रशिक्षण प्रक्रिया है जिसमें सम्मिलित होते रहने वालों ने अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व में पिछले दिनों भी उत्साहवर्द्धक प्रगतिशीलता और प्रखरता का अनुदान पाया है । अगले दिनों उसमें और भी अधिक गतिशीलता का समावेश होगा । युग सृजन के लिए जिस उच्चस्तरीय आत्माओं की इन दिनों आवश्यकता पड़ रही है उसकी अधिकांश पूर्ति अपने देव परिवार के परिजन ही बड़ी मात्रा में पूरी कर लेंगे, ऐसी आशा की जा सकती है ।

नये अवतरण के पथ-प्रशस्त करना परिवार निर्माण अभियान का एक अतिरिक्त प्रयोजन है, जिसे परोक्ष अथवा रहस्यमय कहा जा सकता है । विशिष्ट देवात्माओं के अवतरण का इन्हीं दिनों शुभमुहूर्त है । सन् १९८० से सन् २००० के मध्यवर्ती वर्ष युग सन्धि के हैं । इस बीस वर्षों में जहाँ अधिक अनेक चित्र-विचित्र उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होगी, वहाँ उनमें एक बड़ी प्रक्रिया है-महामानवों का अभिनव जन्म धारण । इसके लिए आवश्यक तैयारी यह करनी है कि ऐसे दम्पति युग्म बनें जो स्वयंभू मनु शतरूपारानी जैसी साधनात्मक जीवन नीति अपनाकर भगवान को कई जन्मों तक अपनी गोदी में खिला सकने में समर्थ हो सकें । शकुन्तालएँ भरत को-सीतालएँ लव-कुशों को-मदालसालएँ ब्रह्मऋषियों को जन्म दे सकती हैं । ऋषियों के आँगन में ऋषिकुमार, देवमानवों के घर देवात्मा खेलते देखे जाते हैं । जिन शरीरों के माध्यम से देवात्मा अवतरित हो सकें वे उत्कृष्ट स्तर के होने चाहिए । हेय स्तर के नर-नारी अपने स्तर की ही निष्कृष्ट और उद्दण्ड सन्तानों को जन्म सकते हैं । उच्च आत्माएँ जिनके पेट में पलें, जिनके शुक्राणु में प्रवेश करें उनका स्तर बाजारू नहीं ऊँचा होना चाहिए । जिस परिवार में वे पलें उनका वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिनमें देवात्माएँ आवश्यक प्राणवायु उपलब्ध हो सकें । घुटन के वातावरणों में वे न तो अवतरित होने को सहमत होती हैं और न देर तक ठहरने को । देखा गया है कि महामानव या तो अनाचारी परिवारों में उतरते ही नहीं । किसी कारणवश उतर सकें तो घुटन सह न सकने के कारण वापस लौट जाते हैं । प्रतिभाशाली बालक प्रायः दीर्घजीवी नहीं होते, इसका सबसे बड़ा कारण है उनके लिए उपयुक्त स्तर का वातावरण न मिल सकना ।

देवात्माओं के अवतरण की सन् १९८० से २००० के मध्य अत्यधिक सम्भावना है । वे कहाँ जन्मे इसके लिए युग निर्माण परिवार के परिजनों को कहने लायक भूमिका

निभाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। दाम्पत्य जीवन से अधिक सौजन्य पैदा करना-परिवारों के वातावरण में शालीनता का अनुपात बढ़ाना ही वे उपाय हैं जिनमें दिव्यात्माओं को अवतरित होने और ठहरने के लिए सहमत किया जा सकता है। परिवार-निर्माण योजना लगती-तो कोई समाज सुधार जैसा प्रक्रिया है, पर उसकी परोक्ष पृष्ठभूमि देवात्माओं के आगमन के निमित्त उपयुक्त परिस्थितियों का सृजन करना भी है।

इन दिनों आदर्श विवाहों के प्रचलन पर विशेष रूप से जोर दिया जा रहा है। इनमें अन्य विवेचनाओं के अतिरिक्त एक कार्य बिना देन-दहेज और बिना धूमधाम अपव्यय के विवाहों का प्रचलन भी है। विवाह एक नये परिवार का शुभारम्भ है। इसे पुण्य पर्व की-यज्ञ जैसी पवित्र प्रक्रिया कहा जा सकता है। इसका श्री गणेश यज्ञानुष्ठान जैसी पवित्रता एवं आदर्शवादिता के साथ होना चाहिए। यदि लड़की-लड़के खरीदे बेचे जाते रहे, धूमधाम अपव्यय का उन्मादियों जैसा आचरण होता रहा दोनों पक्ष एक-दूसरे की बर्बादी का कुचक्र रचते रहे तो शुभारम्भ निश्चित रूप से अपनी पवित्रता गँवा देगा। अपव्यय, अपहरण से जिन परिवारों की बर्बादी हुई है। उनके सदस्यों के घाव जन्म भर रिसते रहेंगे और अभिशाप उगलते रहेंगे। अपने पितृग्रह की बर्बादी जिसने ससुराल वालों के अनाचरण के कारण देखी है वह उस दुष्टता को कभी भुला नहीं सकेगी और भीतर ही भीतर घृणा एवं विद्रोह भरा रहेगा। बाहर से उसे भले ही पराधीनता स्वीकार करनी पड़े। बिना अपव्यय के सादगी के वातावरण से सम्पन्न होने वाले विवाह ही परिवार-निर्माण के अनेकानेक उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं। जिनमें दाम्पत्य जीवन का आनन्द, गृहस्थ जीवन का साफल्य एवं दिव्यात्माओं का अवतरण भी सम्मिलित है।

स्मरण रहे परिवार निर्माण का महान् कार्य सुसंस्कृत महिलाओं के नेतृत्व में ही ठीक तरह सध सकता है। पुरुष तो उनके सहयोगी भर हो सकते हैं। दोनों के सम्मिलित प्रयास इस पुण्य प्रयोजन में पूरी तत्परता के साथ जुट पड़ें, समय की यह एक अति महत्वपूर्ण माँग है जिसे परिजनों को पूरा करने के लिए आगे आना चाहिए।

परिवार की दार्शनिक पृष्ठभूमि

हमारी पारिवारिक व्यवस्था में आज जो विघटन, हताशा, उदासीनता, उत्साहहीनता तथा लगभग अराजकता की स्थिति आ गई है, उसका मुख्य कारण परिवार के तत्त्वदर्शन की विस्मृति है। किसी भी संस्था की प्रगति उसके पीछे निहित सामाजिक दर्शन के ऊपर निर्भर करती है। यहाँ दर्शन का अर्थ हवाई ऊहापोह से नहीं, क्रियाशीलता की पथप्रदर्शक प्रेरणा से है।

परिवार-संस्था के मूल स्वरूप पर विचार करें तो दो बातें स्पष्ट होती हैं पहली यह कि भारतीय समाज में

परिवार प्रणाली का अस्तित्व आदि काल से चला आ रहा है, यद्यपि उसके बाह्य-स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। दूसरी यह कि परिवार-परम्परा का प्रमुख उद्देश्य इसे आत्मविकास का यह माध्यम बनाना रहा है। क्रमशः संकीर्णता का दूर होते जाना ही कुटुम्ब भावना की सफलता की कसौटी है। आत्मीयता की परिधि का अनवरत विस्तार ही इष्ट है। परिवार परम्परा के प्रोत्साहन के पीछे ऋषियों की दृष्टि किस लक्ष्य पर टिकी थी इसकी जानकारी इस प्रसिद्ध श्लोक में मिलती है -

“अयं निजः श्रोतेति गणना लघुचेतसाम्।

उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥”

अर्थात् यह अपना है और यह पराया, ऐसा गुनते-गिनते रहना क्षुद्रचित्त लोगों का काम है। उदार चरित वाले जनों के लिये यह समस्त पृथ्वी ही एक परिवार है।

इस प्रकार परिवार व्यवस्था मनुष्य को दूसरों से जिस आत्मीयता का बोध कराती थी, नागरिकों में उसका निरन्तर विस्तार-विकास इस व्यवस्था के पीछे निहित प्रेरणा थी।

योगवाशिष्ठ में कहा गया है-

“गृहस्थ यजते यज्ञः गृहस्थस्तप्यते तपः।

चतुर्वर्णाश्रमाणान्तु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥”

अर्थात् गृहस्थ ही वास्तविक रूप से यज्ञ करते हैं। वे ही सच्चे तपस्वी हैं। इसीलिये चारों वर्णों में गृहस्थाश्रम ही सर्वोपरि है। महर्षि वेदव्यास ने भी कहा है-“गृहस्थ्येदं हि धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते।” अर्थात् गृहस्थाश्रम ही सर्वधर्मों का आधार है। “धन्यो गृहस्थाश्रमः” कहा गया।

परिवार-व्यवस्था की यह प्रशंसा और उसका प्रोत्साहन मात्र सामूहिक आवास तथा दैनन्दिन जीवन में सहभागिता के उद्देश्य से नहीं किया गया था। इस सामान्य प्रयोजन भर के लिये इतने अधिक गौरव-गान की कोई आवश्यकता नहीं पड़ सकती थी।

स्पष्ट है कि आत्मोन्नति के सुलभ माध्यम के रूप में ही परिवार-व्यवस्था को प्रोत्साहित, प्रशंसित किया गया। प्रेम, आत्मीयता, सहयोग, सहायता, सम्बेदना, सद्भाव तथा सबकी उन्नति के समान अवसर एवं सामूहिक प्रयास की व्यवस्था ही पारिवारिक जीवन का प्रयोजन है। उन्नति मात्र सांसारिक सुख एवं सुविधा-साधनों की दृष्टि से नहीं, अपितु आत्मिक दृष्टि से भी। आहार-विहार मात्र की सामूहिकता से परिवार-व्यवस्था का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। अनेक पशु-पक्षी समूह-जीवन जीते हैं। साथ-साथ रहते, सोते-जगते, घूमते-फिरते, खाते-पीते हैं, किन्तु उन्हें एक परिवार नहीं कहा जाता। बाड़े में बन्द भेड़ों की तरह एक ही मकान में सामूहिक रूप में रहने वाले लोगों से भी परिवार का प्रयोजन नहीं सिद्ध हो पाता।

हमारे महान् पूर्वजों ने मनुष्य जीवन का प्रयोजन इतने तक ही सीमित नहीं माना था। इसे आत्मकल्याण का सुर दुर्लभ अवसर परम सत्य तक पहुँचने का साधना यंत्र एवं

२.७४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

आत्म-विस्तार द्वारा पूर्णता प्राप्ति का सामर्थ्य से युक्त शक्ति भंडार कहा गया है। सामान्य स्थिति में मनुष्य के भीतर अपूर्णताएँ होती हैं। किन्तु परिश्रम एवं निष्ठा से वह पूर्णता से जुड़ सकता है। जुड़ने की इस प्रक्रिया को ही योग कहते हैं। अपने प्राचीन पूर्वजों ने राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, सहजयोग, ध्यानयोग, प्राणयोग, स्वरयोग, जपयोग, लययोग, तन्त्रयोग जैसे विभिन्न योगों की प्रद्धतियाँ, विधि-विधान एवं कार्यप्रणाली आविष्कृत, निरूपित कीं। इनके स्वरूप में भिन्नताएँ हैं, किन्तु सभी का उद्देश्य असत् से सत् की ओर, क्षुद्रता से विराटता की ओर तम से प्रकाश की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रगति करना है। मानवीय आत्मा की भूख मिटाना ही इन सबका उद्देश्य है। क्षुधा-शांति के लिये अपनी प्रकृति, परिवेश एवं साधन-सामर्थ्य के अनुसार लोग रोटी, चावल, दलिया, फल-फूल, मिठाई आदि में से किन्हीं एक-दो या अनेक वस्तुओं का सहारा लेते हैं। आत्मिक भूख मिटाने के लिये ये विभिन्न योग भी ऐसे ही आहार व्यंजन समझे जा सकते हैं। इन योगों में से एक गृहस्थ योग भी है। गृहस्थ योग शब्द इस तथ्य का द्योतक है कि परिवार व्यवस्था का प्रयोजन हमारे पूर्वजों की दृष्टि में क्या था? वह पूर्णता की साधना का एक मार्ग था।

सामाजिक जीवन मनुष्य की अतिरिक्त विवशता है, क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। अपनी सामाजिकता को मूर्तरूप देने के लिये उसने जो सामाजिक संस्थाएँ गढ़ी हैं, उनमें परिवार संस्था अद्वितीय है। रोटी, कपड़ा और मकान की प्रारम्भिक आवश्यकता से लेकर शिक्षा, चिकित्सा, उत्सव, रीति-रिवाजों का निर्वाह और संकटों का सामना-सभी में मनुष्यों को-अपने साथियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। परस्पर की यह निर्भरता ही सहानुभूति की भाव-संवेदनाओं को प्रेरित एवं पुष्ट करती है। भाव-संवेदनाएँ न हों, तब भी स्वार्थों का दबाव किसी व्यवस्था के समझौते की प्रेरणा तो देता ही है। किन्तु उससे मनुष्य को कभी भी तृप्ति नहीं मिलती। मनुष्य की संरचना ही ऐसी है कि उसके लिए भूख-प्यास, यौनावेग, वस्त्र, विश्राम आदि की व्यवस्था जितनी आवश्यक है और बौद्धिक विस्तार की आकांक्षा जितनी प्रचंड है, उतनी ही तीव्र लालसा, अनिवार्य आवश्यकता एवं प्रबल आकर्षण भावनात्मक तुष्टि के प्रति भी उसमें विद्यमान होते हैं। भावनाएँ मनुष्य की सबसे बड़ी थाती और प्रेरणा हैं।

व्यवस्था, विकास एवं भावनात्मक तुष्टि तीनों का सम्यक् विचार करते हुए ही परिवार-व्यवस्था का भारतीय स्वरूप रचा गया है। भौतिक साधनों का सामूहिक उपार्जन एवं उपभोग जिस भाव-प्रेरणा से प्रखर एवं मर्यादित बना रहता है, उसका प्रशिक्षण परिवार की पाठशाला में ही भलीभाँति दिया जा सकता है। उसके बिना न तो उपार्जन के लिये वांछित श्रमनिष्ठा एवं मनोयोग ही विकसित हो पाते हैं, न ही उपभोग के लिये वांछित

संयम। यही स्थिति बौद्धिक विकास एवं भावनात्मक आदान-प्रदान की है। मनुष्य अनुकरण से ही सीखता है। यदि उसे बिना प्रशिक्षण के बाल्यावस्था में ही खुले समाज में छोड़ दिया जाये तो उसके लिए भीतर सदा सद्विवेक-बुद्धि जग पाना तक अत्यन्त कठिन हो जाये, व्यवस्था-बुद्धि भी न आ पाये और अनगढ़ मन की परस्पर विरोधी आकर्षणों की रस्साकशी में जो दुर्गति हो, वह प्रगति को असम्भव बना दे। अभी पाठशालाओं एवं प्रशिक्षण संस्थाओं का जो स्वरूप है, वह न तो व्यक्ति जीवन को पूरी तरह समेट पाता, न ही व्यक्ति के संपूर्ण समय से सम्बद्ध रह पाता। ऐसी स्थिति में एक पूर्णकालिक पाठशाला की आवश्यकता है। ऐसा विद्यालय परिवार ही हो सकता है। उस विद्यालय में ही उसे सघन आत्मीयता भरा वह प्रशिक्षण मिल सकता है, जिसकी शैशव एवं कैशोर्य की अवधि में विशेषकर व्यक्ति को आवश्यकता होती है।

इस प्रकार परिवार-व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध मानव-जीवन के प्रति दृष्टिकोण से है। जो समाज मानव जीवन के प्रति जैसा दृष्टिकोण रखेगा वह अपनी परिवार-व्यवस्था में वैसे ही तत्त्वों के समावेश, संरक्षण, विकास एवं प्रोत्साहन का प्रबन्ध करेगा। यदि मनुष्य जीवन मात्र भौतिक उत्कर्ष की आकांक्षाओं, उपलब्धियों तक सीमित माना जाये तब उसकी व्यवस्था में वैसी ही प्रेरणाएँ भरनी होंगी, यदि मानसिक, आध्यात्मिक विकास भी मानव जीवन का अभीष्ट माना गया तो फिर वैसी प्रेरणाएँ भी सम्मिलित करनी होंगी।

आहार-विहार की आवश्यकता प्राणिमात्र को होती है। प्रजनन की आकांक्षा से जुड़ी यौन-उत्तेजना भी सभी में होती है। इतने भर के लिये कैसी भी सामूहिक व्यवस्था की जा सकती है। सुरक्षा का प्रयोजन भी उसे पुष्ट ही करता है। परिवार-संस्था इससे वृहत्तर उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनी है। कार्य-विभाजन, आर्थिक व्यवस्था एवं समृद्धि तथा उपभोग में संतुलन बनाए रखना भी उसका अनिवार्य अंग है और भाव भरी संवेदनाओं को निरन्तर विकसित, परिष्कृत करते जाना भी इस व्यवस्था का प्रयोजन है। अपनी स्वस्थ रूप में परिवार व्यवस्था इन सभी आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति करती रही है। अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए आवश्यक विशेषताओं एवं दक्षताओं को वह बढ़ाती रही है।

बाल्यावस्था में मनुष्य की संकीर्णता एवं स्वार्थपरता का अनगढ़ रूप स्पष्ट रहता है। वह यही चाहता है कि सबसे अच्छा और सबसे अधिक खाने, पहनने को उसी को मिले, खर्च करने को मनचाहे पैसे, अधिकाधिक सुख-सुविधाएँ और सबका स्नेह-दुलार उसे ही मिले। अपने इन निहित संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिये हठ करने में उसे न तो संकोच होता है, न ही लज्जा आती है। दूसरों के प्रति उसमें उतनी ही दिलचस्पी होती है, जितने अंश तक वे उनके इन छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति में सहायक

होते हैं। अन्य मामलों में उदासीनता का ही भाव उसमें होता है।

धीरे-धीरे उसका यह आत्मभाव विकसित होता है। त्याग, सहानुभूति, संवेदना और आत्मीयता से उत्पन्न सुख की भी उसे जानकारी होती है। भाई-बहिन, माता-पिता, पत्नी और बच्चों के प्रति उसका आत्मभाव फैलता जाता है। परिवार-जनों से बढ़ते-बढ़ते यह आत्मीयता पुरजनों, देशजनों तक बढ़ती हुई मानव-मात्र के एवं प्राणिमात्र के प्रति विस्तृत होती जाती है। विस्तार का यह स्वरूप भौतिक आवश्यकताओं के क्षेत्र में नहीं देखा जाता। भौतिक आवश्यकताओं के स्वरूप में इतना अधिक अन्तर नहीं आता। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि मनुष्य की संरचना में भौतिक आवश्यकताओं से कई गुना अधिक स्थान बौद्धिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं का है। उनकी पूर्ति के लिये वांछित गुणों एवं सामर्थ्य का प्रशिक्षण भी परिवार में ही होता है।

परिवार-व्यवस्था आत्मोन्नति का एक प्राकृतिक, स्वाभाविक एवं सर्वसुलभ माध्यम है। बशर्ते उसके पीछे क्रियाशील दर्शन को समझा जाय। उसे स्वार्थों की खींचतान का कुरुक्षेत्र न बना डाला जाय, अपितु उन सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधना-स्थल बनाया जाये, जो जीवन को सार्थक बनाती हैं।

व्यक्ति और समाज का उत्कर्ष परिवार निर्माण से

व्यक्ति और समाज की मध्यवर्ती कड़ी है-परिवार। परिवार वह पाठशाला है, जिसमें व्यक्तित्व को विनिर्मित करने के प्रायः सभी महत्वपूर्ण पाठ पढ़ाये जाते हैं। परिवार वह प्रयोगशाला है, जिसमें समाज को समुन्नत बना सकने की क्षमता के धनी नर-रत्न ढाले जाते हैं। परिवार एक संयुक्त व्यक्तित्व है जिसमें मिलजुल कर भावनात्मक और साधनपरक सुव्यवस्था जुटाई जाती है। परिवार एक छोटा समाज है जिसमें एक राष्ट्र व्यवस्था के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। छोटे कारखानों में महत्वपूर्ण उपकरण भी ढाले जाते हैं। परिवारों की छोटी-सी परिधि यदि सुसंस्कृत हो तो समुद्र मंथन से निकलने वाले चौदह रत्नों की तरह उसका उत्पादन अत्यन्त उच्चस्तरीय हो सकता है।

स्कूलों में बहिरंग ज्ञान का लोक स्थिति वाला पक्ष पढ़ाया जाता है। गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों को पढ़कर यह जाना जाता है कि संसार की स्थिति क्या है उस स्थिति में अवगत होकर सुविधा साधनों का उपार्जन एवं उपयोग ठीक तरह बन पड़ता है। इसी लाभ को दृष्टि से रखकर स्कूली शिक्षा का ढाँचा खड़ा किया गया है। उसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। साधनों की शरीर को आवश्यकता पड़ती है। उसके लिए कृषि, शिल्प, व्यवसाय, कला, श्रम विनिमय

आदि के सहारे निर्वाह के साधन उपलब्ध होते हैं और व्यवहार कुशलता के कई पक्ष सीखे जाते हैं। इन सब बातों को देखते हुए शरीर निर्वाह के उपरान्त दूसरी आवश्यकता शिक्षा की ही समझी गई है। इसके लिए निजी और शासकीय स्तर पर प्रयत्न भी बहुत होते हैं जिनका औचित्य भी है।

इतने पर भी यह तथ्य जहाँ का तहाँ बना रहता है कि साधनों से भी अधिक उपयोगिता व्यक्ति को चेतनात्मक पक्ष सुनियोजित करने की है। सद्गुणी और सुसंस्कृत मनुष्य ही निजी जीवन में अभीष्ट प्रगति करते संतुष्ट रहते और दूसरे से सम्मान सहयोग पाते हैं। स्वस्थ, प्रसन्न और सम्पन्न भी वही देखे जाते हैं। इस उपलब्धि की मानव जीवन में महती आवश्यकता है। यदि उसकी व्यवस्था बन पड़े तो सुविधा साधन रहते हुए भी व्यक्ति घटिया और ओछे स्तर का बना रहता है, ऐसे व्यक्ति अपने लिए और दूसरों के लिए समस्या ही बने रहते हैं। साधनों का दुरुपयोग होने से सुख के स्थान पर दुःख ही मिलता है। विकास के स्थान पर वह वैभव अपने पैर आप कुल्हाड़ी मारने जैसे संकट उत्पन्न करता है।

साधन सम्पन्नता की दृष्टि से शिक्षा एवं उद्योग का अपना महत्व है। किन्तु यह भुला नहीं देना चाहिए कि साधन ही सब कुछ नहीं। मानवी सम्पन्नता का एक पक्ष उसके सद्गुण भी हैं। सुसंस्कारिता पर व्यक्तित्व की गरिमा निर्भर है और यही है वह सम्पन्नता जिसके आधार पर मनुष्य गौरवास्पद बनता है और अपने उत्कृष्ट कर्तव्य से समूचे समाज को सुख-शान्ति की दिशा में अग्रसर करता है। यह सुसंस्कारिता पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से ही, वातावरण के प्रभाव से उपलब्ध होती है। मनुष्य जिन लोगों के बीच रहता है, जिन परिस्थितियों में निर्वाह करता है, प्रायः उसी ढाँचे में ढलने लगता है। अपवादों की बात दूसरी है अन्यथा आमतौर में देखा यही जाता है कि रंगति का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। मनुष्य जो देखता है उसी का अनुकरण करता है।

बच्चों के विकासक्रम को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि वे कुछ भी रहे हैं, जैसे भी बन या ढल रहे हैं वह सब कुछ पारिवारिक वातावरण का प्रभाव है। मातृभाषा का तात्पर्य है माता जिस शब्दावली का उपयोग करती उसका अनुकरण। खान-पान, रहन-सहन, रुचि-रुझान, स्वभाव-व्यवहार पर पूरी तरह पारिवारिक वातावरण की छाप देखी जा सकती है, यही वास्तविक शिक्षण है। दौलत तो हवा में उड़ने वाले पत्रों की तरह इधर से उधर भगदड़ मचाती रहती है। असली वैभव तो व्यक्तित्व का स्तर है। वही उत्कृष्ट एवं निकृष्ट परिस्थितियाँ जुटाने के लिए उत्तरदायी है। सुसंस्कारिता ही सच्चा सौभाग्य है। उसे प्राप्त करने के लिए उपयुक्त वातावरण चाहिए और उसकी व्यवस्था बचपन से ही होनी चाहिए। मनःशास्त्र के विद्वान कहते हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व का आधा भाग पाँच वर्ष की आयु तक विनिर्मित

२.७६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

हो जाता है। इसके बाद शेष सारे जीवन में आधे की पूर्ति होती है।

यदि धन को ही परिपूर्ण न मान लिया जाय और उसके उपार्जन और उपयोग में सत्प्रवृत्तियों की भी आवश्यकता समझी जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि जीवन की सफलता के मूलभूत साधन पारिवारिक वातावरण के रूप में ही उपलब्ध होने चाहिए। स्वास्थ्य, शिक्षा, सज्जा, विनोद आदि की तरह यदि सुसंस्कारिता को भी विकास का एक आधार माना जा सकेगा तो स्वीकार करना होगा कि जिन बच्चों के उज्ज्वल भविष्य की कामना कल्पना की जाती है उन्हें पारिवारिक वातावरण में शालीनता, सुव्यवस्था की खुराक मिलनी चाहिए। सभी जानते हैं कि कुपोषण के शिकार-उपयुक्त भोजन के अभाव में बालकों का स्तर कैसा गया-गुजरा बन जाता है। वे दुर्बलता और रुग्णता से ग्रसित रहते हैं और अपंगों जैसी पिछड़ी जिन्दगी जीते हैं। ठीक इसी प्रकार मानसिक कुपोषण के शिकार, कुसंस्कारी अथवा पिछड़ेपन से ग्रसित वातावरण में मात्र दुर्गुण पाने वाले बालकों का भविष्य भी निश्चित रूप से ऐसा बनता है जिसे दीन-दयनीय या दुर्भाग्यपूर्ण ही कह सकते हैं। अपने बच्चों के प्रति प्राणिमात्र में सहज यह प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी आधार पर उन्हें लालन-पालन का सहयोग मिलता है। कितना अच्छा होता यदि इसमें एक समझदारी और जुड़ जाती कि बालकों को सुसंस्कारिता की भी आवश्यकता है। इसके बिना उनके लिए प्रस्तुत किये गये सारे अनुदान धूलि के बराबर निरर्थक सिद्ध होते हैं। बालकों के लिए सच्ची हितकामना हो तो उन्हें सुसंस्कारी बनने का अवसर दिया जाना चाहिए। इसके लिए अन्यत्र ढूँढ़-खोज करना महंगा भी है-व्ययसाध्य भी और बच्चे तथा अभिभावकों के लिए भावनात्मक दृष्टि से कष्टकारक भी। इसका सुनिश्चित और सर्वसुलभ उपाय एक ही है, पारिवारिक वातावरण में शालीनता के तत्वों का समावेश। यही हर स्थिति में सम्भव भी है।

प्राचीनकाल में बालकों को गुरुकुलों में भेज दिया जाता था। वहाँ शिक्षण तो कुछ घण्टों का होता था पर परिष्कृत वातावरण के साथ जुड़ा रख कर उन्हें परोक्ष रूप से मानवी सद्गुणों में अभ्यस्त किया जाता था। उन शिक्षण संस्थाओं की प्रधान विशेषता उत्कृष्टता की गतिविधियों से भरे-पूरे वातावरण की प्रखरता ही होती थी। इसी प्रभाव से प्रभावित होकर गुरुकुलों के स्नातक नर-रत्नों की भूमिका निभाते थे। अब वैसा कहीं कुछ नहीं है। ऊँचे रहन-सहन आडम्बरी-शिष्टाचार की अनेकों दुकानें यह ढिंढोरा पीटतीं और अनजानों को बहकाने में सफल होती रहती हैं कि हमारे यहाँ बच्चों को पढ़ने भेजिये हम उन्हें शिक्षित और सभ्य बना देंगे मालूम नहीं वे उस महँगे आडम्बर का कितना लाभ उन बालकों को दे पाते हैं जिससे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधकर अभिभावकों ने अपने जेबें खाली कर दीं।

सम्पन्नता को अहमन्यता और शिष्टाचार की विडम्बना बच्चों को तथाकथित सभ्यता का एक थोड़ा अंश भले ही सिखा पाये पर वह संस्कारिता दे नहीं सकती। क्योंकि शिक्षकों से लेकर नौकरों तक के मूलभूत स्वभाव में यदि सद्भाव सम्पन्नता का, सदाशयता का बाहुल्य न हुआ तो मशीनी ढर्रा छात्रों को अन्तस् उत्कृष्टता के साँचे में ढालने में सफल न हो सकेगा। सभ्यता एक बात है और सुसंस्कारिता दूसरी। सभ्यता एक कला है जो थोड़े प्रयत्न से सीखी और सिखाई जा सकती है, किन्तु संस्कारिता तो व्यक्तित्व की ऊर्जा है जो एक से दूसरे पर बिना प्रयास के ही छाने लगती है। सत्संग और कुसंग का प्रतिफल इसी आधार पर २.७६ बनता है।

व्यक्ति की उत्कृष्टता और समाज की समर्थता बढ़ाने के दोनों उद्देश्य एक ही प्रकार पूरे हो सकते हैं कि पारिवारिक वातावरण में सुव्यवस्था एवं सुसंस्कारिता का समावेश किया जाय। इतने भर से बचपन में सहज स्वभाव मिलने वाली प्रगतिशीलता का आधा अंश अनायास ही पूरा होता रहेगा। इस उपलब्धि की धनी पीढ़ी वयस्क होने पर शालीनता का वातावरण उत्पन्न करेगी। फलतः व्यक्ति निर्माण एवं समाज निर्माण की प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ निरन्तर अनुकूल होती चली जायेंगी और उज्ज्वल भविष्य की संरचना का कठिन कार्य सरल बन जायगा।

परिवार एक छोटे से घरोंदे में निवास निर्वाह करता है। उसके सदस्यों में आधे से अधिक बाल-वृद्ध होते हैं। दैनिक गतिविधियों में खाने, पहनने, धोने, सँजोने जैसे छोटे काम ही होते रहते हैं। देखने में उसका स्वरूप अनाकर्षक एवं महत्वहीन जैसा लगता है। इसी से वयस्क घर छोड़कर सिनेमा, होटल, मटरगस्ती आदि में रस लेते और घर से बाहर रहने से प्रसन्न देखे जाते हैं। यह परिवार का बाह्य स्वरूप है। यदि इस खदान की गहराई में उतरा जा सके तो प्रतीत होगा कि भावनात्मक सम्पदा का अजस्र स्रोत इन छोटे से घरोंदों में विद्यमान है और उसकी मूर्छना जगाकर इतना सरस एवं प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है कि उसमें रहने का जिसे जितना अवसर मिले वह उसे अपना उतना ही बड़ा सौभाग्य माने।

बच्चों की भावनात्मक आवश्यकता अपने ढंग की है और बड़ों की अपने ढंग की, बच्चों को अपने ढंग का निर्वाह चाहिए बड़ों को अपने ढंग का। दोनों को ही दैनिक जीवन की अधिकांश आवश्यकताओं के लिए परिवार को मिलने वाले साधनों पर निर्भर रहना होता है। परिवार का उत्कृष्ट वातावरण ही है जिसे अलंकारिक रूप से स्वर्ग कहा गया है। विश्वोभकारी पारिवारिक वातावरण को नरक कह सकते हैं। हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी दिनचर्या का आधे से अधिक भाग घर में परिवार के बीच ही गुजारना पड़ता है। कमाने के लिए बाहर रहने की आवश्यकता होती है पर उसका उपयोग और आहार निद्रा, शौच, सज्जा जैसे नित्य कार्य तो घर की चहारदीवारी

में ही रहकर पूरे करने होते हैं। इतने समय में ही परिष्कृत वातावरण से इतने अनुदान वयस्कों को मिल सकते हैं कि वे मानसिक प्रसन्नता भली प्रकार बनाये रह सकें। इसके विपरीत यदि घर में कुसंस्कारिता छाई रही तो फिर समझना चाहिए नरक में जिन संकटों का सामना करने की बात कही जाती है लगभग वैसी ही उसमें रहने वाले हर व्यक्ति को सहन करनी होगी।

बच्चे अपना व्यक्तित्व निर्माण घर के वातावरण से ही करते हैं। गुण, कर्म, स्वभाव की परोक्ष शिक्षा उन्हें वहीं से साँस लेने की तरह अनायास ही मिलती रहती है। बड़े अपनी थकान उतारने तथा उत्साह पाने के लिए इसी का आश्रय तकते हैं जिन्हें यहाँ अनुकूलता मिलती है व सच्चे अर्थों में धन्य बनते हैं। जिन्हें निराश रहना पड़ता है जिन्हें विक्षोभ मिलता है, वे अपने आप को निश्चित रूप से दुर्भाग्यग्रस्त ही अनुभव करेंगे। भले ही उन्हें सुविधा साधनों का कितना ही बाहुल्य क्यों न उपलब्ध होता हो? अमीरी और गरीबी की उपेक्षा करके पारिवारिक शालीनता अपने आप में एक ऐसी सौभाग्यशीलता है, जिसे प्राप्त करके हर किसी को उल्लास एवं आनन्द की अनुभूति होती है। इतना ही नहीं प्रगति की दिशा में बढ़ने के लिए आवश्यक बल, उत्साह एवं साहस भी उन सुखद परिस्थितियों में मिलता है। सुखद पारिवारिक वातावरण सच्चे अर्थों में मनुष्य के लिए एक दैवी वरदान ही कहा जा सकता है।

परिवार की परिधि में रहने वाले सदस्य किस प्रकार इस छोटे से घरोंदे में से अपने शारीरिक निर्वाह एवं मानसिक उल्लास के साधन प्राप्त करते हैं, इसे ध्यानपूर्वक देखने, समझने का प्रयत्न किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह छोटा-सा संस्थान उन सबके लिए जितना महत्वपूर्ण है उतना और कुछ नहीं। व्यक्ति को जन्म से लेकर मरण पर्यन्त जो सुखद अनुभूतियाँ और सुखद सुविधाएँ एवं दिशा प्रेरणाएँ मिलती हैं उनकी तुलना समस्त संसार से मिले समस्त अनुदानों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है यह तथ्य तभी पूर्णतया सत्य हो सकता जब उसे पारिवारिक अनुकूलता भी मिलती रहे, अन्यथा टाँग पकड़कर पीछे घसीटने वाले अवरोधों में अधिकांश पारिवारिक असन्तोष, विग्रह एवं विक्षोभों के ही होते हैं। उन्हीं से टकराकर प्रगतिशीलता के इरादे अस्त-व्यस्त, नष्ट-भ्रष्ट हो रहते हैं।

समाज निर्माण की बात सोचने वालों की यह तथ्य भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि समाज की स्वतंत्र सत्ता कुछ नहीं वह मात्र परिवारों का समुच्चय है। परिवार जैसे हों उनका मिला-जुला स्वरूप ही समाज का भला बुरा स्तर बनकर सामने आ खड़ा होगा। सरकारी कर्मचारी और प्रजाजन दोनों ही परिवारों की फैक्टरियों में ढलते हैं। शिल्पी, व्यवसायी, श्रमिक, कलाकार, बुद्धिजीवी वर्ग के अग्रणी समझे जाने वाले लोग भी अपने कुशलता पर पारिवारिक दृष्टिकोण की छाप लादे रहते हैं। उदण्डताओं और अपराधों की वर्षा बादलों में से नहीं

होती, यह सारी फसल परिवार के खेत-खलिहानों में से इकट्ठी होती है। आलसी, प्रमादी, सनकी, दुर्गुणी, छली, भीरु, व्यसनी प्रकृति के गये-गुजरे लोगों से अपना समाज भरा पड़ा है। यह टिड्डियों की तरह कहीं से उड़ते नहीं चले आये हैं। सारे परिवारों की कीचड़ में से इन कृमि-कीटकों की उत्पत्ति हुई है। समाज निर्माण की बात दार्शनिक दृष्टि से किसी भी रूप से कही जा सकती है और उसकी व्याख्या, विवेचना, योजना प्रस्तुत करते हुए प्रतिपादन तो कुछ भी हो सकता है, पर यदि वस्तुतः वैसा कुछ करना ही हो तो परिवारों की इकाइयों को सुधारने का काम हाथ में लेना होगा। पकी हुई ईंटों का समुच्चय ही सुदृढ़ इमारत के रूप में खड़ा हो सकता है। नदियों का सम्मिलित केन्द्र समुद्र कहलाता है और परिवारों का समुच्चय समाज। समाज निर्माण का स्वर-संगीत, वस्तुतः परिवार के स्वर सप्तकों की झंकार करने में निनादित हो सकेगा।

परिवार निर्माण हृदय एवं उसका क्षेत्रविस्तार धड़ है। व्यक्ति उसका सिर और समाज हाथ पैर का ढाँचा ढकोसला। यदि विश्व मानव की स्थिति सुधारनी है तो रुग्ण हृदय की चिकित्सा करनी होगी अन्यथा धड़कन, रक्तचाप शोथ से लेकर गतिरोध होने पर मरण संकट की आशंका बनी ही रहेगी। व्यक्ति निर्माण के लिए धर्मतन्त्र को और समाज निर्माण के लिए शासन तन्त्र को प्रखरता अपनानी होगी। वे दोनों पहले से भी साधन सम्पन्न हैं, आवश्यकता केवल इतनी ही है कि उन्हें सुनियोजित कर दिया जाय बड़ा काम परिवार निर्माण का है जो नये सिरे से सँजोना पड़ेगा। इस दिशा में योजनाबद्ध कार्य महिला जाग्रति अभियान के अन्तर्गत ही हो सकता है। युग निर्माण योजना का यह पक्ष इतना महत्वपूर्ण है कि उसकी गरिमा को ध्यान देने पर यह स्पष्ट दिखता है कि व्यक्ति निर्माण और समाज निर्माण की दोनों ही महती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए परिवार निर्माण को अनिवार्य माध्यम मान कर चलना होगा।

परिवार की आत्मा नारी है। उसी का उस पर पूरा अधिकार है। नियति ने उसे प्रजनन से लेकर शिशुपालन के समस्त साधनों से भरा-पूरा विशिष्ट क्षमता सम्पन्न शरीर दिया है। शिशुओं के परिपोषण के लिए उपयुक्त कुशलता दी है। साथ ही हृदय में ऐसी भाव संवेदना भर दी है जिसके सहारे वह घर के हर सदस्य को उसकी आवश्यकता के अनुरूप गुदगुदी प्रदान कर सके। शरीर की सज्जा कोई भी कर सकता है, पर घर परिवार के हर कोने में स्वच्छता, सज्जा, सुरुचि और कलात्मकता को सँजोये रहना मात्र उसी का काम है। पुरुष को प्रकृतितः यह नहीं आता, करना हो तो प्रयत्नपूर्वक ही इसका अभ्यास करना होगा।

परिवार का शासन अनुशासन में बाँधे रहने में उसी की सद्भाव मृगल समर्थ रहती है। नारी को गृहलक्ष्मी इसलिए कहते हैं कि वह साधनों का अभाव रहते हुए भी सुसम्पन्नता जैसा वातावरण बनाये रह सकती है। वैदिक

२.७८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

ऋषि ने उसे साम्राज्ञी कहकर संबोधित किया है। परिवार को यदि एक छोटा राष्ट्र मान लिया जाय, जैसा कि वह है भी तो फिर नारी को उस समूह की अधिष्ठात्री साम्राज्ञी ही नहीं निर्मात्री भी कहा जा सकता है। सुलक्षणा नारी अपने आपको, परिवार को और उसके रहने वाले सदस्यों को योजनाबद्ध रीति से ऐसा कुछ बना सकती है, जिससे उन्हें श्रेय प्राप्त हो सके और सृजनकर्ता को उसकी क्षमता के अनुरूप गौरवान्वित होने का अवसर मिल सके।

युग परिवर्तन का मेरुदण्ड परिवार निर्माण है। रीढ़ की हड्डी पीठ पीछे रहने और चमड़ी के नीचे ढकी रहने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखती। सामने तो सौन्दर्य की ध्वजा बनकर नासिका ही रहती है, जिसकी उपयोगिता नाम मात्र की है। विधि को ऐसी ही विडम्बनाओं में से एक यह भी है कि मोटी दृष्टि से व्यक्ति और समाज का दायित्व दीखता है। धर्म और शासन पर बहुत ध्यान दिया जाता है पर यह एक प्रकार से भुला ही दिया जाता है कि परिवार के उस खदान का कितना अधिक महत्व है जिसमें से अपने समय और समाज का गौरवास्पद बनाने वाले नर-रत्न उपलब्ध होते हैं। परिवार संस्था का पुनरुत्थान करने की बात यदि समझी स्वीकारी जा सके तो उसी संदर्भ में इतना और भी मान लेना चाहिए कि यह कार्य प्रधानतया सुविकसित तथा सुसंस्कृत नारी के हाथों ही सम्पन्न हो सकता है। परिवार निर्माण का अर्थ दूसरे शब्दों में नारी जागरण है। इस महान प्रयास को उथली दृष्टि वाले कोई छोटा मोटा समाज सुधार आन्दोलन जैसा कम महत्व का समझ सकते हैं पर जिनको तथ्यों की गहराई में जाने की क्षमता है वे अनुभव करेंगे कि नवयुग के अवतरण के लिए किये जाने वाले प्रयासों में महिला जागरण अभियान को प्रमुखता ही देनी होगी।

परिवार में सहयोग एवं सद्भावना की आवश्यकता

घर में कटुतापूर्ण वातावरण है। एक-दूसरे को सहयोग अपना-बिराना सोचकर दिया जाता है। बहू के प्रति सास-ननद आदि के हृदय में कोई स्थान नहीं है। बहू घर में बीमार पड़ी है। उसे दवा, चाय, भोजन, पानी आदि की समय-समय पर आवश्यकता रहती है, किन्तु इसकी कौन व्यवस्था करे? उससे तो जले-भुने हैं। इधर पति भी खुले दिल से पत्नी की सेवा नहीं कर पाता है, क्योंकि घर में परम्परागत वातावरण है। पति स्वयं अपनी पत्नी की सेवा कैसे करे? यह तो लोक के विरुद्ध है। भला कहीं मर्दों को भी औरत की सेवा करनी चाहिए। पति भी बोझा देने स्वभाव का है। इस कारण वह भी अपनी पत्नी की सेवा नहीं कर पाता है। इधर बेचारी पत्नी अक्सर अवस्था में कराहती रहती है। किन्तु उसकी कौन सुने? थोड़ा-बहुत पति अपनी पत्नी के पास जाकर कुछ पूछताछ

करता है तो घर में व्यंग्य की बरसात शुरू हो जाती है। क्या जमाना आ गया है? औरतों के गुलाम हो गये हैं, आज के मर्द तो ये व्यंग्य बाण उसे सेवा करने से दूर किये देते हैं। पति मन ही मन परेशान कि क्या करे? पत्नी की हालत दिनों-दिन गिरती जा रही है, घर का कोई सदस्य उसकी ठीक तरह से साल-सँभाल नहीं करता है।

आजकल परिवार के परिजन परस्पर सेवा की भावना नहीं रख पाते हैं। जैसे-तैसे परिवार तो दिखाई देते हैं। पर भीतर की परिवारीय भावना मर चुकी होती है। ऐसा लगता है, सभी किसी होटल में रहते हैं, जहाँ खाना-विश्राम करने को मिलता है। एक-दूसरे के दुःख-दर्द से क्या मतलब? आखिर क्या कारण है, परिवारों में परस्पर सेवा की भावना लुप्त होती जा रही है।

परिवार के हर सदस्य को एक-दूसरे की सेवा करने के लिए तत्पर रहना चाहिये। ये ही क्षण होते हैं, जब एक दूसरे के प्रति व्यावहारिक प्रेम अभिव्यक्त करते हैं अन्यथा शाब्दिक प्रेम बनाये रखने से क्या लाभ? किसी व्यक्ति के हृदय को जीतना है तो उसकी कष्ट और बीमारी के क्षणों में निःस्वार्थ भाव से सेवा कर दीजिए, वह सदा के लिए अपना हो जाता है।

सेवा के सुअवसर केवल बीमारी के समय ही नहीं रहते हैं। घर के परिजन पर किसी भी प्रकार की विपत्ति या कष्ट है, उस समय उसे सहायता पहुँचा देना सेवा ही है। संकट आर्थिक हो या सामाजिक हो या राजनैतिक-कैसा भी संकट तो संकट है और हर समय हर आदमी को सहायता और सहयोग की आवश्यकता रहती है। इस समय सेवा पहुँचाना परिजनों का कर्तव्य है।

यदि बीमारी कष्ट, विपत्ति, संकट आदि के क्षणों में परिवार के परिजन एक दूसरे के सहयोग, सहायता व सेवा के लिये ही बढ़ते रहे तो परिवारीय वातावरण में स्नेहिलता बनी रहती है। पति-पत्नी के दाम्पत्य जीवन में सुखप्रद आकर्षण बना रहेगा। वे एक दूसरे के लिये हर घड़ी हर काम के लिए तत्पर रहेंगे। उनकी प्रसन्नता का प्रभाव यह होगा कि घर के परिजन भी प्रसन्न बने रहेंगे तथा परिजन भी सेवा की भावना बनाये रख सकेंगे। उनमें भी प्रसन्नता बनी रहेगी। इस प्रसन्नता के वातावरण में बच्चों का विकास भली-भाँति होता रहेगा तथा सहयोग, सहायता और सेवा का पाठ बच्चे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सीखते रहेंगे, जिसका उपयोग वे अपने भावी जीवन में कर सकेंगे। सहयोग, सहायता और सेवा की भावना के विकास पर परिवार की प्रसन्नता और प्रगति निर्भर है।

भावनात्मक एकरूपता

आदर्श परिवार की स्थापना और आदर्श परिवार व्यवस्था का अनुपम लाभ उठाने के लिये हर व्यक्ति के मन में आकांक्षा उठती है। उसके अनेक नियम, उपनिषद, बनाये गये हैं। परिवार के सदस्यों में कतिपय गुणों के

विकास और शिष्टाचारों के निर्वाह की बात भी कही जाती है। यह सभी आवश्यक तथा उपयोगी हैं, किन्तु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है पारिवारिक भावना, भावनात्मक एकरूपता। अन्य सब नियमोपनियम, गुण, शिष्टाचार आदि उसके आवश्यक कलेवर हैं, जिनके आधार पर उसका स्वरूप सुन्दरतम बनाया जाता है। परन्तु भावनात्मक एकरूपता तो उसका प्राण है।

भावनात्मक एकरूपता का अर्थ है परिवार के सदस्यों में गहन आत्मीयता की अनुभूति। हम सब एक हैं, एक-दूसरे के लिये हैं, साथ-साथ मरने जीने के लिए हैं, एक-दूसरे के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी हैं आदि बातें कहना-सुनना और बात है तथा उसकी गहरी अनुभूति होना और बात है। सोचा, समझा और कहा जाना तो बुद्धि के आधार पर भी सम्भव है, किन्तु उतना मात्र पर्याप्त नहीं। बुद्धि से आगे बढ़कर अन्तःकरण की गहराइयों के स्पर्श से, स्नेह आत्मीयता जैसी भाव संवेदनाओं के विकास से ही उन सशक्त भाव सूत्रों का निर्माण होता है, जिनमें बँधकर कठिन से कठिन परिस्थिति तथा कठोर से कठोर परीक्षाओं में परिजन टूटकर बिखरते नहीं। न तो वैभव एवं सम्पन्नता उनके अपनत्व को प्रभावित कर पाती हैं और न अभावग्रस्त कठिनाइयाँ उन्हें डिगा पाती हैं।

भावनात्मक स्तर सबल अथवा हीन होने का प्रत्यक्ष प्रभाव समाज में कहीं भी देखा जा सकता है। उसके अभाव में लोग नगण्य-सी साधन सम्पदा अथवा पद प्रतिष्ठा पाते ही अपने को परिजनों से भिन्न मानने लगते हैं। उनकी दृष्टि तथा व्यवहार में स्वजनों के प्रति हीन भावना तथा तिरस्कार के भाव प्रकट होने लगते हैं। दूसरे पक्ष में भी उसकी प्रतिक्रियास्वरूप द्वेष-दुर्भाव पैदा होने लगता है, किन्तु जहाँ भावनात्मक सूत्र सबल हैं वहाँ बड़े से बड़ा पद एवं वैभव पाकर भी आत्मीयता उतनी ही सधन बनी रहती है। अपनत्व का अधिकार सारे सांसारिक अधिकारों से बड़ा सिद्ध होता है।

इसी प्रकार कष्ट-कठिनाइयों में भी उसका प्रभाव देखा जा सकता है। भावहीन परिजन अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं में नाममात्र की कमी अथवा जरा-सी भी कठिनाई सहन नहीं करना चाहते। उनसे बचने के लिए स्वयं को शेष परिवार से अलग करने के लिये छटपटाने लगते हैं, किन्तु दूसरी ओर भावसम्पन्न का ढंग और ही होता है। वे अपनत्व के नाते बड़े से बड़े संकट का सामना मिल-जुलकर ही करते हैं तथा आत्मीयता के स्नेहसिक्त वातावरण में बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को हँसते-खेलते पार कर जाते हैं।

भावनात्मक स्तर हीन होने पर सामान्य शिष्टाचार की कमी भी परिवार को विघटित कर देती है। शिष्टाचार के बड़े-बड़े मर्मज्ञ भी मनुष्य की मनोभूमि का अन्दाज लगाने में भूल कर जाते हैं और हास-परिहास से लेकर विशेष उत्सव प्रसंगों में हुई सामान्य-सी घटनाओं को सम्मान का प्रश्न बनाकर 'महाभारत' खड़ा कर देते हैं। किन्तु गहन

भावनात्मक एकता की स्थिति और ही होती है। वहाँ शिष्टाचार से अनभिज्ञ व्यक्ति भी एक-दूसरे को इतना प्यार, सम्मान दे सकते हैं कि उसकी तुलना में बहिर्जगत का बड़े से बड़ा सम्मान भी छोटा लगने लगा। आत्मीयता भरा 'तू' का संबोधन बेटे, बेटी से लेकर माता-पिता एवं 'भगवान' तक को हर्षित कर सकता है और अपनत्वहीनता 'आप' का संबोधन भी मनुष्य के हृदय पर आघात कर सकता है।

अस्तु, परिवार संस्था का पुनर्जीवन करने के लिये जहाँ अनेक नियम, गुण, शिष्टाचार के शिक्षण का अभ्यास कराया जाना है, वहाँ आत्मिक संवेदनाओं के विकास को भी ध्यान में रखना होगा। संयुक्त परिवार जैसी श्रेष्ठ प्रणाली इसी के अभाव में तिरस्कृत, बहिष्कृत होती जा रही है। मानवीय विकास की दृष्टि से संयुक्त-परिवार बड़े ही उपयोगी और अनुकरणीय हैं।

जो लोग संयुक्त परिवार में रहते हैं वे भाग्यशाली हैं। पर समुचित भावनात्मक एकता के अभाववश समस्याएँ वहाँ उत्पन्न होती हैं और वे इतनी विकट होती हैं कि उनके रहते लगता है-इससे तो अलग घर बसा लिया जाता तो वही अच्छा था। इन समस्याओं में मुख्य हैं-पारिवारिक जीवन में आने वाली क्लेशपूर्ण परिस्थितियाँ। संयुक्त-परिवारों के टूटने का कारण जहाँ अधिकतम सुख-सुविधायें उठाने का आकर्षण है, वहीं परिवारों में होने वाले क्लेश, कलह भी हैं। बल्कि मुख्य कारण तो यही नजर आता है कि पुरानी पीढ़ी यानी कि माता-पिता और नई पीढ़ी पुत्र तथा बहू आपस में सामंजस्य नहीं बिठा पाते।

पुरानी और नई पीढ़ी के द्वन्द्व ने बढ़ते-बढ़ते सामाजिक रूप धारण कर लिया है। इसकी शुरुआत परिवार से हुई है। जिस दिन लड़के की शादी होकर बहू घर आती है उस दिन से माँ-बाप अपने बेटे को परिपक्व दृष्टि से देखने लगते हैं। अब तक उनकी दृष्टि से लड़का बच्चा-सा था, पर अब बहू ले आया है तो वह संसारी व्यक्ति हो चुका है और उसे संसारी व्यक्ति की तरह रहना चाहिये। माता-पिता के निर्देश भी उसे इसी रूप में मिलने लगते हैं।

सारी भूल माझा-पिता से ही होती हो यह भी बात नहीं है। नई-नई पत्नी पाकर युवक उसकी ओर आवश्यकता से अधिक आकर्षण अनुभव करते हैं। लेकिन इस दृष्टिकोण को उचित नहीं कहा जा सकता। उसके पीछे सिद्धान्त न होकर शारीरिक कारण ही होते हैं। उन पर विवेकपूर्वक नियंत्रण न रखा जाये तो वह असंतुलन ही उत्पन्न करते हैं। वही नहीं उस स्थिति में पड़े हुए व्यक्ति को किसी के द्वारा दिए गये उचित परामर्श भी अखरने लगते हैं।

इधर पत्नी की तरफ अधिक आकर्षित होते देखकर माँ यह समझती है कि उसका बेटा हाथ से निकला जा रहा है। कल तक तो बेटा माँ की गोदी में 'माँ-माँ'

२.८० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

कहता हुआ आकर सिर रखकर लेट जाता था वह दूसरे घर से आई लड़की के मोहपाश में आबद्ध होकर माँ की ओर ध्यान देना भी नहीं चाहता। माँ का रवैया इसी महत्वपूर्ण बिन्दु पर चिन्ता करते-करते बहकने लगता है और यह दूसरे घर से आई लड़की की मान्यता इतने प्रबल रूप में अपनी जड़ें जमा लेती है कि वह बहू को कभी भी अपनी बेटी की तरह नहीं मान सकती।

सास-बहू के पारिवारिक झगड़ों का अधिकांश कारण यह असंतुलित दृष्टि ही है। कदाचित् मातायें बहू को अपनी बेटी की तरह समझकर उससे आत्मीय व्यवहार करने लगे। दोष अकेली माँ के मत्थे भी नहीं मढ़ा जाना चाहिये। कोई युवती जब अपने परिवार को, भाई-बहिनों को, सगे माता-पिता को छोड़कर अपनी ससुराल आती है तो यह आशा की जानी चाहिये कि वह अपने पति के परिवार वालों को भी अपने घर के लोगों की तरह ही माने, पर होता यह है कि एक तो बदला हुआ वातावरण, दूसरे मायके में दी गई शिक्षायें और अपनी सहेलियों से मिले निर्देश और अनुभव उसे अजनबी परिवार के प्रति रूखा बना देती हैं। साथ रहते-रहते समझदार सास-बहू अपने सम्बन्ध अच्छे बना लें यह बात और है अन्यथा जिन घरों में सास-बहू के बीच हमेशा द्वन्द्व चला करता है वहाँ डोरी शुरू से खिंचने लगती है।

बहू उस समय अपने पति पर अपना अधिकार करने के लिये प्रयत्नशील रहती है, तो माँ अपने बेटे को हाथ से न निकलने देने के लिए सजग और पति और पुत्र को लेकर, अन्य कारणों की आड़ में संघर्ष शुरू होता है। जिन घरों में ऐसा नहीं होता वहाँ भी दूसरा तरह से द्वन्द्व चलने लगता है। यदि सास-बहू को अपने बेटी मान भी ले तो वह अपेक्षा करती है कि बहू बेटी की तरह ही उसकी आज्ञाकारिणी हो। इस तरह की आज्ञायें बहुत कुछ यह समझ कर दी जाती हैं, जैसे वह एकदम नासमझ या बच्ची हो। यह ठीक है कि बहू की अपेक्षा सास अधिक अनुभवी और दूरदृष्टि सम्पन्न होती है, पर इसका अर्थ यह तो होता नहीं कि बहू का मस्तिष्क एकदम कोरा कागज ही है जिस पर समझ या सूझबूझ का एक भी अक्षर नहीं लिखा हुआ है।

सास की आज्ञाओं और निर्देशों में बहू अपनी उपेक्षा या अवमूल्यन समझने लगती है, क्योंकि सास के सामने उसकी योग्यता और क्षमता नगण्य हो जाती है। वह न अपने मन का कोई काम कर सकती है और न उसे इसकी छूट ही अनुभव होती है तो वह यह मानने लगती है कि सास उसे अपने हाथ का यन्त्र भर बनाकर रखना चाहती है। मनमुटाव की ग्रन्थियाँ यही से बनना शुरू होती हैं।

किन्हीं-किन्हीं घरों में सास-बहू का संघर्ष आमने-सामने होने लगता है। ऐसा उन घरों में होता है जहाँ सास और बहू वैचारिक तथा मानसिक दृष्टि से एक ही धरातल पर रह रही हों अन्यथा यह संघर्ष शीतयुद्ध के रूप में ही चलता है। माँ अपने बेटे को अपनी ओर खींचती है तथा

बहू अपने पति के कान अलग भरती है। कुल मिलाकर ऐसी दशा में पुरुष की स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है। पति तटस्थ रहता है तो भी उस पर दोनों ओर से प्रहार होता है और किसी का पक्ष भी लेता है तो दूसरा पक्ष उसको अपने हाथ से बाहर निकल गया समझता है। माँ का पक्ष लेने वालों की संख्या कम है, अधिकांश पति अपनी पत्नी की ओर ही झुकते हैं।

पत्नी की ओर झुकने का कारण है। एक तो पति, पत्नी से अधिक प्रभावित रहता है क्योंकि विवाह के बाद उसी का सम्पर्क सान्निध्य बड़ा रसमय लगता है और दूसरे विवाह के बाद माता-पिता द्वारा अपनाये गए रवैयों के कारण उनमें ही अधिक दोष देखने लगता है।

जो भी हो-पारिवारिक क्लेश बना रहा तो परिवार टूटे या बना रहे दोनों ही परिणाम अच्छे नहीं कहे जा सकते। विवेकशीलता और पारिवारिक सद्भाव बनाये रखने के लिए उन गुणधर्मों को समझ-बूझ के साथ सुलझाया जाना चाहिए जो उसे तोड़ देती हैं या चूँटखा देती हैं। इन समस्याओं का समाधान किए बिना किसी भी परिवार में सुख-शान्ति का वातावरण बनाये रखना असम्भव है। गृहस्थी में सम्पूर्ण कर्तव्यों का निर्वाह आध्यात्मिक सम्बन्धों पर निर्धारित रहता है। इन सम्बन्धों में यदि शुद्ध व सात्विकता बनी रहे तो गृहस्थी में एक सुखद वातावरण बना रहता है, किन्तु इन सम्बन्धों में यदि खटाई उत्पन्न हो गई तो वही गृहस्थ नारकीय यंत्रणाओं में घिर जाता है। परिवार के अमन-चैन मिट जाते हैं। सारा घर लड़ाई का अखाड़ा बन जाता है, सारे श्री-सौभाग्य धूल में मिट जाते हैं। उन्नति रुक जाती है और लोग निर्धनता का दीन-हीन जीवन बिताने को विवश हो जाते हैं। परिवार में जब अपने-अपने स्वार्थ का भ्रष्टाचार बढ़ता है और लोग कर्तव्य की आध्यात्मिक भावना को भुला देते हैं तभी गृहस्थ की दुर्दशा होती है। कितने कृतघ्न होंगे वे लोग जो अपने स्वार्थ के लिए परिवार में फूट के बीज बोकर सारी पारिवारिक व्यवस्था को तहस-नहस कर डालते हैं।

यह दुर्भाग्यपूर्ण क्रम तभी रुक सकता है जब परिवार के सदस्यों के बीच पुनः कोमल संवेदनाओं को जाग्रत और विकसित किया जाय। आज प्रगतिशीलता के नशे में पुराने अच्छे-बुरे सभी मूल्यों को समाप्त करने की दुर्भाग्यपूर्ण हवा चल पड़ी है। उसे रोकना होगा। विवेकपूर्वक श्रेष्ठ परम्पराओं को अंगीकार करना होगा। अभिभावक एवं संतान, पति-पत्नी, भाई-बहिन, देवर-भाभी, ननद-देवरानी, सास-बहू आदि के बीच परस्पर कृतज्ञता और सद्भाव के भाव प्रवाह पुनः प्रवाहित करने होंगे।

वास्तव में परिवार में हर व्यक्ति की अपनी भूमिका होती है। भावनाशील व्यक्ति ही उसका ठीक निर्वाह कर सकते हैं तथा उसी आधार पर अन्य सदस्य उसका मूल्यांकन करके उसके प्रति कृतज्ञता का भाव रख सकते

हैं। यदि हृदय के सद्भावों को एकदम सुखा ही न दिया जाय तो पिता के श्रम, माँ के करुणा भरे त्याग, पति-पत्नी का परस्पर समर्पण, भाई-बहिनों का निश्छल स्नेह हर किसी के अन्दर पुलकन पैदा कर सकता है। उस स्थिति में ओछे स्वार्थों को महत्व मिलने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

इस युग में पारिवारिक सम्बन्धों में जो कड़वाहट आ गई है वह मनुष्य के संकुचित दृष्टिकोण और स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही है। स्वार्थपरता आसुरी प्रवृत्ति है जो छीना-झपटी, विग्रह और कलह पैदा करती है। सद्भाव दैवी प्रवृत्ति है। उससे प्रभावित परिवार का हर सदस्य एक दूसरे को देवताओं की तरह कुछ न कुछ देना ही चाहता है। इस मार्ग पर चलकर सभी सुख एवं सम्मान पाते हैं। जैसे-जैसे पिता और पुत्र, पिता और पुत्री के सम्बन्ध बड़े कोमल, मधुर और सात्विक होते हैं। इस अध्यात्मिक सम्बन्ध का सहृदयतापूर्वक पालन करने वाले व्यक्ति देव-श्रेणी में आते हैं। उनका मान और प्रतिष्ठा होनी ही चाहिये।

व्यक्ति का भावनात्मक प्रशिक्षण माता करती है। उसके रक्त, माँस और ओजस् से बालक का निर्माण होता है। कितने कष्ट सहती है वह बेटे के लिए। स्वयं गीले बिस्तर में सोकर बच्चे को सूखे में सुलाते रहने की कष्टसाध्य क्रिया पूरी करने की हिम्मत भला है किसी में? माता का हृदय दया-पवित्रता से ओत-प्रोत है, उसे जलाओ तो भी दया की ही सुगन्ध निकलती है, पीसो तो दया का ही रस निकलता है। ऐसी दया और ममत्व की मूर्ति माता के प्रति हार्दिक सम्मान का भाव रखना कौन अनुचित कहेगा?

इसी क्रम में राम और भरत, गोरा और बादल के आदर्श भ्रातृ-प्रेम को फिर से पुनरुज्जीवित करना है। इससे हमारी शक्ति हमारी सद्भावनायें जाग्रत होंगी। हमारा साहस बढ़ेगा और पुरुषार्थ पनपेगा। स्नेहमयी बहिन, उदारता की मूर्ति भावजों को भी उसी तरह सम्मान प्रदर्शित करना चाहिये, जिस तरह माता के प्रति अपनी शालीनतापूर्ण भावनायें हों।

घर का वातावरण कुछ इस तरह का शील-संयुक्त, हँसमुख और उदार बने जिससे सारा परिवार हरा-भरा नजर आये। इसके लिए धन आदि उपकरणों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अपने सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य और सेवा भावना की। परिवार में सौमनस्य हो तो वहाँ न तो सुख की कमी रहेगी, न शांति की। उस घर में आह्लाद फूटा पड़ रहा होगा जहाँ सबके दिल मिले होंगे।

अभिभावक एवं संतान

परिवारों में स्वर्ग की कल्पना एवं अनुभूति जिस आधार पर की जा सकी-की जा सकती है, वह उसके सदस्यों के बीच कोमल संवेदनात्मक आदान-प्रदान ही है। यों हर परिवार के सदस्यों में बातचीत, हास-

परिहास से लेकर वस्तुओं के आदान-प्रदान का कुछ न कुछ क्रम चलता ही रहता है, किन्तु यह सब यदि संवेदना-हीन स्थिति में है-मात्र शिष्टाचार, लोकलाज अथवा अपने बड़प्पन के प्रदर्शन के लिये किए जाते हैं तो उससे परिवार में स्वर्ग सृजन की कल्पना नहीं की जा सकती। धनी परिवारों में सामान्य प्रसंगों पर भी परिजन एक दूसरे को मूल्यवान उपहार दिया करते हैं, पिकनिक, मनोरंजन जैसे कार्यक्रमों में लम्बे समय तक साथ-साथ रहते, हँसते-बोलते हैं, किन्तु गरीब परिवारों में न तो लोगों के पास भेंट आदि देने के लिए अतिरिक्त धन होता है और न मनोरंजन आदि के लिए उतना समय ही वे लगा सकते हैं। किन्तु इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि अमीर घरों में स्वर्ग रहेगा-गरीब घरों में नहीं। बल्कि इसके विपरीत अमीरी की तड़क-भड़क के पीछे नारकीय यंत्रणाओं की झलक और गरीबी के पीछे से उठती स्वर्गीय सुगन्धि का अनुभव किया जा सकता है। स्थूल समय साधन कितने जुट पाते हैं, यह बात गौण रह जाती है व आत्मिक चेतना का अपनत्व भरा प्रवाह कितना उठता है यह बात प्रमुख हो जाती है। परिवार के सभी सदस्यों में इसी का विकास और संचार अभीष्ट है।

परिवार के सम्बन्धों की चर्चा उठते ही अभिभावकों एवं सन्तान का स्मरण अनायास ही हो जाता है। यह हर छोटे-बड़े परिवार के अनिवार्य घटक हैं। माता-पिता अथवा पुत्री-पुत्र के रूप में संसार के हर व्यक्ति को रहना ही पड़ता है। उनके परस्पर एक दूसरे के प्रति कर्तव्यों के बारे में बहुत कुछ कहा जाता रहा है। माता-पिता के संतान के प्रति तथा संतान के माता-पिता के प्रति कर्तव्यों की सूची बहुत विशद है। उनका पालन करने वालों को लौकिक यश एवं समृद्धि तथा पारलौकिक पुण्य एवं सद्गति प्राप्त होने की बात कही जाती है। विवेक इस कथन को अलंकारपूर्ण तो मान सकता है किन्तु निराधार नहीं।

परन्तु इन सभी उक्तियों की गरिमा को सांसारिक, स्वार्थपरक दृष्टिकोण से नहीं नापा, आँका जा सकता है। सूक्ष्म संवेदनाओं को भुलाकर यदि स्थूल दलीलों से इन सम्बन्धों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया जाय तो वे मात्र मखौल बनकर रह जावेंगे। उदाहरण के लिए 'माँ सम्बन्ध' को लें। भारतीय संस्कृति में 'माँ' को सर्वोच्च सम्मान एवं गौरव दिया गया है। उसके द्वारा बालक को गर्भ में रखने, दूध पिलाने, पालने-पोसने जैसी अनेक भाव भरी उक्तियाँ प्रचलित हैं। उसके इस ऋण से उद्धार होने की बात कही जाती है। सन्तान उसके अनुदानों की कल्पना मात्र से पुलकित, रोमांचित हो उठती है। माँ तो सन्तान की कल्पना के आधार पर ही प्रसव जैसे मर्यान्तक पीड़ा पहुँचाने वाले प्रकरण को भूल जाती है। यह संवेदनायें उस आत्मिक सुख-संतोष की अनुभूति कराती हैं जिनके ऊपर संसार का बड़प्पन से बड़ा सुख-वैभव न्योछावर किया जाना भी सामान्य सी बात लगती है।

२.८१ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

यह तो भावनात्मक व्याख्या हुई। स्थूल बुद्धि से इन्हीं की विवेचना की जाय तो सारा महत्व ही समाप्त हो जायगा। संवेदनाओं को न देखा जाय तो माँ क्यों बच्चों के लिए इतना कष्ट महे? प्रसव का प्राणान्तक कष्ट क्यों स्वीकार करे? उनके लिये अपने खाने-पीने से लेकर घूमने-फिरने तक पर क्यों बन्धन नियन्त्रण लगाये? यदि बच्चों से खिलौने की तरह मन बहलाना अच्छा लगता है तो किराये के बच्चे प्राप्त करना कहीं अधिक सुगम रह सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मात्र संवेदनाओं को हटा दिया जाय तो मातृत्व का उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए किसी को तैयार करना कठिन है। आज मातृत्व को कर्तव्यों की उपेक्षा जितने अंशों में होती है वह सब भावनात्मक स्तर के हनन का ही दुष्परिणाम है।

इसी प्रकार संतान की ओर से भी तर्क प्रस्तुत हो सकते हैं। माँ के अनुदानों के प्रति सन्तान के हृदय में कृतज्ञता भरी मृदुलता क्यों कर रह सकेगी। मातृ देवोभव आदि उक्तियाँ निरर्थक हो जावेंगी। मातृ ऋण को लोग क्यों स्वीकार करेंगे या महत्व देंगे? यदि उसे किसी रूप में स्वीकार भी किया जाय तो कोई पुत्र उसका हिसाब गणितीय ढंग से करके मुक्ति पा सकते हैं। जैसे माँ ने बाल्यावस्था में कितना दूध पिलाया? गर्भ को ६-७ पाँड भार को लिए फिरने में कितना श्रम लगा। बच्चे की सेवा सुश्रुषा में कितना समय लगाया-उस सब का बाजार की दर पर हिसाब लगाया जा सकता है। फिर बच्चे से माता-पिता ने कितना मनोरंजन किया-कितना घरेलू काम कराया इसे उसमें से घटाकर शेष हिसाब चुकता करके ऋण मुक्त हुआ जा सकता है।

यह सब चर्चा तर्कसंगत भले ही कही जाय किन्तु गले नहीं उतरती ऐसा कहना पवित्र सम्बन्धों का यह अच्छा-खासा मखौल उड़ाना ही कहा जायगा। कहीं यह हिसाब लगाया जाने लगे तो वैसा करने वालों को तर्क सम्मत बुद्धिजीवी की संज्ञा न देकर घटिया-निकृष्ट स्तर का व्यक्ति कहा जायगा। निश्चित रूप से भावनात्मक स्तर ही मानवीय गरिमा के अनुरूप परिवारों का गौरवमय स्तर बना सकते हैं।

अभिभावक एवं संतान को अपने अन्दर इसी दृष्टिकोण का विकास करना चाहिये। मनुष्य के अन्दर छिपी हुई स्नेह, अपनत्व की दिव्य भावनाओं की तुष्टि उसके बिना सम्भव नहीं। पिता-पुत्र को ही लें, तो वे वयस्क होने के पूर्व पुत्र अथवा वृद्ध हो जाने पर पिता एक दूसरे से अपनी शारीरिक सुख-सुविधाओं की पूर्ति भर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते, उनकी आत्मिक आकांक्षाएँ भी होती हैं। एक दूसरे से आत्मीयता भरा स्नेह-सम्मान पाये बिना उसका समाधान नहीं होता। वह आकर्षण, वह लगाव पैदा किए बिना पिता-पुत्र के बीच आदर्श सम्बन्धों की स्थापना आदर्श कर्तव्यों का पालन, कठिन एवं अस्थायी ही नहीं असम्भव जैसे ही हो जाते हैं।

पिता-पुत्र के सम्बन्ध संसार में सबसे घनिष्ट होते हैं और कोमल भी। इतने घनिष्ट की पुत्र पिता की आत्मा का

अंश ही नहीं उसका प्रतिबिम्ब होता है। पुत्र के गुण-कर्म, स्वभाव देखकर पिता के गुण-कर्म, स्वभाव का अनुमान किया जा सकता है और पिता के देख लेने के बाद पुत्र के देखने की ही जरूरत हो, ऐसा नहीं। पुत्र अधिकांशतः पिता का सर्वतो उत्तराधिकारी होता है। पिता-पुत्र की यह समानता उनकी घनिष्टता का ही प्रमाण है।

यह सम्बन्ध कोमल भी कम नहीं होता। किसी ओर से प्रमाद हो जाने से यह टूट भी जल्दी जाते हैं। अनेक बार तो पिता-पुत्र के सम्बन्ध जब एक बार टूट जाते हैं तब जीवन भर नहीं जुड़ते। बाहर से वे भले ही पास-पास रहते रहें एक दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य करते रहें किन्तु अन्तर में वह एकता नहीं रहती, जो पिता-पुत्र के सम्बन्धों की पवित्र शोभा है। इस सम्बन्ध को यथावत् तथा यथायोग्य बनाए रखने के लिए दोनों ओर से सतर्क और सावधान रहना चाहिये केवल रक्त अथवा जन्म पर ही निर्भर रहने से प्रमाद हो जाने का डर रहता है।

आज पिता-पुत्र के बीच सम्बन्धों में वह सामीप्य और स्नेह, श्रद्धा कम देखने को मिलती है जिसकी आशा की जाती है और जिसे होना भी चाहिये। यह अशोभनीय तथा अहितकर है। ऐसा नहीं होना चाहिये। पिता-पुत्र की इस कमी से परिवार का विकास रुक जाता है। आर्थिक पतन हो जाता है। प्रतिष्ठा जाती रहती है। लोग हैसते हैं। परिवार का भावी उत्तराधिकारी टूटकर अलग हो जाये तो पिता के बूढ़ा होने पर उस धुरी को कौन धारण करेगा? कौटुम्बिक कार-व्यापार को कौन सँभालेगा? पिता-पुत्र में अन्तर होते ही लोग बीच में आकर स्थान बनाने का प्रयत्न करते हैं। दोनों को अलग-अलग पाकर लाभ उठाने और अपना हस्तक्षेप करने के लिये प्रयत्नशील होने लगते हैं। तरह-तरह के कारण गढ़ कर जनश्रुतियाँ बनाते, अफवाहें फैलाते और उपहास उड़ाते हैं। पिता को दृढ़ रहने और पुत्र को उत्तराधिकार माँगने के लिये उकसाते, सहायक बनते, परामर्श देते और न्यायालय तक ले जाते हैं। ऐसी दुष्टतायें समाज में कम नहीं चल रही हैं। इसलिए प्रत्येक सदगृहस्थ को अधिक से अधिक सावधान रहना चाहिये। यहाँ तक कि पिता-पुत्र ही नहीं परिवार के किन्हीं भी सदस्यों में फूट न पड़े। इसके लिये कोई भी त्याग करना पड़े, करने को तैयार रहना चाहिये सहनशीलता तो एक दैवी गुण ही है उसे तो ग्रहण ही किये रहना चाहिये।

इस सम्बन्ध की रक्षा में पहला कर्तव्य पिता का है। पुत्र के अस्तित्व में आने से पूर्व ही पिता प्रौढ़, पूर्ण और योग्य हो चुका होता है। पुत्र उसके सामने जन्मता और उसकी गोद में खेलता और देख-रेख और निर्देश में पलता, बढ़ता और जवान होता है। इस बीच में सोलह-सत्रह साल की इतनी पर्याप्त अवधि होती है कि पुत्र को इच्छानुसार ढाला जा सकता है। यदि उसके संस्कार पुत्रोचित बना दिए जाएँ तो कोई कारण नहीं कि पुत्र जीवन भर पिता का आज्ञाकारी एवं अनुगत न बना रहे।

तब तक उसका स्वभाव और संस्कार इतने गहरे हो सकते हैं कि बाहर का कोई भी प्रतिकूल प्रभाव उनको बदल सकना तो दूर हिला तक नहीं सकता किन्तु खेद है कि लोग पिता तो आसानी से बन जाते हैं किन्तु पुत्र को पुत्र बनाने का प्रयत्न नहीं करते। वे रक्त के नैसर्गिक सम्बन्ध के बलबूते बेखबर पड़े रहते और उसका निर्माण करना आवश्यक नहीं समझते। विधिवत निर्माण के अभाव में वे जंगली झाड़ी की तरह जिधर चाहते बढ़ते रहते हैं, सँभाली पौध की तरह सुव्यवस्थित नहीं हो पाते।

बनने को तो कोई भी पिता बन जाता है, किन्तु यह उत्तरदायित्व कम गम्भीर नहीं है। सन्तान पैदा करने का अर्थ है—समाज में एक नया नागरिक बढ़ाना। यदि वह नागरिक योग्य हुआ तो समाज का हित करेगा, अयोग्य हुआ तो हानि पहुँचायेगा। उसके द्वारा पारिवारिक अशांति के विषय में तो कहा ही क्या जाये। एक अयोग्य सन्तान परिवार की अतीतकालिक प्रतिष्ठा ही नहीं गिरा देता भविष्य भी खराब कर देता है। घर में फूट डाल देना, आर्थिक दशा बिगाड़ देना तो उसके लिए साधारण सी बात होती है। ऐसी ही अयोग्य सन्तानों में पिता-पुत्र के बीच नहीं बनती और वे एक-दूसरे के विरोधी तक बन जाते हैं।

पुत्र को पिता का प्रतिबिम्ब बतलाया गया है। जैसा पिता होगा पुत्र भी बहुत कुछ वैसा ही होगा। पिता के रहन-सहन और आचार-विचार का पूरा प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। इसलिए पुत्र को सुशील और योग्य बनाने के लिए पिता को स्वयं भी वैसा ही बनना पड़ेगा। व्यसनी, दुर्गुणी, क्रोधी, अनुदार अथवा संकीर्ण स्वभाव वाले पिता यदि यह चाहें कि उनको सुशील, सभ्य और विनम्र सन्तान मिल जाये यह सम्भव नहीं। उन्हें अपनी ही तरह की सन्तान पाने और वह सब व्यवहार सहने के लिए तैयार रहना चाहिये जैसा कि वे दूसरों से करते आ रहे हैं।

पिता-पुत्र का जनक ही नहीं उसका पथ-प्रदर्शक और मित्र भी है। जो पिता अपने पुत्र का ठीक-ठीक पथ-प्रदर्शन करते और मित्र की तरह व्यवहार करते हैं उनके बीच कभी विरोध नहीं होता। पुत्र को अपने स्नेही और स्पष्ट पिता के प्रति बड़ी श्रद्धा होती है। वे उनकी तरफ इतना आकर्षित रहते हैं कि पिता के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। बहुत बार तो अपने गुणों के कारण पिता पुत्र को वश करने में माँ को भी पीछे कर दिया करता है। अनेक परिवार ऐसे ढूँढ़े जा सकते हैं जिनमें बच्चे पिता को ज्यादा चाहते और अधिक देर उन्हीं के पास रहना पसन्द करते हैं, जितनी देर पिता घर में रहता है वे उसे छोड़कर कहीं जाना ही पसन्द नहीं करते। वे माँ की अपेक्षा पिता के साथ खाना-पीना, घूमना-फिरना और सोना ज्यादा पसन्द करते हैं। माँ के पास सोते होने पर भी पिता की आहट पाकर उसके पास से उठ जाते हैं। बच्चों का स्वाभाविक आकर्षण होता तो माँ की तरफ ही है, किन्तु प्रेम की प्रबलता से वे पिता की ओर खिंच

जाते हैं। सच बात तो यह है भावनात्मक संतुष्टि अन्य सभी आकर्षणों को पीछे छोड़ देती है। जिस परिवार में वह उपलब्ध हो, उस परिवार के लोग क्या छोटे, क्या बड़े बाहर तरह-तरह की संगति में भटकते नहीं हैं। देश, विदेश के किशोरों का सर्वेक्षण करने में यह तथ्य उभर कर सामने आये हैं कि जो बालक-बालिकायें, अभिभावकों से भावनात्मक संतुष्टि पाते हैं, वे संगी-साथियों, घूमने-फिरने और खेल-कूद के आकर्षण छोड़ कर भी उन्हीं के साथ अधिक से अधिक समय बिताना पसन्द करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार के विद्रोह, अवज्ञा जैसे प्रसंग खड़े होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यह सोचना गलत है कि आज के बच्चे अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करते। अनुशासन आतंक से नहीं आत्मीयता से स्थापित होता है। सर्वेक्षणों से स्पष्ट हुआ है कि बालक ढीले-पोले माता-पिता को नहीं व्यवस्थित एवं अनुशासनप्रिय अभिभावकों को अधिक पसन्द करते हैं। हाँ उसका रूप भावनात्मक हो-आतंकपरक नहीं।

बहुधा गलती यह होती रहती है कि जनक, पालक और वयोवृद्ध होने के कारण पिता अपने को पुत्र का स्वामी समझने लगता है और उस पर हुक्म चलाना अपना जन्मजात ही नहीं नैसर्गिक अधिकार मान लेता है। अपना अधिकार व्यक्त करने के लिये उनको आदेश देना और उसको मनवाना अपना गौरव मानता है। यह एक दोष है। ठीक है कि पिता को आदेश देने का अधिकार है और पुत्र का कर्तव्य है कि उसका पालन करे। तथापि अधिकार प्रकट करने के लिए हुक्म चलाना ठीक नहीं। जो काम आदेश द्वारा कराया जा सकता है, वह स्नेहपूर्वक भी कराया जा सकता है। इससे पुत्र के स्वाभिमान पर ठेस नहीं लगती और न वह अपने को अधीन ही अनुभव करता है। कृपणता और संकीर्णता भी पिता के लिए बड़े दुर्गुण माने गये हैं।

पिता केवल एक पुत्र का ही तो पिता नहीं होता। वह अनेक सन्तानों का पिता और पूरे परिवार का अधिष्ठाता और व्यवस्थापक होता है। इसलिये उसमें न्यायप्रियता, निष्पक्षता व समानता का गुण भी होना चाहिए। उसके अभाव में किसी न किसी की भावनाओं को चोट लगती ही रहेगी। उसे भाई-भाई का झगड़ा पूरी बुद्धिमानी और निष्पक्षता से ही निपटाना चाहिये। अनेक बार अनेक पुत्रों के बीच पिता के स्नेह का अनुदान बराबर नहीं होता। वह किसी को अधिक और किसी को कम चाहता है और इसकी अभिव्यक्ति व्यवहार तक में हो जाती है। बहुधा पिता या तो सबसे बड़े बेटे को सबसे ज्यादा चाहता है अथवा सबसे छोटे को। बीच वाले बेचारे यों ही गौण अथवा उपेक्षित रह जाते हैं। पहला बेटा तो स्वाभाविक रूप से प्यारा होता ही है। वही माता-पिता में वात्सल्य का उदय किया करता है और फलस्वरूप उसके पूरे वेग का अधिकारी भी बनता है। सबसे छोटा बच्चा उनकी अंतिम रचना होती है इसलिये उस पर भी प्यार कुछ अधिक होता

२.८४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

है। कई बार यह भी होता है कि अपने सुशीलता और सुकुमारिता के कारण किन्हीं पिताओं को बेटे से कहीं अधिक बेटी प्यारी होती है। वह उसे अच्छे से अच्छा खिलाने, पहनाने और हर इच्छा पूरी करने की यह सोच कर कोशिश करते हैं कि कुछ दिन बाद पराई हो जायगी तब न जाने उसे यह चीज मिली या न मिली। उसके विवाह और देने के लिए बचाने के प्रयत्न में पुत्रों की उपेक्षा कर जाते हैं। सम्भव है यह प्रवृत्ति कुछ स्वाभाविक हो। तब भी बुद्धिमान और नीतिवान पिता को यह अन्तर प्रकट नहीं होने देना चाहिये। इससे मनोमालिन्य पैदा होता है। उपेक्षित लड़के पिता को पक्षपाती समझकर उससे विरत होने लगते हैं। अभिभावकों की यह भूल उनके प्रति पुत्रों की श्रद्धा कम करने का कारण तो बनती ही है, भाई-बहनों के परस्पर स्नेह सम्बन्ध भी तोड़ देती है।

बहुत बार बड़ों की शिकायत पर छोटों की डाँट-फटकार और ताड़ना तक हो जाती है किन्तु छोटे की शिकायत पर उसे ही उलटी डाँट मिलती है। बहिन की शिकायत पर भाई को भी घुड़की मिलती है किन्तु भाई की शिकायत हँसकर टाल दी जाती है। चाहे स्नेहवश ही क्यों न हो किन्तु यह पक्षपात ही। भावनात्मक स्तर का निर्वाह बड़ा कठिन होता है। उसे पूरा करने के लिये अपनी इच्छाओं तक का बलिदान करना पड़ता है और वह हर बुद्धिमान पिता को करना ही चाहिये। पक्षपाती पिता का कोई न कोई पुत्र विद्रोही हो ही जाता है, इसलिये अपने व्यवहार और स्नेह में पिता को न्याय और निष्पक्षता की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। अयोग्य लड़कों के लिए तो पिताओं का अस्सी प्रतिशत स्नेह मर जाता है। वे उसे फूटी आँख नहीं सुहाते। जो कुछ उसके साथ करते हैं, उसे लोकलज्जा के कारण मजबूरी समझते हैं। वे हर समय उन्हें टेढ़ी नजर और घृणा भरे हृदय से देखते रहते हैं। स्वाभाविक होने पर भी इसका परिणाम और भी खराब होता है। घृणा और तिरस्कार पाकर वह बिगड़ा हुआ लड़का और बिगड़ जाता है और पिता का शत्रु की तरह विरोधी हो जाता है।

बुराई का परिमार्जन बुराई से नहीं होता। उसकी विकृतियों का कारण सहानुभूतिपूर्वक खोजना और उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। घृणा से घृणा तथा तिरस्कार से विद्रोह का जन्म हो जाता है। इसलिए नालायक बेटे के साथ भी पिता को पिता का कर्तव्य नहीं भूलना चाहिये। यदि उसे उसका उचित स्नेह का अधिकार कुछ भी न मिलता रहे तो वहाँ का ऐसा असर होगा जो सुधरने के बजाय बिगड़ता चला जायेगा। निःस्वार्थ आभार बुरे से बुरे को कृतज्ञ बना देता है। बहुत से पिता ऐसे पत्नी भक्त होते हैं कि माँ की जरा-सी शिकायत करने पर बेटे की लाठी-डण्डे से खबर लेते हैं। इस पत्नी भक्ति से घरवाली की आदत बिगड़ जाती है उसके स्वभाव में क्रूरता आ जाती है जिससे वह जरा-

जरा-सी बात की शिकायत करने लगती है। पत्नी ही क्यों न हो शिकायत करते ही बच्चे पर टूट नहीं पड़ना चाहिये। पिता घर का अधिष्ठाता है। उसे न्याय ही करना चाहिये और न्याय-आसन पर बैठकर उसे यह भूल ही जाना होगा कि वह किसी का पति और किसी का पुत्र है। अभियोगी अथवा अभियुक्त कौन है? उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। उसका कर्तव्य सुनना और समुचित न्याय कर उचित दण्ड निर्धारित करना है। ऐसे निष्पक्ष और न्याय-निष्ठ पिता की सन्तान कभी विद्रोही नहीं होती।

परिवार के भावनात्मक सम्बन्धों पर आघात करके उन्हें जर्जर बनाने के लिये पुत्र और पुत्री के बीच का भेदभाव भी है। प्रारम्भ से ही उनके बीच भेद के बीज पड़ जाने से वे परिवार और समाज में अनेक शाखाओं, उपशाखाओं के रूप में फैलने लगते हैं। परिवार लड़के-लड़कियों, महिलाओं-पुरुषों से ही मिलकर बनता है। कन्या के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार सिर्फ इसलिये कि वह कन्या है, नारी है, स्पष्ट रूप से मानवीय भावनाओं का हनन है। कारण जो भी रहे हों इस स्तर का पक्षपात आज भारतीय समाज में बुरी तरह घुसा हुआ है। उसके कारण बच्चों के मन में अहंकार अथवा आत्महीनता एवं द्वेष के बीच अनचाहे-अनजाने ही पड़ते चले जाते हैं।

पुत्र जन्मा तो बहार आ गई, हँसी-खुशी, राग-रंग, बधाइयाँ, भोज, दावतें और न जाने क्या-क्या? पुत्री जन्मी तो पतझर, दुःख, निराशा और भाग्यहीनता के उच्छ्वास। हमारी भारतीय संस्कृति में नारी की दयनीय दशा की करुण कहानी यहीं से प्रारम्भ होती है और अन्त तक दुःखान्त ही चली जाती है।

पुत्र का नामकरण संस्कार किया जाता है, अन्नप्राशन संस्कार कराया जाता है, विद्यारम्भ और यज्ञोपवीत आदि संस्कार धूमधाम से कराये जाते हैं और कल्पना की जाती है कि यह संस्कार बालक के जीवन में शक्ति, शुचिता और तेजस्विता का अभिवर्द्धन करेंगे किन्तु कन्या को इन संस्कारों से वंचित रखा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने आदर्श शास्त्रीय मान्यताओं तक ही सीमित हैं। व्यवहार में कन्या के उज्ज्वल पक्ष की बात भी सोचना भारतीय परम्परा के विपरीत हो गया है। नर और नारी दोनों आत्मिक परिपूर्णता का समान उद्देश्य लेकर ही मनुष्य शरीर प्राप्त करते हैं एक को मार्गदर्शन मिले, प्रकाश मिले, सम्बल मिले और दूसरे को प्रेरणा व प्रोत्साहन तो दूर मानवीय जीवन की गरिमा ही समझने न दी जाये, यह कहाँ का न्याय और कैसी सभ्यता है?

बेटे का पालन-पोषण, लाड़-प्यार इस तरह किया जाता है जैसे उसे अगले दिनों राजगद्दी मिलने वाली हो कन्या को तो जीवन निर्वाह की सुविधायें प्रदान कर दी जाती हैं यही क्या कम उपकार है उसके लिये?

शहरों की बात दूसरी है जहाँ सामाजिक जीवन अब नई करवट लेता जा रहा है, पर गाँवों में आज भी स्थिति

यह है कि यदि किसी ने बच्ची को पढ़ाने-लिखाने का साहस दिखाया तो कक्षा ५ या अधिक से अधिक सुविधा वाले क्षेत्रों में कक्षा १० तक पढ़ा दिया और इस पढ़ाई तक पहुँचने से पूर्व ही उसके लिए साँकल तलाश दी। बेचारी ने जरा साँस ली कि गले में विवाह का बन्धन डाल दिया। लड़के अवारागर्दी करें तो माँ-बाप की यही इच्छा रहती है कि बेटा पढ़-लिखकर कुछ हो जाये उधर कन्या पढ़ने-लिखने की हार्दिक अभिलाषा को कुचलकर मन मसोस रह जाती है। फिर वह चाहे कितनी ही बौद्धिक क्षमता सम्पन्न क्यों न हो।

छोटे भाइयों को, भाइयों के बच्चों को, चाचा ताऊ के बच्चों को, पालन का अधिकांश भार बेचारी यह कन्यायें ही उठाती हैं। चौंके-चूल्हे का बोझ इन कोमल कलियों पर डाल कर भी माँ-बाप का फतवा होता है 'अजी घर में नहीं सीखेंगी तो ससुराल में नाम धरायेंगी।' घर वालों की नाक न कटे इस अपयश के भय से किशोरी कन्यायें मन में आत्महीनता की भावनाएँ लिए घर में अपमान भरा जीवन जीती और वहाँ से यथा शीघ्र निकाले जाने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। यह है अपनी सुसंस्कृत कही जाने वाली जाति की, सुघड़ कही जाने वाली व्यवस्था और परम्परा जिसे हम लम्बे समय से लादे हुए चले आ रहे हैं।

इनके निवारण के कार्यक्रम बहुत कुछ बनाये जा सकते हैं, किन्तु वह सब चलेंगे भावनात्मक आधार पर ही। अभिभावक यदि बेटे की पीड़ा को समझ सकें तो अपने परिवार के भावनात्मक संतुलन से लेकर दूसरों परिवारों में स्वर्ग सृजन तक का लाभ सहज ही उठा सकते हैं।

उसकी उपेक्षा अनेक रूपों में विकृतियाँ पैदा करके उपेक्षा करने वालों को दण्डित करती रहती हैं। इस पक्षपात से बेटे ही पीड़ित नहीं होती, अभिभावक एवं परिवार के अन्य सदस्य भी उसका दण्ड पाते हैं। समाज इस दयनीय दुर्दशा का हर्जाना भी उसके माँ-बाप से खूब अच्छी तरह वसूल करता है। कन्या को स्वस्थ और प्रकाशपूर्ण वातावरण में रखा गया होता उसे शिक्षित, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी बनाया गया होता तो लड़के वाले नाक रगड़ते और लड़की वालों के दरवाजे पर हाथ जोड़े रखे रहते कि यह कन्या हमें मिल जाये तो सुनसान घर में रोशनी आ जाये। कूड़े, कचरे को उठाने के लिये तो मुआवजा चाहियें सो लड़के वाले अच्छी तरह से वसूल करते हैं और कन्या को दयनीय स्थिति में रखने का पाप उसके माँ-बाप भी अच्छी तरह भुगतते हैं।

स्पष्ट है कि पक्षपात मुक्त माता-पिता और हीन भाव से मुक्त सुयोग्य कन्यायें इस दुष्टतापूर्ण परम्परा को जरा-सी देर में समाप्त कर सकती हैं। घरों को स्वर्ग में परणित कर सकने वाली गृहलक्ष्मी को लोग आदर सहित, कृतज्ञता मानते हुए सहर्ष स्वीकार करेंगे। जो उसका महत्व न समझें उन पर कन्या को थोपने का कोई कारण नहीं। पुत्र के समान कन्या भी स्वावलम्बी जीवन बिता सकती है।

भावनात्मक समानता के वातावरण में पली कन्या के लिए ऐसा करना जरा भी कठिन नहीं होगा।

किसी भी पक्ष से देखें अभिभावकों एवं सन्तान के बीच भावनात्मक प्रगाढ़ता आवश्यकता भी है और उपयोगी भी। बच्चों के मन में इसी आधार पर वह श्रद्धा सद्भाव जाग्रत हो सकता है जो माता-पिता के लिए भी सुखद हो और बच्चों को जीवन में प्रगति की अनेक दिशाएँ खोल दे। इस सद्भाव के अभाव में ही घरों में लड़कों को बागी होते देखा जाता है। लड़कियाँ प्रत्यक्ष बगावत तो नहीं करतीं किन्तु उनके अन्दर जो असन्तोष एवं आत्महीनता दबी रहती है, वह उनकी संतानों में कुसंस्कार के बीजों के रूप में स्थापित हो जाती है। अस्तु, कुशल गृहणी एवं गृहपति को परिवार में वह वातावरण प्रारम्भ से ही बन्पना चाहिये जहाँ संतान पर समुचित अनुशासन कायम रखते हुए भी उनके बीच भावनात्मक निकटता भी बढ़ती चले।

बड़ों के आदेश और उनका सम्मान

परिवार का संतुलन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें वयोवृद्धों के प्रति क्या दृष्टिकोण है? सद्भावसम्पन्न परिजनों में सभी एक दूसरे के सम्मान का ध्यान रखते हैं, किन्तु वयोवृद्धों के प्रति विशेष रूप से सम्मान व्यक्त करना आवश्यक है। उस सद्भाव के आधार पर ही उनके अनुभव एवं मार्गदर्शन का समुचित लाभ उठाया जा सकता है।

यही कारण है कि बच्चों और नवयुवकों को सदा से यही शिक्षा दी जाती रही है कि वृद्धजनों का आदर करना चाहिये, उनकी सलाह को मानना और आदेश का पालन करना चाहिये। आदर इसलिये करना चाहिये कि अधिक आयु हो जाने पर मनुष्य अधिक सत्कर्म कर लेता है। मानव-जीवन सत्कर्मों के लिए ही तो मिला है। सन्मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति आयु वृद्धि के साथ-साथ सत्कर्मों की पूँजी भी बढ़ाता चलेगा। आज आमतौर से धनी लोगों का जिस प्रकार समाज में सम्मान होता है उसी प्रकार विचारशीलों की दृष्टि में अनुभवी, लोकसेवी और धर्म-परायण लोगों की प्रतिष्ठा होती है। जो कोई वृद्ध पुरुष अपने जीवन में सन्मार्गगामी रहा है और विवेक की दृष्टि से अपनी मनोभूमि को परिमार्जित करता रहता है तो स्वभावतः उसका सर्वत्र आदर होना चाहिये। छोटी आयु के लोगों को उसका आदेश मानना ही चाहिये। गुरुजनों का, वयोवृद्धों का आदर करना, सुख पहुँचाना शास्त्रों में एक श्रेष्ठ धर्म-कर्तव्य माना गया है। पारिवारिक सुव्यवस्था की दृष्टि से तो यह पद्धति और भी अधिक उपयोगी है। जहाँ वृद्धजन आदरपूर्वक जीते हैं और सुख पाते हैं, वह घर सदा फलता-फूलता ही रहता है।

२.८६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

इस व्यवस्था में कई बार अपवाद भी उत्पन्न होते हैं। वृद्धावस्था में अनेक कुसंस्कार और भी अधिक विकृत रूप में उपस्थित होते हैं। स्वयं तो शरीर और मन की दुर्बलता से कुकर्म नहीं कर पाते पर दूसरों को खोटी सलाह देते रहते हैं। उनकी बात न मानी जाय तो नाराज होते हैं, कोसते हैं और हठ करते हैं। धर्म की दुहाई देकर, बड़ों की आज्ञापालन करना उचित बताकर अपनी अनुपयुक्त रीति-नीति पर छोटों को चलने के लिए विवश करते हैं। ऐसी दशा में उसके लिए एक धर्म-संकट उपस्थित हो जाता है, जो बड़ों की आज्ञा मानने, उनका आदर करने के साथ-साथ उचित, अनुचित एवं कर्तव्य, अकर्तव्य का भी विचार करते हैं और सन्मार्ग को प्रधानता देना चाहते हैं। ऐसी दशा में अनुचित आदेश की अपेक्षा विवेक एवं औचित्य को ही प्रधानता देनी चाहिए।

एक पिता अपनी कन्या का विवाह सम्बन्ध किसी प्रयोजन के वशीभूत होकर अनुपयुक्त व्यक्ति के साथ पक्का कर आते हैं। कन्या, उसके भाई-बहिन और माता इस अत्याचार के विरुद्ध हैं पर पिता महोदय गृहस्वामी होने के कारण अपनी ही बात पर अड़े हैं और उस अनुचित कार्य को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाए हुए हैं। आप सोचें कि ऐसी स्थिति में वयोवृद्ध का आदेश माना जाने योग्य है या नहीं?

एक युवक का विवाह हुए कई वर्ष हो गये। संतान नहीं हुई। पिताजी पोते का मुख जल्दी देखने के लिये आतुर हैं और अपने बेटे का दूसरा विवाह करने की तैयारी में लगे हैं। आप ही बतावें कि उस पिता की इच्छा उचित है?

पिछले स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वालों को घर के बड़े-बूढ़ों का विरोध सहना पड़ता था। आज भी राष्ट्र रक्षा के लिए जो सैनिक भर्ती हुए हैं उन सबको अपने बड़े-बूढ़ों की सहमति कहाँ प्राप्त हो सकती है? मोह की प्रबलता भला इतने बड़े त्याग की बात सहन भी कैसे कर सकती है?

एक पिता, मिलावट और बेईमानी का व्यवहार करते हैं। टैक्स की चोरी करते हैं। जवान लड़का इससे सहमत नहीं होता। पिताजी इसमें घर की आर्थिक हानि की सम्भावना सोचते हैं और लड़के पर दबाव डालते हैं। बड़ों की आज्ञा आँखें बन्द करके मानने वाले धर्मोपदेश सुनाते हैं। लड़का सोचता है क्या करूँ? आप उसे क्या सलाह देंगे?

कई मातायें अपने बच्चों को आँखों के सामने रखना चाहती हैं। घर से दूर गाँव में पढ़ने नहीं भेजना चाहती। बच्चा अशिक्षित रह जाता है। क्या यह दृष्टिकोण उचित है? छोटे बच्चों की जल्दी शादी करने के व्यामोह में कितने ही माता-पिता अपने बच्चों की जिन्दगी बर्बाद करते हैं। क्या उनका यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण होता है? उसी प्रकार सामाजिक कुरीतियों के अन्धविश्वासी होने के कारण कई वृद्धजन हठवश कोई खर्चीला कार्यक्रम घर

वालों पर थोप देते हैं और उससे परिवार की अर्थ-व्यवस्था ही नष्ट हो जाती है। कई वृद्धायें पर्दा-प्रथा की कट्टर पक्षपाती होने के कारण अपनी बहू-बेटियों को पढ़ने नहीं देती, घर से बाहर पैर नहीं रखने देती, अपने शासन के आगे दूसरों की इच्छा और आवश्यकता की परवाह नहीं करती। ऐसी स्थिति में उनका आदेश चलता भी रहे तो क्या भीतर ही भीतर घोर असंतोष न सुलगता रहेगा और उसका दुष्परिणाम उत्पन्न न होगा।

पिता अपने ही व्यवसाय में अपने बच्चों को लगाये रखना चाहता है, पर बच्चों की प्रतिभा एवं अभिरुचि दूसरी दिशा में सुविधा खोजती है। क्या यह उचित होगा कि बच्चों की आकांक्षा को निरस्त करके बड़ों की व्यवस्था ही प्रधान रहे? यदि ऐसा ही किया जाता रहता तो संसार के लगभग सभी महापुरुष अपने पिता के आज्ञाकारी बेटे और उन्हीं के छोटे-मोटे व्यवसायों को चलाते रहने वाले तुच्छ व्यक्ति ही बने रह जाते।

संसार में समझदार और वृद्ध पुरुषों की कमी नहीं। उनके अनुभव और ज्ञान से नई पीढ़ी का भारी मार्गदर्शन होता है। इसीलिए उनकी महत्ता को सदा से अक्षुण्ण रखा जाता है। गुरुजनों की सेवा, शिक्षा और आज्ञा का समुचित ध्यान रखना कर्तव्य माना गया है। वैसा ही हमें करना भी चाहिए। उनके शारीरिक सुख और सुविधा का तो पूरा-पूरा ध्यान रखा ही जाना चाहिए और यदि उनका कोई सुझाव या आदेश व्यावहारिक न हो तो कम से कम अपमान के शब्दों में प्रत्युत्तर तो नहीं ही देना चाहिये। ऐसे प्रसंगों पर चुप हो जाने से तात्कालिक कटुता उत्पन्न होने से रोकी जा सकती है।

औचित्य और आज्ञा के धर्म-संकट में जो उचित है, जो धर्म है, जो कर्तव्य है उसे ही प्रधानता दी जानी चाहिए। वृद्ध पुरुष बड़े हैं पर धर्म कर्तव्य उनसे भी बड़ा है। बड़ों का आदेश पालन किया जाना चाहिए पर विवेक की पुकार उससे भी पहले सुनी जानी चाहिए। व्यामोह यदि वृद्धों के कलेवर में प्रवेश करके बोले तो उसे सुनने से पूर्व औचित्य का ध्यान आवश्यक है फिर चाहे वह किसी के मुख से ही उच्चारित हुआ हो। आयु-वृद्ध से ज्ञान-वृद्ध बड़ा है। आयु का महत्व निश्चय ही बहुत है पर विवेक से बढ़कर उसकी महत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। बड़ों की सभी बातें हम मानें, उनको सब प्रकार सुखी सन्तुष्ट बनाने का प्रयत्न करें, पर जब वे अनैतिक, असंगत, अविवेकपूर्ण आदेश देने लगे तो उनकी पूर्ति के लिए तत्परता दिखाना आवश्यक नहीं। वृद्धावस्था की प्रतिष्ठा ज्ञान, विवेक, धर्म और दूरदर्शिता के कारण ही होती है यदि यह तत्व उसमें न रहें तो वृद्ध पुरुषों और गुरुजन न रहकर बूढ़े आदमी मात्र रह जाते हैं। हमें वृद्ध पुरुषों और गुरुजनों का परिपूर्ण अनुगमन करना चाहिये, पर यह जरूरी नहीं कि सफेद बालों के कारण विवेकहीन बूढ़े आदमी भी हमारे मार्गदर्शक बनें हीं।

यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि बड़ों की बात उचित न होने पर न मानना और बात है तो बड़ों के प्रति उपेक्षा, अवज्ञा एवं असम्मान का स्वभाव बना लेना और बात है। बड़ों के मार्गदर्शन का लाभ न मिल सकता हो तो भी उन्हें उचित सम्मान एवं सुविधायें देने में चूक नहीं करना चाहिए। बड़ों का मार्गदर्शन ही नहीं उनका सद्भाव एवं आशीर्वाद भी बहुत महत्व रखता है।

भारतीय संस्कृति में 'आशीर्वाद' प्राप्त कर लेना परम सौभाग्य और विजय का सूचक माना गया है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने से बड़े-बुजुर्ग माता-पिता एवं गुरुजनों से आशीर्वाद मिलने से मनुष्य का मनोबल बढ़ता है और उससे एक प्रकार की शक्ति अनुभव की जाती है। इसलिए प्रत्येक मंगल कार्य, उत्सव, पर्व और किसी भी शुभ कार्य के आरम्भ में अपने से बड़ों का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। यह बड़ों के प्रति सम्मान करने और आत्मबल सम्पन्न होने का लक्षण है। जो ऐसा नहीं करता उसे नीच प्रकृति का उच्छृंखल व्यक्ति माना जाता है।

बाल्मीकि रामायण में बताया गया है—

मातरं पितरं विप्रमाचार्यं चावमन्यते ।

स पश्यति फलं तस्य प्रेतराज वशं गतः॥

अर्थात्— जो माता, पिता, ब्राह्मण और गुरुदेव का सम्मान नहीं करता वह यमराज के वश में पड़कर पाप का फल भोगता है।

किसी के प्रति सम्मान प्रकट करने या प्रणाम करने से मनुष्य छोटा नहीं हो जाता वरन् इससे श्रेष्ठत्व की प्रतिष्ठा ही होती है और उस उच्च भावना का लाभ भी मिले बिना रहता नहीं। शुद्ध अन्तःकरण से किया हुआ नमन आंतरिक शक्तियों को जगाता है इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों ने सदैव ही इस मर्यादा का पालन किया है। भगवान राम और आचार्य रावण में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी। राम-रावण की कुटिलता को जानते थे किन्तु पाण्डित्य और श्रेष्ठता के प्रति उनके हृदय में जो श्रद्धा भावना थी उसके वशीभूत होकर ही उन्होंने विपरीत परिस्थिति में भी इस नैतिक मर्यादा का पालन किया था। रामायण में लिखा है—

अस कहि रथ रघुनाथ चलावा ।

विप्र चरण पंकज सिर नावा ॥

'इस प्रकार रणोद्यत राम ने अपना रथ आगे बढ़ाया और रावण के सम्मुख पहुँचकर उसके चरण-कमलों में अपना शीश झुकाया।'।

सैद्धान्तिक मतभेद के बावजूद भी व्यावहारिक जीवन में बड़ों को सम्मान देने का उच्च आदर्श भारतीय संस्कृति की अपनी निजी विशेषता है। वह आत्मा ही बलवान होता है जो प्रभुसत्ता के समक्ष अपने आपको बिल्कुल लघु मानता है और तुलसीदास जी के शब्दों में 'सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी' की भावना रखने वाला ही सच्चा कर्मयोगी होता है। अनावश्यक

अभिमान मनुष्य को पतित बनाता है, इसका उदय न हो इसलिए बड़ों के समक्ष सदैव विनम्र होकर रहने की शिक्षा हमें दी गई है। महाभारत में अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जब विपक्षी पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य के अर्जुन आदि पाण्डव चरण-स्पर्श करते और उनका शुभाशीष प्राप्त करते हैं। शिष्य की निष्ठा से द्रवीभूत गुरु उनकी जय कामना करते हैं और वैसा होता भी है। यदि यह मान लें तो भी यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि जो शक्ति अभिमान के वशीभूत न हो वह श्रेष्ठ तो होगी ही और उस श्रेष्ठता से लाभान्वित होने का लाभ उन्हें अनायास मिला ही।

सम्मान से प्रत्येक मनुष्य को एक प्रकार की आध्यात्मिक तृप्ति मिलती है, उसे प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। आपको भी सम्मान मिले, इसके लिए इस आदि सभ्यता की परम्परा को जीवित रखना चाहिये। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आधुनिक शिक्षाधारी व्यक्तियों में अहंकार इतना बढ़ रहा है कि बड़ों को सम्मान देना वे अनावश्यक समझते हैं। इसे वे छोटापन मानते हैं। कई व्यक्ति तो माता-पिता को मारने-पीटने और उन पर रौब दिखाने में ही अपना बड़प्पन मानते हैं। यह हमारी संस्कृति के नाम पर कलंक ही है कि लोग अपने जन्मदाताओं को त्रास दें। गुरु-परम्परा तो प्रायः समाप्त-सी होती जा रही है और इनके प्रति उनकी भावनायें भी बिल्कुल ओछी हो गई हैं। सामयिक अनुशासन को बनाये रखने के लिए और आत्म-सम्मान प्राप्त करने का भी यही मार्ग है कि हम भी अपने से बड़ों के साथ वैसा ही व्यवहार करें। दार्शनिक सुकरात ने कहा है—'अच्छा सम्मान पाने का मार्ग यह है कि तुम भी सम्मान करो। तुम जैसा प्रतीत होने की कामना करते हो वैसा बनने का प्रयास करो।'।

बड़ों के प्रति सम्मान और अनुशासन होना पारिवारिक संगठन का आधार है। यह संगठन जहाँ प्रेममूलक होता है वहाँ पारस्परिक आत्मीयता होती है। एक सदस्य दूसरे सदस्य का ध्यान रखता है और अधिकार के स्थान पर कर्तव्य की प्रधानता रहती है। इस स्थिति में सुख और अमन के लिए बाह्य साधनों पर नितान्त अवलम्बित नहीं होना पड़ता। लोगों में पारस्परिक स्नेह और आत्मीयता हो तो कोई कारण नहीं कि घरेलू वातावरण कष्टप्रद लगे। पारस्परिक अनुशासन सुख और व्यवस्था का मेरुदण्ड है, इसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में बड़ों के प्रति आदर का भाव बना रहे। ऐसा होने से उस वातावरण में श्रद्धा और विश्वास में कमी नहीं होने पाती और वह संगठन सुदृढ़ स्थिति में कायम बना रहता है। जब तक यह संगठन कायम रहता है तब तक धन-धान्य की भी कमी नहीं रहती और बाहरी लोगों के आक्रमण भी सफल नहीं होते। इसलिए इस भावना को पवित्र दैवी तत्व माना गया है। पितरों को पूजने की प्रथा बड़ों के प्रति आस्था का ही चिह्न है।

सम्मान के पीछे मूल भावना जितनी पवित्र होगी उतना ही वह अधिक उपादेय होगा और जिसके प्रति सम्मान

२.८८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

प्रकट किया गया है उसके हृदय में 'आशीर्वाद' की बहुत-सी मात्रा खींच लाने वाला होगा। लोकव्यवहार और दिखाने के लिए प्रदर्शित सम्मान से आत्मिक अभिव्यक्ति नहीं होती और वह एक संकीर्ण विचार मात्र रहकर अपने आप में ही सिमटकर रह जाता है। सम्मान की परम्परा का प्रारम्भ आत्मविकास की मूल प्रेरणा को लेकर होता है इसलिए वह निष्काम और निलोभ होना चाहिए। वहाँ पर अहंकार, लोभ आदि आसुरी वृत्तियों का प्रादुर्भाव न होना चाहिये। इसे एक रूढ़ि मात्र भी बनकर न रह जाना चाहिये। वरन् इस भावना को अन्तरात्मा के स्पर्श की सुखानुभूति होने देनी चाहिए ताकि सम्मान आध्यात्मिक प्रशस्ति का ही साधन बना रह सके।

समय बीतने के साथ परम्परा अपने आप रूढ़ि का रूप ले लेती है। यदि उसकी मूल प्रेरणा में आत्मीयता और अनुशासन का भाव न रहे तो यह परम्परा भी वैसी ही निष्फल हो जाती है। बड़ों की समता और उनके अनुभवों का लाभ हम विनीत होकर पा सकते हैं। बनावटीपन के कारण तो अपने आप ही छूले जाते हैं। हम जब बालक थे तो माता-पिता ने जिस तरह हमारी सेवा सुश्रूषा की थी हमें भी अपने माता-पिता की सेवा उसी आदर भावना से करनी चाहिए। जो ऐसा नहीं करते उनकी विद्या का नाश हो जाता है और वे कृतघ्न कहलाते हैं।

धार्मिक श्रद्धा का विकास और उच्चादर्श की प्रेरणा प्रारम्भिक वातावरण से मिलती है। छोटी अवस्था से ही इन भावनाओं का उद्दीपन होता है। हमारे बालक अपने जीवन का निर्माण हमारे स्वभाव से ही अनुकरण करके सीखते हैं। उन्हें एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में ढालने के लिए और आत्मसम्मान प्राप्त करने के लिए भी हमारे आचरण में बड़ों के प्रति सम्मान का समावेश बना रहना चाहिये। धर्म, सदाचार और नैतिकता का बीजरोपण यहीं से होता है। यह परम्परा इधर कुछ समय से लुप्त हो गई है जिसके कारण हमें बड़े कष्ट मिले हैं। लोगों के जीवन क्षुद्र और अहंकारी बने, पारिवारिक संगठन स्थिर न रह सके, जिससे आर्थिक, नैतिक पतन हुआ और सामाजिक जीवन में भी पारस्परिक विश्वास डौंवाडोल हो गया। अब इस गलती को दोहराना नहीं चाहिए। अपने जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति अभीष्ट हो तो बड़ों के सम्मान में भूल न करें। माता-पिता और गुरुजनों के आशीर्वाद से जीवन संग्राम में विजय ही होती है। यह आस्था परिवार के हर सदस्य में जाग्रत करना हितकारी है।

भाई-भाई, भाई-बहिन

परिवार के सम्बन्धों में जिन सम्बन्धों से सबसे अधिक क्षेत्र प्रभावित होता है वे हैं—'भाई और बहिन'। भाई-भाई हों या भाई-बहिन बन्धुत्व की निश्चल पवित्रतम और सघनतम आत्मीयता भ्रातृ भाव एवं भगिनी भाव में देखी जा सकती है। इन सम्बन्धों में भरा हुआ भाव इतना सबल

और सक्षम है कि वह अपने अंग में सारे विश्व को समेट सकता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि महत्वपूर्ण यह सम्बन्ध नहीं—उनमें सन्निहित भाव है। भावहीन होने पर रक्त सम्बन्धी भाई-भाई, भाई-बहिन, को भी किसी प्रकार औपचारिकता निभाना भी कठिन हो जाता है और यदि वह भाव जाग जाता है तो रक्त और वंश तो क्या यह सम्बन्ध अपनी गोद में सारे विश्व को ही समेट लेने में समर्थ हो जाते हैं। पारिवारिक सद्भाव एवं सुख-शांति से लेकर सामाजिक समानता, संगठन के लिए यह भाव अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। अस्तु हर घर में यह प्रयास किया जाना चाहिए कि प्रत्येक सदस्य में गहन भ्रातृभाव एवं भगिनी भाव का विकास हो सके।

भाई-भाई के सम्बन्ध परिवार एवं समाज की सशक्त रचना के प्रमुख आधार हैं। सघनतम मित्र, आदर्श सहयोगी, विश्वस्त मार्गदर्शक, निष्ठावान अनुगामी, हार्दिक समर्थक सभी भाव एक साथ मिला देने पर जो स्वरूप बनता है वह सब 'भाई' के सम्बन्ध में समाहित हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने परिवार रूपी शरीर में भाई की उपमा 'हाथ' से दी है। कार्य करने के लिए, प्रेम एवं अपनत्व भरे आदान-प्रदान से लेकर कष्ट, कठिनाई के निवारणार्थ हाथ ही पहले आगे आ जाते हैं। हाथ मिलाने से लेकर बाँहों में भर लेने जैसे भाव भरे प्रसंगों में हाथ ही पहल करते हैं। इसी प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी वह कतराते नहीं। शरीर पर वज्र भी टूटे तो यथासाध्य हाथ पहली चोट अपने ऊपर लेकर शरीर को बचाने का प्रयास करते हैं। वास्तव में सच्चे भाई में यह सभी गुण होते हैं।

पारिवारिक प्रसंगों में बहुधा विपरीत, अनपेक्षित परिस्थितियाँ आ जाती हैं। उनका समाधान सच्चे सहयोगियों के माध्यम से ही निकलता है। वह सहयोग अपनत्व प्राप्त करने देने का सबसे उपयुक्त माध्यम है—'भाई'। एक भाई पर किसी भी प्रकार की कठिनाई आने पर दूसरा दौड़ता है, उसे दौड़ना ही चाहिए। जो दो-चार भाई हैं उनका कोई सामना करने को तैयार नहीं होता। एक की अनुपस्थिति में दूसरा बच्चों का अभिभावक बन जाता है? भाई का दुःख-सुख भाई से अधिक कौन अनुभव कर सकता है। भाई एक आत्मा, एक ही माँस मिट्टी के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। वे एक दूसरे के स्वाभाविक सहायक साथी माने गए हैं। भाई से अधिक किस पर गर्व और विश्वास किया जा सकता है। वे सब एक हैं, उन्हें सदा एक रहना चाहिए। किन्तु खेद है कि भाई-भाई के झगड़े नित्य देखने में आते रहते हैं। इस अस्वाभाविकता की खोज की जानी चाहिए और उसे दूर किया जाना चाहिए। जहाँ भाई-भाई मिलकर रहते हैं वहाँ सबकी तरक्की होती है और वह परिवार धन्य हो जाता है। भाई संसार में दुर्लभ पदार्थों में गिना गया है। उसे किसी मूल्य पर भी अपने से अलग नहीं होने देना

चाहिए। भाई के अलग हो जाने पर मनुष्य की शक्ति वैसे ही कम हो जाती है जैसे हाथ कट जाने से शरीर की शक्ति तथा तना कट जाने से वृक्ष की दृढ़ता।

भाई-भाई का झगड़ा स्वाभाविक नहीं। किन्तु वे आये दिन लड़ते रहते हैं। अलग होते और एक दूसरे के विरोधी बनते रहते हैं। इस अस्वाभाविकता के अनेक कारण हो सकते हैं उनमें से एक अनुचित विकास भी है। अधिकांश माता-पिता लड़कों को प्रकृति पर छोड़ देते हैं। उनके प्राकृतिक विकास में कोई हस्तक्षेप नहीं करते। मनमाने ढंग से बढ़ते हुए पौधे और बच्चे प्रायः गलत रूप ही पकड़ लेते हैं। माता-पिता को छोटेपन से ही यह देखते रहना चाहिए कि कहीं कोई लड़का उच्छृंखल, उदण्ड अथवा व्यतिक्रामक तो नहीं होता जा रहा है। वह अपने दूसरे भाइयों का उचित ध्यान रखता है या नहीं। कहीं उसमें स्वार्थ और अपनेपन की भावना तो घर नहीं कर रही है। यदि ऐसा हो रहा हो तो तत्काल उस पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक उसकी अनानुकूलमुखी प्रवृत्ति को वांछनीय दिशा में मोड़ा जाना चाहिये। बच्चों का स्वभाव पेड़ की नई डाली की तरह कोमल होता है। वह उचित बन्ध लगाकर किसी भी दिशा में मोड़ा, झुकाया जा सकता है।

इस मोड़ को लाने के लिए ताड़ना अथवा दण्ड का मार्ग उचित नहीं। इससे बच्चा सुधरने के बजाय और बिगड़ सकता है। ढीठ हो सकता है। जिसके सामुख्य में उसे ताड़ना दी गई है उसका अधिक विरोधी हो सकता है। ताड़ना, यातना अथवा भय से कोई प्रवृत्ति दबाई तो जा सकती है, मिटाई नहीं जा सकती। वह अवसर पाकर फिर उभर आयेगी और तब उस तेजी से उभरेगी जैसे रुका हुआ गैस संध पाते ही वेग से फूट पड़ता है। दण्ड सुधार का उचित उपाय नहीं। इसे यथासम्भव या तो प्रयोग में ही न लाना चाहिये या गौण रखना चाहिए।

दो छोटे भाइयों का झगड़ा मिटाने के लिए अनेक बार माता-पिता यह भूल भी कर बैठते हैं कि उनको एक दूसरे से बोलने और साथ खेलने से मना कर देते हैं और यथा सम्भव इस निषेध का पालन करने का भी प्रयत्न किया करते हैं। यह उपाय बड़ा खतरनाक है। इससे सम्भव है उनके आपसी वाद-विवाद भले ही ज्यादा न हों, किन्तु इसका दूरगामी प्रभाव बड़ा खराब पड़ता है। उनमें पारस्परिक मनोमालिन्य पलता और जमा होता जाता है, वे अपने अवचेतन मन में एक दूसरे से भिन्नता का भाव भरते जाते हैं जो आगे चलकर जब वे सयाने, जवान और घरवार वाले बनते हैं तो बात-बात पर प्रकट होते और भाई को भाई का विरोधी बना देते हैं। दो झगड़ने वाले बच्चों का एक दूसरे से बोलना बन्द कराने के बजाय उन्हें लड़ने न देने का प्रयत्न करना चाहिये। झगड़े का कोई मामूली-सा कारण ही होगा उसे शीघ्र ही समझा और दूर किया जा सकता है। बल्कि बच्चे यदि आपस में स्वयं ही बोलना बन्द कर दें या एक साथ न खेलें तो उनको

तत्काल एक स्थान पर करके मेल करा देना चाहिए। भिन्नता का भाव तो किसी दशा में भी भूल कर भी न देना है और न बढ़ाना है।

रुचि वैचित्र्य भी भाई-भाई के झगड़े का एक कारण है। माता-पिता को चाहिये कि खाने-पहनने और खेल, मनोरंजन में उनकी रुचि वैचित्र्य को प्रोत्साहित न होने दें। उनको एक जैसा ही खाना और एक जैसा ही कपड़ा देने चाहिए, यथासम्भव मनोरंजन अथवा खेल के उपकरण ऐसे ही देने चाहिये जिनसे अलग न खेला जा सके। खेलने के लिये भाइयों को साथ ही होना पड़े। भाई-भाई जितना साथ-साथ खेलेंगे, खायेंगे और रहेंगे वे एक दूसरे के अधिक समीप आते रहेंगे। बाल-बुद्धि के कारण वे झगड़ सकते हैं। किन्तु इसकी ज्यादा परवाह नहीं करनी चाहिये थोड़े दिनों में उन्हें एकता का आभास हो जायेगा। इस एकरूपता का सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि उनके संस्कार परोक्ष रूप से भाई के प्रति अधिकाधिक आत्मीयता में ढलते जायेंगे जो आगे चल कर अपना लाभ प्रकट करेंगे।

बच्चों की संगत पर बड़ा ध्यान रखना चाहिये। बहुत बार बाहर के अवांछित तत्व भाई-भाई में विरोध पैदा कर देते हैं। किसी बाहरी समययस्क के प्रभाव में आकर बच्चे अपने भाइयों की उपेक्षा करने लगते हैं जो उनके मनमुटाव का कारण बनता है। एक परिवार के बच्चों के संस्कार दूसरे परिवार के बच्चों की तरह ही हों, यह जरूरी नहीं। संगत से बच्चे अनुचित संस्कार, विरोधी स्वभाव अथवा असंगत आदतें ग्रहण कर सकते हैं जो कि घर पर भाई-भाई के विरोध का कारण बन सकती हैं। बहुत बार दुष्ट आदमी और कभी-कभी बच्चे भी एक भाई को दूसरे भाई से लड़ाने का षड्यन्त्र किया करते हैं। वे उनकी शिकायत करते, कल्पित पक्षपात का भ्रम पैदा करते और पानी रख-रखकर उन्हें लड़ाते रहते हैं। अनुकूल-प्रतिकूल और अच्छा-बुरा बनने में संगति का बहुत प्रभाव पड़ता है। दूसरे बच्चों के साथ खेलना-बोलना तो बन्द नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे सामाजिक भावना का विकास रुकता है, किन्तु इस बात का ध्यान जरूर रखा जाना चाहिये कि वे गलत बच्चों अथवा आदमियों की संगत में न आने पायें।

छोटे-बड़े का भेद, माता-पिता का पक्षपात भी भाई-भाई में मनोमालिन्य बढ़ा देता है। यह कमी माता-पिता की है। उन्हें इस विषय में अपना सुधार कर ही लेना चाहिये। सब बच्चे उनके हैं। उनके लिये सब बराबर हैं। कोई भी कारण उन्हें विषम-भाव रखने के लिये विवश न कर सके। यदि वे स्वयं असमान भाव रखेंगे तो कैसे आशा कर सकते हैं कि सगे भाई, भाई के प्रति समान भाव रखें। इस प्रकार यह कुछ प्रारम्भिक तथ्य हैं जिनके प्रति असावधानी अथवा प्रमाद बर्तने से भाई-भाई में विरोध के बीज पड़ सकते हैं जो आगे चलकर प्रतिफलित हो सकते हैं।

२.१० समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

बाल्यावस्था के इन कारणों के अलावा कुछ कारण ऐसे हैं जो आगे जवान हो जाने पर बाल-बच्चेदार हो जाने पर भाई-भाई में झगड़े खड़े करते हैं। उनमें से एक कारण जायदाद का बँटवारा भी है। जायदाद के बँटवारे पर भाई, भाई का शत्रु बन जाता है। मार-पीट और मुकदमेबाजी तक हो जाती है। अच्छा तो यह हो कि पिता ऐसी कोई जमीन जायदाद ही न रखे जिस पर झगड़ा खड़ा हो। यदि हो तो उसका बँटवारा उचित समय पर समान रूप से कर देना चाहिये। जो पिता बँटवारे में जरा सी असावधानी अथवा पक्षपात बरतता है वह न केवल भाई-भाई को ही शत्रु बना देता है बल्कि अपने लिए भी संकट पैदा कर लेता है। बँटवारे के समय योग्य-अयोग्य लड़कों का विचार रखना भी खतरे से खाली नहीं है और किसी को चोरी-छिपे देना तो सबसे बुरा है। बँटवारे में पिता को पूरी तरह साफ-सुथरा और निष्पक्ष रहना चाहिये।

बहुत बार ऐसा भी हो जाता है कि पिता बँटवारा किये बिना ही दिवंगत हो जाता है। ऐसे समय में सबसे बड़े भाई को पिता का स्थान लेना चाहिये और बँटवारा शान्तिपूर्वक करना चाहिए। कितना अच्छा हो कि सबसे छोटे को सबसे ज्यादा मिले और उसी प्रकार क्रम से हर बड़ा भाई खुशी से कम स्वीकार करता जाय। साथ ही बँटवारे में यह ख्याल रखा जाये कि अमुक भाई की स्थिति कमजोर है; उसके बच्चे ज्यादा हैं अथवा उसकी आवश्यकता अधिक हैं, उसे सबसे ज्यादा मिलना चाहिये। तब तो भाई के प्रति भाई के स्नेह और आत्मीयता का आदर्श ही मूर्तिमान हो जाये। भाइयों के प्रति भाइयों का ममत्व सागर की तरह उमड़ पड़े। बँटवारे के समय बहुत होशियार और उदार रहना चाहिये, जमीन-जायदाद को झगड़े की जड़ बतलाया गया है। एक दूसरे के प्रति त्याग-भावना रखने से यह बँटवारा भी भाइयों में फूट नहीं डाल सकता। जमीन या मकान का कोई हिस्सा अथवा नोटों की कोई गड़्डी इतनी मूल्यवान नहीं है जितना भाई-भाई का प्रेम और संगठन।

भाई-भाई में फूट डालने में एक कारण स्त्रियाँ भी होती हैं। प्रायः वे सम्मिलित परिवार में रहना पसन्द नहीं करतीं। वे तो अपना घर अलग कर अपने एकाकी आधिपत्य में अधिक विश्वास करती हैं। जब तब सच्ची लगाकर अथवा तिल का ताड़ बनाकर भाई-भाई में लड़ाई कराकर, चूल्हा-चौका अलग कर लेने की कोशिश किया करती हैं। सभी भाइयों को अपनी ऐसी स्त्रियों से होशियार रहना चाहिये और उनके मन्त्रित्व अथवा परामर्श पर ज्यादा कान न देना चाहिये। जो पुरुष मानसिक दुर्बल और इन्द्रियलोलुप ज्यादा होते हैं उन पर स्त्रियों की यह माया आसानी से चल जाती है। भाइयों का मिल कर रहना ज्यादा कीमती है व मुकाबले किसी कुटिल नारी के हास-रुदन के। सभी भाइयों को अपनी नारियों को इस विस्फोटक प्रवृत्ति को दबाते रहना चाहिए। इसके लिये

समझाने-बुझाने से लेकर सख्ती तक काम में लाई जा सकती है। नारियों का स्वभाव भी बच्चों की तरह हठी होने पर भी नमनीय होता है। थोड़ा धैर्य रखा जाये और उनके कहते ही परिचालित न होकर उन्हें अपने अनुकूल मोड़ने का प्रयत्न करने से उनमें सामंजस्य आ ही जायेगा। भाई-भाई का मेल बनाये रखने के लिए पुरुषों को गृह-कलह से भयभीत नहीं होना चाहिए। जो पुरुष अपने स्वरूप का विस्मरण कर सदैव बन जाता है स्त्रियों उन्हें ही अपनी कठपुतली बना लेती हैं। भाई का महत्व स्त्री से कम नहीं है, इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि स्त्रियों को अपनी दुरभिसन्धि चलाने का अवसर तभी मिलता है और साहस भी तभी होता है जब वे भाई-भाई के बीच कोई सन्ध पा लेती हैं। यदि भाई पूरी तरह से मिले रहें एक-दूसरे का समुचित आदर, सम्मान और लिहाज करते हों तो सहज नहीं कि कोई स्त्री उनमें फूट डालने की सोच भी सके।

भाई-भाई में फूट डालने का एक कारण बच्चों का झगड़ा भी होता है। बच्चे आपस में लड़ते हैं। फिर स्त्रियाँ झगड़े में पड़ती हैं और उसके बाद पुरुष पड़ जाते हैं। इस प्रकार लड़ाई हो पड़ती है और भाई-भाई अलग हो जाते हैं। इस विषय में बच्चों का झगड़ा बच्चों तक ही रखना चाहिये उसे किसी भी मूल्य अथवा कारण पर आगे नहीं बढ़ने देना चाहिये। यदि कोई भाई किसी भाई के बच्चे को पीट भी दे तब भी किसी को इसका कोई विचार नहीं करना चाहिए। सब बच्चे सबके हैं। पिता और ताऊ, चाचा में कोई भेद नहीं है इस अभेद भावना से चलने वाले भाइयों में बच्चों को लेकर कभी झगड़े नहीं होते।

भाई-भाई की तकरार किन कारणों से होती है-उनका बौद्धिक विवेचन अनेक प्रकार से किया जा सकता। मनुष्य की बनावट ही ऐसी है कि एक व्यक्ति की रुचि और बुद्धि दूसरे से कुछ न कुछ भिन्नता रखती है। अपनत्व के अभाव में यही स्वाभाविक रुचि की भिन्नता ही तकरार का कारण बन जाती है। यदि अपनत्व की भावना सबल हो तो हजार कारणों का भी निवारण सहज ढंग से हो जाता है। मतभेद के प्रसंग आते हैं और व्यावहारिक स्तर पर हल कर लिए जाते हैं- आंतरिक संवेदनाओं को वे स्पर्श भी नहीं कर पाते। आदर्श भाइयों में यह उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं।

उदाहरण के लिये भगवान श्रीकृष्ण और बलराम जी के जीवन के प्रसंग देखें। बचपन में खेलकूद में एक दूसरे को चिढ़ाने से लेकर बड़े तक में उनके बीच रुचि की भिन्नता दिखती है। किन्तु उनका भातृभाव उनसे अछूता रहता है। बलराम जी ने चिढ़ाया, कृष्ण ने मैया से शिकायत की और बात समाप्त, गौ चराने और राक्षसों का सामने करने में दोनों अभिन्न होकर ही खड़े दिखाई देते हैं। दुर्योधन बलराम जी का शिष्य था उनका स्नेह उसके प्रति था, बहन सुभद्रा का विवाह वे दुर्योधन से ही करना

चाहते थे। किन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपयुक्त समझा उन्होंने से सुभद्रा का विवाह हुआ, किन्तु इस बात पर कृष्ण बलराम में तकरार नहीं हुई। बड़े भाई ने छोटे भाई के आग्रह का औचित्य स्वीकार किया। बहुत बार बलराम जी श्रीकृष्ण को भरी सभा में डाँट देते हैं पर वे अपमान अनुभव नहीं करते। अनेक उतार-चढ़ावों के बावजूद भी उनके गहन अपनत्व में अन्तर नहीं आता। स्पष्ट है कि रुचि भेद सच्चे भ्रातृभाव को खण्डित नहीं कर सकता।

ऐसे ही अनेक उदाहरण पाण्डवों में देखने को मिल सकते हैं। उनकी अपराजेयता का आधार उनका प्रगाढ़ बन्धु भाव ही रहा है। वैसे व्यावहारिक मतभेदों के ढेरों प्रसंग उनके जीवन में भी आते रहे। प्रकृति भेद तो राम आदि में भी मिलता है। एक ही माँ के पेट से पैदा लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न मौन साधक हैं—कहीं बोलते नहीं पाये जाते, उधर लक्ष्मण इतने मुखर हैं कि अयोध्या से लेकर जनकपुरी तक और जंगल से लेकर लंका तक किसी के भी सामने कड़ी से कड़ी बात भी कहने में नहीं झिझकते। किन्तु यह स्वभाव भेद उनकी भावनात्मक निकटता में कहीं कमी नहीं ला पाता। ऐसे ही प्रसंगों की चर्चा बच्चों एवं बड़ों के बीच की जाय, चिंतन में उसे स्थान मिले तो भ्रातृभाव को आज भी इतना शुद्ध और सबल बनाया जा सकता है कि कोई भी स्थूल आघात उसे डिगा न सके।

भाई-भाई की तरह भाई-बहिन का सम्बन्ध बेजोड़ है। नर के नारी से अनेक रिश्ते होते हैं, किन्तु बहिन और भाई का रिश्ता कितनी पवित्रता और प्रगाढ़ता से युक्त है इसका उदाहरण उस समय देखने को मिला, जब भारतीय धर्म एवं संस्कृति के सन्देशवाहक एवं प्रतिनिधि के रूप में स्वामी विवेकानन्द विश्वधर्म सम्मेलन में सम्मिलित हुये और उन्होंने अमेरिकावासियों की उपस्थिति में 'ब्रदर्स एवं सिस्टर्स' सम्बोधन का प्रयोग किया तो उपस्थित विशाल जनसमूह ने इस सम्बोधन का हार्दिक स्वागत किया। अमेरिका जनता का कदाचित् यह प्रथम अवसर था जब उन्होंने किसी व्याख्याता को अपने इतने समीप अनुभव किया हो। इसके पूर्व वे मात्र औपचारिक सम्बोधन के अभ्यस्त थे जिसे 'लेडीज एण्ड जेन्टलमेन' कहा जाता है। इस उद्बोधन में वह माधुर्य, औदार्य एवं विशालता नहीं जो भाइयों एवं बहिनों में है। यह रिश्ता इतनी पवित्रता से ओत-प्रोत है जिसने समस्त भौगोलिक सीमाओं को विस्मर कर अभिन्नता एवं आत्मीयता के मधुर सम्बन्धों की स्थापना कर दी। अतः यह कहना समीचीन होगा कि भाई-बहिन का रिश्ता सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है, भाई बहिन के सम्बन्ध में जो प्यार एवं सम्मान है अन्यत्र सहज सुलभ नहीं। यह जाति एवं धर्म से परे है।

भारतीय संस्कृति और इतिहास के पृष्ठों को पलटने से सहज ही आभास हो सकता है कि हमारे अनेक पर्व जो सामाजिक सद्भावना, सदाशयता की प्रगाढ़ता को सुदृढ़ बनाने के लिये भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में गढ़े गये हैं उनमें अनेक ऐसे पर्वोत्सव हैं, जो मात्र भाई एवं बहिन के

सम्बन्ध सूत्र को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए चिरकाल से आज तक अवाध गति से सोल्लास मनाये जाते हैं जिसमें 'रक्षाबन्धन' प्रधान है। 'भाई दूज' के पर्व भी वर्ष में दो बार आयोजित होते हैं, जिसमें मात्र बहिन एवं भाई परस्पर निकट से निकटतर एवं निकटतम होते चले जाते हैं।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह रिश्ता इतना निर्मल तथा असीम है जिसमें जाति, वर्ग, धर्म तथा सम्प्रदाय भी आड़े नहीं आते। इतिहास की धारा को मोड़ने वाली घटना नहीं मालूम क्या? जिसमें क्षत्राणी विधवा रानी द्वारा एक मुगल सम्राट को रक्षाबन्धन प्रेषित किया था तथा भ्रातोचित सहायता उपलब्ध करने में सफलता प्राप्त की थी। रक्षासूत्र का दर्शन वस्तुतः भाई का बहिन के प्रति नैतिक संरक्षण प्रदान करने का प्रतीक है। अनेक पौराणिक इतिवृत्तों तथा आख्यानों में इस पवित्र सम्बन्ध की महत्ता तथा उपादेयता पर प्रतीकात्मक शैली में बल दिया गया है।

जो अपने माता-पिता का इकलौता नहीं अथवा असामाजिक नहीं है, जानता है कि परिवार ही इस सम्बन्ध का आश्रय स्थल है, जिसमें स्वर्गीय भावना से युक्त भाई-बहिन का रिश्ता निरन्तर अंकुरित होने के बाद पल्लवित तथा पुष्पित होता रहता है।

हमारा दृष्टिकोण यदि दूषित नहीं है तो भाई-बहिनों के पारस्परिक विनोद, संलाप तथा वार्तालाप से सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है ये भाई-बहिन हैं—दूषित दृष्टिकोण का प्रयोग इसलिए करना पड़ा क्योंकि आज हमारी आँखों में बस एक ही रिश्ता हावी है पति तथा पत्नी का।

बाल्यावस्था में छोटे भाई तथा बहिन खिलौने से खेलते हैं, घोड़े बनाते और मिटाते हैं, किन्तु क्या मजाल कि कोई अन्य व्यक्ति के समक्ष बहिन को और बहिन के समक्ष भाई को संतस्त कर दे। जिन्हें बहिनें न हों, हो सकता है वे इस अनुभव से (अज्ञ) शून्य हों, किन्तु जिस परिवार में बहिन और भाई रहते हैं, वहाँ का वातावरण निस्सन्देह कठोर हृदय को भी कोमलता में परिणत करने में सक्षम होता है। किन्तु इस वातावरण की सृष्टि में माता-पिता का योगदान ही प्रमुख रहता है, माता-पिता ही परिवार संस्था के संचालक, व्यवस्थापक तथा सम्पादक होते हैं। यदि उनके द्वारा बेटे और बेटी के प्रति स्वल्प वैषम्य का भाव अभिव्यक्त हुआ तो यह विषबेलि फिर फैलने लगती है जिसका सूक्ष्म प्रभाव उन अबोध बालक मनो पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़ने लगता है जो कालान्तर में एक विष वृक्ष ही बन जाता है। विशेषकर बहिन और भाई के मध्य एक हीनत्व और अलगाव की भावना विकसित होने लगती है। साथ ही माता-पिता यदि समान रूप से प्यार तथा दुलार, सुविधा, सहयोग शिक्षा और संस्कार पुत्र और पुत्री को देते हैं तो इस विसंगति से, विघटन से परिवार अक्षुण्ण रहता है। ऐसे सौहार्दपूर्ण आत्मीयता से ओतप्रोत भाई-

२.९२ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

बहिन के परिवार में यदि किसी नूतन सदस्य की अभिवृद्धि भाई की पत्नी अर्थात् बहिन को भावज के रूप में होती है तो यह भी सौम्यता और सहृदयता से प्रभावित ही होती है क्योंकि नूतन सदस्य भी इस वातावरण को आत्मसात करने में सुख और शांति की ही अनुभूति करता है। क्योंकि संसार का हर अशांत आदमी भी शांति को पसन्द करता है। जैसे हर बेईमान आदमी भी ईमानदारी पसन्द करता है। आत्मज को आत्मा से उत्पन्न जिस प्रकार मानते हैं उसी प्रकार भावज भी भावजन्य एक ऐसा सदस्य है जो कल तो भिन्न तथा अपरिचित था, आज मात्र भाव संवेदना की स्थापना से अभिन्न तथा आत्मीय बन जाता है—इस प्रकार के आचार और व्यवहार की मधुरता में भाई और बहिन के पवित्र सम्बन्धों की प्रतिध्वनि और प्रतिबिम्ब की ही अनुभूति होती है, दूसरी ओर भाई और बहिन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार ग्रन्थि रहती है तो नवागन्तुक सदस्य इसमें अपने आपको निलीन नहीं रख सकता। तानों और छीटाकशी की घटनायें जो आरम्भ में तो महत्व नहीं रखतीं, बाद में उग्ररूप धारण कर पारिवारिक विघटन का कारण बन जाती हैं।

अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि परिवार में ही भाई, बहिन वह प्रशिक्षण पाते हैं जिसका विस्तार शनैः-शनैः जब होता है, तब समस्त संसार ही भाई-बहिन का समूह अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' लगने लगता है। जैसे-जैसे भाई-बहिन की आयु में वृद्धि होती है उनके अवयव, उनके कार्य व उनके उत्तरदायित्व अलग-अलग विभक्त हो जाने के कारण सौहार्द, सद्भाव एवं प्रेम का प्रवाह तो अवरुद्ध नहीं होता पर समय के अभाव एवं आयु के दबाववश बालकोचित चांचल्य एवं चुल्लबाजी वाला सम्बन्ध अवश्य सीमित होता चला जाता है। प्रत्युत सम्बन्धों के निर्वाह में भावनाओं एवं सम्वेदनाओं के अवरिल प्रवाह की ही महती आवश्यकता होती है, उसमें आंतरिक रूप से कोई अन्तर नहीं पड़ता बाह्य रूप से भले ही भेदभाव परिलक्षित होता हो।

भाई-बहिन की वास्तविक परीक्षा होती है, जब भावज द्वारा भाई के स्नेह को विभाजित कर दिया जाता है, स्वाभाविक है पत्नी के प्रति आकर्षणाधिक्य के कारण बहिन उपेक्षाजन्य खिन्नता की अनुभूति करे। वस्तुतः बहिन की भ्रान्त धारणा ही होगी कि बहिन के प्रति भाई के स्नेह एवं सद्भाव में अभाव हो गया है—एक लड़की जिसने इस परिवार में आकस्मिक रूप से पदार्पण किया उसके प्रति यदि विशिष्ट सद्भावना का प्रदर्शन या सदाशयता की अभिव्यक्ति भाई द्वारा की जाती है तो बहिन को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार भाई का स्नेह बहिन के प्रति पूर्ववत् रहता है तो नन्द के प्रति रोष भावज को आना भी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। कतिप्रय ऐसे उदाहरण देखने में आये हैं जब बहिनों द्वारा भाइयों की उपेक्षा एवं भाइयों द्वारा बहिनों की उपेक्षा की

गई है। इन परिस्थितियों को अपवाद रूप में ही ग्रहण करना चाहिये, फिर भी इस संदर्भ में सतर्कता बरतना अत्यन्त आवश्यक है।

बहिन का सम्बन्ध जब किसी सम्पन्न परिवार से हो जाता है तो 'प्रभुता पाय काह मद नाही' की उक्ति चरितार्थ होने लगती है, उसी स्थिति में बहिन भाई के साथ विवाह के पूर्व वाला सद्भाव व्यक्त करने में असफल हो जाती है। इसी प्रकार बहिन यदि सम्पन्न परिवार से विपन्न परिवार में विवाहित होती है तो उस स्थिति में भी भाई द्वारा बड़प्पन का प्रदर्शन बहिन के प्रति उपेक्षा का द्योतन करता है, जिससे बहिन को ठेस पहुँच सकती है; ऐसी विसंगतियों का निर्माण उथली मनोभूमि वाले भाई-बहिनों में ही होता है, अन्यथा ऐसी अनेक लोक-कथायें भी हैं जब सम्पन्न बहिन द्वारा विपन्न भाई के लिये और सम्पन्न भाई द्वारा अपनी विपन्न बहिन के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करके दिखाई है। संकट में पड़े पाण्डवों की रक्षार्थ सुभद्रा के भाई श्रीकृष्ण ने सारथी तक का कार्य किया। इसी प्रकार बहिनों के त्याग एवं उत्सर्ग के अगणित उदाहरण हैं।

बड़े दुःख का विषय है आजकल भाई-बहिन के सम्बन्ध में लेन-देन एवं उपहारों ने घुसपैठ कर कहीं-कहीं खटाई का काम किया है। यदि भाई बहिन को उपहार देता है तो बहिन के प्रति उसका सच्चा प्रेम समझा जाना, सम्वेदनशीलता एवं भाव प्रवणता की कसौटी पर खोटा ही व्यवहार माना जायेगा—भाई के प्रति बहिन का निश्छल एवं निष्कपट और निस्वार्थ भाव जब तक बना रहता है तब तक लेन-देन की दाल नहीं गलती, किन्तु भौतिकवादी युग में इस प्रकार की विकृति का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। इसे सांस्कृतिक दृष्टि से एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही कहा जा सकता है। बहिन का ती एक ही अभीष्ट रहना चाहिये—भाई सुखी एवं प्रसन्न रहता है तो इससे बड़ा सद्भाव एवं सम्मदा और कुछ नहीं हो सकती—सम्बन्धों में वस्तुओं का विनिमय करना ही भाव और वृत्ति को अलगावोन्मुख करना है। स्वेच्छा से भाई अपनी सामर्थ्यानुसार यदि कुछ देता है तो बहिन को स्वीकार करने में आपत्ति भी नहीं होनी चाहिए किन्तु प्रदत्त वस्तु में मीन-मेख निकालना अथवा नुक्ताचीनी करना अपने भाई की भावना को ठेस पहुँचाना है। सम्बन्धों में चाँदी के चन्द टुकड़े महत्वहीन हैं, यह सम्बन्ध तो गंगा के सद्गुण निर्मल तथा पावन हैं, इसकी पावनता कच्चे धागे में पिरोई गई आन्तरिक स्निग्धता, भ्रातृ-वत्सलता और अलौकिक दिव्य भावनाओं के समन्वय की ही प्रतीक है। भाई बहिन का रिश्ता भ्रातृ सूत्र से सम्बद्ध स्नेहाभिव्यक्ति का ही प्रतीक नहीं वरन् आत्मा के सम्बन्धों की दुहाई है, जिसमें एकरूपता है, एकानुभूति है, साथ ही सामंजस्य एवं सहानुभूति के स्वर उनके हृदय में निरन्तर निनादित हो रहते हैं यदि बहिन-बहिन और भाई-भाई हैं।

आदर्श सहेली—ननद, भाभी

मनुष्य जब अकेला रहता है तो अपने आप से ही बातें करता है, स्वयं प्रश्न करता और स्वयं उत्तर भी देता है, क्योंकि उसकी आदत किसी न किसी से बात करने की होती है, बिना बात किये उसे शांति तथा संतोष नहीं मिलता। इसलिये वह बात करने के लिए एक साथी तथा श्रोता की हर समय आवश्यकता अनुभव करता है। एक कहावत के अनुसार तो "उन्हें बिना बात किये खाना हजम नहीं होता।" वस्तुतः मन की बात किसी निकटस्थ और विश्वस्त साथी से कह देने से मन का बोझ हलका हो जाता है, परिवारों में भी यह स्थिति देखी जाती है, बातचीत से मन की गाँठें खुलती हैं, अन्तर की व्यथा, वेदना और रहस्य अन्तरंग साथी के समक्ष कहना हर पुरुष और नारी चाहती है, विशेषकर जो सुनकर उपहास न उड़ाये, बल्कि सहानुभूति और संवेदना की ही अभिव्यक्ति करे ऐसे साथी के समक्ष तो दिल खोलकर रखने की इच्छा होती है।

परिवार में जब एक नूतन सदस्य पदार्पण करता है नववधू के रूप में, उस समय ननद अपनी भाभी के लिये मन्त्र में न जाने कौन-कौन से स्वप्न संजोये रहती है, ऐसे अवसर पर ननद के मन में कितनी कमनीय कोमल कल्पनायें होती हैं, उसे एक नई सहेली मिलेगी, उससे अपने मन की खूब बातें करेगी, एक दूसरे की दुःख-सुख की बातें सुनेंगी, सुनायेंगी आदि अन्यान्य मनसूबे बाँधती रहती हैं ननद। उधर नई भाभी का मन भी हलचल से भरा रहता है, पतिगृह उसके लिये नया है, वह भी सबके लिये नई होगी। नूतन गृह के आचार-विचार, मान-मर्यादाओं से वह पूर्णतः अपरिचित तथा अनभिज्ञ है, कैसे समय कटेगा, परिवार के अधिकांश सदस्य बड़े तथा सम्माननीय होंगे, कैसे उनके समक्ष अपनी आंतरिक, अनुभूतियों को अभिव्यक्त करेगी, किन्तु उसे आशा की किरण इस ऊहापोह के निबिडतम में अन्ततोगत्वा ननद के रूप में मिल ही जाती है। एकमात्र ननद ही उसकी सच्ची सहेली है, जिससे उन्मुक्त प्यार सुलभ होगा, साथ ही घर की समस्त परम्पराओं, रीति-रिवाजों का परिचय मिल जायेगा।

दोनों पक्ष जब एक दूसरे से इस तरह आश्वस्त हों, तो साक्ष्य होने पर परस्पर आकर्षण बढ़ता है और सामीप्य पाकर प्रेम में प्रगाढ़ता आने लगती है, परिवार में निरन्तर हास-परिहास, उमंग-उल्लास का वातावरण सदैव बना रहता है। एक साथ उठना, एक साथ बैठना, एक साथ कार्य सम्पादित करना, एक साथ खाना-पीना, इत्यादि सौहार्द्रपूर्ण सहकारी क्रियाकलाप सतत उत्साह में अभिवृद्धि ही करते हैं, समीपता बढ़ती जाती है, ऐसी अनुभूति होने लगती है जैसे ननद को एक सहेली ही नहीं एक और बहिन मिल गई तथा भाभी को सहोदर बहिन की रिक्तता की पूर्ति ननद के रूप में हो जाती है।

खिलाड़ी भावना से, परस्पर सहयोग, सहकार, गृहकार्य तथा गृह प्रबन्ध बात करते ही हो जाता है। होना भी यही चाहिये भाभी कोई और तो नहीं ननद के भाई की अधीगिनी, सहधर्मिणी तथा सहचरी है, इस दृष्टि से भी वह प्रेम, सौहार्द्र, आत्मीयता और सद्भाव पाने की अधिकारिणी है। वस्तुतः दोनों ओर से प्रेम पल्लवित हो तभी पुष्पित तथा फलित होने की अपेक्षा की जा सकती है। टेलीफोन की घण्टी किसी नम्बर को दें और वह उत्तर न दे तो वार्तालाप सम्भव नहीं, हम किसी से हाथ मिलाने के लिये आगे बढ़ायें और सामने वाला अपना हाथ खींच ले तो मैत्री स्थापित ही नहीं हो सकती। एकांगी प्रयास सदैव निष्फल रहते हैं। भाभी प्रेमपूर्ण व्यवहार करे और ननद नहीं, तो आत्मीयता की परिकल्पना की ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार ननद का व्यवहार शालीनता हो किन्तु भाभी का अशालीन तब पटरी नहीं बैठ सकती। समानान्तर समान प्रयासों से ही सम्बन्ध सूत्र स्थापित होते हैं। स्वभावों में समता है तब तो सोने में सुगन्ध की उक्ति चरितार्थ होगी, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सबके स्वभाव समान हों, भाभी और ननद के लिये भी यह नियम लागू होता है, सामंजस्य सर्वोपरि स्वभाव है, परस्पर स्वभावों में तेजी और नरमी भी हो सकती है किन्तु जब यह जानते ही हैं कि सहयोग-सहकार के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं तब तो समन्वय अपरिहार्य हो जाता है। प्रेमातिरेक से सम्बन्धों में खटास भी पैदा की जाती है, प्रेमाधिक्य का मनोविज्ञान यही है कि एक दूसरे की छोटी-छोटी बातें फिर ताने लगने लगती हैं, भले ही वह निश्छल तथा स्वाभाविक रूप से कही गई हों। सद्भावना में भी दुर्भावना की गंध आने लगती है, ऐसी विकृतियाँ प्रेम के स्थान पर घृणा, ईर्ष्या को जन्म देती हैं। परस्पर स्वाभिमान और अहं को चोट जब लगने लगती है तो कुण्ठा पनपने लगती है, एकाधिकार के प्रति विद्रोहात्मक भाव, परस्पर समझ का अभी भी मनोग्रन्थियों को सुदृढ़ बनाता जाता है, जिससे परिवार का वातावरण विषाक्त होने लगता है।

जब कभी ऐसे मन-मुटाव, मतभेद और सम्बन्धों में दरार पड़ने की स्थिति विनिर्मित हो तब घर के वयस्क और बड़े कहे जाने वाले परिजनों का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है, जिसमें भाभी भी सम्मिलित है, ननद चौंक छोटी है इसलिये भी भाभी यदि अपने दृष्टिकोण को परिष्कृत कर सहयोगात्मक रुख अपना ले तो कोई कारण नहीं कि ननद उसकी इच्छानुवर्तिनी न हो जाय। सास को भी निष्पक्ष रूप से अपनी बेटी के सदृश बहू को भी मानना उचित होगा क्योंकि यह मानकर चलना बेटी के हित में ही होगा क्योंकि कभी न कभी उसकी बेटी भी तो किसी की बहू बनेगी, उसके समक्ष भी ऐसी स्थितियाँ निर्मित हो सकती हैं।

ननद यदि अशिक्षित है तो शिक्षित भाभी को उसका प्यार तथा सम्मान पाने के लिये एक ही तरीका हो सकता है कि वह उसकी शिक्षा में सहायता दे, इससे परस्पर

२.१४ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

सौहार्द्र बढ़ेगा, ननद उसके जीवनपर्यन्त गुणगान गायेगी, मान लीजिये अशिक्षित स्थिति में ही ननद का विवाह हो गया तथा उसकी ससुराल की स्थिति अनुकूल नहीं हो तो भाभी अपने पति को प्रेरित कर ननद की शिक्षा की व्यवस्था में योगदान दे सकती है। यही बात ननद के लिये भी लागू होती है, यदि भाभी अशिक्षित है तो ननद शिक्षित है तो ननद का धर्म यही है कि वह अपनी भाभी को साक्षर बनाये, जिससे वह उसकी कृतज्ञ बन जायेगी। इस प्रकार कभी भी भेदभाव अथवा पारिवारिक विग्रह जन्म नहीं ले सकता है, इस प्रकार कल्याणकारिक प्रशिक्षण प्राप्त ननद जब पराये घर जाती है तो उसके समक्ष घर का आदर्श रहता है। वहाँ पर भी उसके समक्ष एक ननद आती है जो अनेक वर्षों से भाभी की प्रतीक्षा विभिन्न कल्पनाओं के साथ कर रही थी, अपने घर जैसा वातावरण यदि वहाँ मिलता है तो ननद थोड़ी-सी समझदार तथा विवेकशील है तो अपने पूर्वानुभाव के आधार पर परिस्थिति को अपनी मनःस्थिति के अनुकूल बना सकती है। वस्तुतः परिस्थिति प्रधान नहीं होती, वह तो मनःस्थिति की प्रतिक्रिया तथा प्रतिफल मात्र है। नारकीय वातावरण अर्थात् परिस्थिति को चाहे तो अपनी मनःस्थिति से स्वर्गीय बनाया जा सकता है, किन्तु आवश्यकता स्वस्थ मनःस्थिति की ही होती है, अतः उसके ननद जीवन का अनुभव भावी जीवन में सफल मार्ग-दर्शन कर सकता है। मतभेद, कटुता की समस्त परिस्थितियों का सौहार्द्र, सौमनस्य और मिलनसरिता की मानसिकता से जन्म के पूर्व ही नष्ट किया जा सकता है, प्रतिशोध की भावना का प्रश्न तो यहाँ उठता नहीं है।

ननद यदि सम्पन्न परिवार में पहुँच जाती है तो उसके ऊपर एक विशेष उत्तरदायित्व आ जाता है, उसके द्वारा सदैव ऐसा प्रयास किया जाना ही श्रेयस्कर होगा, कि भाई तथा भाभी को उसके बड़प्पन का आभास न होने पाये बल्कि औपचारिकतावश भाई यदि कोई उपहार आदि देता है तो उसे हतोत्साहित कर दें और समझावें कि तुम्हारे प्रयत्नों से ही तो भरापूरा सम्पन्न घर मिला है अब और क्या देने को शेष रहा। भाभी की सदाशयता की प्रशंसा सम्पन्न ननद द्वारा किया जाना उसके मन को जीतना होगा, तभी भाभी की श्रद्धा भाजन ननद बन सकती है। थोथे अहंकार से तो बात बिगड़ती ही है, बनती नहीं। इसी प्रकार यदि ननद गरीब घर में विवाहित हुई और मायका सम्पन्न है तब यही भूमिका भाभी को निर्वाह करना उसके सम्मान को ही बढ़ाता है, ननद सदैव उसके प्रति कृतज्ञ रहेगी, यदि गरीब ननद का भाभी समुचित सम्मान तथा सत्कार करती है तो समृद्धि का प्रदर्शन किसी भी अर्थ में औचित्यपूर्ण नहीं माना जाता। गौरव गरिमा बड़प्पन तो इसी में ही है कि सम्पन्नता में भी सहानुभूति का भाव अक्षुण्ण बना रहे। गरीब ननद को यदि भाभी स्वयं अपने पति से कहकर समय-समय पर अपनी सामर्थ्य के अनुरूप सहायता दिलवाती है तो ननद फिर भाभी के

इस उपहार को जीवनपर्यन्त नहीं भूल सकती, बल्कि सदैव उसकी गुणगाथा ही गावेगी। ऐसे अवसर पर उदारता, सामंजस्य स्थापन में सहायक सिद्ध होती है। ननद को भी अपनी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये। सच्चा प्यार तथा सम्मान माँगने से नहीं मिलता, उसके लिये स्वयं पहले देना पड़ता है और फिर वस्तुओं के आदान-प्रदान के माध्यम से स्नेह तथा सौहार्द्र का मूल्यांकन भी नहीं किया जा सकता है।

परिवार में यदि परिजन विशेषकर भाभी और ननद परस्पर समझदारी, निष्पक्षता, सद्भाव, सम्मान, प्रशंसा आदि का व्यवहार करें तो विग्रह की सम्भावना ही नहीं रहती।

वस्तुतः परिवार निर्माण के लिये प्रेम और सम्बेदना की नींव की महती आवश्यकता होती है, समस्त नाते-रिश्ते मात्र कच्चे धागे के समान होते हैं, जिन्हें तोड़ने में देर नहीं लगती, जोड़ने में स्वाभाविकता नहीं आती, गाँठ फिर भी बाँधनी पड़ती है, बनाने का कार्य मिटाने से कठिन है जिन सम्बन्धों को हम निभा नहीं सकते उन्हें तोड़ने का भी अधिकार नहीं है।

आदान-प्रदान, सम्मान, असम्मान, रीति-रिवाज आदि प्रेम की अभिव्यक्ति के साधन हैं साध्य नहीं, यदि साधनों को साध्य समझ लिया जायेगा तो प्रेम का आधार ही मिट जायेगा। स्वाभाविक है कि ननद को जीवन भर न तो भाभी के पास रहना है, न भाभी को ननद के पास। फिर धैर्य और संतोष के साथ ही क्यों न सम्बन्धों में माधुर्य, आत्मीयता पैदा की जाय। अपनी सुविधा और सामर्थ्य के अनुसार विनिमय होता है तभी वास्तविक सन्तोष भी मिलता है। भाभी एवं ननद बहिन का भाव विकसित करें तो परिवार में सच्चा सौमनस्यपूर्ण वातावरण बनने में कोई बाधा ही नहीं रहती।

भाई-बहिन तथा ननद-भाभी के बीच के मधुर सम्बन्धों का प्रवाह बहिन के विवाह के बाद भी चलता रहता है। उसमें कई बार सामान्य व्यावहारिकता का अभाव दूध में खटाई का काम कर जाता है। बहिन जब कभी अपनी ससुराल से मैके आती है तब उस समागम से आत्मीय भाव बढ़े ही घटे नहीं इसका उत्तरदायित्व दोनों ही पक्षों पर आता है।

ममत्व के प्रति नैसर्गिक आकर्षण मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है, गाय से मिलने के लिये जिस प्रकार बछड़ा आतुर रहता है, उसी प्रकार माँ का घर अर्थात् मायके का नाम सुनने मात्र से बहिन-बेटियाँ हर्ष विभोर हो जाती हैं और उनका मन मयूर आनन्दतिरेक से नृत्य कर उठता है, जननी के प्यार तथा दुलार में वह निश्चल वात्सल्य है जिसमें गंगा की पावनता और हिमालय की उच्चता के दर्शन होते हैं, माँ के आँचल से स्नेह की वह अमृतधारा प्रवाहित होती है जिसमें अवगाहन करने की, बेटा की इच्छा अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। अनेक दिनों की सुसुप्त इच्छा तीव्र से तीव्रतर होने लगती है,

जिस परिवार में शैशव, बाल्यकाल और कैशोर्य, 'बीता' जिस देवत्व की साकार प्रतिमूर्ति माता-पिता की निर्मल छत्रछाया में स्नेह और औदार्य का शिक्षण पाया, जिन भाई-बहनों का पवित्र प्यार मिला, जिनके साथ वर्षों खेलना, कूदना हुआ जिनसे सदैव निष्कपट सौहार्द मिला, जिन भाभी तथा भतीजों का आदर-सत्कार मिला भला ऐसे स्वर्गीय स्थल में जाने और उनके मध्य सुखद क्षण बिताने की कौन बहिन कामना न करेगी ? आखिर उसे मायके में जाने पर अपनी गृहस्थी के जाल-जंजाल से कुछ तो मुक्ति मिलती है, मायके में जो सुविधायें हैं भला अन्यत्र सुलभ कहाँ, मायके में वह बहू नहीं रहती वरन् बहिन तथा बेटी रहती है इसलिये हास-परिहास की उन्मुक्तता भी शांति की अनुभूति कराती है ।

इधर माता-पिता तथा भाई-बहिन और भाभी-भतीजे भी अपनी बेटी, बहिन और ननद की प्रतीक्षा में पलकें बिछाये रहते हैं, यह तभी सम्भव होता है जब बहिन ने अपना स्थान मायके के सदस्यों के हृदय में बना लिया होता है । लेकिन सभी बहनें मायके में जाकर वांछित तथा कल्पित आनन्द उठा पाती हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्या वे उतना प्यार पाती हैं ? जितना अपेक्षा करती हैं, यदि नहीं, तो क्यों ? इसमें मात्र मायके को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता मायके से बहिन के टूटते और ढीले पड़ते सम्बन्धों में बहिन को अपनी भूमिका पर पुनर्विचार करना होगा । यद्यपि जब तक माता-पिता हैं और वे समझने में समर्थ हैं तब तक बेटी को प्यार सुलभ हो सकता है, किन्तु भाभी के अस्तित्व को नकारना भी बहिन के हित में नहीं होता, माता-पिता का साथ उनके वय को देखते हुए अधिक दिन का नहीं होता जिनके साथ अधिक दिन सम्बन्ध निभाये जा सकते हैं उन्हें भाभी-भाई कहा जाता है, इसलिये बहिन को भाभी के साथ सौहार्द्रपूर्ण सौमनस्य स्थापित करने में ही आनन्द की उपलब्धि मायके में हो सकती है । भाभी की गरिमा को बहिन यदि आँच नहीं आने देती तो बहिन मायके की समस्त खुशियाँ लूट सकती है ।

बहिन का मायके जाना सदैव तो होता नहीं है ऐसी परिस्थितियों में वह अपने भाई को यदि पत्र लिखे तो भाभी के प्रति विशेष प्रेम और सम्मान का भाव अभिव्यक्त करे, मायके के अन्य सदस्यों में सम्भवतः वह भाभी को भी पृथक पत्र लिख सकती है, जिससे भाभी का मन अपनी सहेली ननद से मिलने के लिये व्यग्र तथा व्याकुल हो उठेगा । पत्र में वह सामर्थ्य होती है कि लोग अपने शत्रुओं को भी पत्राचार के माध्यम से मित्र बना लेते हैं, पत्रों से मित्रता स्थापित होते देखी जाती है । आजकल तो पत्र-मित्र की परम्परा सुदूर क्षेत्रों में भी फैली हुई है । फिर क्यों न बहिन इस कला से लाभ उठावें ।

बहिन का जब मायके जाना हो उस समय यदि वह भाई-भतीजों के लिये अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ कपड़े, खिलौने आदि का उपहार लाती है, तो उस समय उसे भाभी को नहीं भूलना चाहिये, सम्भव हो तो उसके

लिये भी सुन्दर साड़ी, स्वेटर या चूड़ियाँ लाई जा सकती हैं । इससे भाभी के दिल में ननद के लिए बहुत स्थान बन सकता है, वस्तुतः इसमें बिगड़ता ही क्या है, जब सबके लिये कुछ न कुछ लाई है, तो भाभी के लिये क्यों नहीं ? यदि किसी के लिये नहीं ला सकी तो भाभी के लिये भी प्रश्न नहीं उठता ।

स्थिति उस समय भी बहिन की दयनीय हो जाती है जब वह मायके में जाकर केवल माँ के पास बैठकर गर्पें हाँकि और भाभी अकेली चूल्हे-चौके के काम में दिन भर लगी रहे । बहिन के लिये यही उचित होगा कि वह भाभी के कार्यों में हाथ बैटावें, तब ननद भाभी के काम में रुचि लेने लगेगी तो शिष्टाचारवश भी अपने काम को भाभी न करने के लिये आग्रह करेगी । स्वाभाविक है कि कुछ दिनों के लिये आई मेहमान के समान ननद से, जो अब इस घर की नहीं रह गई, काम कराने में भाभी को स्वयं अच्छा नहीं लगेगा । इसका अर्थ यह नहीं कि ननद यह मानकर भाभी को सहयोग पहले से ही न दे । इसमें बहिन का क्या घटता है, यदि वह अपने आपको कुछ देर के लिये पुनः बहू मान ले और भाभी को सहयोग दे । ननद इस व्यवहार से भाभी की सहानुभूति की अधिकारिणी बन जाती है ।

भाभी भी किसी की उसी के समान बेटी है, भाई की व्यस्तता और कार्य की अधिकता के कारण भाभी अपने मायके अनेक दिनों से नहीं जा पाती, पिंजड़े में बन्द पक्षी के समान वह भी माता की उन्मुक्त स्नेह छाया में जाना पसन्द करेगी, बहिन अपनी भाभी से कुछ दिनों के लिये उसके मायके जाने के लिये कह सकती है, जब तक तुम मायके से लौटकर नहीं आओगी मैं भैया की व्यस्तता में घर का सारा कार्य कर लिया करूँगी । भला ऐसी कौन भाभी होगी जो इस प्रकार के प्रस्ताव को जो उसकी शुभचिंतक ननद द्वारा रखा गया हो, उसे स्वीकार न करे । बल्कि भविष्य में भाभी ऐसी ननद की पूजा करेगी साथ ही उसकी प्रतीक्षा में सदैव पलक पामड़े बिछाये रहेगी ।

विवाहोपरान्त बहिन का स्वल्प प्रवास ही मायके में हो पाता है । क्योंकि उसे भी अपने घर परिवार के कार्यों में व्यस्त रहना पड़ता है जब वह मायके आये तो उसके समक्ष ऐसी परिस्थिति भी आ सकती जब उसे न्यायाधीश की भूमिका निर्वाह करनी पड़े । माँ बहू की शिकायत करे और बहू माँ की । दोनों अपनी-अपनी कैफियत देकर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने की कोशिश करें और एक दूसरे को दोषी ठहरावें । माँ बेटे से बहू का पक्षधर समझकर उससे कुछ नहीं कहती किन्तु बहिन को यह कार्य समझौते का सम्हालना पड़ सकता है, यह क्षण बहिन के लिये बड़ी कसौटी का होता है । बहिन की निष्पक्षता के साथ दोनों पक्षों की बातें ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये । स्वभावतः बेटी का झुकाव माँ की ओर रहता है किन्तु ऐसे अवसर पर भाभी को यह आभास नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह भी तो कहीं की आखिरकार बहू ही तो है । ऐसा समझकर ही कोई निर्णय यदि बहिन देती है तो

२.९६ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। यदि गलती बहू की पाई जाती है तो धैर्यपूर्वक परिस्थिति को ध्यान में रखकर उसे समझाया जा सकता है और यदि माँ की गलती पाई जाती है तो माँ को आगाह किया जा सकता है।

जब वातावरण शांत हो उस समय भाई-भाभी को भी समझने का प्रयत्न बहिन कर सकती है, यदि वह देखती है कि चूँकि माँ-भाई के आश्रित हैं और वास्तव में उसका कोई दोष नहीं है और उसका पक्ष सही है तथा बहिन कोई अन्य सहायता करने में असमर्थ है तो भाई, भाभी की भावना को उभारकर, संवेदना का वातावरण उपस्थित किया जा सकता है और भाई को समझाया जा सकता है। अपनी माँ को भी जो रूढ़िग्रस्त, अन्धविश्वासी और टोना-टोटका में विश्वास करती है, शिक्षित प्रगतिशील बहू जब उसका विरोध करती है तो कलह मच जाती है, बदलते हुये इस युग में अपने आपको समायोजित करने की सलाह बहिन दे सकती है। साथ ही वृद्धा माँ को भाभी के मात्र दुर्गुण ही यदि दिखाई देते हैं तो बहिन भाभी के गुणों की ओर भी संकेत कर माँ का ध्यान आकर्षित कर सकती है, जिससे भाभी और माँ के मनमुटाव को आसानी से दूर किया जा सके। यदि ऐसा करने में बहिन अपने आपको असमर्थ पाती है तो उसके लिये आपद्धर्म यही हो सकता है वह मौन रहे, न माँ का पक्ष ले न भाभी का, उसे रहना ही कितने दिन है, पक्षपात करने में घृणा ही उसके पल्ले पड़ेगी। उसकी उपस्थिति में मायका नर्क न बने उसके समग्र प्रयास इसी दिशा में होने चाहिये।

बहिन को मायके में किसी भी प्रकार की विभ्रांति उत्पन्न होने पर ठण्डे दिमाग से सोचने की आदत डालनी चाहिये। इससे भाई-भाभी और माँ का प्यार सदैव सुलभ रहेगा-भाई-भाभी के आपसी झगड़े में भी बहिन की अनावश्यक मध्यस्तता उसके हित में नहीं है। उसके लिये सबसे अच्छी स्थिति यही हो सकती है कि मायके का वातावरण सौजन्यता और सौहार्द्र से ओत-प्रोत हो, जिसके मध्य आकर वह भी स्वल्प आनन्द की अनुभूति कर सके। बहिन यह बात भी सदैव ध्यान में रखे कि उसके भाई-भाभी का जीवनस्तर क्या है, उसके अनुरूप ही वह उतने दिन तालमेल बिठाकर व्यतीत करे।

मायके का बजट उसकी वजह से यदि अस्त-व्यस्त होगा तो भाई को पुनः बुलाने में अनेक बार सोचना पड़ सकता है। मायके की परिस्थिति के अनुकूल ढाल लेना ही उसकी व्यवहारकुशलता, भाभी के प्रति सच्चे प्रेम का परिचायक होगा। लेन-देन पवित्र सम्बन्ध में गौण माने जाते हैं, आत्मिक आदान-प्रदान की तुलना में वस्तु विनिमय का कोई महत्व नहीं। अपनी सुविधा और सामर्थ्य के अनुसार तो हर भाई-भाभी, ननद को देना अपना धर्म समझते हैं, फिर क्यों कुछ माँग कर अपना ओछापन प्रकट करें।

बहिन यदि सम्पन्न है तो अपने भाई-भतीजे पर इतना खर्च न करे जिससे वे उसके प्रतिउत्तर स्वरूप व्यवहार लौटाने में असुविधा अनुभव करें। सम्बन्धों के स्थायित्व

के लिये यह बात मुख्यातः श्रेयस्कर होगी कि पैसे को प्यार और सद्भाव का मापदण्ड न माना जावे।

इस प्रकार अपने चिंतन को परिष्कृत कर बहिन मायके जायें तो आनन्द और सुख की उपलब्धि उन्हें सदैव होती रहेगी भले ही मायके में माता-पिता हों अथवा नहीं। मायके में सदैव सम्मान और स्वागत की पात्र बनने के लिये बहिन को स्वयं अपनी व्यावहारिक बुद्धि को विकसित करना होगा। जिससे वह मायके में अपनी उपयोगिता और सामंजस्य भी स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर सकती है।

देवरानी, जेठानी की आत्मीयता

संयुक्त परिवार की सफलता बहुत अंशों में उस घर की बहुओं पर निर्भर रहती है, जिन्हें देवरानी-जेठानी के रूप में एक साथ रहना पड़ता है। यदि वे बहिनों की तरह एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखते हुए एक दूसरे की पूरक बनने का प्रयास करें तो उनके स्वयं के लिए और सारे परिवार के लिये भी वह एक वरदान सिद्ध हो सकता है। अनेक घरों में देवरानी तथा जेठानियों के बीच जो खिंचाव और संघर्ष पाया जाता है, वह सामान्य सी व्यावहारिक भूलों को लेकर बढ़ता है। यदि वे समझदारी से काम लें तो उन अप्रिय प्रसंगों का निवारण तो सहज ही हो सकता है, स्वर्गीय सद्भाव की स्थापना भी की जा सकती है।

देवरानी-जेठानी के बीच संघर्ष, खिंचाव का कारण स्वार्थजनित निकृष्ट दृष्टिकोण ही होता है। सामान्यतः यदि किसी गृहस्थ में चार पुत्र हैं तो कोई एक नौकरी के कारण बाहर है, एक विद्याध्ययन कर रहा है, एक पशुओं की देख-भाल पर नियुक्त है, तो एक कृषि का भार सँभाले हुए है। जो बाहर सर्विस में है, उसका रहन-सहन का स्तर अन्य भाइयों की अपेक्षा उच्चकोटि का है। जो पढ़ रहा है, उसका रहने सहने का ढंग भी सभ्य नागरिकों जैसा है। किन्तु शेष दोनों भाइयों का जीवन साधारण किसानों जैसा ही है। दोनों का कड़ी मेहनत करते हुए भी खान-पान और वेष-भूषा निम्न स्तर का ही है, उनके रहन-सहन की यह विषमता भी कभी-कभी गृह-कलह का कारण बन जाती है।

कृषि कार्य में संलग्न दोनों भाइयों की पत्नियाँ घर के अधिक काम-काज के कारण आपस में मेल-जोल से नहीं रह पातीं। जेठानी, देवरानी को सारे काम का बोझ सौंप कर स्वयं आराम का जीवन जीना चाहती है। बच्चों में भी भेद-भाव रखती है, अपने बच्चों की सुख-सुविधा का ही वह ध्यान रखती है। देवरानी के बच्चे, उन बच्चों को सुखी और प्रसन्न देखकर वैसी ही सुख-सुविधा की माँग अपनी माँ से करते हैं, किन्तु माँ को वह अधिकार न होने के कारण, वह बेचारी मन मसोस कर रह जाती।

है। जब वह व्यवहार उसे असह्य हो जाता है तो दुःखी होकर वह अपने पति से इसकी शिकायत करती है और कहती है कि यह सब होते हुए भी, जेठानीजी सारे दिन चख-चख करती रहती हैं। एक मजदूरनी का जीवन जीते हुए भी मुझे चैन नहीं लेने देती, भली-बुरी सुनाती रहती हैं। इस स्थिति में हमारा निभाव इस घर में कैसे हो सकता है ?

पत्नी की शिकायत पर पति यदि ध्यान नहीं देता है, अथवा बड़े भाई के प्रभाववश पत्नी की शिकायत का निराकरण नहीं कर पाता है, तो पत्नी पति के प्रति भी विद्रोह कर बैठती है। जेठानी से बात-बात में उलझने लगती है। जेठानी इसे कब सहन कर सकती है। परिणाम यह होता है कि गृहस्वामिनी होने के कारण जेठानी उसे सभी प्रकार नीचा दिखाने और उसके लिये असुविधा खड़ी करने का प्रयास करती है। उसके बच्चों के प्रति भी उसका व्यवहार कठोर हो जाता है।

देवरानी जब अपने को इस स्थिति में पाती है तो खुले रूप से जेठानी की अवहेलना करने लगती है, लात का जबाव घूँसे से देने लगती है। इस प्रकार आये दिन घर में कुहराम मचता रहता है। जेठानी-देवरानी की यह प्रतिद्वन्द्विता बच्चों को भी उदण्ड बना देती है। वे भी आपस में उलझने लगते हैं, अपने-अपने माता-पिता से वे झूठी-सच्ची शिकायतें करते रहते हैं। फलस्वरूप भाई-भाइयों में भी भीतर ही भीतर तनाव बढ़ जाता है।

अपनी पत्नी अपने बच्चे व स्वयं अपने प्रति भाई-भावज का यह दुर्व्यवहार देखता है तो उसका जी भी भाई के प्रति हलका हो जाता है, घर के काम-काज में उसकी पहली जैसी रुचि और लगाव नहीं रहता है। घर के काम में जब शिथिलता आती है तो बड़े भाई को यह सहन नहीं होता और छोटे भाई के प्रति डाँट-फटकार शुरू हो जाती है। फिर भी छोटा भाई पूर्ण मनोयोग से काम-काज नहीं करता, नतीजा यह होता है कि कृषि कार्य में शिथिलता आ जाती है। फलतः उपज घट जाती है, जिससे घर की समृद्धि भी शनैः-शनैः घटने लगती है। जब घर में घटती शुरू होती है तो स्त्रियों में और भी अधिक चक-चक और लड़ाई-दंगा होने लगता है, इसका प्रभाव भी देवरानी पर ही अधिक पड़ता है वह अपने पति को पृथक् रहने के लिए विवश करती है। यदि पति इसकी अवहेलना करता है तो बार-बार उसे इसके लिए विवश करने लगती है।

पत्नी की रोज-रोज की शिकायतों से तंग आकर व सब कुछ अपनी आँखों से देखकर और खुद उस व्यवहार को सहकर वह अपने भाई से इस व्यवहार को बदलने व दोनों परिवारों को समान सुख-सुविधा देने का अनुरोध करता है।

किन्तु भाई द्वारा इस ओर ध्यान न दिए जाने पर दुःखी मन से भाई से अलग रहने की माँग करता है। इसकी सूचना अपने बाहर रहने वाले भाई को भी देता है तथा घर की समस्त वारदातों से उन्हें अवगत कराता हुआ वर्तमान स्थिति को बदलने में उनकी सहायता चाहता है।

घर की बिगड़ती हुई स्थिति और गृह-कलह के इस समाचार से दुःखी होकर वह पत्र द्वारा घर की व्यवस्था सँभालने और पूर्ववत् प्रेमभाव से रहने के लिए भाइयों को समझाता है। सफलता न मिलने पर छुट्टी लेकर बच्चों सहित घर आकर भाई-भावजों को समझाता है, किन्तु उसके सारे प्रयास व्यर्थ चले जाते हैं। घर की स्त्रियों पर कुछ भी प्रभाव जब नहीं पड़ता तो अपनी पत्नी को कार्य भार सँभालने को कहता है।

उसकी पत्नी उसके साथ बाहर आराम का जीवन जीने की अभ्यस्त हो जाने के कारण और स्वभाववश घर का काम-काज स्वयं करने को राजी नहीं होती है। बल्कि वह भी अपनी देवरानी-जेठानी के समान ही गृह-कलह में भागीदार बन जाती है। इस प्रकार कलह शांत न होकर बढ़ता ही जाता है और स्त्रियों द्वारा प्रारम्भ हुआ कलह पुरुषों में भी कलह का कारण बन जाता है। इस स्तर पर पहुँच जाने पर एक गृहस्थ बारह-बाट हो ही जाता है और भाई-भाई में वैमनस्य बढ़कर वे एक दूसरे के भाई न रहकर परस्पर शत्रु बन जाते हैं।

ऐसे परिवारों में संयोगवश यदि सुशिक्षित स्त्री आ जाती है तो वह भी अन्य स्त्रियों की भाँति ही गृह-कार्यों से जी चुराती है और उन जैसी ही कलह-प्रिय हो जाती है। जबकि ऐसी स्त्री उस परिवार के झगड़े को समाप्त करने में सहायक बन जाती थी और उस घर को स्वर्ग बना सकती थी। संयुक्त-परिवार प्रथा इस प्रकार स्त्रियों की असहन-शीलता, अशिक्षा और गृह-कार्यों से जी चुराने के कारण दिन पर दिन टूटती जा रही है।

भारतवर्ष में संयुक्त परिवार प्रथा, प्राचीनकाल से प्रचलित है। परिवार में माता-पिता, ताऊ-ताई, चाचा-चाची, दादा-दादी आदि परिवार के सभी सदस्य एक साथ रहते थे, सभी में परस्पर बड़े प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार होता था, सभी लोग बड़ी तत्परता के साथ अपना-अपना दायित्व पूर्ण करते थे और परिवार के सभी सदस्यों की सुख-सुविधा का ध्यान एक-दूसरे को रहता था। यदि कभी किसी कारणवश किन्हीं में कुछ लड़ाई-झगड़ा हो भी जाता तो उसे बड़ी शांति के साथ समझा बुझा कर शांत कर दिया जाता था। स्त्रियाँ भी परस्पर एक-दूसरे के हितों का ध्यान रखती थीं, घर की बड़ी स्त्री अपने को गृहस्वामिनी न मानकर, सबके समान ही अपने को मानती थी। किसी को किसी से शिकायत का अवसर नहीं आने देती थी। घर में यदि कोई स्त्री अस्वस्थ हो जाती तो उसका कार्य अन्य सभी बाँटकर उसे भी पूरा कर लेती थीं। प्रत्येक गाँव और नगर में आज भी इस प्रकार के अनेक परिवार देखने को मिल सकते हैं, जिनमें परिवार के सभी सदस्य बड़े प्रेमपूर्वक आपस में मिल-जुलकर रहते और घर की शांति बनाये रहते हैं। यदि परिवार का कोई सदस्य इसकी अवहेलना करता है तो सभी मिल-जुलकर उसे समझा-बुझाकर सही रास्ते पर ले आते हैं। ऐसे परिवार किसी भी स्थिति में घर की सुख-शांति को ठेस नहीं पहुँचाने देते।

२.१८ समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र

भावना और विवेक की दृष्टि से देखा जाय तो देवरानी-जेठानी के बीच गहन अपनत्व भरा सद्भाव होना नितान्त स्वाभाविक है। सामान्यतः परदुःख कातरता, सहानुभूति एवं सन्वेदना का भाव ऐसे व्यक्ति में ही प्रचुर मात्रा में पाया जाता है जो पीड़ा और प्रताड़ना के दौर से गुजर चुका होता है। कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय' इस दृष्टि से स्वाभाविक है कि जिसके पैर में विंवाई फट चुकती हैं वह दूसरे की विंवाई की पीड़ा का सहज ही अनुमान भुक्तभोगी होने के कारण लगा लेता है।

संयुक्त हिन्दू परिवारों में इस सिद्धान्त का अपवाद जेठानी और देवरानी नामक रिश्ते में प्रायः देखने को मिलता है। जेठानी और देवरानी वस्तुतः एक ही परिवार से सम्बद्ध होने के पूर्व एक-दूसरे से अपरिचित रहती हैं किन्तु जिस परिवार में आकर वे सम्मिलित होती हैं, प्रारम्भ में दोनों की स्थिति एक-सी ही होती है

अन्तर- केवल इतना रहता है कि बड़े भाई का विवाह पहले हो जाने के कारण जेठानी पहले और छोटे भाई का विवाह बाद में होने के कारण देवरानी बाद में पदार्पण करती है। जो ज्येष्ठ है, वरिष्ठ है अथवा अनुभवी है उससे अर्थात् जेठानी से देवरानी को सहानुभूतिपूर्ण मार्गदर्शन की अपेक्षा स्वाभाविक है। सास चूँकि पुराने ढर्रे की और अपेक्षाकृत कठोर प्रकृति की होती है इसलिये भी अधिक सहयोगी की आशा जेठानी से वह करती है, किन्तु स्थिति कहीं-कहीं इसके विपरीत ही पाई जाती है। सहयोग तो दूर कठोरमना जेठानी देवरानी के साथ वही बर्ताव करती है जो आरम्भ में उसके साथ किया गया था। वह यह भूल जाती है कि जब उसके साथ कठोरता बरती जाती थी तो उस पर कैसी गुजरती थी और अब देवरानी पर वैसी ही कठोरता बरतने से उस पर कैसी गुजर रही होगी, सहज ही जेठानी भुक्तभोगी होने के नाते अनुमान लगा सकती है, आखिरकार वे समानधर्मी और सहधर्मी ही तो हैं, एक ही तरकश के तीर, एक ही माला के मनके, एक ही वृक्ष के पक्षी के समान हैं।

यदि चाहती तो नवागत देवरानी को अनुज्ञा समझकर परिवार की समस्त मर्यादाएँ, आचार-विचार, रीति-रिवाज और व्यावहारिकता, सौम्यता तथा सरलता के साथ समझा सकती थी, जिससे परिवार में सौमनस्य और सौहार्द अक्षुण्ण बना रहता। इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि या तो जेठानी अपने द्वारा भुक्त पीड़ा को भूल चुकी है अथवा अपनी पीड़ा का प्रतिशोध देवरानी से लेकर झूठा संतोष प्राप्त करना चाहती है।

संयुक्त हिन्दू परिवारों में जेठानी से देवरानी का पाला न पड़े ऐसी कल्पना निरर्थक है, अर्थात् निर्विवाद रूप से इस संयोग को नकारा नहीं जा सकता। कतिपय अपवादों को छोड़कर अधिकांश देवरानी जेठानी में पारस्परिक प्रेम

का अभाव और कटुता का प्रभाव देखा ही जाता है भले ही दोष इसमें देवरानी का हो अथवा जेठानी का।

ऐसी स्थिति में निर्माण की पृष्ठभूमि में कौन-कौन-से कारण हो सकते हैं इस पर गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक संयुक्त हिन्दू परिवार में जहाँ द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है, उस परिवार की लड़कियाँ बचपन से ही प्रशिक्षण अपने आप प्राप्त करती रहती हैं, उनके अवचेतन में अपनी माँ जो जेठानी अथवा देवरानी हैं के आचरण की छाप परोक्ष रूप से पड़ती रहती है और हाथ पीले होने के बाद जब वह लड़की देवरानी या जेठानी बनती है तो मायके के वे संस्कार उस पर हावी हो जाते हैं। इतना ही नहीं ससुराल जाने के पूर्व मातायें भी इन दबे हुए संस्कारों को उभारने की कोशिश करती हैं और यह कहती हुई पाई जाती है कि अपनी जेठानी से सावधान रहना। फिर क्या माँ की चेतावनी उसे हर पल सावधानी बरतने के लिये प्रेरित करती है और देवरानी पहले से ही जेठानी को अपनी शत्रु मान कर ही चलती है, उसकी हर बात में संदेह करती है, जेठानी उसे अच्छी शिक्षा भी देना चाहती है तो उसके अन्दर का संदेह उसे उलटी पट्टी पढ़ाना समझता है। फिर देखने में यह आता है कि देवरानी पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों से बुरी तरह ग्रस्त होने के कारण परिवार के वातावरण को विषाक्त बनाने में अग्रणी रहती है, क्या करे उसे ऐसा ही चरमा पहनाकर विदा किया गया था। ऐसा दोषपूर्ण दृष्टिकोण कि उसे जेठानी में अच्छाई एक भी नहीं, बुराई ही बुराई दिखाई देती है। सिखा-पढ़ा कर जो भेजा गया है। इसके लिए आवश्यक है कि घर-घर में देवरानी और जेठानी द्वारा सहयोग, सद्भाव, सहानुभूति का प्रायोगिक प्रशिक्षण लड़कियों को आरम्भ से ही दिया जाना चाहिये। तभी मनोमालिन्य और मतभेदों के जन्म की संभावना समाप्त हो सकेगी।

प्रतिकूल स्वभाव के लोगों में भी मित्रता होते देखी जाती है, प्रतिकूल मनःस्थिति के व्यक्ति को भी अनुकूल बनाया जा सकता है, उसके लिए धैर्य और समय की साधना करनी पड़ती है, जेठानी को तो एक ही धुन सवार रहती है कि देवरानी तुरन्त मेरे अनुसार चलने लगे, यदि जेठानी का जादू असर नहीं करता अर्थात् उसकी इच्छानुवर्तिनी देवरानी तुरन्त नहीं बनती तो 'संघर्ष हमारा नारा' है ही। जेठानी काश ! गम्भीरता से विचार करती और यह जान सकी होती कि पशुओं को भी प्रशिक्षित किया जा सकता है फिर तो वह उसी वर्ग और जाति की नारी ही है। पत्थर को भी तराशकर मनोनुकूल प्रतिमा बनाई जा सकती है यदि यह मानकर चला जाय कि देवरानी अभी अनगढ़ पत्थर है तो एक कुशल शिल्पी के समान जेठानी उसकी काट-छाँट कर सकती है यदि उसे गीली मिट्टी ही समझे तो अपने साँचे में ढाल कर जो आकृति देना चाहे दे सकती है किन्तु जेठानी को धैर्य कहाँ ? वस्तुतः उसे सद्भाव की छैनी और सन्वेदना की हथौड़ी से गढ़ने में ही शीघ्र सफलता मिल सकती है और

सौमनस्य और सौहार्द का वातावरण परिवार में बनाया जा सकता है, किन्तु प्रयास एकांगी जो भी किये जाते हैं-वे सफल नहीं होते। देवरानी का सहयोग भी उसी अनुपात में आवश्यक है। आगे बढ़ने के लिये देवरानी, जेठानी दायें और बायें कदम के समान सहयोग दें।

ऐसा भी देखने में आता है कि किसी परिवार में जेठानी कम पढ़ी-लिखी अथवा अशिक्षित रहती है और देवरानी उच्च शिक्षित। ऐसी परिस्थिति में भी विसंगति के कारण तालमेल नहीं बैठ पाता। देवरानी को अपनी शिक्षा का अहंकार रहता है तो जेठानी को अपने पद का तथा अनुभव का। बात-बात में प्रतिष्ठा आड़े आती है। दोनों अपने अहंभाव को परस्पर आरोपित करने का भरसक प्रयत्न करती हैं, जिसके परिणाम अहितकर ही होते हैं। जेठानी भी देवरानी की कमजोरियों को, दोषों को खोजना आरम्भ कर देती है, फलस्वरूप समय पाकर एक दूसरे को असम्मानित करने की ताक में रहती हैं, कभी जेठानी इस कुचेष्टा में सफल हो जाती है, तो कभी देवरानी-निरन्तर टकराव होता ही रहता है। एक दूसरे को समझने के लिए कोई खाली नहीं रहती इसलिये समझौते का प्रश्न ही नहीं उठता। कोई झुकना पसन्द नहीं करती, प्रतिष्ठा का प्रश्न जो है।

ऐसी परिस्थिति में सुशिक्षित देवरानी को यह समझना चाहिये कि शिक्षा का सही अर्थ है अपने गुण, कर्म और स्वभाव का परिष्कार अर्थात् अपने आचार-विचार में कुशलता लाना ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। काश देवरानी मिलनसारिता तथा व्यावहारिक कुशलता का उपयोग करके जेठानी को सम्मानित कर उसके अहं को संपुष्टि प्रदान कर सकती।

देवरानी जेठानी के संघर्ष से सम्पूर्ण परिवार प्रभावित होता है, बच्चों पर भी उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, इतना ही नहीं जेठ और देवर अर्थात् सहोदर भाइयों में भी यदाकदा महाभारत होते देखा गया है। ऐसे अवसरों पर जेठानी और देवरानी अग्नि में घी का ही काम करती हैं, अपने पतियों को उकसाती रहती हैं और पति उनकी बातों में आकर घर को छिन्न-भिन्न करके ही मानते हैं। घर-घर माता-पिता का विभाजन होते देखा जाता है और जब सहोदर भाइयों में मात्र औपचारिक सम्बन्ध रह जाते हैं तभी जेठानी देवरानी की संघर्ष ज्वाला शांत होती है।

ऐसे अवसरों पर यदि भाई विवेकशील होते हैं तो पत्नियों की बातों में विश्वास नहीं करते और संघर्ष की स्थिति टल जाती है। बल्कि निष्पक्षता के साथ समस्या की गहराई में जाकर उसका समाधान खोजते हैं, संयुक्त परिवारों के बिछराव को रोकने के लिए उनके सदस्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही होनी चाहिए कि वे न्यायप्रिय, उदार, दूरदर्शी और सहिष्णु हों, दूध का दूध और पानी का पानी वाली न्यायनिष्ठा ही उनकी सफलता में सहायक सिद्ध हो सकती है। पुरुष वर्ग ही क्यों नारियों के भी अपने

स्वभाव का अंग सहयोग और सहानुभूति को बनाने में ही परस्पर सम्मान तथा सुख-शांति की प्राप्ति हो सकती है। पुरुष तो प्रायः बाहर ही रहते हैं घर में इनको ही अधिक समय रहना पड़ता है।

वैसे आजकल देवरानी और जेठानी के बीच कटुता, मनमुटाव, विषमता का कारण उनकी निपट स्वार्थपरता और छुद्र संकीर्णता ही है, वे केवल मेरा पति, मेरे बच्चे तक ही अपने संसार को सीमित रखना चाहती हैं, अच्छी चीज खायेगा तो मेरा बच्चा खायेगा, पियेगा तो मेरा बच्चा पियेगा और पहनेगा तो मेरा बच्चा पहनेगा। देवरानी-जेठानी परस्पर सोचती हैं। कलह का मुख्य कारण आज यही परिलक्षित होता है। संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य में औदार्य, औदात्य, सहिष्णुता, परपीड़ा में सन्वेदना का भाव विकसित होने में भी परिवार की सफलता निर्भर करती है।

देवरानी और जेठानी में परस्पर ममता, समता तथा एकता के भाव का विकास हो तभी कटुता का पलायन हो सकता है, वस्तुतः आचरण अथवा व्यवहार को आंतरिक भावना का दर्पण कहा जा सकता है, जिसकी जैसी भावना है उसी के अनुरूप ही तो वह आचरण और व्यवहार करता है, जिसका बोध सहज ही हो जाता है। सुमधुर सरस वाणी से एक-दूसरे के हृदय को जीत कर सगी सहोदरा बहिनों के समान जेठानी और देवरानी के रहने में कोई असुविधा नहीं दिखाई देती। संघर्ष की दीवारें तो बहुत कमजोर होती हैं, सहोदरत्व और ऐक्य भाव की स्थापना मात्र से अविलम्ब टूट जाती हैं। मायके की बहिन का साथ तो अस्थायी होता है किन्तु देवरानी-जेठानी का स्थायी। फिर स्थायी बहिन से सगापन क्यों न विकसित किया जाये, ऐसा परस्पर विचार करना चाहिये, क्योंकि इस समझौते में हानि नहीं लाभ ही लाभ है।

बेटी और बहू में अन्तर न रहे

करुणा, स्नेह, वात्सल्य, सहृदयता, दया, क्षमा आदि मनुष्यता के लक्षण हैं। इन्हीं गुणों के कारण मनुष्य पशुओं से भिन्न और श्रेष्ठ माना गया है। जिसके हृदय में इन गुणों का अभाव रहता है उसे कोई मनुष्य कहने में हर्ष अनुभव नहीं करता। क्रूरता, निष्ठुरता, हृदयहीनता मनुष्य के नहीं हिंस्र पशुओं के दोष होते हैं। मनुष्य में उक्त मानवीय गुणों का होना अपेक्षित है। संयोगवश जो अपने में इन मानव मूल्यों का अभाव अनुभव करें, उन्हें इनका विकास कर अमानवीयता का दोष धो डालना चाहिये। गुण-अवगुण विधि का विधान नहीं होते। यह परिस्थितियाँ अथवा संस्कारों से जीवन में प्रवेश करते हैं और प्रयत्न द्वारा घटाये-बढ़ाये जा सकते हैं।

दूसरों के लिये दारुण अथवा क्रूर होने पर भी हर मनुष्य अपने बच्चों के लिये तो स्नेहपूर्ण होता ही है। बच्चों